

उत्तराखण्ड का इतिहास



उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय,
तीनपानी बाई पास रोड़, ट्रान्सपोर्ट नगर के पास, हल्द्वानी-263139
फोन नं. 05946-261122, 261123
टॉल फ्री नं. 18001804025
फैक्स नं. 05946-264232, ई-मेल info@uou.ac.in
<http://uou.ac.in>

अध्ययन बोर्ड समिति

डॉ. गिरिजा प्रसाद पाण्डे, प्रोफेसर इतिहास एवं निदेशक समाज विज्ञान विद्याशाखा,

अध्यक्ष

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

प्रोफेसर रविन्द्र कुमार, इतिहास विभाग, समाज विज्ञान विद्याशाखा, इग्नू, नई दिल्ली

सदस्य

डॉ. लाल बहादुर वर्मा, प्रोफेसर, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सदस्य

डॉ. रामेश्वर प्रसाद बहुगुणा, इतिहास विभाग, जामिया मिल्लिया इस्लामिया, नई दिल्ली

सदस्य

डॉ. मदन मोहन जोशी, सहायक प्रोफेसर एवं समन्वयक इतिहास,

सदस्य

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

पाठ्यक्रम संयोजन एवं संपादन

डॉ. मदन मोहन जोशी, सहायक प्रोफेसर एवं समन्वयक इतिहास,

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

हल्द्वानी, नैनीताल

इकाई लेखन

ब्लाक एक: उत्तराखण्ड में इतिहास लेखन परंपरा

इकाई एक : उत्तराखण्ड के इतिहास के स्रोत: पुरातात्विक- डॉ. हीरा सिंह भाकुनी, हिमालय संग्रहालय, इतिहास विभाग, कुविवि, डी.एस.बी. परिसर, नैनीताल

इकाई दो : उत्तराखण्ड के इतिहास के स्रोत: साहित्यिक- डॉ. हीरा सिंह भाकुनी, हिमालय संग्रहालय, इतिहास विभाग, कुविवि, डी.एस.बी. परिसर, नैनीताल

इकाई तीन: उत्तराखण्ड के इतिहास के स्रोत: मौखिक परंपरा- डॉ. हीरा सिंह भाकुनी, हिमालय संग्रहालय, इतिहास विभाग, कुविवि, डी.एस.बी. परिसर, नैनीताल

इकाई चार: उत्तराखण्ड का भूगोल एवं पर्यावरण डॉ. मदन मोहन जोशी, असिस्टेंट प्रोफेसर, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

ब्लाक दो : उत्तराखण्ड: प्रागैतिहासिक

इकाई एक: उत्तराखण्ड में पाषाण युग, शैलाश्रय एवं शैल चित्रण- डॉ. मदन मोहन जोशी, असिस्टेंट प्रोफेसर, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

इकाई दो : ताम्रमानवाकृति- डॉ. मदन मोहन जोशी, असिस्टेंट प्रोफेसर, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

इकाई तीन: महाभूमि संस्कृति, कप मार्क्स एवं उत्कीर्णन - डॉ. मदन मोहन जोशी, असिस्टेंट प्रोफेसर, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

इकाई चार: उत्तराखण्ड एवं पौराणिक आख्यान- डॉ. किरन त्रिपाठी, एसोसिएट प्रोफेसर, गोकुलदास गर्ल्स कालेज, अगवानपुर, मरादाबाद

ब्लाक तीन: उत्तराखण्ड: ऐतिहासिक - एक

इकाई एक : कुणिन्द मुद्रा- डॉ. मदन मोहन जोशी, असिस्टेंट प्रोफेसर, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

इकाई दो : पौरव-वर्मन राजवंश- डॉ. मदन मोहन जोशी, असिस्टेंट प्रोफेसर, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

इकाई तीन: कार्तिकेयपुर राजवंश- डॉ. मदन मोहन जोशी, असिस्टेंट प्रोफेसर, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

इकाई चार: पंवार कालीन गढ़वाल- डॉ. हीरा सिंह भाकुनी, हिमालय संग्रहालय, इतिहास विभाग, कुविवि, डी.एस.बी. परिसर, नैनीताल

ब्लाक चार: उत्तराखण्ड: ऐतिहासिक - दो

इकाई एक: चन्दकालीन कुमाऊँ- डॉ. हीरा सिंह भाकुनी, हिमालय संग्रहालय, इतिहास विभाग, कुविवि, डी.एस.बी. परिसर, नैनीताल

इकाई दो: गोरखा कालीन उत्तराखण्ड - डॉ. हीरा सिंह भाकुनी, हिमालय संग्रहालय, इतिहास विभाग, कुविवि, डी.एस.बी. परिसर, नैनीताल

इकाई तीन: ब्रिटिश कालीन उत्तराखण्ड - डॉ. किरन त्रिपाठी, एसोसिएट प्रोफेसर, गोकुलदास गर्ल्स कालेज, अगवानपुर, मरादाबाद

इकाई चार: तराई-भाबर का इतिहास- डॉ. किरन त्रिपाठी, एसोसिएट प्रोफेसर, गोकुलदास गर्ल्स कालेज, अगवानपुर, मरादाबाद

ब्लाक पांच: मध्यकालीन उत्तराखण्ड

इकाई एक: मध्यकालीन उत्तराखण्ड में राजत्व की वैधता के स्रोत- डॉ. मदन मोहन जोशी, असिस्टेंट प्रोफेसर, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

इकाई दो : मध्यकालीन उत्तराखण्ड में राज्य निर्माण की प्रक्रिया का स्वरूप- डॉ. भुवन चन्द्र शर्मा, हिमालय संग्रहालय, इतिहास विभाग, कुविवि, डी.एस.बी. परिसर, नैनीताल

इकाई तीन: उत्तराखण्ड में कृषिकरण, सैन्य व्यवस्था, व्यापार, कर-प्रणाली, सामाजिक वर्ग- डॉ. किरन त्रिपाठी, एसोसिएट प्रोफेसर, गोकुलदास गर्ल्स कालेज, अगवानपुर, मरादाबाद

इकाई चार: मध्यकालीन उत्तराखण्ड का मुगल सत्ता से संबंध- डॉ. किरन त्रिपाठी, एसोसिएट प्रोफेसर, गोकुलदास गर्ल्स कालेज, अगवानपुर, मरादाबाद

ब्लाक छह: उत्तराखण्ड: जागृति, स्वतंत्रता एवं स्वातंत्र्योत्तर आंदोलन

इकाई एक: उत्तराखण्ड में आधुनिक प्रेस एवं समाचार पत्र- डॉ. ज्योति साह ,एसोसिएट प्रोफेसर, दीनदयाल उपाध्याय राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, सीतापुर (उ०प्र०)

इकाई दो: उत्तराखण्ड स्वतंत्रता संग्राम में योगदान- डॉ. किरन त्रिपाठी, एसोसिएट प्रोफेसर, गोकुलदास गर्ल्स कालेज, अगवानपुर, मरादाबाद

इकाई तीन: स्वतंत्रता पूर्व उत्तराखण्ड में महिलाओं की प्रस्थिति- डॉ. किरन त्रिपाठी, एसोसिएट प्रोफेसर, गोकुलदास गर्ल्स कालेज, अगवानपुर, मरादाबाद

इकाई चार: स्वातंत्र्योत्तर उत्तराखण्ड : लोकप्रिय आन्दोलन- डॉ. किरन त्रिपाठी, एसोसिएट प्रोफेसर, गोकुलदास गर्ल्स कालेज, अगवानपुर, मरादाबाद

ब्लाक सात: उत्तराखण्ड: तकनीकी विकास एवं सांस्कृतिक परिदृश्य

इकाई एक: उत्तराखण्ड के प्रमुख धार्मिक स्थल- डॉ. किरन त्रिपाठी, एसोसिएट प्रोफेसर, गोकुलदास गर्ल्स कालेज, अगवानपुर, मरादाबाद

इकाई दो : उत्तराखण्ड का हस्तशिल्प- डॉ. किरन त्रिपाठी, एसोसिएट प्रोफेसर, गोकुलदास गर्ल्स कालेज, अगवानपुर, मरादाबाद

इकाई तीन: उत्तराखण्ड की स्थापत्य कला- डॉ. मदन मोहन जोशी, असिस्टेंट प्रोफेसर, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

इकाई चार: उत्तराखण्ड के लोक नृत्य, लोक कला एवं संगीत- डॉ. हीरा सिंह भाकुनी, हिमालय संग्रहालय, इतिहास विभाग, कुविवि, डी.एस.बी. परिसर, नैनीताल

प्रकाशन वर्ष: जुलाई 2015

कापी राइट: / उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

संस्करण: सीमित वितरण हेतु पूर्व प्रकाशन प्रति

प्रकाशक: कुल सचिव उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय हल्द्वानी नैनीताल

उत्तराखण्ड ।

ब्लाक एक: उत्तराखण्ड में इतिहास लेखन परंपरा

इकाई एक : उत्तराखण्ड के इतिहास के स्रोत: पुरातात्विक

इकाई दो : उत्तराखण्ड के इतिहास के स्रोत: साहित्यिक

इकाई तीन: उत्तराखण्ड के इतिहास के स्रोत: मौखिक परंपरा

इकाई चार: उत्तराखण्ड का भूगोल एवं पर्यावरण

ब्लाक दो : उत्तराखण्ड: प्रागैतिहासिक

इकाई एक: उत्तराखण्ड में पाषाण युग ,शैलाश्रय एवं शैल चित्रण

इकाई दो : ताम्रमानवाकृति

इकाई तीन: महाष्म संस्कृति, कप मार्क्स एवं उत्कीर्णन

इकाई चार: उत्तराखण्ड एवं पौराणिक आख्यान

ब्लाक तीन: उत्तराखण्ड: ऐतिहासिक - एक

इकाई एक : कुणिन्द मुद्रा

इकाई दो : पौरव-वर्मन राजवंश

इकाई तीन: कार्तिकेयपुर राजवंश

इकाई चार: पंवार कालीन गढ़वाल

ब्लाक चार: उत्तराखण्ड:ऐतिहासिक - दो

इकाई एक: चन्दकालीन कुमाऊँ

इकाई दो: गोरखा कालीन उत्तराखण्ड

इकाई तीन: ब्रिटिश कालीन उत्तराखण्ड

इकाई चार: तराई-भाबर का इतिहास

ब्लाक पांच: मध्यकालीन उत्तराखण्ड

इकाई एक: मध्यकालीन उत्तराखण्ड में राजत्व की वैधता के स्रोत

इकाई दो : मध्यकालीन उत्तराखण्ड में राज्य निर्माण की प्रक्रिया का स्वरूप

इकाई तीन: उत्तराखण्ड में कृषिकरण,सैन्य व्यवस्था,व्यापार,कर-प्रणाली,सामाजिक वर्ग

इकाई चार: मध्यकालीन उत्तराखण्ड का मुगल सत्ता से संबंध

ब्लाक छह: उत्तराखण्ड: जागृति , स्वतंत्रता एवं स्वातंत्र्योत्तर आंदोलन

इकाई एक: उत्तराखण्ड में आधुनिक प्रेस एवं समाचार पत्र

इकाई दो: उत्तराखण्ड स्वतंत्रता संग्राम में योगदान

इकाई तीन: स्वतंत्रता पूर्व उत्तराखण्ड में महिलाओं की प्रस्थिति

इकाई चार: स्वातंत्र्योत्तर उत्तराखण्ड : लोकप्रिय आन्दोलन

ब्लाक सात: उत्तराखण्ड: तकनीकी विकास एवं सांस्कृतिक परिदृश्य

इकाई एक: उत्तराखण्ड के प्रमुख धार्मिक स्थल

इकाई दो : उत्तराखण्ड का हस्तशिल्प

इकाई तीन: उत्तराखण्ड की स्थापत्य कला

इकाई चार: उत्तराखण्ड के लोक नृत्य, लोक कला एवं संगीत

पुस्तक परिचय

प्रिय छात्र / छात्रा

आपको बी.ए. प्रथम वर्ष एवं द्वितीय वर्ष की पुस्तकों द्वारा भारत के प्राचीन, मध्यकालीन एवं आधुनिक इतिहास की जानकारी दी गयी थी , इसके साथ ही तृतीय वर्ष में आप विश्व इतिहास का अध्ययन भी कर रहे हैं । आशा है, आपने प्राचीन,मध्यकालीन एवं आधुनिक भारत तथा विश्व इतिहास से संबंधित तथ्यों को भली प्रकार आत्मसात कर लिया होगा । इस पुस्तक के द्वारा आपको उत्तराखण्ड के इतिहास एवं पुरातत्त्व की जानकारी दी जा रही है । उत्तराखण्ड का इतिहास भी बड़ा रोचक है। किसी भी स्थान विशेष, क्षेत्र, समाज व देश का इतिहास जानने के विभिन्न स्रोत होते हैं जो स्थानीय स्तर से राष्ट्रीय स्तर तक कहीं भी किसी स्थान विशेष, घाटी, नदियों आदि से अन्वेषणकर्ताओं को प्राप्त होते रहते हैं जिनके माध्यम से सम्बन्धित क्षेत्र के इतिहास में नये अध्याय जुड़ते चले जाते हैं या नये तथ्य सामने आते रहते हैं

उत्तराखण्ड में जो पुरातात्विक साक्ष्य प्राप्त हुए हैं उनका रासायनिक परीक्षण न होने के बावजूद भी उन्हें समसामयिक भारतीय इतिहास के प्रागैतिहासिक एवं आद्यैतिहासिक कालखण्डों में रखा जा सकता है । यहाँ प्राप्त साक्ष्यों में से जहाँ चित्रित शिलाश्रय एवं पाषाण-उपकरणों को प्रागैतिहासिक युग से सम्बन्धित किया जा सकता है, वहीं महाष्म संस्कृति के अवशेष प्रागैतिहासिक युग के नवाष्म चरण से सम्बन्धित माने जा सकते हैं और इनका एक विकसित चरण संभवतः ताम्र अथवा लौह युग से सम्बन्धित प्रतीत होता है । यहाँ ताम्रयुग का विशिष्ट उपकरण ताम्र मानवाकृति मिली है जो गंगा घाटी के साथ यहाँ का तत्कालीन संपर्क स्थापित करती है ,हमें यहाँ महाष्म संस्कृति से संबंधित कप मार्क्स, उत्कीर्णन तथा समाधियां भी मिली हैं, विभिन्न पुराण स्थान-स्थान पर यहाँ का महात्म्य वर्णन करते हैं वहीं हमें यहाँ राज करने वाले प्राचीनतम कुण्डिन वंश की जानकारी भी उनके द्वारा छोड़े गये विभिन्न प्रकार के सिक्कों से होती है।

चौथी सदी ईस्वी के उत्तरार्द्ध से सातवीं सदी ईस्वी तक के उत्तराखण्ड के इतिहास पर कुछ प्रकाश पुरातात्विक उत्खननों से पड़ता है, इस संदर्भ में रणिहाट का उत्खनन महत्वपूर्ण है,लेकिन इस काल की विस्तृत जानकारी हमें अल्मोड़ा जनपद के तालेश्वर नामक स्थान से प्राप्त दो ताम्रपत्र अभिलेखों से मिलती है ।

हमें कत्यूरी शासकों के अनेक अभिलेख मिलते हैं जिनसे पता चलता है कि कत्यूरी अनेक घरानों में संगठित थे, इसका विवरण आगे दिया जायेगा, परन्तु इतना निश्चित है कि कत्यूरी प्रशासन की उदात्त नीतियों का पालन सभी घरानों ने विभिन्न कालों में समान रूप से किया, जिसके कारण इस काल में चहुंमुखी विकास संभव हो सका। इस काल के अवशेषों से अनुमान लगाया जा सकता है कि तत्कालीन जनता ने विभिन्न संसाधनों का उत्पादन अपनी आवश्यकता से अधिक कर राज्य को सुदृढ़ आर्थिक आधार प्रदान किया होगा। इस काल की भव्य झांकी प्रस्तुत करने वाले अनेक साक्ष्य-ताम्रपत्राभिलेख, प्रस्तर अभिलेख, मन्दिर, मूर्तियाँ/प्रतिमाएँ उत्तराखण्ड के विभिन्न स्थलों से प्रकाश में आये हैं।

कत्यूरी वंश के पतन के पश्चात् गढ़वाल में पवांर वंश तथा कुमाऊँ में चंद वंश का शासन स्थापित हुआ , प्रारम्भ में उत्तराखण्ड के इतिहास के सम्बन्ध में अनेक भ्रातियाँ इतिहासकारों के मन में थीं। जब एटकिन्सन ने उत्तराखण्ड के इतिहास पर एक वृहद काम सामने रखा तब काफी तथ्य उजागर हुए थे। परन्तु तब से लेकर वर्तमान तक उत्तराखण्ड के इतिहास में अनेक खोजें निरन्तर होती रहीं , इतिहासकारों ने अपने-अपने स्तर से शोध एवं खोज जारी रखी और आज उत्तराखण्ड के इतिहास की प्राचीनता व उसकी महता सभी के सामने है । खोजों ने यह सिद्ध कर दिया कि यहाँ प्रारम्भ से ही मानव गतिविधियाँ अनवरत जारी थीं, जिसके अनेकों उदाहरण आज उपलब्ध हैं।

प्रिय छात्र / छात्रा , इस पुस्तक का आप पूरे मनोयोग से अध्ययन करें और अपनी जानकारी को बढ़ायें । आपके सफल भविष्य के लिए समस्त शुभकामनाओं सहित

दिनांक: 30 /06 /2015

मदन मोहन जोशी

- 1.1 प्रस्तावना
- 1.2 उद्देश्य
- 1.3 उत्तराखण्ड के इतिहास के श्रोत : पुरातात्विक
 - 1.3.1 प्राक् ऐतिहासिक श्रोत
 - 1.3.2 उपकरण
 - 1.3.3 शैलचित्र
- 1.4 आद्य ऐतिहासिक क्षेत्र
 - 1.4.1 कप-मार्क्स
 - 1.4.2 ताम्र संस्कृति
 - 1.4.3 शवधान
- 1.5 सारांश
- 1.6 स्व-मूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर
- 1.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 1.8 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 1.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

किसी भी स्थान विशेष, क्षेत्र, समाज व देश का इतिहास जानने के विभिन्न श्रोत होते हैं जो स्थानीय स्तर से राष्ट्रीय स्तर तक कहीं भी किसी स्थान विशेष, घाटी, नदियों आदि से अन्वेषणकर्ताओं को प्राप्त होते रहते हैं जिनके माध्यम से सम्बन्धित क्षेत्र के इतिहास में नये अध्याय जुड़ते चले जाते हैं या नये तथ्य सामने आते रहते हैं प्रारम्भ में उत्तराखण्ड के इतिहास के सम्बन्ध में अनेक भ्रातियाँ इतिहासकारों के मन में थीं। जब अठकिन्सन ने उत्तराखण्ड के इतिहास पर एक वृहद काम सामने रखा तब काफी तथ्य उजागर हुए थे। परन्तु तब से लेकर वर्तमान तक उत्तराखण्ड के इतिहास में अनेक खोजें निरन्तर होते रही इतिहासकारों ने अपने-अपने आज स्तर से शोध एवं खोज जारी रखी तभी आज उत्तराखण्ड के इतिहास की प्राचीनता व उसकी महत्ता सभी के सामने है जिन खोजों ने यह सिद्ध कर दिया कि यहाँ प्रारम्भ से ही मानव गतिविधियाँ अनवरत जारी थीं। जिसके अनेकों उदाहरण आज उपलब्ध हैं।

जैसा कि उपर कहा गया है किसी क्षेत्रीय या राष्ट्रीय इतिहास जानने के अनेक श्रोत होते हैं उन्हीं में से एक महत्वपूर्ण श्रोत पुरातात्विक है। इस पुरातात्विक श्रोत के माध्यम से हम सम्बन्धित क्षेत्र या भू भाग में मानव गतिविधियों की प्राचीनता के साथ उसमें निवास करने वाले समाज के विविध आयामों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करते हैं पुरातात्विक सामग्री में अभिलेख व मुद्राओं के अतिरिक्त सामग्री के द्वारा तथ्यों का पता लगाने हेतु अनुमान ही आधार होता है जिस कारण कभी-कभी पुरातत्ववेत्ताओं में मतभेद भी होते रहते हैं।

अतः यही पुरातात्विक श्रोतों के माध्यम से आप यहाँ उत्तराखण्ड इतिहास के नये-नये तथ्यों के बारे में पढ़ेंगे।

1.2 उद्देश्य

- उत्तराखण्ड के पुरातात्विक श्रोतों का वर्णन।
- प्राक् एवं आद्य श्रोतों का उल्लेख।
- ऐतिहासिक एवं पुराभिलेखों का उल्लेख।

1.3 उत्तराखण्ड के इतिहास के पुरातात्विक श्रोत

किसी भी भू-भाग में मानव गतिविधियाँ व उसकी संस्कृति को जानने हेतु पुरातात्विक श्रोत ही मुख्य हैं जिन्हें काल क्रम या अध्ययन की दृष्टि से तीन भागों में बाँट सकते हैं प्राक् ऐतिहासिक, आद्य ऐतिहासिक श्रोत, प्राक्-ऐतिहासिक काल में मुख्यतः पाषाण उपकरण, शैलचित्र या गुहाचित्र आदि हैं तथ्ज्ञा आध-ऐतिहासिक श्रोतों में कपमार्क्स (ओखल) ताम्र उपकरण, शवाधान् मृदमाण्ड हैं और ऐतिहासिक श्रोतों में पुराभिलेख, मुद्राओं, स्मारक-भवन व चित्रशैली आदि आते हैं आप उक्त पुरातात्विक श्रोतों के माध्यम से तत्कालीन मानव के रहन-सहन, भोजन, अभिरुचियाँ गतिविधियाँ, संस्कार, शिल्प आदि के बारे में विस्तार से जानकारी हासिल कर अनुमान लगा सकते हैं। क्योंकि पुरातत्व के क्षेत्र में अभी उत्तराखण्ड में बहुत कार्य होना शेष है इसलिये आपका यहाँ यह समझना भी आवश्यक है कि ज्यों-ज्यों विद्वानों द्वारा इस क्षेत्र में खोजें होते रहेगी नये-नये तथ्य सामने आते रहेंगे।

यहाँ अभी तक उपलब्ध या प्रकाश में आये पुरातात्विक श्रोतों का क्रमवार वर्णन किया जा रहा है जिनसे आप उत्तराखण्ड के समाज, संस्कृति, रहन-सहन, भोजन, शिल्प, कला के द्वारा परिवर्तन व उत्पत्ति के साथ उस आदि मानव के विकास यात्रा को जान एवं समझ सकते हैं।

1.3.1 प्राक् ऐतिहासिक श्रोत

प्राक् ऐतिहासिक संस्कृति में हम देखते हैं कि आरम्भ में जब मानव ने पशुओं से भिन्न होकर चलना, भाव व्यक्त, छोटी-छोटी टोलियों में रहकर सामाजिक होते जा रहा था, उसी दौर में उसने प्रस्तर उपकरणों का आविष्कार भी किया था। क्योंकि कि अब वह शिकार व कन्द फल एकत्रित करने के स्थान पर पशुचारक व कृषक की श्रेणी में पहुँच चुका था। जिन उपकरणों के क्षेत्र में वह निरन्तर उत्तम किस्म के उपकरण भी बनाते चला गया, साथ ही जहाँ पर वह अब बसावत में रह रहा था विशेषकर नदी घाटियों में जहाँ पानी उपलब्ध था वहाँ उसने निकट गुफाओं आदि में अपनी अभिरुचियों को विभिन्न रंगों के माध्यम से शैल चित्रों में उकेरना प्रारम्भ किया जिन्हें यहाँ की नदी किनारे व घाटियों में पाया जाता है, इनके बारे में भी आप यहाँ पढ़ेंगे।

1.3.2 उपकरण

यद्यपि इस क्षेत्र में अभी अधिक कार्य नहीं हो पाया है फिर भी यत्र-तत्र प्रस्तर उपकरण प्राप्त हुए हैं। जिनसे आदि मानव के जीवन से कम ही सही हम परिचित हो रहे हैं। ये प्रस्तर उपकरण यमुना घाटी में कालसी, अलकनन्दा घाटी में डाँग, स्वीत, जनपद अल्मोड़ा में पश्चिमी रामगंगा घाटी, जनपद नैनीताल में खुटानी नाला व गंगा द्वार (हरीद्वार) से प्रस्तर उपकरण प्राप्त हुए हैं। इनमें से गंगाद्वार उपकरण सोनघाटी से प्राप्त उपकरणों में समान माने गये हैं। उत्तराखण्ड में प्राप्त प्रस्तर उपकरणों को विद्वानों द्वारा फलेक वर्ग के अन्तर्गत रखा गया है इस

वर्ग के निर्मित उपकरण मुख्यतः हथ कुठार, चौपर्स, क्षुर (छोटी कुल्हारी), स्क्रेपर्स (खुरचनी) छिद्रक, चीरक, छेनी, अनी, आदि। प्रस्तर निर्मित चौपर्स से शिलायें तोड़कर उन्हें इच्छानुरूप आकार प्रकार देना सरल हो गया था। किसी शिला को काटने या छीलने के लिये स्क्रेपर का निर्माण हो चुका था ऐसे ही स्क्रेपर्स सोन घाटी से भी प्राप्त हुए हैं। मांस, फल, फूल काटने के लिये वर्तमान गंडासे जैसा प्रस्तर निर्मित कर लिया था जिसके आगे की ओर पतलीधार व दाँत बने हैं तथा पीछे को पत्थर मोटा व गोल है जो हथोड़े का काम भी करता था, मांस आदि काटने फाड़ने के लिए चीरक व किसी वस्तु में छेद करने को अनी भी निर्मित किया था अर्थात् आदिमानव अब प्राकृतिक रूप से प्राप्त शिलाखण्डों पर ही निर्भर न होकर उन्हें आवश्यकतानुसार उपकरण का रूप देने लग गया था। अतः अब वह पशुओं के जीवन से हटकर निर्माणकर्ता व खोजकर्ता की श्रेणी में आने गया था। ऐसा भी माना जाता है कि उत्तराखण्ड के आदि मानव ने लकड़ी व पशुअस्थियों से भी उपकरण बनाने आरम्भ किये थे जो लम्बी अवधि के कारण नष्ट हो गये। अतः उक्त कुछ प्रस्तर उपकरणों के आधार पर उस मानव के बारे में किसी प्रकार का अनुमान लगाना सम्भव नहीं है।

उपर्युक्त प्रस्तर उपकरणों के अतिरिक्त शिव प्रसाद डबराल अपनी पुस्तक प्राग ऐतिहासिक उत्तराखण्ड में उत्तराखण्ड में प्रस्तर छुरिक संस्कृति का जिक्र भी करते हैं। वहादराबाद हरिद्वार से प्राप्त प्रस्तर छुरिकाओं का प्रयोग करने वाली एक बस्ती थी ढूढ़ने पर वहाँ आज भी ये छुरिकायें प्राप्त हो सकती हैं।

1.3.3 शैल चित्र (केव पेन्टिंग)

उत्तराखण्ड में गुहा चित्र या कला प्रतिमान अभी तक प्राप्त अगल अलग स्थानों से लगभग 68 स्थानों से प्राप्त हुए हैं उन 68 स्थानों में से मुख्य लखु उड्यार, फड़कानौली पेटशाल, फलसीमा, कसाड़देवी, ल्वेथाप, हटवाल घोड़ा जनपद अल्मोड़ा में ग्वारख्य उड्यार, किमनी जनपद चमोली तथा हुडली व ठडुंगा जनपद उत्तरकाशी में स्थित हैं डबराल के अनुसार इन शैलचित्रों को बनाने वाले स्वयं गुफा में नहीं रहते थे बल्कि गुफा के बाहर अन्य गुफा आदि में रहे थे। ऐसा अनुमान है कि जिन गुफाओं में अधिक ऊँचाई पर चित्र मिले हैं वहाँ तत्कालीन मानव ने सीढ़ियों का प्रयोग किया होगा इन शैलचित्रों के निर्माण में मुख्य रूप से काला, लाल, व सफेद रंगों का प्रयोग किया गया है। इनमें से कुछ गुहाचित्रों की विषय वस्तु का वर्णन आप यहाँ पढ़ेंगे—

लखुउड्यार

यहाँ उत्तराखण्ड के सबसे उत्कृष्ट शैल चित्र पाये गये हैं। अल्मोड़ा पिथौरागढ़ मार्ग में दायीं ओर 16 किमी० की दूरी पर सुयाल नदी के तट पर स्थित नदी को झाकंती यह गुफा है। धूप, वर्षा व ठंड से चित्र काफी धूमिल हो चुके हैं जिनमें सफेद गेरू या गुलाबी व काला रंग प्रयोग किया गया है चित्रण का मुख्य विषय सामूहिक नृत्य है साथ में दैनिक चर्चा के दृश्य, पशु व विभिन्न आलेखन हैं, जैसे सात नर्तक वस्त्र और मुखौटा पहने हाथ बांध नृत्य कर रहे हैं। दो अलग अलग आकृतियों, मानव पंक्ति, पाँच दौड़ते बच्चे, लोमड़ी, नर्तकों के एक स्थान पर 34 व दूसरे स्थान पर 28 मानव गिने जा सकते हैं। लवादा या मुखौटा पहने हुए इन नर्तक मानव टोलियों को देख ऐसा लगता है कि कोई त्योहार, मेला, उत्सव हेतु ये इकट्ठा हुए हों, मानवों को जानवरों का पीछा करते दिखाये गया है। शिकारी सूअर, कुत्ता, ज्यामितिय आलेखन, मानव, यह दृश्य गुफा के फर्स से 15 मी० की ऊँचाई तक स्थित हैं इतनी ऊँचाई में यह चित्रांकन सीढ़ी के

माध्यम से या फिर वहाँ पर कोई पेड़ रहा होगा। उसकी मदद से किया गया होगा। इतने अधिक शैल चित्र मिलने के कारण लघु उड्यार को शैल चित्रों का संग्रहालय भी कह सकते हैं तथा उस समय के मानव को चित्रकला से अति प्रेम था।

फड़कानौली

फड़कानौली के गुफा चित्र लखुउड्यार से आधा किमी० पहले स्थित हैं जो तीन गुफाओं में अवस्थित हैं। यहाँ भी 40 मानव आकृतियाँ, 20 संयोजन, मानव पांक्तियाँ, नर्तक टोलियाँ तथा दूसरी गुफाओं में 10 हस्तवद्ध नर्तक दृश्य, पुष्प, तीसरी गुफा में लाल रंग से लिखी शंखलिपि आदि विद्यमान है परन्तु कोई देखरेख न होने से यह प्राचीन निधि धूमिल हो चुकी है।

पेटशाल

लखुउड्यार से 2 किमी० की दूरी पर पेटशाल गाँव के ऊपर दो गुफाओं में शैलचित्र बने हुए हैं जो धूप वर्षा आदि कारणों से धूमिल हो चुके हैं। जिनमें चार महिलायें दो जानवरों की झांकती, नीचे पंक्तिबद्ध नर्तक, लाबादा पहनें, मुखौटे पहने, आखेट दृश्य, ज्यामितीय आलेखन गवाक्ष आदि धूमिल अवस्था में स्थित हैं।

उक्त की तरह अल्मोड़ा से 8 किमी० दूर फलसीमा व कसारदेवी तथा अल्मोड़ा से ही 3 किमी० दूरी पर ल्वेथाप में भी विभिन्न गुहा चित्रों का अंकन प्राप्त होता है, जिनमें से अधिकांश धूमिल या नष्ट हो चुके हैं। अल्मोड़ा से 18 किमी० की दूरी पर हटवाल घोड़ा में भी अनेक दृश्यों में सींगों का मुखौटा पहना मानव, वृषभ, कपमाक्स आदि देखे जा सकते हैं, जनपद नैनीताल में मंगोली के निकट भी शैलचित्र प्राप्त हुए हैं। जैसे वृषभ की पीठ आदि शेष आकृतियाँ धूमिल हो चुकी हैं

ग्वारख्या उड्यार— जनपद चमोली में कर्णप्रयाग जोशीमठ मार्ग पर अलकनन्दा को झांकती चट्टान जो डुंग्री गांव से लगभग एक किमी० की दूरी पर स्थित है इस जोखिम भरी चट्टान पर यशोधर मठपाल के अनुसार 41 आकृतियों में से 30 मानव व 2 पशुओं की हैं। चित्रकला की दृष्टि से जो उत्तराखण्ड की उत्कृष्ट कृतियाँ हैं जिनके मुख्य विषय पशुओं को हांकना, भगाना व घेरना है, ध्यानावसी में बैठा मानव उसकी दतछाया में तीन मानव आकृति जो अब अति धुंधली हो चुकी हैं।

इसी तरह व जनपद चमोली के कर्णप्रयाग ग्वालदमं मार्ग पर किमनी में भी गुहा चित्र प्राप्त हुए हैं मुख्यतः पशु कटार समान वस्तुओं की धूमिल आकृतियाँ उपस्थित हैं जनपद उत्तरकाशी के मसूरी यमनोतरी मार्ग पर पुरोला से पाँच किमी दूर यमुना घाटी के हुडली नामक स्थान पर जो सम्भवः लहरदार पुच्छयुक्त शंखलिपि का आलेख विद्यमान है यही ठडुंगा नामक स्थान पर भी तीन स्थानों पर काले रंग के आलेख प्राप्त हुए हैं।

उक्त गुहा चित्रों के बारे में डबराल का मत है कि जिस प्रकार मध्य भारत में शैल कला का क्षेत्र वेतवानदी का क्षेत्र प्रदेश है उसी प्रकार उत्तराखण्ड में भारत में इस कला का मुख्य क्षेत्र सुयाल नदी का मुख्य क्षेत्र है क्योंकि सुयाल नदी के श्रोत क्षेत्र से गुफा चित्रों के अतिरिक्त कर्पमाक्स बीरखम्भ आदि विशेष रूप से मिले हैं। चमोली और उत्तरकाशी जनपदों में गुहा चित्रों के मिलने से डबराल का यह अनुमान है कि संभवतः सुयाल नदी के चित्रकारों और चमोली उत्तरकाशी के चित्रकारों में संपर्क रहा होगा। यह भी विदित होता है कि लोग गाँवों में बसे थे चोगा पहनते थे। पशु पालते थे। संभवतः प्रारम्भिक कृषि से भी परिचित थे। आमोद प्रमोद करते

थे। आग से भी परिचित थे इसलिये अंधेरी गुफाओं में उन्होंने गुहा चित्र बनाये, शायद आखेट से पेट भरने वाली संस्कृति से आगे बढ़ चुके थे।

तुलनात्मक साक्ष्यों के दृष्टिकोण से उत्तराखण्ड के गुहाचित्र मध्य प्रस्तर युग से उत्तर प्रस्तर युगीन संस्कृति से सम्बन्धित माने गये हैं कुछ महा महापाषाणीय संस्कृति से सम्बन्धित, मठपाल के अनुसार कुछ महापाषाण काल से भी प्राचीन हो सकते हैं। परन्तु वैज्ञानिक अध्ययन के उपरान्त ही इनका सही काल निर्धारण हो सकता है।

इस कला हेतु शैल कलाकारों ने उच्चस्थल जहाँ पर्याप्त धूप व हवा मिल सकती हो। और निर्माण में प्राकृतिक रंग गेरू, सफेद व काला रंग अधिक प्रयोग किया है, अधिकांश दुर्गम स्थान ही इस कला हेतु चुने गये मुख्य विषय सामूहिक नृत्य, दृश्य, पहनावे में लम्बा लबादा और मुखौटे, पशुओं को हाँकती महिला एवं पुरुष, वृक्ष, त्रिशूल, स्वास्तिक, सर्प, मानवपदचिन्ह, टोकरी आदि को दिया गया है।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए ?
(क) प्राक ऐतिहासिक काल
(ख) उपकरण
2. नीचे लिखे प्रश्नों के उत्तर दीजिए ?
(क) लखुउड़्यार शैलचित्र
(ख) ग्वारख्या उड़्यार

1.4 आद्य ऐतिहासिक श्रोत

चौथी-तीसरी शताब्दी ई०पू० से सातवीं शदी ई०पू० तक फैले प्रागैतिहासिक युग के अन्तिम खण्ड को आद्य ऐतिहासिक काल के नाम से जाना जाता है। कठोच के अनुसार भारत के किसी भाग में उस युग की प्रारम्भिक सीमा सातवीं शताब्दी ई०पू० तो किसी भाग में चौथी शताब्दी ई०पू० स्पष्टता: ऐतिहासिक काल से पूर्व चौथी-तीसरी शताब्दी तक आद्य ऐतिहासिक युग कहलाता है। वास्तविक रूप में इसी काल में सभ्यताओं का श्रीगणेश हुआ था एक तरह से प्रागैतिहासिक तथा ऐतिहासिक काल के मध्य संक्रमण का काल था परन्तु लिखित प्रमाण नहीं हैं।

अन्य ऐतिहासिक श्रोत्रों में हम मुख्यतः कप मार्क्स, ताम्र संस्कृति, शवसधान, मृदगण्ड, ग्राम नगर, पशुपालन, लिपि आदि को रखा जा सकता है, जिनसे इस भू-भाग में तत्कालीन मानव संस्कृति व उसका विकास स्पष्ट रूप से हम समझ सकते हैं।

1.4.1 कप मार्क्स

उत्तराखण्ड में कप-मार्क्स जैसी पुरातत्वीय सामग्री मिलने के कारण इस भू-भाग में मानव संस्कृति का विकास अधिक रूप से स्पष्ट होता है ये कला प्रतिमान उत्तराखण्ड के विशाल भूखण्डों व चट्टानों पर जगह-जगह ऊखल नुमा गहरे गढ़ाये गये हैं जिन्हें पुरातत्व विज्ञान की भाषा में कप-मार्क्स कहा जाता है। इनके काल निर्धारण के प्रमाण न होने के कारण कुछ

पुरातत्व वेत्ता इन्हें महापाषाणीय संस्कृति के अवशेष मानते हैं, रिबेट कारनाक ने इन्हें यूरोप में प्राप्त शैल चित्रांकन के समरूप माना है।

यहाँ से प्राप्त कप-मार्क्स मुख्य रूप से देवीधुरा, बग्वालीपोखर, बाड़ेछिना, चन्द्रेश्वर, देवलीधार, जसकोट, हल्द्वानी, नौला, मुनिया की ढाई तथा गढ़वाल क्षेत्र में गोपेश्वर के निकट मण्डल व पश्चिमी नयार घाटी के ग्वाड़ नामक स्थान में ओखली प्राप्त हुई है।

जनपद अल्मोड़ा में बग्वाली पोखर के निकट सकुन गाँव के पश्चिम में चट्टान पर से एक स्थान पर पाँच व एक स्थान पर 41 तीन सयोजनों में उत्कीर्ण है। पहले व दूसरे में 18—18 तथा तीसरे में पाँच उत्कीर्ण हैं इसके समीपवर्ती चट्टानों में भी इसी तरह के सपुंजन उत्कीर्ण हैं। बाड़ेछिना के निकट चट्टान में छोटे आकार के 37 कप-मार्क्स सपुंजन में उत्कीर्ण हैं। एक अन्य चट्टान में पाँच कप-मार्क्स के साथ त्रिशूल व स्वास्थ्यक भी उत्कीर्ण हैं इसी तरह द्वाराहाट के समीप चांचरी धार में भी छोटे-बड़े कप-मार्क्स माला के मनकों के रूप में खोदे गये हैं इसी पहाड़ी के समीप चन्द्रेश्वर शिववालय के आसपास भी कप-मार्क्स हैं जहाँ एक चट्टान में तो 200 कप-मार्क्स पंक्तिबद्ध हैं इन पंक्तिबद्ध कप-मार्क्स को देखकर ऐसी सम्भावना व्यक्त की जाती है कि कभी यहाँ बरसात रही होगी। मठपाल के अनुसार ढालू चट्टानों में पंक्तिबद्ध इन उथले गढ़ाओं के निकट रोमन अक्षर भी खुदे मानते हैं चन्द्रेश्वर के इन कप-मार्क्स का वर्णन पुरातत्वविद रिबेट कर्नाटक ने भी किया है।

द्वाराहाट आरम्भ से ही विख्यात रहा है यहाँ से 18 किमी० पश्चिम में मुनिया की ढाई भी विभिन्न कला प्रतिमानों के लिये आकर्षण का केन्द्र रहा है। यहाँ एक विशाल शिलाखण्ड पर सात ऊखल उत्कीर्ण है आठवाँ अर्द्धभग्न है सम्भवतः कुल ऊखलों की संख्या ग्यारह थी ऐसे ही यहाँ 14, 30 तथा 20 उथले गढ़ा कप-मार्क्स विद्यमान हैं। इसी तरह रानीखेत कफड़ा मार्ग में 2, रानीखेत या मकड़ा गाँव के जंगल में, जालली के निकट जोयो ग्राम के निकट 11 ऊखल विद्यमान हैं मुनिया की ढाई की दूसरी पहाड़ी 22 ऊखल एक साथ एक स्तम्भ में हैं नौला देवी मंदिर के प्रांगण में गोलाकार चट्टान पर 72 कप मार्क्स उत्कीर्ण हैं। नौला में कपमार्क्स के अतिरिक्त ताबूत व महापाषाणी स्तम्भ आदि को देखकर लगता है रामगंगा के तट पर बसा यह क्षेत्र पुरापाषाण महत्व का है।

बेतालघाट के निकट अमेल गाँव के जंगलों में भी कई जगह कप-मार्क्स खोदे गये हैं। 1965 में देवीधुरा में कपमार्क्स जो० डब्लू हेवउड ने खोजे थे। एक जगह तीन ऐसे ही अलग-अलग स्थानों पर भी कपमार्क्स पाये गये हैं। यहाँ प्रत्येक वर्ष रक्षा बन्धन पर पाषाण युद्ध होता है। जिसे देवीधुरा की बग्वाल के नाम से जाना जाता है। इसी तरह देवीधुरा शहरफाटक मार्ग पर जसकोट, तथा खैंकण, सिमतटी, दयौलीजंदा, कालामाटी व बग्वाली पोखर में भी कप-मार्क्स खोजे गये हैं। ऐसे ही फल सीमा, ल्वेथाप, दीनापानी व पढ़ियादेव आदि के निकट भी कपमार्क्स खोजे गये हैं।

इसी प्रकार गढ़वाल में गोपेश्वर के निकट मण्डल तथा पश्चिमी नयार घाटी में ग्वाड़ गुप्तीगढ़ (उत्तरकाशी) जैबाई, जोप्यों तथा मतकुण्डा (पौड़ी) में भी कप मार्क्स प्राप्त हुए हैं।

उक्त शैल कला से यह स्पष्ट होता है कि मध्य हिमालय में इतिहास पूर्व अर्थात् आद्य इतिहास की कला मौजूद थी परन्तु विधिवत उत्खनन और पुरातात्विक सर्वेक्षण के अभाव में इनका काल निर्धारण करना मुश्किल है, मठपाल के अनुसार फिर भी निष्कर्ष के तौर पर कुछ कह सकते हैं।

कुछ लोग दुर्गम स्थान व चट्टानों पर बने कपमार्क्स का सम्बन्ध उत्तर प्रस्तर कल्प से जोड़ते हैं तथा कोई प्राचीन लिपि बतलाते हैं किन्तु इनका सम्बन्ध उत्तर प्रस्तर कल्प से जोड़ना सर्वथा आपत्तिजनक है। डबराल व कुछ विद्वान इन कपमार्क्स को नवाश्मयुगीन (नीयोलिथिक)

होने की समावना व्यक्त करते हैं क्योंकि दक्षिण भारत में इस प्रकार के पुरात्वशेष नवाश्म युगीन संस्कृति के बताये जाते हैं अतः आद्य ऐतिहासिक काल में घुमन्तू मानव समाज ने इनको उत्कीर्ण कब तथज्ञा किस उद्देश्य से किया होगा निश्चित ज्ञात नहीं है।

1.4.2 ताम्र संस्कृति (Copper Hoard Culture)

उत्तराखण्ड में ताम्र संस्कृति अति प्राचीन मानी गई है। मुख्यतः यह संस्कृति उपरी गंगा घाटी में पाई गई है। जिसका उदाहरण है हरिद्वार से लगभग 13 किमी० पश्चिम में बहादुराबाद से प्राप्त ताम्र उपकरण जैसे बेंट व मीना बेंट के भाले (Larpoons) कुल्हाड़ियां तलवारें भालों की कुन्देवाली नौकें तथा कड़े (Rings or Bangles) आदि परन्तु यह स्पष्ट नहीं हो सका है कि उस सभ्यता के लोग इनका उपयोग किस प्रकार करते थे इन ताम्र उपकरणों के साथ गैरिक भाण्ड सदृश 'लोहित मृदभाण्ड' (Red ware) भी प्राप्त हुए थे कुछ विद्वान इन उपकरणों को नर्मदा तथा गोदावरी घाटियों से प्राप्त पौटरी के समरूप मानते हैं।

उक्त प्रकार के ताम्र उपकरण उत्तर प्रदेश के राजापुर, परसू फतेहगढ़ विठूर परिथार बिसौली, सरथोली तथा शिवराजपुर से भी प्राप्त हुए हैं तथा उत्तर प्रदेश से बाहर विन्ध्यप्रदेश, मध्य प्रदेश, हैदराबाद, बिहार, पश्चिमी बंगाल और उड़ीसा से भी प्राप्त हुए हैं।

कठोच के अनुसार उत्तराखण्ड का पाद प्रदेश नसीरपुर अम्बखेड़ी जिला सहारनपुर व राजपुर परसू जिला बिजनौर से भी बहादुराबाद की तरह के ताम्र उपकरण प्राप्त हुए हैं जो वर्तमान में गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय (हरिद्वार) के संग्रहालय में संग्रहित हैं।

एक ताम्र उपकरण जनपद अल्मोड़ा (1986) तथा आठ ताम्र उपकरण जनपद पिथौरागढ़ के बनकोट से प्राप्त हुए थे बनकोट में प्राप्त ताम्र उपकरण वर्तमान में राजकीय संग्रहालय अल्मोड़ा में हैं। कुछ विद्वानों ने इन्हें 'यसीय कुठार' तथा म०प्र० जोशी ने अनुष्ठान में प्रयुक्त परशु— पुरुष माना है डी० शर्मा इन्हें मानवकृति नहीं मानते हैं ये इन्हें ताम्र उपकरण संस्कृति के नये 'स्कन्धित कुठार' मानते हैं।

इस प्रकार के उपकरण अन्तर्वेदी में शिवराजपुर तथा विसोल में भी मिले हैं कुछ विद्वान इन्हें गैरिक मृदभाण्ड संस्कृति के समकालीन मानकर इनका काल 2800 ई० पू० तथा 1600 ई० पू० के मध्य मानते हैं।

विचारणीय प्रश्न है कि उस सभ्यता के लोग इनका क्या उपयोग करते थे क्या ताम्र खदानों में प्रयोग होते थे पर इनके आकार प्रकार से ऐसा लगता नहीं है इस ताम्र मानवाकृति (Copper-anthropomorphs) के उपकरणों से क्या करते थे अभी विद्वान अनभिज्ञ हैं, इतना निश्चित है कि ताम्र संस्कृति के निर्माता उत्तराखण्ड में ही थे क्योंकि ताम्र खनन के दर्जनों स्थान यहाँ स्थित हैं। जो कार्य मुख्यतः आगरी या टमट जाति के लोग करते थे। अभी तक उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर इस संस्कृति के निर्माता व इसका काल अध-ऐतिहासिक काल के आरम्भिक चरण को माना गया है।

1.4.3 शवाधान

उत्तराखण्ड के विभिन्न स्थानों से महापाषाणाय शवाधान भी खोजे गये हैं जिनमें सर्वप्रथम 1956 में शिवप्रसाद द्वारा मलारी में खोजे गये थे, 1948 में किन्नौर (हि०प्र०) के लिप्पा गाँव में राहुल द्वारा तथा यशोधर मठपाल द्वारा जिला अल्मोड़ा में पश्चिमी रामगंगा घाटी नौला जैनल

आदि गाँवों में भी शवाधान खोजे गये। नीति घाटी में स्थित मलारी के शवाधान मण्डलाकार हैं तथा शवों के चारों ओर अनगढ़ शिलायें खड़ी कर उसे बड़े-बड़े पटालों से ढका गया था। शवाधानों में मनुष्य, घोड़ों, मेढ़ों के कंकालों के साथ सिर के निकट मृत्तिका पात्र तस्त्ररियाँ, टोंटी व कुतुप थे कुतुपों पर चमकदार पोलिस व हथ्ये पर मोनाल का चित्र बना है शवों को घुटने मोड़कर औंधा लिटाया गया था जिन्हें विद्वान किसी पशुचारक जाति की समाधियाँ मानते हैं इस तरह के उदाहरण 2000ई0पू0 ईरान, अफगानिस्तान व मध्य एशिया के देशों में पाये गये हैं।

उक्त मृत्तिका शवों के अतिरिक्त लौह उपकरण, पशु कंकाल, कुत्ते, बकरी व भेड़ आदि भी पाये गये हैं। इसी तरह नौला जैनल के शवाधानों से यह पता चलता है कि यह लोग कृषि व पशुपालन जीवी थे। जो लगभग ढाई-तीन सौ वर्ष पूर्व यहाँ रहते थे। यहाँ के शवाधानों को शिस्ट बरिअल तथा अर्न बरिअल कहा गया है। इन शवों के साथ मलारी की तरह विभिन्न मृत्तिका पात्र चित्रित मृदभाण्ड या लाल रंग के हैं इन स्थलों के अतिरिक्त भी जिला अल्मोड़ा में इस महापाषाणीय संस्कृति के उदाहरण मौजूद हैं।

यद्यपि अभी इन शवाधानों का विस्तृत परीक्षण होना है फिर भी इन्हें महासंस्कृति का प्रतीक माना गया है जो खशों की संस्कृति थी क्योंकि द्वितीय शताब्दी ई0पू0 मध्य हिमालय खशों की अनेक जातियों का केन्द्र था।

इस महासंस्कृति के पश्चात् उत्तराखण्ड में चित्रित धूसर मृदभाण्ड का समय माना गया है जो अलकनन्दा घाटी, काशीपुर रामगंगा घाटी व पुरोला से प्राप्त हुए हैं इस चित्रित धूसर मृदभाण्ड संस्कृति को विद्वान महाभारतकालीन आर्यों के साथ जोड़ते हैं जिसका काल प्रथम शताब्दी ई0 पू0 माना जाता है।

उक्त पुरातात्विक श्रोतों के अतिरिक्त ऐतिहासिक श्रोत भी उत्तराखण्ड पर प्रकाश डालते हैं जिनमें मुख्यतः पुराभिलेख, मुद्रायें, स्मारक तथा कलाकृतियाँ, समकालीन आकृति चित्र, रेखाचित्र, कलात्मक चित्र व शासनादेश आदि।

पुराभिलेख में शिलाओं, शक्तिस्तम्भों, प्रतिमाओं, ताम्रपत्रों आदि में उत्कीर्ण पुराभिलेख अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं इनमें तिथि अंकित होने पर अति विश्वसनीय हो जाते हैं, अभिलेखों की श्रृंखला में अशोक का कालसी शिलालेख प्राचीनत है फिर त्रियुगी नारायण विष्णुमूर्ति लेख, गोपेश्वर तथा बाड़ाहाट के शक्तिस्तम्भ लेख, पाण्डुकेश्वर, कण्डारा वालेश्वर, बागेश्वर आदि सीनों से भी शिलालेख प्राप्त हुए हैं। चन्द व पंवार शासकों के अनेक ताम्रपत्र भी महत्व के हैं।

उत्तराखण्ड से बाहर प्राप्त अभिलेख भी यहाँ के महत्वपूर्ण श्रोत सिद्ध हुए हैं जैसे भरहुत दानलेख, समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति तथा बोधगया का शिलालेख आदि।

उक्त की तरह मुद्रायें भी महत्वपूर्ण श्रोत हैं जिन्हें मुद्रा लेख कह सकते हैं प्राप्त मुद्राओं में कुणिन्द, यौधेय, कुषाण स्वर्ण मुद्रा, चन्द व पंवार राजवंशों की मुद्रायें आदि। स्मारक व कलाकृतियाँ भी महत्वपूर्ण श्रोत हैं, इष्टका-चितियों (Brick Altars), काष्ठमंदिर, देवप्रतिमायें, गढ़/कोट (कोट/आदि)।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न :

1. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए ?
(क) कप माक्स
(ख) ताम्र संस्कृति

2. नीचे लिखे प्रश्नों के उत्तर दीजिए ?

(क) शवाधान

(ख) नौला जैनल

1.5 सारांश

इतिहास किसी भी समाज, समुदाय व देश की विकास यात्रा का एक समुचित लेखा जोखा होता है। उस विकास यात्रा के इतिहास को जानने के विभिन्न श्रोत होते हैं जिनके माध्यम से हम उस समाज के विविध आयाम तलाश सकते हैं।

परन्तु यहाँ हमने उत्तराखण्ड के इतिहास जानने के विभिन्न क्षेत्रों में से सिर्फ पुरातात्विक क्षेत्रों को जानने का प्रयास किया है जिनके माध्यम से हमें उत्तराखण्ड में मानव गतिविधियों की प्राचीनता के बारे में जानकारी हासिल होती है। इन पुरातात्विक श्रोतों के भी विविध प्रकार हैं उन्हीं को यहाँ जानने का प्रयास किया गया है।

सर्वप्रथम हमें प्राक ऐतिहासिक श्रोतों के रूप में विभिन्न स्थानों से अनेक उपकरण प्राप्त हुए हैं जिनका निर्माण मानव अपनी आवश्यकतानुसार करते चला गया, जो कला व विकास के साथ निर्मित होते गये जैसे प्रस्तर उपकरण, काष्ठ उपकरण पशुअस्थितियों निर्मित उपकरण तथा धातु उपकरण आदि परन्तु कुछ उपकरणों के आधार पर उस मानव के बारे में किसी प्रकार का निश्चित अनुमान लगाना सम्भव नहीं है इसी प्रकार प्राक् ऐतिहासिक श्रोत का दूसरा महत्वपूर्ण श्रोत शैल चित्र हैं। ये उत्तराखण्ड के अनेक स्थानों में बिखरे पड़े हैं जो संरक्षण व संवर्द्धन न होने के कारण निरन्तर नष्ट होते जा रहे हैं यह शैल चित्र उत्तराखण्ड के लगभग 68 स्थानों से प्राप्त हुए हैं। ऐसे ही शैल चित्र उत्तराखण्ड से बाहर भी प्राप्त हुए हैं जिनसे इनकी वसासत वेशभूषा, कृषि व्यवस्था, आखेट व आमोद प्रमोद आदि के बारे में जानकारी प्राप्त होती है तथा पेट भरने वाली संस्कृति से कोसों आगे बढ़ चुके थे। इन शैल चित्रों को मध्य प्रस्तर युग से उत्तर प्रस्तर युगीन संस्कृति से सम्बन्धित माना गया है परन्तु वैज्ञानिक अध्ययन के उपरान्त ही सही काल निर्धारण हो सकता है।

उक्त की तरह आद्य ऐतिहासिक श्रोतों में कपमाक्स, ताम्र संस्कृति और शवाधान, मृदमाण्ड और लिपि आदि हैं चौथी शताब्दी ई0पू0 से सातवीं सदी ई0पू0 तक फैले प्राग ऐतिहासिक युग के अंतिम खण्ड को आद्य ऐतिहासिक काल के नाम से जाना जाता है माना जाता है कि इसी काल में सभ्यताओं का विकास हुआ था इसे संक्रमण काल भी कहा जाता है।

उक्त कपमाक्स उत्तराखण्ड के विशाल भूखण्डों व चट्टानों पर जगह-जगह ऊखल नुमा गढ़ाये गये हैं पर पुरातत्व विज्ञान की भाषा में इन्हें कपमाक्स कहते हैं काल निर्धारण न हो पाने के कारण कुछ विद्वान इन्हें महापाषाणीय संस्कृति के अवशेष तो कुछ यूरोप में प्राप्त शैल चित्रांकन के स्वरूप मानते हैं इनके प्राप्ति स्थान कुमाऊँ में देवीधुरा, बग्वाली पोखर, बाड़ेछिना, देवलीधार, व हल्द्वानी तथा गढ़वाल मण्डल में पश्चिमी नयार घाटी आदि हैं। इन शैल फलन से यह स्पष्ट है कि मध्य हिमालय में आद्य इतिहास की कला मौजूद है कुछ इन्हें उत्तर प्रस्तर काल से तो कुछ नवाश्मयुगीन नीयोलिथिक बताते हैं। परन्तु विधिवत ऋखनन व पुरातात्विक सर्वेक्षक के अभाव में इनका काल निर्धारण सम्भव नहीं है ना ही इनके निर्माण उद्देश्य के बारे में कुछ कह सकते हैं।

उत्तराखण्ड की ताम्र संस्कृति भी अति प्राचीन मानी गई है शैल चित्र, कप माक्स की तरह यह भी जगह जगह से प्राप्त होते हैं प्राप्त विभिन्न ताम्र उपकरणों के बारे में यह स्पष्ट नहीं है कि उक्त सभ्यता के लोग इनका किस प्रकार उपयोग करते होंगे। विशेषकर मानवाकृति

उपकरणों से क्या करते होंगे, इतना निश्चित है कि ताम्र संस्कृति के निर्माता उत्तराखण्ड में थे तथा इसका काल आद्य ऐतिहासिक काल के आरम्भिक चरण को माना गया है।

विभिन्न स्थानों से प्राप्त शवाधानों के बारे में यह सम्भवना व्यक्त की गई है कि किसी पशुचारक जाति की समाधियाँ थीं इन शवागारों में मुख के निकट विभिन्न मृत्तिका पात्र तथा मुख्यतः कुत्ते, बकरी, व भेड़ आदि के कंकाल भी पाये गये हैं यह पशुपालन जीवी लोग यहाँ ढाई तीन सौ वर्ष पूर्व यहाँ रहते थे यद्यपि अभी इनका व्यापक अध्ययन होना है फिर भी इन्हें मध्य संस्कृति का प्रतीक माना गया है इस चित्रित घूसर मृदमाण्ड संस्कृति को महाभारत कालीन आर्यों के साथ भी जोड़ा जाता है।

1.6 स्व मूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

इकाई 1.3 के स्व मूल्यांकित प्रश्न

1. (क) देखिए 1.3.1 प्राक् ऐतिहासिक स्रोत
(ख) देखिए 1.3.2 उपकरण
2. (क) देखिए 1.3.3 शैलचित्र
(ख) देखिए 1.3.3 शैलचित्र का उपभाग

इकाई 1.4 के स्व मूल्यांकित प्रश्न

1. (क) देखिए 1.4.1 कप मार्क्स
(ख) देखिए 1.4.2 ताम्र संस्कृति
2. (क) देखिए 1.4.3 शवाधान
(ख) देखिए 1.4.3 शवाधान

1.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. डबराल, शिवप्रसाद : प्राग ऐतिहासिक उत्तराखण्ड, नवयुगान्तर प्रेस शारदा रोड मेरठ, संवात् 2055 वि०.
2. पाण्डे, बदरी दत्त : कुमाऊँ का इतिहास अल्मोड़ा बुक डिपो, अल्मोड़ा, 1990
3. अठकिन्सन : ईटी. हिमालयन गजेटियर : भाग 1, 2 लो प्राईस पब्लिकेशन दिल्ली, 2002.
4. कठोचः यशक्त सिंह : उत्तराखण्ड नवीन इतिहास, : विस्तर पब्लिकेशन कम्पनी, देहरादून 2010.
5. जोशी : एम० पी० : उत्तराखण्ड कुमाऊँ गढ़वाल हिमालय अल्मोड़ा बुक डिपो अल्मोड़ा 1996.
6. मिश्रा : एन. एन : सोर्सोज मैटीरियल आफ कुमाऊँ हिस्ट्री अल्मोड़ा.
7. पाठक : शेखर, पहाड़ — 3—4 1989, नैनीताल.
8. मठपाल : यशोधर : उत्तराखण्ड शैलश्रुती कला : (शरद नन्दा) 2001 नैनीताल.
9. पाठक शेखर : पहाड़ — 2 नैनीताल, 1986.

1.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1. उत्तराखण्ड के पुरातात्विक श्रोत्रों पर एक लेख लिखिए ?
2. शैलचित्रों का उल्लेख कीजिए ?
3. उत्तराखण्ड के आद्य ऐतिहासिक श्रोत्रों पर लेख लिखिए ?
4. कप मार्क्स का उल्लेख कीजिए ?
5. उत्तराखण्ड के पुरातात्विक श्रोत्रों पर एक समीक्षात्मक लेख लिखिए ?

इकाई दो

उत्तराखण्ड के इतिहास के स्रोत: साहित्यिक

- 2.1 प्रस्तावना
- 2.2 उद्देश्य
- 2.3 उत्तराखण्ड के इतिहास के साहित्यिक स्रोत: भाग-एक
 - 2.3.1 वैदिक
 - 2.3.2 महाकाव्यकालीन (महाभारत, रामायण)
 - 2.3.3 पुराण
- 2.4 उत्तराखण्ड के इतिहास के साहित्यिक स्रोत: भाग-दो
 - 2.4.1 सामान्य इतिहा
 - 2.4.2 यात्रा इतिहास
 - 2.4.3 स्थानीय/समकालीन
- 2.5 सारांश
- 2.6 स्व मूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर
- 2.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 2.8 निबन्धात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

हिमालय में हमारे पूर्वजों ने शैलचित्र, कपमाक्स, मृदमाण्ड, शिलालेख, ताम्रसंस्कृति व स्मारकों के बाद साहित्य— मौखिक एवं लिखित दोनों रूपों में सुरक्षित रखना आरम्भ किया, विभिन्न काव्य-कथाओं में हिमालय का वर्णन मिलता है यद्यपि उतना गहन चित्रण नहीं है। प्राचीन ऋषियों के हिमालय तथा निवास के संदर्भ मिलते हैं, बुद्ध, शंकराचार्य ऋषभदेव, मणिपद्म, ईसामसीह, गुरुनानक, गोरखनाथ, जैसुईट फादर्स और विवेकानन्द तक हिमालय और हिमालय पार तक की यात्रायें जुड़ी हैं। पाण्डवों का हिमालय आगमन प्रख्यात है। हिमालय को अब तक कालिदास से अधिक प्रखर तरीके से किसी ओर ने परिभाषित नहीं किया है। हिमालय के इसी आकर्षण ने ऋषियों, कवियों, धर्मप्रचारकों को ही नहीं सामान्य जनों को भी बुलावा दिया।

यहाँ विभिन्न समाजा संस्कृतियों का आमगमन और नसाब पिछले दो हजार से अधिक वर्षों में विकसित होता गया है। अन्ततः यही सालों की विकास यात्रा कम ही सही साहित्य के रूप में विकसित हो सकी।

उक्त सन्दर्भ में आप यहाँ पढ़ेंगे कि किसी भी क्षेत्र विशेष के इतिहास को जानने के जो विभिन्न स्रोत होते हैं उन्हीं में से एक महत्वपूर्ण स्रोत साहित्यिक है, यह बात उत्तराखण्ड के सन्दर्भ में भी लागू होती है। प्राचीनतम भारतीय साहित्य लेकर समकालीन साहित्य में उत्तराखण्ड का इतिहास विचित्र है। इन साहित्यिक स्रोतों को हम विभिन्न भागों में बाँट सकते हैं। जैसे धार्मिक साहित्य व उसके उपभाग— वैदिक या ब्राह्मण साहित्य, समकालीन साहित्य, पुराण विदेशी साहित्य, यात्रा वृतांत स्थानीय व समकालीन साहित्य आदि जिनके माध्यम से आप उत्तराखण्ड की ऐतिहासिक प्राचीनता को जान व समझ सकते हैं।

2.2 उद्देश्य

- साहित्यिक स्रोतों की ऐतिहासिक प्राचीनता का उल्लेख
- भारतीय प्राचीनतम साहित्य में उत्तराखण्ड का चित्रण
- सामान्य साहित्य में उत्तराखण्ड

2.3 उत्तराखण्ड के इतिहास के साहित्यिक स्रोत: भाग—एक

अब आप यहाँ उत्तराखण्ड के धार्मिक साहित्यिक स्रोतों के बारे में पढ़ेंगे। इनमें मुख्यतः प्राचीनतम स्रोत ऋग्वेद है फिर शतपथ ब्राह्मण, पुराण, महाकाव्य आदि में ऐसा चित्रण मिलता है जिसमें यहाँ की प्राचीनता, इतिहास, समाज, संस्कृति अभिव्यक्त होती है। उत्तराखण्ड से सम्बन्धित साहित्य में सम्पूर्ण मध्य हिमालय के नृवंशीय अध्ययन हेतु अकूत सामग्री उपलब्ध है। महाभारत के विभिन्न पर्वों में यहाँ के भूगोल, इतिहास, धर्म अर्थ आदि के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण तथ्य उपलब्ध है। वहीं दूसरी ओर मुख्यतः उत्तराखण्ड पर केन्द्रित मानसखण्ड व केदारखण्ड नामक दो स्थानीय पुराण उपलब्ध हैं जिन्हें कुछ विद्वान स्कन्द पुराण के अन्तर्गत मानते हैं। इसके अतिरिक्त बौद्धों के पालि साहित्य में भी उत्तराखण्ड का चित्रण है।

अतः उपलब्ध धार्मिक साहित्य में यहाँ की जाति, धर्म, संस्कृति, समाज आदि का समुचित मूल्यांकन कर अनेक तथ्य सामने आ सकते हैं। जिस पर अनेक विद्वान अपने-अपने स्तर से काम कर चुके हैं या कर रहे हैं।

2.3.1 वैदिक

यदि हम आद्य इतिहास की जानकारी हेतु पुरातात्विक प्रमाणों को मुख्य मानते हैं तो दूसरी ओर साहित्यिक प्रमाण भी कम महत्व के नहीं है। वशर्ते उनका आलोचनात्मक विश्लेषण हो, सौभाग्य से हमें उत्तराखण्ड या मध्य हिमालय के साहित्यिक स्रोत उपलब्ध हैं। ऋग्वेद के अनुसार आर्य लोग पाँच समूहों में विभक्त थे इनमें से एक समूह पुरुवंशी जिसको बाद में कुरुवंशी या भरतवंशी भी कहा गया था इन्हीं में से एक राजा त्रित्सु मध्य हैमवत का शासक था इसी मध्य हैमवत में सम्भवतः कूर्मान्वल व गढ़वाल सम्मिलित थे, हिमालय की

धार्मिक पवित्रता को देखते हुए इसे विभिन्न ग्रन्थों में हिमालय, हैमवत, हेमाद्रि, हिमगिरि, हेमवन्त व गिरिराज आदि नामों से वर्णित किया गया है वैसे इसका वैदिक नाम सुमेरु या मेरुमाना माना जाता है। ,

वैदिक साहित्य में ही आप उत्तराखण्ड का उल्लेख उशीनगर प्रदेश के नाम से भी पाएंगे। सम्भवतः यमुना से गंगा अर्थात् गंगा से काली तक का क्षेत्र उशीनगर कहलाता था। ऋग्वेद में भी उत्तराखण्ड का नाम उशीनगर भी मिलता है।

ऋग्वेद को विश्व का प्राचीनतम ग्रन्थ माना जाता है जिसमें सप्तसिन्धु प्रदेश व सरस्वती की कठिन पहाड़ियों में आर्यों की वस्तियों का वर्णन किया गया है। सरस्वती व सरस्वती की कठिन पहाड़ियों में आर्यों की बस्तियों का वर्णन किया गया है। सरस्वती के अतिरिक्त गोमती व सरयू का उल्लेख भी मिलता है। साथ ही विद्वानों का यह भी मत है कि सम्भवतः आर्यों के आगमन तिब्बत से सतलज के उद्गम स्थान के मार्ग से होकर कुमाँऊ गढ़वाल से इन्द्रप्रस्थ की ओर हुआ था। रावर्ट शंकर के अनुसार मेरु पर्वत व मानसरोवर क्षेत्र को आर्यों का पितृकुण्ड मानकार वहाँ से कुछ उत्तर-पश्चिम क्षेत्र में दक्षिणी ढालों पर बसने तथा कुछ ईरान की ओर गये थे। ऋग्वेद में इस प्रकार के वर्णन के आधार पर कुछ विद्वान आर्यों का मूल स्थान गढ़वाल मानते हुए सप्तसिन्धु को गढ़वाल में बहती सात नदियों को माना है अतः सरस्वती उत्तर कुरु अर्थात् मध्य हिमालय की वर्तमान सरस्वती है और सप्तसिन्धु प्रदेश अलकनन्दा का प्रवाह क्षेत्र है। कठोच के अनुसार ऋग्वैदिक काल में जिस सप्त सिन्धु एवं सरस्वती के उच्च कांठों में आर्यों एवं दासों में घोर युद्ध हुआ जहाँ से भरतजनों का मध्य की ओर संक्रमण हुआ तथा उत्तर कुरु एवं दक्षिण-सरस्वती की कल्पना की, वह प्रदेश हिमवन्त अर्थात् मध्य हिमालय था जो वर्तमान उत्तराखण्ड तथा उसका पड़ोस ही है परन्तु इन मतों से अधिकांश विद्वान सहमत नहीं हैं।

एतरेय ब्राह्मण में उत्तर कुरु को 'हिमवन्त' के पार परेण हिमवन्त अर्थात् उत्तर दिशा के एक पवित्र देश के रूप में वर्णित किया है परेण हिमवन्त अधिकांश उत्तर कुरु हिमालय के उत्तर में फैला है जब कि दक्षिणी छोर कुमाँऊ-गढ़वाल हिमालय तक फैला है। उत्तर वैदिक काल में जब आर्यों का आगमन उत्तर कुरु के हिमवन्त क्षेत्र से दक्षिण में कुरुक्षेत्र में हुआ तब उन्होंने ऋग्वेदीय सरस्वती को यहाँ भी आहूत किया था इस भू-भाग को कुरु या कुरु जाडल नाम दिया, ऐतरेय ब्राह्मण तथा कोषीतकि उपनिषद् में उशीनगर को कुरु पांचालों और वंशजों का पड़ोसी बताया गया है। गोपथ ब्राह्मण में उशीनगर उत्तरीक्षेत्र के रहने वाले बताये गये हैं।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि प्राचीनतम वैदिक साहित्य का मुख्य ग्रन्थ ऋग्वेद आदि में मध्य हिमालय अर्थात् उत्तराखण्ड का जो वर्णन मिलता है उससे यह ज्ञात होता है कि वैदिक काल से इस क्षेत्र में आर्यों का आगमन शुरू हो चुका था तथा उनके विभिन्न जातीय समूह यहाँ बसते चले गये जिनमें मुख्य व प्रभावी जाति खस मानी जाती है।

बौद्ध साहित्य में भी उत्तराखण्ड का उशीनगर नाम से चित्रण मिलता है। जिस उशरिध्वज पर्वत पर महात्मा बुद्ध गये थे। जिसकी पहचान कनखल(चंडी की पहाड़ी) से की जाती है। बौद्ध ग्रन्थ दिव्यावदान में उभरिगिरि व विनचपिटक में उशरिध्वज के नाम से उत्तराखण्ड को जाना गया है। इसी प्रकार कथासखिसागर में भी कनखल (हरिद्वार) के निकट क्षेत्र को उशीनगर नाम से वर्णित किया गया है।

2.3.2 महाकाव्यकालीन महाभारत रामायण

महाभारत के वन पर्व में किरात, तंगड़ कुलिन्द आदि जातियों का उल्लेख मिलता है। जो यहाँ की नदी घाटियों में निवास करती थीं, त्रिलोचन पाण्डे के अनुसार दुर्योधन ने सभा पर्व में युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में उपस्थित राजाओं के नाम गिनाते समय कहा कि मेरु मंदिर पर्वतों के बीच शैलोदा नदी के तट पर कीचक वेणु वृक्षों की छाया में, खसएकासन, दीर्घ वेणु, पारंद, कुलिंद, तंगड़ और परतगंड नामक पहाड़ी राजा रहते हैं जो पिपीलिका जाति स्वर्ण और काले रंग के चवंर आदि लेकर आये थे। द्रोण पर्व में स्थानीय जातियों दरद, तंगड़ खस, लयांक और कुलिन्द आदि को ग्लेच्छ कहा गया है उद्योग पर्व एवं कर्ण पर्व में भी इन जातियों का उल्लेख मिलता है।

महाभारत में ही बाणासुर की पुत्री ऊखा और अनिरुद्ध की प्रेम कथा का चित्रण है। इस संदर्भ में ऊखा के नाम से ऊखमिठ की स्थापनाल्या इस नरेश की राजधानी शोणितपुर(वर्तमान सलाण) को माना गया है। इसी काल में पाण्डवों द्वारा गन्धमार्दन पर्वत पर जाते हुए पाण्डुकेश्वर में मूर्ति की स्थापना तथा उसका नाम पाण्डुकेश्वर रखा था, कुलिन्द राज सुबाहु का कौरवों तथा तोमरों से युद्ध का वर्णन भी मिलता है। आदि पर्व में कुरुजडलदेश के अन्तर्गत उत्तरकुल व दक्षिण कुल का उल्लेख है। सभा पर्व में अर्जुन की उत्तर दिग्विजय के संदर्भ में पशुप/किम्पु रुषदेश (किन्नर देश), यामुनपर्वत, कालकूट, कुणिन्द, श्वेतपर्वत, विष्णुपद (गंगाद्वार) उर्शरिबीज आदि भौगोलिक एवं जातीय वर्णन है। पाण्डवों के राजसूय यज्ञ में उत्तरकुरु से गंगाजल, पुष्पबल सम्पन्न औषधियां, पिपीलिका स्वर्ण तथा मधु मेंट में आया था। इस संदर्भ में जागुड़, रामठ, खश व तंगड़ आदि जातियों का उल्लेख है। कठोच के अनुसार दुर्योधन के पक्षधर पर्वतीया, ऋग्वेद कालीन पारावत ही थे।

महाभारत काल में यहां की कुछ राजनीतिक इकाइयों का भी वर्णन मिलता है। जैसे— सभापर्व, आरण्यक पर्व व भविष्य पर्व में कुणिन्द का उल्लेख है अर्थात् मध्य हिमालय की उक्त जातियां उत्तरकुरु क्षेत्र में निवास करती थीं पाण्डव काल में कनखल से आगे गंगाघाटी पर्वतीय प्रदेश कुलिन्द जनपद कहलाती थी। जहां पाण्डव पहुंचे थे, कुणिन्द जनपद छोटी-छोटी इकाइयों में बंटा था, तालमी के अनुसार जो हिमालय के ढालों पर व्यास, सतलज, यमुना और गंगा के स्रोत प्रदेश में फैला था। अम्बाला से लेकर सहारनपुर, देहरादून, गढ़वाल और अल्मोड़ा तक से कुणिन्द मुद्रायें मिलने से यह स्पष्ट हो गया है कि कुणिन्दों का विस्तार सतलज से लेकर काली (शारदा) तक फैला पर्वतीय प्रदेश और उसके पदतल में स्थित भावर था, यही नहीं महाभारत में यहां के चार आश्रमों का वर्णन भी है। जैसे— कण्वाश्रम, बदरीकाश्रम, भरतद्वाजाश्रम, शुक्रश्रम सम्भवतः ये आश्रम वेद विद्या के केंद्र थे।

रामायण के बालकाण्ड से ज्ञात होता है कि उत्तराखण्ड के पूर्वी भाग में बहने वाली कौशिकी(कोसी) नदी के तट पर काशिकाश्रम था इस आश्रम के सम्बन्ध में कौशिक (विश्वामिश्र) ने श्रीराम व लक्ष्मण से कहा था कि कुशराजा के कुल में उत्पन्न होने से मुझे कौशिक और मेरी बहिन को जिसका नाम सत्यवती था कौशिकी भी कहते हैं।

इस प्रकार महाकाव्यकालीन धार्मिक ग्रन्थों में भी मध्य हिमालय उत्तराखण्ड का विभिन्न नामों के साथ अनेक सन्दर्भों में उल्लेख मिलता है। जो यहां की ऐतिहासिक प्रमाणिकता को सिद्ध करती है।

2.3.3 पुराण

जिस प्रकार आपने उपर पढ़ा कि उत्तराखंड के साहित्यिक श्रोतों में वैदिक और महाकाव्यकालीन आदि ग्रन्थों का महत्व है उसी प्रकार पुराण भी यहां के साहित्यिक भागों में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

गुप्त साम्राज्य के पतन के पश्चात उत्तरी भारत में जिन छोटे-छोटे राज्यों का उदय हुआ उन्हीं में एक ब्रह्मपुर राज्य था जिसका वर्णन तालेश्वर से प्राप्त ताम्रपत्रों में है। जिनमें राज्य का नाम पर्वताकार व राजधानी ब्रह्मपुर बताई गई है। इस पर्वताकार राज्य का उल्लेख मार्कण्डेय पुराण व वृहत्संहिता में भी मिलता है। सम्भवतः यह पर्वताकार राज्य उत्तराखण्ड था परन्तु इसकी राजधानी ब्रह्मपुर के सम्बन्ध में विभिन्न मत हैं जैसे— उत्तरकाशी, श्रीनगर, पाण्डुवाला, ढिकुली, लालनपुर, वैरापट्टन और कत्यूर बागेश्वर आदि। इसलिए इस पर्वताकार राज्य के सम्बन्ध में सभी उपलब्ध साक्ष्यों एवं विकल्पों का मूल्यांकन कर ही ब्रह्मपुर की वास्तविक स्थिति स्पष्ट हो सकती है।

पुराणों में न सिर्फ पर्वताकार राज्य का वर्णन है अपितु कुमाऊं एवं गढ़वाल दोनों क्षेत्रों का विस्तार से उल्लेख है। अठकिन्नर, डबराल व त्रिलोचन पाण्डे के अनुसार एक ओर ब्रह्मपुराण, वायुपुराण में यहां की नाग, विद्याधर, यक्ष किन्नर आदि जातियों का वर्णन है। स्कन्द पुराण में मानस खण्ड में भी इसका विस्तृत उल्लेख है। जहां कोसी(कौशिकी) और सुवाल (शाम्मली) नदियों के बीच में स्थित काषाय पर्वत के नाम से अल्मोड़ा को पर्वतीय भूभाग वर्णित है, भागवत पुराण में मार्कण्डेय ऋषि की कथा तथा चित्रशिला उल्लिखित है। चित्रशिला जो वर्तमान में काठगोदाम के निकट रानीबाग के नाम से प्रसिद्ध है पुण्य भद्रा सम्भवतः गौला नदी है।

वायु पुराण, विष्णु पुराण, भागवत पुराण, मार्कण्डेय पुराण व हरिवंश पुराण में किन्नर, सिद्ध, यक्ष, दानव, गन्धर्भ, दैत्य आदि जातियों के संकेत मिलते हैं। पुराणों के अतिरिक्त संस्कृत एवं हिन्दी के प्राचीन साहित्यकारों ने भी इन जातियों की विशेषतायें उल्लिखित की हैं।

कुमाऊं की तरह पुराणों में गढ़वाल क्षेत्र में भी वर्णित है। विष्णु पुराण, वायुपुराण, पद्मपुराण, बामनपुराण, स्कन्ध पुराण के अनुसार गढ़वाल में बदरी, केदार मद्रांचल, मेरुपर्वत, गन्धमाधन, पाण्डवों का आगमन, शिव पार्वती का निवास स्थान तथा बद्री को विष्णु की तपस्थली माना है और उत्तराखण्ड को उत्तरकुण्ड, हेमवत, मानवखण्ड, केदारखण्ड, हिरण्यमाया व सुवर्ण भूमि आदि नामों से उल्लेख किया है।

उत्तराखंड को लेकर दो ग्रन्थ मानवखंड व केदारखंड की रचना हुई। जिन्हें स्कन्दपुराण का ही भाग माना जाता है इनके अनुसार टोंस—यमुना से काली—शारदा तक फैला उत्तराखंड मानसखंड व केदारखंड दो भागों में बंटा है। इन ग्रन्थों के अनुसार देहरादून, उत्तरकाशी, टिहरी, चमोली, व हरिद्वार क्षेत्र को केदारखंड में माना गया है। तथा उत्तराखंड का पूर्वी भाग पिथौरागढ़, अल्मोड़ा और नैनीताल जिले मानसखण्ड में। अ

अतः निश्चित रूप से हम पुराणों के उल्लेखानुसार उत्तराखण्ड के बारे में विस्तार से जान सकते हैं।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1- निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—

क. वैदिक स्रोत

ख. महाभारत कालीन स्रोत

2. नीचे लिखे प्रश्नों के उत्तर दीजिए—

क. पुराण

ख. महाकाव्य

2.4 उत्तराखण्ड के इतिहास के साहित्यिक स्रोत: भाग—दो

अभी तक आपने पढ़ा साहित्यिक स्रोतों के भाग—एक में मुख्य रूप से धार्मिक साहित्य के बारे में जैसे— वैदिक, महाकाव्य व पुराण आदि, अब आप यहां पढ़ेंगे सामान्य साहित्य, यात्रा साहित्य एवं स्थानीय/समकालीन साहित्य के बारे में, जिसके माध्यम से आप पढ़ेंगे पूर्व से वर्तमान तक उत्तराखण्ड के इतिहास पर विभिन्न प्राचीन लेखकों स्वदेशी व विदेशी यात्रियों के वृत्तान्त या फिर स्थानीय व समकालीन विद्वानों, इतिहासकारों द्वारा लिखिए। जिनके अध्ययनों से यहां के इतिहास को गहनता से समझा जा सकता है।

2.4.1 सामान्य साहित्य

सर्वप्रथम सामान्य साहित्य में यदि हम पाणिनी की अष्टाध्यायी का वर्णन करते हैं तो उसमें लगभग 5 वीं शताब्दी ई.पू. या उससे पूर्व में मध्य हिमालय के विभिन्न जनपदों का उल्लेख मिलता है। दूसरी ओर अब तक हिमालय को कालिदास से अधिक प्रखर तरीके से किसी और ने परिभाषित नहीं किया है। कालिदास तो हिमालय के भूगर्भ से भी परिचित लगते हैं। हिमालय के इसी आकर्षण ने ऋषियों, कवियों, धर्मप्रचारकों को ही नहीं सामान्यजन को भी आकर्षित किया। महाकवि कालिदास को दो रचनाएँ मध्य हिमालय के ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक भूगोल पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालती हैं। इन ग्रन्थों के माध्यम से यहां की प्राकृतिक सुन्दरता के अतिरिक्त स्थानीय इतिहास के विविध पक्ष, सांस्कृतिक विविधता व भूगोल को समझने में अति आवश्यक है।

कठोच के अनुसार राजशेखर के काव्यमीमांसा में उल्लेखित एक श्लोक से ज्ञात होता है कि हिमालय में स्थापित कार्तिकेयनगर में कोई बलशाली खसाधोपति शासन करता था। इसी तरह विशाखदत्त के देवीचन्द्रगुप्त व वाण रचित हर्षचरित्र में उस खशराजा को शकपति कहा गया है। उस शकपति ने मध्य हिमालय में समुद्रगुप्त के साथ युद्ध किया था और रामगुप्त को विजित कर उसकी पत्नी ध्रुव देवी की मांग की थी। परन्तु इस कार्तिकेयनगर की स्थिति के बारे में विद्वानों के विभिन्न मत हैं कुछ इसे जोशीमठ(गढ़वाल) के निकट तो कुछ बैजनाथ (कुमाऊँ) मानते हैं। इसके अतिरिक्त राजतरंगिणी में केदारमण्डल व स्त्री देश का उल्लेख है।

चन्द्रकालीन ग्रन्थ कल्याणचन्द्रोदय एवं स्मृतिकौस्तुभ में चन्द्र शासकों का इतिहास ज्ञात होता है। उसी प्रकार पंवार कालीन मानोदय काव्य व रामायण प्रदीप में पंवार शासकों का वर्णन है। ऐसे ही अन्य ग्रन्थ सुदर्शन शाह कृत सम्बसार, शंकरकृत रातन कपि का रीति काव्य मौलाराम का गढ़राज इतिहास मणिका नाटक आदि में भी पंवार राज्य का विस्तार से वर्णन है।

2.4.2 यात्रा साहित्य

हिमालय यात्रायें हमारे प्राचीन साहित्य में उपलब्ध हैं जिनमें निरन्तर बढ़ोत्तरी होती रही है। बसासत को स्थान और पशुपालन हेतु चराने की यात्रायें कब तीर्थ यात्रा से जुड़ी होंगी अनिश्चित है। कठिनतम परन्तु दुर्लभ सुन्दरता व स्थान मनुष्य को सदा आकर्षित करते रही हैं। ऐसे स्थान पहाड़ तालाब, दर्रे, शिखर, गुफाओं में हमारे पूर्वजों ने देवता को ढूँढा था एक तरफ प्राचीन ऋषियों का हिमालय भ्रमण तथा निवास के संदर्भ मिलते हैं। जैसे बुद्ध, शंकराचार्य, ऋषभदेव, मणिपद्म, ईसामसीह, गुरुनानक, गोरखनाथ, जैसुईटफादर्स और विवेकानन्द तक ने हिमालय की यात्रायें कीं। दूसरी ओर चीनी यात्री ह्वेनसांग, हार्डविक, मूरकोप्ट, हेबर, हूकर, हाईम तथा गैनसीर ने हिमालय की वैज्ञानिक समझ और संवेदना के साथ यात्रायें की थीं इन यात्रियों के जो यात्रा वृत्तान्त हैं उनमें आप उत्तराखंड के हर पहलू के बारे में पढ़ सकते हैं।

629 ई० से 645 ई० तक ह्वेनसांग ने भारत यात्रा की थी इस यात्रा में वह उत्तराखंड भी पहुंचा जहां उसने ब्रह्मपुर राज्य का उल्लेख किया है जो राज्य 800 मील में फैला हुआ था (कनिष्क के अनुसार) साथ में ह्वेनसांग ने यहाँ की कृषि, व्यवसाय, धर्म जलवायु, मंदिर आदि के साथ स्त्री देश का वर्णन भी किया हुआ है, तथा बौद्ध धर्म के अनुयायी व बौद्ध भिक्षुओं का उल्लेख भी किया है। ब्रह्मपुर से 80 मील दूर स्थित गोविषाण (वर्तमान काशीपुर) राज्य का उल्लेख किया है। सामाजिक व अध्ययनशीलता का वर्णन करते हुए कहा है कि यहां एक स्तूप व दो संघ हैं जिनमें 100 भिक्षु रहते हैं यह माना जाता है कि उस स्तूप में बुद्ध के केश व नाखून रखे गये हैं आदि, यहीं से ह्वेनसांग की तरह 1924 में पुर्तगाली यात्री ने भी हरिद्वार, श्रीनगर, बदरीनाथ तथा मांणा आदि की यात्रा की थी, उसने भी यहां के दर्रे, बुग्याल, मंदिर धार्मिक जीवन, नदी, नाले राजनीति व हिमालय के प्राकृतिक सौन्दर्य का वर्णन किया है।

ऐसे ही 17 वीं शताब्दी में थामस हार्डविक ने यात्रा की थी। 18 वीं शताब्दी में मूरकोप्ट, ने कैलाश मानसरोवर सहित हिमालय यात्रा की थी इसी प्रकार हैबर, हूकर, गैनवसीर तथा हाईम ने भी मध्य हिमालय की यात्रा की थी।

उक्त यात्रियों ने अपने-अपने यात्रा वृत्तान्त में उत्तराखंड के विविध पहलुओं पर प्रकाश डालते हुए यहां की प्रकृति, जलवायु, भूगोल, समाज, धर्म रहन-सहन, वेशभूषा, धर्म व राजनीति आदि की विस्तार से वर्णन किया है।

2.4.3 स्थानीय/समकालीन साहित्य

स्थानीय एवं समकालीन साहित्य में मुख्यतः सरकारी दस्तावेज, रिपोर्ट, बन्दोवस्त आदि व गैर सरकारी दस्तावेजों में व्यक्तिगत जो किसी व्यक्ति द्वारा अपने पास संकलित या संरक्षित किए हुए हैं उनके माध्यम से भी उत्तराखण्ड के इतिहास को जान सकते हैं दूसरे शब्दों में प्रकाशित व अप्रकाशित साहित्य एक महत्वपूर्ण स्रोत है।

उक्त स्रोतों के अतिरिक्त विभिन्न पाण्डुलिपियों पत्र, पत्रिकाएँ व समाचार पत्र भी महत्वपूर्ण स्रोत के रूप में उपलब्ध हैं। पाण्डुलिपियों से मध्य हिमालयी इतिहास के विविध पक्ष उजागर होते हैं। वही यहां की लेखन परम्परा, भाषा व स्थान विशेष की महत्ता का पता चलता है। इसी तरह समय-समय पर यहां से प्रकाशित समाचार पत्र भी महत्वपूर्ण स्रोत हैं। जैसे-अल्मोड़ा, अखणर, गढ़वाली, गढ़वाल समाचार शक्ति, स्वाधीन प्रजा, कुमाऊँ कुमुद, पुरुषार्थ, समता, कर्मभूमि व युगवाणी आदि

मौलिक स्रोतों के आधार पर विभिन्न विद्वानों, इतिहासकारों द्वारा किया अध्ययन व प्रकाशित पुस्तकें भी महत्वपूर्ण स्रोत हैं जो यहां के पुरातत्व, लोक इतिहास, भाषा, साहित्य, सामाजिक तथा राजनैतिक इतिहास को जानने समझने की कोशिश करते आ रहे हैं यहां की संस्कृति व अर्थव्यवस्था की विविधता को खोजते हैं जैसे— अठकिन्सन, बदरी दत्त पाण्डे, डबराल, के.पी. नौटियाल, मठपाल, डी.पी. अग्रवाल, मदनचंद्र भट्ट, नित्यानंद मिश्र, ताराचंद्र त्रिपाठी, ओकले, म.प्र. जोशी विभिन्न गजेटियर तथा पहाड़ आदि।

स्थानीय व समकालीन साहित्य का एक महत्वपूर्ण स्रोत यहां का लोक साहित्य भी है जिसमें वहां के भूगोल, पुरातत्व, इतिहास, समाज, संस्कृति, जाति, धर्म अर्थ, राजनीति आदि का विस्तार से उल्लेख मिलता है।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए

क. सामान्य साहित्य

ख. यात्रा साहित्य

2. नीचे लिखे प्रश्नों का उत्तर दीजिए:

क. ह्वेनसांग

ख. स्थानीय साहित्य

2.5 सारांश

मनुष्य की विकास यात्रा अपने आप में एक आकर्षक विषय है ज्यों-ज्यों मनुष्य की कठिन यात्रायें कम होती गईं वैसे ही उसे अपने को अभिव्यक्त करना आता गया। इस विकास यात्रा के अंतिम हिस्से में ही साहित्य जन्म ले सका, हिमालय में पुरातात्विक साधनों के बाद मनुष्य ने साहित्य के रूप में अपने को अभिव्यक्त कर सुरक्षित रखना शुरू किया था जिसके उदाहरण विभिन्न काव्य, ग्रन्थ, पाण्डुलिपियों आदि हैं। परन्तु मध्य काल के यात्रा वृत्तान्तों में इनकी अपेक्षा अधिक गहन चित्रण मिलता है।

यहां के इतिहास के साहित्यिक स्रोतों में मुख्य रूप से धार्मिक साहित्य है जिसमें सर्वप्रमुख ऋग्वेद, उपनिषद, अरण्यक, आदि हैं। इसी तरह बौद्ध साहित्य में भी उत्तराखंड का उल्लेख मिलता है। महाकाव्यकालीन साहित्य में महाभारत व उसके विभिन्न पर्व तथा रामायण में भी चित्रण मिलता है। विभिन्न पुराणा भी मुख्य स्रोत हैं मुख्यतः स्कन्द पुराण, मानसखंड, केदारखंड, आदि।

दूसरी ओर सामान्य साहित्य में भी महत्वपूर्ण स्रोत है जैसे अष्टाध्यायी, कालिदास की अभिज्ञानशाकुन्तलम्, मेघदूत, काव्यमीमांसा, देवीचन्द्रगुप्तम्, हर्षचरित्रम् या कल्याणचन्द्रोदय, मानोदय काव्य, रामायण प्रदीप, समास्वर गणिका नाटक आदि व यात्रा साहित्य में बुद्ध से लेकर विवेकानन्द तक और ह्वेनसांग से लेकर मूरकोफ्ट, गैनसीर तक के यात्रा वृत्तान्त हैं जिन्होंने हिमालय की वैज्ञानिक समझ व संवेदन, गहनता के साथ अपने वृत्तान्तों को लिखा है। सरकारी, गैरसरकारी दस्तावेज, बन्दोवस्त रिपोर्ट, व्यक्तिगत संग्रह, प्रकाशित, अप्रकाशित साहित्य, पाण्डुलिपियां, स्थानीय समाचार पत्र तथा विभिन्न विद्वानों द्वारा समय-समय पर लिखित पत्र-पत्रिकाएँ व पुस्तकें भी महत्व के स्रोत हैं।

अतः उक्त साहित्यिक स्रोतों में प्रारम्भिक स्रोतों से लेकर मध्य काल वह आधुनिक साहित्यिक स्रोतों में उत्तराखण्ड के इतिहास को विस्तार से जान व समझ सकते हैं।

2.6 स्व मूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

- इकाई 1.3 के स्व मूल्यांकित प्रश्न
- 1 (क) देखिए 1.3.1 वैदिक
(ख) देखिए 1.3.2 महाकाव्यकालीन
 - 3 (क) देखिए 1.3.3 पुराण
(ख) देखिए 1.3.2 महाकाव्यकालीन
- इकाई 1.4 के स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर
- 1 (क) देखिए 1.4.1 सामान्य साहित्य
(ख) देखिए 1.4.2 यात्रा साहित्य
 - 2 (क) देखिए 1.4.2 यात्रा साहित्य
(ख) देखिए 1.4.3 स्थानीय एवं समकालीन साहित्य

2.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. अठकिन्सन:ई.टी.: हिमालयन गजेटियर: भाग-1,2 लो प्राइस पब्लिकेशन, दिल्ली 2002
2. पाण्डे: बदरीदत्त:कुमाऊँ का इतिहास, अल्मोड़ा बुक डिपो, अल्मोड़ा, 1990
3. डबराल: शिवप्रसाद: प्राग ऐतिहासिक उत्तराखण्ड, नव युगान्तर प्रेस, शारदा रोड मेरठ संवत् 2055 वि.
4. कठोच: यशवंत सिंह: उत्तराखण्ड की नवीन इतिहास, विन्सर पब्लिकेशन, देहरादून 2010
5. मिश्रा: एन.एन: सोसे मैटीरियल आफ कुमाऊँ हिस्ट्री अल्मोड़ा 1994
6. पाठक: शेखर: पहाड़- 11,2001 नैनीताल
7. शर्मा: डी.डी.: कल्चरल हिस्ट्री आफ उत्तराखण्ड, आइ.जी., एन.सी. नई दिल्ली 2009
8. जोशी:एम.पी.: उत्तराखण्ड, कुमाऊँ गढ़वाल हिमालय अल्मोड़ा बुक डिपो, अल्मोड़ा 1996
9. त्रिपाठी: ताराचंद्र: उत्तराखण्ड का ऐतिहासिक भूगोल: पहाड़, नैनीताल, 1999
10. पाण्डे: त्रिलोचन: कुमाऊँनी भाषा और उसका साहित्य: उ.प्र. हिन्दी संस्थान लखनऊ 1977
11. खण्डूरी: बी.एम. सकलानी: पी.एम. सेंट्रल हिमालया ट्रान्स मीडिया श्री नगर गढ़वाल 2003

2.8 निबंधात्मक प्रश्न

1. उत्तराखण्ड के साहित्यिक स्रोतों पर एक लेख लिखिए।
2. वैदिक साहित्य पर एक उल्लेख कीजिए।
3. यात्रा साहित्य का वर्णन कीजिए।
4. सामान्य इतिहास पर एक लेख लिखिए।
5. उत्तराखण्ड के धार्मिक साहित्य पर एक समीक्षात्मक लेख लिखिए।

- 1.1 प्रस्तावना
- 1.2 उद्देश्य
- 1.3 उत्तराखण्ड की मौखिक परम्पराओं का वर्णन
 - 1.3.1 लोक गीत
 - 1.3.2 लोक गाथा
- 1.4 उत्तराखण्ड के इतिहास के स्रोत, लोक गीत, लोकोक्तियाँ तथा मुहावरे
 - 1.4.1 लोक गीत
 - 1.4.2 कहावतें तथा मुहावरे
- 1.5 उत्तराखण्ड के इतिहास के स्रोत—लोक गाथाएं—कथाएं
 - 1.5.1 मालूशाही
 - 1.5.2 जागर
 - 1.5.3 वीर गाथाएं
- 1.6 सारांश
- 1.7 स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न
- 1.8 स्व मूल्यांकन प्रश्नों के उत्तर
- 1.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 1.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

हिमालय का मध्यवर्ती क्षेत्र उत्तराखण्ड अनेक भौगोलिक, सामाजिक, सांस्कृतिक विविधताओं को अपने में समेटे है। संस्कार, ज्ञान—विज्ञान, परम्पराएं, उत्सव, चित्रकला शिल्प आदि से लेकर मौखिक परम्परा तक इस विविधता का विस्तार है।

लोक संस्कृति का वह पक्ष जो श्रुति और स्मृति परम्परा में विस्तार लिया है, वस्तुतः अतीत से वर्तमान तक तथा भविष्य में भी कदाचित कभी समाप्त न होने वाली यह सांस्कृतिक विरासत—मौखिक परम्परा—लोक जीवन का आधार है। पीढ़ी दर पीढ़ी दोहराई जाने वाली इस परम्परा में विचार, मनुभवजन्य ज्ञान, मनोभाव, मनुष्य का संघर्ष, आशाएं, आकांक्षाएं, तत्कालीन समाज, उसके द्वन्द्व व इतिहास आदि सहजता से झलकता है।

मौखिक परम्परा में वर्णित इतिहास व पेशेवर इतिहास में अन्तर होता है। क्योंकि पेशेवर इतिहास ने पूर्व में अधिकतर अभिजात वर्ग की सेवा की है। परन्तु लोकगीत, गाथाएं, किंवदंतियां, मुहावरे

आदि लोक मानस की उपज होती हैं। जनता का दुःख दर्द, लालसाएं, इतिहास, सामाजिक सम्बन्ध व सपने सब कुछ उसमें अभिव्यक्त होते हैं।

इतिहास नई पीढ़ी की मानसिकता बदलने में भी अपनी भूमिका का निर्वाह करता है। इसलिए प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से हर शासक अपने अनुकूल इतिहास लिखवाने की कोशिश करता है। जब इतिहास को तोड़-मरोड़कर पेश किया जाता रहा हो तो मौखिक परम्परा अपने में कुछ सत्य बचा लेती है। लेकिन इसका आशय यह भी नहीं है कि किंवदंतियां व गाथाएं ही इतिहास है, परन्तु मौखिक परम्परा की इतिहास में भूमिका को नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता।

1.2 उद्देश्य

- उत्तराखण्ड की मौखिक परम्परा का वर्णन
- उत्तराखण्ड के इतिहास के स्रोत—लोकगीत, लोकोक्तियाँ व मुहावरे
- उत्तराखण्ड के इतिहास के स्रोत—लोक गाथाएं—कथाएं

1.3 उत्तराखण्ड की मौखिक परंपरा का वर्णन

उत्तराखण्ड की मौखिक परम्परा बहुत समृद्ध, विविध तथा विस्तृत है। इस मौखिक परम्परा को निम्न हिस्सों में बाँट सकते हैं—

- लोकगीत
- लोक गाथाएं—कथाएं
- लोकोक्तियाँ, मुहावरे, पहेलियाँ, कहावते
- तंत्र—मंत्र

1.3.1 लोक गीत

डॉ० त्रिलोचन पांडेय ने यहाँ के लोकगीतों को संस्कार गीत, नृत्य गीत, अनुभूति प्रधान गीत, तर्क प्रधान गीत, ऋतु गीत, देवी—देवताओं के गीत, संवाद प्रधान गीत, व्रत—त्यौहारों के गीत, कृषि गीत तथा स्फुट गीतों में बाँटा है।

संस्कार गीतों के अन्तर्गत मुख्यतः वे गीत आते हैं जिन्हें कि विभिन्न संस्कारों— जन्म, नामकरण, उपनयन, विवाह आदि के अवसर पर गाताएं—बहिनें गाती हैं।

उत्तराखण्ड के सर्वाधिक प्रचलित गीत यहाँ के नृत्यगीत हैं। ये गीत मेलों, शादी—ब्याहों, त्यौहारों—उत्सवों—मेलों आदि के अवसर पर गाये जाते हैं। एक ही गीत को अलग—अलग क्षेत्रों में अलग—अलग नामों से पुकारा जाता है। जैसे— थड़या, चौफुला, झुमैलो, तांदी आदि नृत्यगीत झोड़ा—चांचरी के सादृश्य होते हैं। नृत्य का पदक्रम भी लगभग एक सा होता है। परन्तु इसमें नाम भेद अवश्य है। इसी तरह झोड़ा को मुनस्यारी में “ढुस्का” कहते हैं तो पिथौरागढ़ में “खेल” तो ओखलकांडा, धारी, सालम में “भैनी” तो दानपुर तथा चमोली जिले में “चांचरी”। हालांकि अनेक विद्वान इन गीतों को एक ही गीत झोड़े का रूप न मानकर अलग—अलग श्रेणियों में रखते हैं। जैसे वे चांचरी को झोड़े का प्राचीन रूप बताते हैं।

छपेली नृत्य गीत का रूप अवश्य ही झोड़ा-चांचरी से भिन्न होता है। यह तेज लय में गाया जाने वाला/नाचा जाने वाला गीत है। झड़या, चौफुला, झुमैलो जिन्हें कि झोड़ा-चांचरी का एक रूप मान सकते हैं गढ़वाल के प्रसिद्ध नृत्य हैं।

अन्य तरह के गीतों में “न्योली” गीत का विषय मुख्यतया वियोग श्रृंगार होता है। इसी तरह के गीत “खुदेड़” गीत भी हैं, जिन्हें कि विरह गीतों की श्रेणी में रखा जा सकता है। इन गीतों की अनुभूति अधिकांशतः करुणात्मक होती है। अतः इन्हें हम अनुभूति प्रधान गीत भी कह सकते हैं।

तर्कप्रधान एवं संवाद प्रधान गीतों को “बैर” नाम से जाना जाता है। लोक गायक मेलों-ठेलों में काव्यात्मक तरीके से एक-दूसरे से सवाल-जवाब करते हैं। संवाद प्रधान गीत का एक अन्य उदाहरण रवाई-जौनपुर में प्रचलित “छोपती” गीत भी है। इसके अतिरिक्त बाजूबंद गीत, लामण गीत, ऋतु गीत, देवी-देवता सम्बन्धी गीत, कृषि गीत, व्रत-त्योहारों के गीत आदि उत्तराखण्ड में प्रचलित हैं। इसी तरह उत्तराखण्ड के दक्षिणी क्षेत्र में रहने वाले थाडू-बोक्सा समाज में कन्हरी, चिलका, रसौला, चील्हा, विरहा, फाग, होली, बारामासा आदि गीत बड़े लोकप्रिय हैं।

कृषि गीतों के अंतर्गत “हुड़की बौल” आता है। यह लोक गायकों द्वारा धान-मडुवे की रोपाई-गोड़ाई के समय गाया जाता है। अन्य गीतों में यहाँ के होली गीत तथा बाल गीत लिये जा सकते हैं।

1.3.2 लोक गाथा

मौखिक परम्परा का दूसरा रूप हमें गाथाओं-कथाओं के रूप में मिलता है। पौराणिक गाथाओं के अन्तर्गत राम, कृष्ण, शिव, कौरव, पांडवों की गाथाएं आती हैं, ऋतु सम्बन्धी गाथा के अन्तर्गत चैत्र-वैशाख माह में गाये जाने वाली गाथा “ऋतुरैण” प्रमुख है। इसरा मार्मिक कथानक भाई-बहन के अतुलनीय प्रेम पर आधारित है। प्रणय गाथा के अन्तर्गत हम “मालूशाही” को रख सकते हैं।

उत्तराखण्ड में वीर गाथा गायन हमें स्वाभाविक रूप से उस कालखण्ड की ओर ले जाता है जिसे अखिल भारतीय परिप्रेक्ष्य में मध्यकाल कहा जाता है। भड़ौ, कटकू, पवाड़े यहाँ के वीर गाथा काव्य हैं। ये मनोरंजन के साथ ऐतिहासिक संदेश भी देते हैं।

धार्मिक गाथाओं/जागरों की उत्तराखण्ड में बहुतायत है। डॉ० त्रिलोचन पांडे ने जागरों के बारे में कहा है— “जिन गाथाओं का आधार किसी प्रकार के धार्मिक अनुष्ठान अथवा लोक प्रचलित विश्वास है तथा ये तंत्र-मंत्र और देवता नचाने के क्रियाओं से सम्बन्ध रखते हैं।” परम्परागत गाथा के अंतर्गत “रमौल” को रखा जा सकता है। इस गाथा का विस्तार उत्तराखण्ड स्तर पर है। इस कथा के नायक है गंगू रमौल के बेटे— सिदुवा-बिदुआ।

इसी तरह उत्तराखण्ड का लोक साहित्य लोकोक्तियों, कहावतों, मुहावरों, पहेलियों, चुटकुलों, तंत्र, मंत्रों आदि से भी भरा पड़ा है। तंत्र मंत्रों में कभी-कभी बड़े दार्शनिक प्रश्न सामने उभरकर आते हैं जैसे लोक गायक झूसिया दमाई “रखवाली” (भूत-प्रेत से रक्षा हेतु अभिमंत्रित मंत्र) में निम्न प्रश्न उठाते हैं कि—

हे सिंह माता
गौर माता

स्मरण चला
यादकर, ध्यान लगा
कि
वह मूल बीज कहाँ था।

1.4 उत्तराखण्ड के इतिहास के स्रोत—लोकगीत, लोकोक्तियाँ तथा मुहावरे

1.4.1 लोक गीत

मौखिक परम्परा में इतिहास को कैसे तलाशा जा सकता है इसका उदाहरण इस प्रकार दिया जा सकता है।

कहते हैं कि आखीर के कत्यूरी राजाओं में वीरदेव नाम का राजा भी था। राजा वीरदेव बड़ा अत्याचारी शासक था और तो और उसने अपनी मामी से जबरदस्ती विवाह कर लिया। कहते हैं कि “मामी तिले धारो बोला” वाला उत्तराखण्डी राग उसी दिन से चल पड़ा। मामी का नाम तिला उर्फ तिलोत्तमा देवी था। आज भी उत्तराखण्ड में “तिलैधारो बोला” जुमला लोक गीतों में खूब प्रयुक्त होता है जैसे—

लाली हो लाली हौंसिया
पधानी लाली तिलै धारो बोला
या

ए बाना पनुली चकौरा तीलै धारो बोला
ए लौंडा कुंदन अमीना तीलै धारो बोला

इसी तरह औपनिवेशिक अत्याचारों व भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की घटनाओं के भी अनेक गीत यहाँ मौजूद रहे हैं। जैसे भगतसिंह पर बने झौड़े से हमें यहाँ तक पता चलता है कि उन्हें फांसी कितने बजे दी गयी—

धन्य—धन्य भगत सिंह धन्य तुमूँ हणी
पांणी को पिजीया बीरा पांणी को पिजीया
तै वीरा फाँसी चढो आजादी का लिजिया
हल—हल आमा वीरा हल—हल आमा
लै वीरा फाँसी भयो सात बजी शामा

कहने का आशय यह है कि ऐसे अनेक लोकगीत यहाँ पर मौजूद हैं या उन्हें तलाशने की जरूरत है जिनसे हमें तत्कालीन राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक इतिहास की जानकारी मिलती है।

1.4.2 कहावतें तथा मुहावरे

कहावतें तथा मुहावरे भी उत्तराखण्ड का इतिहास जानने का एक स्रोत है। ऐसी कहावतें या मुहावरों के माध्यम से हमें कत्यूरी, चंद, पंवार, नेपाली व अंग्रेजी शासनकाल की जानकारी मिलती है। जैसे एक कहावत में कत्यूरी राजवंश का उल्लेख है। जिसका सिंहासन पर अधिकार था और जिसके अधीन ब्रह्मपुर तथा लखनपुर स्थान थे।

“आसन वाका वासन वाका सिंहासन वाका

वाका ब्रह्म वाका लखनपुर।”

एकटकिंसन का अनुमान है कि आसन व वासन इस लोकोक्ति में कत्यूरी राजाओं के नाम हैं तथा ब्रह्म व लखनपुर जिसके अधीन थे। डॉ० त्रिलोचन पांडेय कहते हैं कि लखनपुर पाली पछाऊं में एक स्थान था और ब्रह्मपुर को वर्तमान काशीपुर के उत्तर में माना जाता है। यहाँ यह महत्वपूर्ण है कि डोटी, अस्कोट व पाली के कत्यूरी राजाओं की वंशावली में आसन्तिदेव व वासन्तिदेव के नाम आये हैं। अतः लोकोक्ति में आये आसन व वासन को राजा मानना तथा उनका राज्य विस्तार काशीपुर तक मानना गलत प्रतीत नहीं होता।

चंद राजा रुद्रचंद (1568–1597) के सम्बन्ध में एक कहावत है— “जो रुद्रचंद की आली तो रामचंद्र की नाली”। राजा रुद्रचंद के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह अपने पुरोहित ब्राह्मणों के प्रभाव में थे। बालेश्वर मंदिर (चंपावत) के एक पुजारी रामदत्त ने रुद्रचंद से कहा कि महादेव जी के पृथ्वी में गढ़े होने के कारण उनकी राज्य की वृद्धि रुकी हुयी है, उन्हें निकालिये। राजा ने चंपावत जाकर मंदिर का जीर्णोद्धार किया और प्रत्येक गाँव में एक नाली रामदत्त के लिए निश्चित कर दी, तभी से यह कहावत चली। आज यह बात ऐतिहासिक तथ्यों से भी सिद्ध हो चुकी है कि रुद्रचंद ने बालेश्वर मंदिर का जीर्णोद्धार किया था।

चंदों के बाद गोरखों ने उत्तराखण्ड पर 1790–1815 तक राज्य किया। इनका शासन निर्दयता, क्रूरता तथा सैनिक तानाशाही के लिए जाना जाता है। इसके बारे में एक प्रसिद्ध मुहावरा है— “के मैं हूँ गोरखियोक राज है गो” अर्थात् क्या मेरे लिए गोरखों की भौति राज्य हो गया है। आज भी जब पहाड़ में जब किसी पर कोई अत्याचार करता है तो किसी पुराने वृद्ध व्यक्ति के मुँह से उक्त उक्ति सुनी जा सकती है। यह उक्ति गोरखों के निरंकुश शासन के बारे में हमें अवगत कराती है।

इस तरह लोकोक्तियाँ, कहावतें व मुहावरे भी जो कि मौखिक परम्परा में एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक हस्तांतरित होती हैं यहाँ के इतिहास को जानने का एक स्रोत हैं।

1.5 उत्तराखण्ड के इतिहास के स्रोत—लोक गाथाएं—कथाएं

विषय वस्तु, अवसर विशेष तथा गायन परम्परा को ध्यान में रखते हुए अभी तक जितनी उत्तराखंडी लोक गाथाएं प्राप्त हुयी हैं, उन्हें चार भागों में बांटा जा सकता है।

- परम्परागत गाथाएं
- पौराणिक गाथाएं
- धार्मिक गाथाएं
- वीर गाथाएं

अन्य गाथाओं की तुलना में अपेक्षाकृत प्राचीन होने एवं प्रभाव विस्तार की दृष्टि से अधिक व्यापक होने के कारण दो महान लोक गाथाओं “मालूसाही” (इसको हम प्रणय गाथा भी कह सकते हैं) और “रमौल” को हम परम्परागत गाथाओं के वर्ग में रख सकते हैं। जिनकी समयानुसार कलेवर वृद्धि होती रही है तथा कितनी ही परवर्ती घटनाएं समाविष्ट कर ली गयी हैं।

1.5.1 मालूसाही

यह गाथा वैराठ के धर्मात्मा राजा दुलासाही के पुत्र मालूसाही तथा जोहार या सौक्याण देश (शौका-भोटिया जाति) के व्यापारी सुनपति शौक की बेटी राजुला की प्रणय गाथा है। इस गाथा की प्रमुख घटनाएं व स्थानों के नाम किसी न किसी रूप में अभी तक प्रसिद्ध हैं। 'बैराठ' मालूसाही की राजधानी कही गयी है जो इस समय द्वाराहाट से भिकियासैण वाले मार्ग में चौखुटिया-गिवाड़ मार्ग से प्रायः 2 मील की दूरी पर है। वहाँ प्राचीन भवनों के खंडहर अभी तक हैं। बागनाथ बागेश्वर के प्रसिद्ध देवता है जहाँ आज भी उत्तरायणी मेले को स्नान होता है। इसी मेले में तब दुलासाही व सुनपति शौक ने सन्तान प्राप्ति हेतु प्रार्थना की थी। इसी तरह गाथा में उल्लिखित जगहें व यात्रा मार्ग आज भी उत्तराखण्ड के मानचित्र में देखे जा सकते हैं। गाथा में वर्णित जातियां ऐतिहासिक हैं। 'शौक' या 'शौका' जोहार में भेड़ पालन करने वाले व ऊन का व्यापार करने वाले लोग हैं। सुनपति इन्हीं का कोई पूर्वज था।

मालूसाही को कत्यूरी वंश का शासक कहा गया है। कत्यूरी वंश निश्चित ही उत्तराखण्ड का पहला ऐतिहासिक राजवंश है। गाथा में धामद्यो, विरम द्यो अर्थात् धामदेव, विरम देव का नाम आया है। ब्रह्मदेव या विरमदेव का नाम अन्य गाथाओं में भी आया है। उसने ठोर चंद-भाग चंद की सेनाओं को पराजित किया। इतिहासकार ठोरचंद या थोहरचंद का समय सन् 1261 से सन् 1275 ई० तक मानते हैं। अतः ब्रह्मदेव का समय भी इस तरह तेरहवीं सदी ठहरता है। कत्यूर वंश की अस्कोट वाली वंशावली में अंतिम पांच नाम प्रीतमदेव, धामदेव, ब्रह्मदेव, त्रिलोकपाल व अभयपाल आये हैं। अभयपाल सन् 1279 में कत्यूर से अस्कोट गया था। उस समय की राजनीतिक स्थिति को ध्यान में रख प्रत्येक राजा के लिए 20 वर्ष छोड़ दिये जाँय तो धामदेव, ब्रह्मदेव का समय 13वीं सदी के पूर्वार्ध में ठहरता है, जो उपर के प्रसंग से भी प्रमाणित है।

मालूसाही को धामदेव, ब्रह्मदेव का समकालीन मानने पर उसका समय 13वीं शताब्दी के आस-पास निश्चित होता है। जियाराणी की जागर गाथा में जियाराणी को धामदेव या ब्रह्मदेव की पत्नी कहा गया है।

गाथा के अनुसार शिव की कृपा से उसके पुत्र दुलासाही का जन्म हुआ। यदि वह दुलासाही और मालूसाही का पिता दुलासाही एक ही व्यक्ति है तो मालूसाही का काल 13वीं सदी के अन्त में ठहरता है। वर्णन और उल्लेखों की दृष्टि से इस गाथा की ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में और संकेत मिलते हैं। उपरोक्त तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि "मालूसाही" के नाम से प्रचलित लोक गाथा नितांत कल्पित नहीं है। यह मूलतः ऐतिहासिक प्रेम काव्य है जो लोक गायकों के मुख में निवास करते हुए अन्य गाथाओं की भाँति निरंतर विकसित होता रहा है तथा अनेक प्रकार की आश्चर्यजनक घटनाओं से युक्त हो गया है।

राजनीतिक व सामाजिक दृष्टि से भी यह महत्वपूर्ण गाथा है। जिसमें उत्तराखण्ड के तत्कालीन सामंती शासन की झलक मिलती है। बहु पत्नीत्व एवं इच्छा के अनुकूल विवाह का संकेत किया गया है। राजुला का अनेक कठिनाईयों का वीरतापूर्वक सामना करते हुए जाति व्यवस्था के खिलाफ दृढ़ता से खड़ा होना भी महत्वपूर्ण घटना है।

1.5.2 जागर

गाथाओं में दूसरा वर्ग पौराणिक गाथाओं का है पर ऐतिहासिक दृष्टि से इनका कोई महत्व नहीं है। तीसरा वर्ग धार्मिक गाथाओं का है। यहाँ इनके लिए हम "जागर" शब्द प्रयोग करते हैं। जिन स्थानीय गाथाओं का आधार कोई धार्मिक अनुष्ठान या लोक विश्वास है और जो तंत्र-मंत्र, पूजा

व देवता नचाने की क्रिया से सम्बन्ध रखते हैं, उन्हें हम धार्मिक गाथा कहते हैं। जागरों को हम तीन भागों में बाँट सकते हैं।

- देवी-देवताओं के जागर
- सहायक शक्तियों के जागर
- शासकों के जागर

देवी-देवताओं तथा सहायक शक्तियों के जागरों से तत्कालीन समाज, जातीय द्वंद्व आदि की जानकारी मिलती है। परन्तु शासकों के जागरों से हम कई ऐतिहासिक तथ्य तलाश सकते हैं। उत्तराखण्ड में स्थानीय शासकों की जागर गाथाओं में धामदेव, बिरमदेव (ब्रह्मदेव) तथा जियारानी (कत्यूरी शासकों) तथा हरू (चंद) आदि के जागर प्रचलित हैं।

धामदेव, ब्रह्मदेव के जागरों में गाथा गायक कहता है कि इन्होंने गढ़पतियों को छोटा और छोटों को ऊँचा बना दिया। उल्टी नाली (अन्न मापक यंत्र) से देते थे और सीधी नाली से भरकर लेते थे। (उल्टी नाली ले दीनी, सुल्टी नाली ले भरी बेर लिनी), तरुणी, स्त्रियों, भेड़, बकरियों, फल फूलों को नहीं रहने देते थे और खाली पनचक्की के लिए भी कर बसूलते थे (बाजि घटै की भाग उधौनी)। बिरमदेव ने धर्म विरुद्ध आचरण कर अपनी मामी तिला उर्फ तिलोत्तमा से विवाह कर लिया आदि-आदि।

अतः उक्त जागरों से उक्त शासकों के अन्यायपूर्ण शासन का पता चलता है। धामदेव ब्रह्मदेव, के शासन काल का वर्णन पूर्व में मालूसाही गाथा में भी आ चुका है।

1.5.3 वीर गाथाएं

चौथा वर्ग वीर गाथाओं का है, जिन्हें उत्तराखण्ड में भड़ौ, या पवाड़े कहा जाता है। स्थानीय वीरों, शासकों की युद्ध सम्बन्धी तथा व्यक्तिगत शौर्य सम्बन्धी गाथाएं इसके अन्तर्गत हैं। मौखिक साहित्य में ऐतिहासिक रूप से जिन गाथाओं का सर्वाधिक महत्व है वे वीरगाथाएं ही हैं। इन्हें हम दो भागों में बाँट सकते हैं।

- कत्यूरी-चंद-पंवार राजाओं से सम्बन्धित
- विभिन्न जातीय वीरों से सम्बन्धित

कत्यूरी राजाओं में प्रीतम देव, धाम देव, बिरमदेव आदि के वृत्तांतों से उनके राज्य, स्थिति एवं शौर्य का परिचय होता है। बिरमदेव को खिमसारी हाट में रहने वाला बताया गया है, जिसके अनेक मंत्री व रानिया थीं, विशाल प्रथा थी तथा मनोरंजन के लिए वैश्याएं थीं।

चंद राजाओं में उदयचंद, रतनीचंद, विक्रमचंद, भारतीचंद और ज्ञानीचंद के भड़ौ अधिक प्रचलित हैं। ये सभी इतिहास प्रसिद्ध व्यक्ति हैं और गाथाओं में तथा इनके सम्बन्ध जनश्रुतियों में पर्याप्त समानता मिलती है। ज्ञानीचंद का व्यक्तित्व अधिक प्रधान है, जो कि स्वयं वीर पुरुष था। नीलू कठायत, अजुवा बफौल, कुंजीपाल, कीर्तिपाल और सौनू-विरमू जैसे वीरों के नाम इसके साथ जुड़े हैं। इसने कुमाऊँ में 1374 से 1419 तक राज्य किया और लोक परम्परा के अनुसार मुहम्मद तुगलक के साथ शिकार खेलते हुए वीरता प्रदर्शन के कारण 'गरुड़' की उपाधि प्राप्त की। विक्रमचंद को आरम्भ में दानशील किंतु बाद में भोग-विलास प्रिय कहा गया है। भारतीचंद को

एक लोकप्रिय, साहसी, वीर व चरित्रनिष्ठ शासक बताया गया है। पंवारों में जगदेव पंवार की गाथा गढ़वाल में प्रचलित है।

जातीय वीरों की गाथाओं में झकरूवा रौत, रामी बौर, भियॉ कठैत, अजुवा बफौल, माधोसिंह भंडारी, कप्फू चौहान, सकराम कार्की, तीलू रौतेली आदि अनेक वीरों के भड़ो गाये जाते हैं।

सूक्ष्मता से वीर गाथाओं का अध्ययन करने पर अनेक तत्कालीन सामाजिक मान्यताओं, समकालीन प्रमुख व्यक्तियों, आचार-विचारों, रीति प्रथाओं, भोजन पदार्थों, यात्रा मार्गों, सैन्य सज्जा, पहनावा, आभूषणों आदि पर प्रकाश पड़ता है। भोजन के संदर्भ को ही लें तो लोक गायक झूसिया दमाई छत्तीस प्रकार के भोजन और बत्तीस प्रकार का बखान करते हैं। भोजन हैं— झरझरया, पुवा बावर, खरगल खाजा, मरगल माछा, हींग फुलोरा, गुछिफिन बावर। वाद्य यंत्र हैं— ढोल, तम्बोल, सितार, मुरुली, मृदंग, तप्पकरताल, कहाल कस्ताल, झाली नंगारा। अस्त्र शस्त्र हैं— ढाल वांको, वाल वांको, दान्तरी-खेतरी वाको, चिल्ला काली ढाल, पंच हतरिया भयो (अर्थात् पाँच अस्त्र-शस्त्रों से लैस हुआ)।

उक्त वृत्तांत झूसिया दमाई द्वारा गायी गयी वीर गाथा संग्राम कार्की या सकराम कार्की का है। संकराम कार्की चंद राजा त्रिमलचंद के समय का वीर था। गाथा के अनुसार संग्राम कार्की का युद्ध गढ़वाल के राजा मानशाह के साथ भी हुआ। इतिहासविदों के अनुसार त्रिमलचंद ने 1625-1638 ई० तक शासन किया और उस समय गढ़वाल में महिपत शाह (1624-1631) तथा पृथ्वी पति साह (1631-1667) ने शासन किया और मानशाह के शासन का समय (1591-1611) है। पर यहाँ यह बात ध्यान में रखी जानी चाहिए कि झूसिया दमाई वीर गाथा सुना रहे हैं न कि हू ब हू इतिहास। उसमें इतिहास के तत्व तो इतिहास के विद्यार्थी को तलाशने हैं। क्योंकि वीरगाथाएं अतिशयोक्तिपूर्ण व अतिरंजना पूर्ण होती हैं।

इसके अतिरिक्त वीरगाथा गायक कत्यूरी, चंदो, पंवारो आदि की वंशावली भी सुनाते हैं। यह वंशावलियाँ भी इतिहास जानने का एक स्रोत हैं।

1.6 सारांश

मौखिक परम्परा वस्तुतः मनुष्य की विकास यात्रा के विभिन्न पहलुओं को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाने का एक सशक्त माध्यम रही हैं। यह परम्परा लोक जीवन का आधार है, क्योंकि पीढ़ी दर पीढ़ी दोहराई जाने वाली इस परम्परा में विचार, अनुभवजन्य ज्ञान, संघर्ष, हर्ष, विषाद, मनोभाव, आशाएं, आकांक्षाएँ, तत्कालीन इतिहास, समाज, द्वन्द्व आदि सहजता से झलकते हैं।

मौखिक परम्परा में वर्णित इतिहास हू ब हू अभिलेखीय इतिहास की तरह नहीं होता। क्योंकि लोक गायक पीढ़ी-दर-पीढ़ी उसमें अपने-अपने समय की बहुत सी बातों को भी जोड़ देते हैं। क्योंकि लोक हमेशा प्रवाहमान रहा है। हो सकता है वह किसी मध्यकालीन शासक के हाथ में तलवार की जगह बन्दूक थमा दें। पर इतिहास के विद्यार्थियों को तत्कालीन परिस्थितियों के आधार पर मौखिक परम्परा का विश्लेषण कर उसमें से ऐतिहासिक तत्वों को तलाशने का प्रयास करना चाहिए।

उत्तराखण्ड की मौखिक परम्परा बहुत समृद्ध रही है। बहुत सी परम्पराओं का विलोप हो चुका है। कुछ अभिलेखित हो चुकी है और बहुत सा अभिलेखीय होना बांकी है। इतिहास की दृष्टि से

महत्वपूर्ण वीर गाथा गायन तो अब लगभग विलुप्ति के कगार पर है। इतिहास के विद्यार्थियों को चाहिए कि जहाँ कहीं भी वीर गाथा को सुनें उन्हें किसी वीर गाथा गायक का पता चले तो उसे ऑडियो-विडियो-लिखित रूप में संकलित करने का प्रयास करें।

यह पहले उल्लेख हो चुका है कि मौखिक परम्परा इतिहास जानने का एक स्रोत होती है न कि इतिहास। परन्तु सूक्ष्मता से विश्लेषण करने पर हमें तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक इतिहास के तत्व मालूम होते हैं। खासकर जनता के दुःख-दर्द तथा शासकों के अत्याचार विभिन्न रूपकों-मुहावरों के माध्यम से लोकगीतों-गाथाओं-मुहावरों-किंवदंतियों में सुरक्षित रहते हैं। साथ ही तत्कालीन समाज, जातीय द्वन्द्व, महत्वपूर्ण जातीय समूह, तत्कालीन भोजन, वस्त्र, आभूषण, यात्रा, मार्ग, मान्यताएँ, अस्त्र-शस्त्र आदि सभी का जिक्र लोक साहित्य में आता है।

मौखिक परम्परा आदम से लेकर आधुनिक मानव समाज की विकास यात्रा का लेखा-जोखा है। इसके विभिन्न अर्थ संकेतों में युग की गति व समाज की निर्णायक शक्तियों को आसानी से देखा जा सकता है। क्योंकि लोक संस्कृति में मनुष्य की विकास यात्रा के विभिन्न चरण, उन तक पहुँचने में उनका संघर्ष आदि मौजूद रहते हैं। लोक की मौखिक परम्परा में सृष्टि रचना से लेकर वर्तमान तक मनुष्य की विकास यात्रा के चित्र देखने को मिलते हैं। जाति विशेष की अभिलाषाएँ जिन्हें उचित अभिव्यक्ति और संतोष नहीं मिल पाता कालान्तर में चुपके से ऐसे रास्ते ढूँढ़ निकालती हैं जिन्हें सहज स्वभाव मानव स्वीकार कर लेता है और उसकी रागात्मक प्रवृत्तियाँ उन्हें संजो लेती हैं सदा-सदा के लिए।

1.7 स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखो?
 - क. संस्कार गीत
 - ख. नृत्य गीत
2. निम्न प्रश्नों के उत्तर दो?
 - क. ऋतु सम्बन्धी गाथा कौन सी है।
 - ख. कृषि गीतों के अन्तर्गत क्या आता है।
 - ग. उत्तराखण्ड की प्रमुख प्रणय गाथा कौन सी है।
 - घ. उत्तराखण्ड में वीरगाथाओं को क्या कहा जाता है।
3. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखो?
 - क. तिलै धारो बोला
 - ख. जो रूद्रचंद के आली तो रामचंद्र की नाली
4. गोरखों के बारे में प्रचलित प्रसिद्ध मुहावरा क्या है?
5. मालूसाही किनकी प्रणय गाथा है?
6. लोक गाथा के अनुसार मालूसाही का काल कौन सी सदी में बैठता है?
7. उत्तराखण्ड में प्रमुखतः किन शासकों के जागर लगाये जाते हैं।
8. चंद राजाओं में किनके भड़ौ अधिक प्रचलित हैं?

1.8 स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्नों के उत्तर

1. क. देखें— 1.3.1
ख. देखें— 1.3.1
2. क. देखें— 1.3.2
ख. देखें— 1.3.1
ग. देखें— 1.3.2
घ. देखें— 1.3.2
3. क. देखें— 1.4.1
ख. देखें— 1.4.2
4. देखें— 1.4.2
5. देखें— 1.5.1
6. देखें— 1.5.1
7. देखें— 1.5.2
8. देखें— 1.5.3

1.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. डबराल, शिव प्रसाद : उत्तराखण्ड का इतिहास, भाग— 1—12, दोगडा, गढ़वाल ।
2. पाण्डे, बद्रीदत्त : 1937 : कुमाऊँ का इतिहास, अल्मोड़ा ।
3. पाण्डेय, त्रिलोचन : 1962, 75 : कुमाऊँ का लोक साहित्य, अल्मोड़ा ।
4. भट्ट, हरिदत्त शैलेश : 1976 : गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य, लखनऊ ।
5. चातक, गोविन्द : 1958 : गढ़वाली लोक कथाएं, देहरादून ।
6. पोखरिया, देवसिंह : 1994 : कुमाऊँनी भाषा, साहित्य और संस्कृति, अल्मोड़ा ।
7. बलूनी, दिनेश चंद्र : 2001 : उत्तरांचल : संस्कृति, लोकजीवन, इतिहास एवं पुरातत्व ।
8. बाबुलकर, मोहनलाल : 1964 : गढ़वाली लोक साहित्य का विवेचनात्मक अध्ययन ।
9. जोशी, प्रयाग : 1971 : कुमाऊँनी लोकगाथाएं, बरेली ।

1.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. उत्तराखण्ड की मौखिक परम्परा पर निबन्ध लिखो?
2. मालूसाही गाथा का वर्णन करते हुए उसमें ऐतिहासिक तथ्य तलाशो?
3. उत्तराखण्ड में वीर गाथा गायन पर प्रकाश डालो?

इकाई चार

उत्तराखण्ड का भूगोल एवं पर्यावरण

- 4.1 प्रस्तावना
- 4.2 उद्देश्य
- 4.3 उत्तराखण्ड की जलवायु
 - 4.3.1 जल प्रवाह
 - 4.3.2 जलवायु
- 4.4 उत्तराखण्ड में मानव शक्ति, वनस्पति एवं वन्य जगत
 - 4.4.1 जनसंख्या
 - 4.4.2 प्रमुख जनजातियाँ
 - 4.4.3 भाषा
- 4.5 वनस्पति आवरण
 - 4.5.1 वन्य जगत
- 4.6 उत्तराखण्ड की खनिज संपदा, उद्योग एवं कृषि
 - 4.6.1 खनिज संपदा
- 4.7 प्रमुख उद्योग
- 4.8 कृषि
- 4.9 जलविद्युत परियोजनाएँ
- 4.10 प्रमुख धार्मिक तथा पर्यटन स्थल
- 4.11 परिवहन
- 4.12 सार—संक्षेप
- 4.13 शब्दावली
- 4.14 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर
- 4.15 संदर्भ ग्रंथावली

4.1 प्रस्तावना

उत्तराखण्ड, उत्तरी अक्षांतर में 28° , $44'$ और 31° , $25'$ के मध्य तथा पूर्वी देशान्तर में 77° , $45'$ और 81° , $1'$ के मध्य स्थित है। इस भू-क्षेत्र का लगभग 80 प्रतिशत भाग पहाड़ी है और शेष मैदानी, जो कि भाबर, तराई और दून नामों की भौगोलिक संरचनाओं से जाना जाता है। यह सम्पूर्ण भू-भाग पश्चिम में यमुना की सहायक नदी टौंस, उत्तर में तिब्बत, पूर्व में काली या शारदा नदी, तथा दक्षिण में देहरादून से खटीमा—टनकपुर तक फैले मैदानी क्षेत्र की रेखा के अन्तर्गत स्थित है। इसमें दो मण्डल हैं, यथा— कुमाऊँ मण्डल और गढ़वाल मण्डल, जो कि पौराणिक मान्यताओं के अनुसार क्रमशः मानसखण्ड एवं केदारखण्ड के नामों से जाने जाते हैं।

सामरिक दृष्टि से इस क्षेत्र की स्थिति महत्वपूर्ण है, एक ओर इसके उत्तर—पश्चिम में हिमाचल प्रदेश स्थित है तो दूसरी ओर उत्तर एवं उत्तर—पूर्व में तिब्बत का विशाल पठार फैला हुआ है, पूर्व

में एक पृथक राष्ट्र नेपाल स्थित है। दक्षिण को छोड़कर अन्य सभी दिशाओं में इस भू-भाग की सीमायें प्राकृतिक हैं। इसकी समस्त पूर्वी एवं उत्तरी सीमायें अन्तर्राष्ट्रीय होने के कारण, भारत की उत्तरी सीमा पर यह भू-राजनैतिक दृष्टि से एक अत्यन्त संवेदनशील क्षेत्र है। इस दृष्टि से पिथौरागढ़ जनपद की स्थिति विशेष उल्लेखनीय है, क्योंकि इसकी सम्पूर्ण उत्तरी एवं पूर्वी सीमायें अन्तर्राष्ट्रीय हैं। चमोली जनपद की उत्तरी सीमायें भी पूर्णतः अन्तर्राष्ट्रीय हैं, जबकि उत्तरकाशी की उत्तरी सीमायें भी आंशिक रूप से अन्तर्राष्ट्रीय हैं। भारत-तिब्बत जल-विभाजक द्वारा निर्धारित इस उत्तरी सीमा पर ही हिमालय की अभेद्य श्रृंखलाओं के बीच, भारत-तिब्बत यात्रा मार्गों को जोड़ने वाले अनेक दर्रे स्थित हैं। उच्च हिमालय क्षेत्र में जन्म लेने वाली अनेक विशाल नदियाँ दक्षिण की ओर प्रवाहित होते हुए यहाँ के मध्य भागों में विस्तृत नदी घाटियों का निर्माण करती हैं। इन नदी घाटियों में धरातल व जलवायु की सुविधा, मिट्टी की उर्वरता एवं जल की उपलब्धता के कारण अनेक कृषि एवं मानव बसासत के क्षेत्र स्थित हैं।

उत्तराखण्ड में वर्तमान में तेरह जनपद – हरिद्वार, ऊधमसिंहनगर, देहरादून, नैनीताल, अल्मोड़ा, पिथौरागढ़, बागेश्वर, चम्पावत, रुद्रप्रयाग, टिहरी, चमोली, उत्तरकाशी एवं पौड़ी-सम्मिलित हैं। दक्षिण की ओर स्थित चार जनपदों (देहरादून, हरिद्वार, पौड़ी तथा ऊधमसिंह नगर) के कुछ मैदानी भागों को छोड़कर अन्य सभी जनपदों का समस्त धरातल पर्वतीय है। देहरादून जनपद, विशाल मैदानी धरातल, नैसर्गिक सौन्दर्य एवं प्राकृतिक संसाधनों में धनी होने के कारण आर्थिक एवं औद्योगिक दृष्टि से अग्रणी जनपद है, इसी कारण यहाँ पर्यटक स्थलों का विकास, मध्यवर्ती दून घाटी में उर्वर कृषि एवं औद्योगीकरण का समागम देखने को मिलता है। नैनीताल जनपद अपने पर्यटक स्थलों के कारण प्रसिद्ध है, पिथौरागढ़ भौगोलिक विविधताओं का जनपद है, अल्मोड़ा अपने रमणीय सौन्दर्य एवं उर्वर नदी घाटियों के कारण जाना जाता है, जबकि उत्तरकाशी, रुद्रप्रयाग और चमोली जनपद हिमाच्छादित शिखरों, हिमनदों एवं उच्च घाटियों के साथ-साथ क्रमशः यमुनोत्री व गंगोत्री तथा केदारनाथ व बद्रीनाथ धामों के कारण जगप्रसिद्ध हैं। टिहरी जनपद भागीरथी नदी, प्राचीन रियासत व वर्तमान में बहुउद्देशीय बाँध परियोजना के कारण उल्लेखनीय हैं। अल्मोड़ा एवं पौड़ी जनपदों में प्राकृतिक सौन्दर्य का बाहुल्य है। दक्षिण की ओर स्थित देहरादून, पौड़ी, हरिद्वार, नैनीताल एवं ऊधमसिंह नगर जनपदों में हिमाच्छादित क्षेत्र नहीं पाये जाते हैं, जबकि अन्य सभी जनपदों में, ऊँचाई बढ़ने के साथ-साथ विस्तृत हिमाच्छादित क्षेत्र पाये जाते हैं।

4.2 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको उत्तराखण्ड के भूगोल एवं पर्यावरण की जानकारी देना है ताकि यहां के भूगोल एवं पर्यावरण को समझते हुए आप यहां के इतिहास को सही प्रकार समझ सकें। इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप अग्रांकित जानकारी प्राप्त कर सकेंगे—

- उत्तराखण्ड की भौगोलिक स्थिति
- उत्तराखण्ड की नदी प्रणालियां
- उत्तराखण्ड की जलवायु
- उत्तराखण्ड का वनस्पति आवरण
- उत्तराखण्ड का वन्य जगत
- उत्तराखण्ड में मिलने वाले खनिज

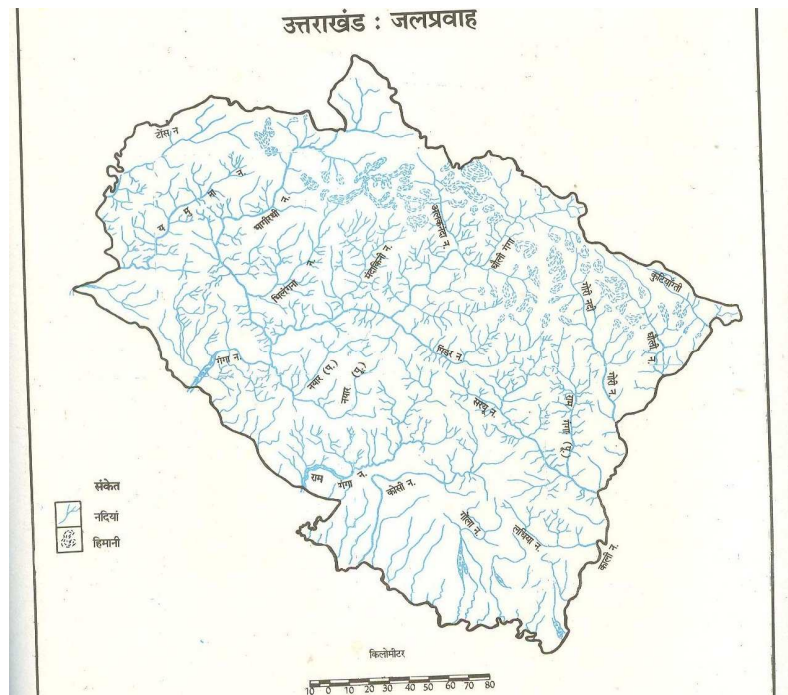
- उत्तराखण्ड के प्रमुख उद्योग
- उत्तराखण्ड में कृषि तथा फलोत्पादन
- उत्तराखण्ड की जनपदवार जनसंख्या एवं लिंग अनुपात तथा यहां की जनजातियां
- उत्तराखण्ड में विद्यमान जल विद्युत परियोजनाएं
- उत्तराखण्ड के प्रमुख धार्मिक तथा पर्यटन स्थल
- उत्तराखण्ड के प्रमुख सड़क मार्ग

4.3 उत्तराखण्ड की जलवायु

उत्तराखण्ड की जलवायु का अध्ययन अग्रांकित शीर्षकों के अंतर्गत किया जा सकता है —

4.3.1 जल प्रवाह

इकाई के इस भाग में, मैं आपको उत्तराखण्ड की जल प्रवाह प्रणाली के विषय में जानकारी दे रहा हूं, उत्तराखण्ड में मुख्यतः तीन नदी प्रणालियाँ सक्रिय हैं — 1—यमुना एवं इसकी सहायक नदियाँ जिनमें टौंस उल्लेखनीय है, 2— गंगा एवं उसकी सहायक नदियाँ, जिसके अन्तर्गत भागीरथी एवं अलखनंदा व इनकी अनेकों सहायक नदियाँ सम्मिलित हैं, जैसे— भागीरथी में भिलंगना और अलखनंदा में विष्णुगंगा, नंदाकिनी, पिण्डर तथा मंदाकिनी, 3— काली एवं इसकी सहायक नदियों में कुटियांगती, धौली, गोरी, सरयू व लधिया उल्लेखनीय हैं। इन सभी नदियों में गंगा नदी का प्रवाह क्षेत्र सबसे विशाल है। ये सभी नदियाँ, सदानीरा हैं एवं इनके उद्गम हिमालय के उच्च हिमाच्छादित क्षेत्र हैं। दक्षिण की ओर कुछ नदियाँ, जो लघु हिमालय या शिवालिक से जन्म लेती हैं, अन्ततः रामगंगा में जाकर मिलती हैं, जिनमें रामगंगा, कोसी व गौला मुख्य हैं।



सौजन्य: उत्तराखण्ड पर्यावरण मानचित्रावली 1997, उत्तराखण्ड पर्यावरण शिक्षण केन्द्र, अल्मोड़ा

4.3.2 जलवायु

इकाई के इस भाग में, मैं आपको उत्तराखण्ड की जलवायु के विषय में जानकारी दे रहा हूँ, उत्तराखण्ड के पर्वतीय क्षेत्रों में धरातल की असमानता के कारण, जलवायु दशाओं में भारी विषमतायें देखने को मिलती हैं, पर्वतों में ऊँचाई बढ़ने के साथ-साथ तापक्रम कम होता चला जाता है। 1000 मीटर ऊँचाई बढ़ने पर तापक्रम 6 अंश सेल्सियस कम हो जाता है तथा दैनिक तापांतर में भी अन्तर विशाल होने लगता है। एक ही पर्वत के ऊँचे एवं घाटी के निचले क्षेत्रों में तापक्रम का बहुत अंतर पाया जाता है। जलवायु दशाएँ ढाल की दिशा पर भी निर्भर करती हैं। स्थानीय स्तर पर, पर्वत श्रृंखलाओं की दिशा, वनस्पति का स्वरूप, हिमाच्छादित क्षेत्रों से समीपता, वर्षा करने वाली हवाओं के संदर्भ में स्थिति व कई अन्य कारणों से जलवायु दशाओं में छोटी दूरियों के बीच भी भारी अन्तर देखने को मिलते हैं। औसतन 1000 मीटर या इससे कम ऊँचाई के भागों में उपोष्ण जलवायु पायी जाती है, जबकि 2000 मीटर तक की ऊँचाई में समशीतोष्ण दशाएँ देखने को मिलती हैं। 2000 मीटर से अधिक ऊँचे भागों में शीतोष्ण एवं शीत-शीतोष्ण जलवायु दशाएँ पायी जाती हैं, परन्तु स्थान-स्थान पर धरातलीय अन्तर एवं अन्य स्थानीय कारक इन जलवायु दशाओं में भिन्नता उत्पन्न करते हैं फिर भी उत्तराखण्ड की इन विभिन्न जलवायु विभागों में तापक्रम एवं वर्षा सम्बन्धी एकरूपता देखने को मिलती है।

पर्वत श्रृंखलाओं की दिशा, वर्षा करने वाली हवाओं के सन्दर्भ में विशेष महत्व रखती हैं, क्योंकि इनके द्वारा ही वर्षा की मात्रा एवं वितरण जैसे तथ्य निर्धारित होते हैं। उत्तराखण्ड के दक्षिणी भाग में स्थित, शिवालिक श्रृंखला, वर्षा करने वाली मानसूनी हवाओं को ऊँचा उठने के लिए बाध्य करती है, जिसके फलस्वरूप शिवालिक श्रृंखलाओं व दून घाटी में अधिक वर्षा होती है जबकि आन्तरिक भागों में वर्षा का औसत अपेक्षाकृत कम है। अधिकतम वर्षा के क्षेत्र या तो दक्षिण में बाह्य श्रृंखलाओं या इनके निकट स्थित हैं जो नैनीताल, देहरादून, टनकपुर आदि या फिर ऐसे उच्च हिमालय के निकट पाये जाते हैं, उदाहरण स्वरूप उत्तरकाशी, मुनश्यारी आदि। उच्च वर्षा के इन क्षेत्रों में वार्षिक वर्षा का औसत 2000 मिलीमीटर या इससे अधिक रहता है। मध्यवर्ती भागों में वर्षा सामान्यतः 1000 तथा 2000 मिलीमीटर के मध्य पायी जाती है।

स्वमूल्यांकित प्रश्न

1. उत्तराखण्ड में वर्तमान में कितने जनपद हैं।
2. उत्तराखण्ड में कौन कौन सी नदी प्रणालियाँ हैं।

.....

.....

.....

3. उत्तराखण्ड की जलवायु के विषय में लिखिए ।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

4.4 उत्तराखण्ड में मानव शक्ति, वनस्पति एवं वन्य जगत

इन सभी तथ्यों का अध्ययन अग्रांकित शीर्षकों के अंतर्गत किया जा सकता है,

4.4.1 जनसंख्या

इकाई के इस भाग में, मैं आपको उत्तराखण्ड की जनसंख्या के विषय में जानकारी दे रहा हूँ, सन् 2001 की जनगणना के अनुसार उत्तराखण्ड की कुल जनसंख्या 84.8 लाख व्यक्ति रही, जो देश की कुल जनसंख्या का केवल 0.83 प्रतिशत भाग है। जनसंख्या आकार की दृष्टि से उत्तरांचल राज्य का, भारत के राज्यों में 20वाँ स्थान है। सन् 2001 में सर्वाधिक जनसंख्या वाला जनपद हरिद्वार तथा सबसे कम जनसंख्या वाला जनपद चम्पावत रहा । सन् 1991 में उत्तरांचल में जनघनत्व 133 प्रति वर्ग किलोमीटर था, जो सन् 2001 में बढ़कर 159 व्यक्ति प्रतिवर्ग किलोमीटर हो गया। सन् 2001 में सर्वाधिक घना बसा जनपद हरिद्वार (616 व्यक्ति/वर्गकिलोमीटर) तथा सबसे विरल बसा जनपद उत्तरकाशी (3 व्यक्ति/वर्गकिलोमीटर) रहा। यहाँ सन् 1991 में प्रति 1000 पुरुषों में महिलाओं की संख्या 936 थी, जो सन् 2001 में बढ़कर 964 हो गयी । सन् 2001 में उत्तरांचल का लिंगानुपात देश के औसत लिंगानुपात (933) से अधिक रहा । सन् 2001 में उत्तराखण्ड में सर्वाधिक लिंगानुपात अल्मोड़ा जिले में (114) रहा, जबकि

सबसे कम लिंगानुपात हरिद्वार जिले में (868) रहा । उत्तराखण्ड में सन् 2001 में जनसंख्या का वितरण जनपदानुसार अग्रांकित चार्ट द्वारा व्यक्त किया गया है —

4.4.2 प्रमुख जनजातियाँ

इकाई के इस भाग में, मैं आपको उत्तराखण्ड की प्रमुख जनजातियों के विषय में जानकारी दे रहा हूँ, उत्तराखण्ड में जनजातियों की कुल जनसंख्या लगभग तीन लाख है, जो लगभग 28 हजार परिवारों के रूप में उत्तराखण्ड के विभिन्न जनपदों में विद्यमान हैं । उत्तराखण्ड की अधिकांश जनजातियाँ अशिक्षित हैं तथा सामान्यतया पशुपालन, मजदूरी या कृषि व्यवसाय में संलग्न हैं । सौका—भोटिया, बोक्सा, जौनसारी, थारू तथा राजी उत्तराखण्ड में निवास करने वाली प्रमुख जनजातियाँ हैं । शौका—भोटिया जनजाति उत्तराखण्ड के पिथौरागढ़, चमोली तथा उत्तरकाशी जनपदों में निवास करती हैं । उत्तरकाशी जनपद में इन्हें 'जाड', चमोली जनपद में इन्हें 'मारच्छा' व 'तोलच्छा' तथा पिथौरागढ़ जनपद में 'जोहारी' व 'शौका' नामों से पुकारा जाता है। भोटिया जनजाति की आजीविका का प्रमुख स्रोत, मौसमीय पशुचारण, अल्पमात्रा में कृषि तथा पूर्व में तिब्बत के साथ परम्परागत व्यापार रहा है । वर्तमान में इस जनजाति के अनेक लोग, देश एवं प्रदेश की सरकारी नौकरियों में महत्वपूर्ण पदों पर कार्य कर रहे हैं । बोक्सा जनजाति प्रमुख रूप से कुमाऊँ की तराई, देहरादून के तराई क्षेत्र तथा पौड़ी जनपद में निवास करती हैं । देहरादून में इन्हें 'मेहरा' तथा 'मेहरी' कहा जाता है, कृषि तथा पशुपालन बोक्सा जनजाति के प्रमुख परम्परागत व्यवसाय हैं । कुमाऊँ की तराई में स्थित बाजपुर, काशीपुर तथा रामनगर तहसीलों में इनकी सर्वाधिक संख्या विद्यमान हैं। जौनसारी जनजाति मुख्यतः गढ़वाल के भाबर क्षेत्र में निवास करती है, इसीलिए इस क्षेत्र को जौनसारी भाबर कहा गया है । यह क्षेत्र देहरादून जनपद के चकराता तथा कालसी विकासखण्डों में विद्यमान है । देहरादून जनपद में जौनसारी जनजाति का 98 प्रतिशत निवास करता है जबकि कुछ जौनसारी, उत्तरकाशी तथा टिहरी जनपदों में भी निवास करते हैं । कृषि तथा हस्तशिल्प इनके प्रमुख व्यवसाय हैं । थारू जनजाति कुमाऊँ में नेपाल से लगी सीमा के साथ—साथ तराई व भाबर क्षेत्र में निवास करती है । तराई स्थित खटीमा, रामपुरा, किच्छा, सितारगंज, नानकमत्ता तथा बनबसा क्षेत्रों में यह जनजाति प्रमुख रूप से मिलती है। इनका प्रमुख व्यवसाय कृषि तथा मजदूरी है। राजी जनजाति आकार की दृष्टि से उत्तराखण्ड की सबसे छोटी जनजाति है, जो पिथौरागढ़ व नैनीताल जनपद के ग्रामों में निवास करती है । यह जनजाति तिब्बती तथा मुण्डा भाषा बोलती है । अधिकांश राजी लोगों में अशिक्षा विद्यमान है, इनका मुख्य व्यवसाय मजदूरी करना है। इन उपरोक्त प्रमुख जनजातियों के अलावा माहीगीर तथा कोल्ता जनजाति भी अत्यन्त सीमित संख्या में उत्तरांचल में निवास करती हैं ।

4.4.3 भाषा

उत्तराखण्ड में वर्तमान में हिंदी एवं अंग्रेजी भाषाओं के साथ ही कुमाऊँ क्षेत्र में कुमाउँनी बोली एवं गढ़वाल क्षेत्र में गढ़वाली बोली, प्रचलन में मिलती है । यहाँ कुमाउँनी एवं गढ़वाली बोलियों में स्थानगत अंतर भी देखा जा सकता है ।

4.5 वनस्पति आवरण

इकाई के इस भाग में, मैं आपको उत्तराखण्ड की वनस्पति आवरण के विषय में जानकारी दे रहा हूँ, जलवायु तथा वनस्पति का पारस्परिक संबंध अत्यंत गहन है । पहाड़ों में इस संबंध का अत्यंत स्पष्ट अहसास, ऊँचाई के साथ परिवर्तित होती हुई वनस्पति से होता है । हिमालय के अन्य क्षेत्रों की भांति ही मध्यहिमालय में भी निचले क्षेत्रों से उत्तर की ओर बढ़ते हुए विभिन्न ऊँचाईयों के साथ वनस्पति की प्रजातियों में भिन्नता देखने को मिलती है ।, यथा –



सौजन्य: उत्तराखण्ड पर्यावरण मानचित्रावली 1997, उत्तराखण्ड पर्यावरण शिक्षण केन्द्र, अल्मोड़ा



सौजन्य: उत्तराखण्ड पर्यावरण मानचित्रावली 1997, उत्तराखण्ड पर्यावरण शिक्षण केन्द्र, अल्मोड़ा

4.5.1 वन्य जगत

इकाई के इस भाग में, मैं आपको उत्तराखण्ड के वन्य जगत के विषय में जानकारी दे रहा हूँ, जलवायु और भू-संरचना के अनुरूप जिस प्रकार वनस्पति-जगत् में भिन्नता मिलती है उसी प्रकार वन्य-जगत् में पाये जाने वाले पशु-पक्षियों में भी अन्तर दृष्टिगोचर होता है । उत्तराखण्ड की सामान्य ऊँचाई वाले स्थलों में बाघ, तैदुआ, भालू, चिथरौल, जंगली सुअर, बन्दर, लंगूर, सियार, सेही, घुरड़, काकड, साँभर तथा विभिन्न

प्रकार के सरीसर्प मिलते हैं, जबकि अधिक ऊँचाई वाले वनों में कस्तूरीमृग, सफेद तेंदुआ, भरेल, थार, याक और घुराल जैसे वन्य प्राणियों को विचरण करते देखा जा सकता है। पक्षियों में यहाँ मोनाल, कोयल, बाज, चील, गिद्ध, कबूतर, तोता, मैना, कठफोडवा, गौरय्या, मलिया, तीतर, मुर्गी, कौआ तथा शीत ऋतु में विभिन्न आप्रवासी पक्षियों को देखा जा सकता है। उत्तराखण्ड ने यहाँ पाये जाने वाले कस्तूरी मृग को राजकीय पशु एवं मोनाल को राजकीय पक्षी घोषित किया है। यहाँ के कुछ प्रमुख राष्ट्रीय उद्यानों में नंदादेवी राष्ट्रीय उद्यान (चमोली), फूलों की घाटी (चमोली), गंगोत्री राष्ट्रीय उद्यान (उत्तरकाशी), गोविन्द राष्ट्रीय उद्यान (उत्तरकाशी), कार्बेट नेशनल पार्क एवं राजाजी राष्ट्रीय उद्यान लोक विख्यात हैं। उत्तराखण्ड के कुछ प्रमुख वन्यजीव विहारों में मंसूरी वन्य जीव विहार, अस्कोट वन्य जीव विहार, गोविन्द वन्य जीव विहार तथा केदारनाथ वन्य जीव विहार उल्लेखनीय हैं।

स्वमूल्यांकन प्रश्न

1. 2001 की जनगणना के अनुसार उत्तराखण्ड की जनसंख्या कितनी थी?
2. उत्तराखण्ड की प्रमुख जनजातियाँ कौन सी हैं?
3. उत्तराखण्ड के राजकीय पशु तथा पक्षी का नाम बताइये?

4.6 उत्तराखण्ड की खनिज संपदा, उद्योग एवं कृषि

इस खण्ड का अध्ययन विभिन्न अग्रांकित शीर्षकों के अंतर्गत किया जा सकता है—

4.6.1 खनिज संपदा

इकाई के इस भाग में, मैं आपको उत्तराखण्ड की खनिज संपदा के विषय में जानकारी दे रहा हूँ। उत्तराखण्ड खनिज संपदा की दृष्टि से बहुत सम्पन्न क्षेत्र नहीं कहा जा सकता है, फिर भी यहाँ अनेक प्रकार के खनिजों का खनन किया जाता है। देहरादून जनपद में मिलने वाले खनिज पदार्थों में, फोस्फोराइट, चूना पत्थर, डोलोमाइट प्रमुख हैं; टिहरी जनपद में भी डोलोमाइट के उच्चकोटि के प्रचुर भण्डार विद्यमान हैं, टिहरी जनपद में उत्तम कोटि का चूनापत्थर तथा अल्प मात्रा में फोस्फोराइट एवं जिप्सम भी पाया जाता है। उत्तरकाशी जनपद में ताँबा तथा कुछ स्थानों पाइराइट, चूना पत्थर एवं डोलोमाइट भी मिलता है। पौड़ी जनपद में चूना पत्थर के विशाल भण्डार मौजूद हैं, यहाँ जिप्सम, लौह अयस्क, माइका एवं फोस्फोराइट भी विद्यमान हैं। चमोली जनपद खनिज संपदा की दृष्टि से धनी क्षेत्र है, यहाँ एस्बेस्टोस, एण्टीमनी तथा टेलक जैसे खनिज बहुतायत से उपलब्ध हैं। रुद्रप्रयाग जनपद में डोलोमाइट मिलता है। अल्मोड़ा जनपद भी खनिज संपदा में सम्पन्न है, यहाँ चूना पत्थर, ग्रेनाइट, नीस, डोलोमाइट तथा स्लेट आदि निर्माण सामग्री उपलब्ध होती है। बागेश्वर जनपद में मैग्नेसाइट, चूना पत्थर एवं टेलक के भण्डार विद्यमान हैं, जबकि पिथौरागढ़ जनपद में भी मैग्नेसाइट, टेलक एवं चूना पत्थर के भण्डार मिलते हैं। नैनीताल जनपद में चूना पत्थर, जिप्सम, ग्रेनाइट, क्वार्टजाइट व बसाल्ट पत्थर एवं निम्न कोटि का लौह अयस्क पाया जाता है। उपरोक्त सभी ज्ञात खनिज भण्डारों का अभी तक सीमित उपयोग ही संभव हो पाया है क्योंकि अधिकांश भण्डार दुर्गम पर्वतीय क्षेत्रों में स्थित हैं।

4.7 प्रमुख उद्योग

इकाई के इस भाग में, मैं आपको उत्तराखण्ड के प्रमुख उद्योगों के विषय में जानकारी दे रहा हूँ। उत्तराखण्ड में देहरादून, हरिद्वार तथा ऊधमसिंहनगर जनपद औद्योगिक विकास की दृष्टि से अन्य जनपदों की तुलना में अग्रणी हैं। उत्तराखण्ड में देहरादून हरिद्वार तथा हल्द्वानी में वनों पर आधारित उद्योगों का अधिक विकास हुआ है। वृहद-स्तर के उद्योगों का उत्तराखण्ड में सीमित विकास हुआ है, जबकि अधिकांश उद्योग लघुस्तर तथा कुटीर स्तर पर कार्यरत मिलते हैं। ऊनी वस्त्र, कम्बल तथा कालीनों का निर्माण प्रदेश के विभिन्न क्षेत्रों में कुटीर स्तर पर किया जाता है। ऊनी वस्त्र निर्माण प्रशिक्षण केन्द्र बागेश्वर, अल्मोड़ा, देवगढ़ (पौड़ी), भीमताल (नैनीताल), प्रेमनगर (देहरादून), छाम (टिहरी), भद्रतल्ला (चमोली), छम्मा (टिहरी) तथा तवाघाट (पिथौरागढ़) नामक स्थानों में विद्यमान हैं। काष्ठ-फर्नीचर उद्योग देहरादून तथा हल्द्वानी में विद्यमान हैं, जबकि बेंत, छड़ियाँ तथा खेल का सामान बनाने वाले उद्योग देहरादून तथा नैनीताल में कार्यरत हैं। हल्द्वानी में खैर की लकड़ी से कत्था बनाने का उद्योग स्थित है, ऊनी वस्त्र उद्योग अल्मोड़ा, पौड़ी, बागेश्वर तथा रानीखेत में, जबकि सूती वस्त्र उद्योग देहरादून तथा काशीपुर में विद्यमान हैं। आधुनिक इलेक्ट्रॉनिक्स उद्योग भीमताल, लैंसडाउन तथा कोटद्वार में लगाये गये हैं, थर्मामीटर उद्योग अल्मोड़ा में विद्यमान है। चावल मिलें ऊधमसिंहनगर जनपद तथा देहरादून में कार्यरत हैं जबकि चीनी मिलें किच्छा व काशीपुर में विद्यमान हैं। कागज व लुग्दी उद्योग लालकुआँ में स्थित है। देहरादून तथा हरिद्वार जनपद में सीमेंट उद्योग लगाये गये हैं जबकि मैग्नेसाइट उद्योग झिरौली (बागेश्वर) तथा चण्डाक (पिथौरागढ़) में कार्यरत हैं। ऊधमसिंहनगर जनपद तथा देहरादून जनपद में छोटी-बड़ी लगभग 450 चावल मिलें हैं, यहाँ उत्पादित अधिकांश चावल उत्तम किस्म का है। भारतसरकार के अनेक औद्योगिक संस्थान यहाँ स्थित हैं, जिनमें हरिद्वार स्थित भारत हैवी इलेक्ट्रॉनिक्स लिमिटेड, रानीबाग स्थित हिन्दुस्तान मशीन टूल्स, ऋषिकेश में विद्यमान इण्डियन ड्रग्स एण्ड फार्मास्यूटिकल लिमिटेड तथा हरिद्वार में स्थापित फाउन्ड्री फोर्ज प्रमुख हैं।

4.8 कृषि

इकाई के इस भाग में, मैं आपको उत्तराखण्ड की कृषि के विषय में जानकारी दे रहा हूँ। उत्तराखण्ड में नदी-घाटियों को छोड़कर समतल भूमि का प्रायः अभाव है, इसीलिए पर्वतीय भागों में सीढ़ीदार खेत निर्मित कर कृषि की जाती है। यहाँ की कृषि परम्परागत है, जिसमें उन्नत तकनीकों, बीजों एवं उर्वरकों का अभाव दिखता है। उत्पादकता के आधार पर यहाँ की कृषि-भूमि को तीन भागों में – खील, उपराऊँ एवं तलाऊँ – में विभाजित किया गया है। खील भूमि निम्न श्रेणी की कृषि भूमि है, जिसपर घटिया किस्म की फसलें यथा- कुल्थी, मडुवा, झंगोरा, चूआ, मक्का, कौणी तथा फाफर जैसे मोटे अनाज उत्पादित किये जाते हैं। उपराऊँ भूमि, उपजाऊ तथा लाल-भूरे रंग की होती है, जिसमें उत्तम किस्म की फसलें, यथा- गेहूँ, धान, मक्का, उड़द, मडुआ, सोयाबीन, जौ तथा आलू जैसे उत्पाद उगाये जाते हैं। तलाऊँ प्रकार की भूमि सर्वश्रेष्ठ श्रेणी की भूमि होती है, जो मध्य हिमालय की नदी-घाटियों में पायी जाती है। 'तलाऊँ' का अर्थ 'सिंचित' भूमि से है। तलाऊँ भूमि में मुख्यतः चावल की खेती की जाती है।

सब्जी एवं फलोत्पादन की दृष्टि से भी उत्तराखण्ड का महत्वपूर्ण स्थान है। सब्जियों में प्रायः सभी प्रमुख मौसमी सब्जियाँ यहाँ उगाई जाती हैं। सरकारी योजना के तहत सहायता प्राप्त लोगों द्वारा लगाये गये 'पॉली हाउस' भी यहाँ वर्तमान में पर्याप्त प्रचलित हो रहे हैं और इनकी सहायता से बे-मौसमी सब्जियाँ भी

मध्यहिमालय के अनेक स्थानों में उत्पादित की जा रही हैं । फलोत्पादन की दृष्टि से उत्तराखण्ड का देश में महत्वपूर्ण स्थान है । फलों की किस्मों के विकास एवं उत्पादन में वृद्धि के लिए पिथौरागढ़, रानीखेत, बागेश्वर, बडालू, चकराता, उत्तरकाशी, श्रीनगर जैसे स्थानों में विभिन्न शोधकेन्द्र लगाये गये हैं । यहाँ के प्रमुख फसलों में सेव, खुबानी, नाशपाती, अनार, प्लम, लुकाट, माल्टा, संतरा, बादाम, आड़ू, चेरी, केला, अखरोट, पाँगर, काफल आदि उल्लेखनीय हैं । 'चाय-परियोजना' के तहत राज्य निर्माण के उपरांत से अनेक पुराने चाय-बागानों को पुनर्जीवित एवं नवीन बागानों का विकास किया जा रहा है और यहाँ 'ऑर्गेनिक चाय' उत्पादित की जा रही है जिसे विश्व की श्रेष्ठ चाय का दर्जा प्राप्त है ।

स्वमूल्यांकित प्रश्न

1. उत्तराखण्ड में मिलने वाले कुछ प्रमुख खनिजों का नामोल्लेख कीजिए
2. उत्तराखण्ड में कौन कौन से उद्योग चल रहे हैं
3. उत्तराखण्ड के कुछ प्रमुख फलों के नाम बताइये

4.9 जलविद्युत परियोजनाएँ

पिछले पृष्ठों में वर्णित 'जल-प्रवाह' शीर्षक के तहत यह स्पष्ट किया गया है कि, उत्तराखण्ड क्षेत्र में अनेक छोटी-बड़ी नदियों का जाल सा बिछा है । इन विभिन्न नदियों ने यहाँ अनेक धार्मिक स्थल तथा समृद्ध घाटियाँ एवं उपजाऊ मैदानों का निर्माण किया है । कत्यूर, चम्पावत जैसी अनेक घाटियों ने तो यहाँ अतीत में अनेक स्थानीय राजवंशों के उत्थान में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है । वस्तुतः 'जल' वर्तमान में भी उत्तराखण्ड के विकास के लिए एक महत्वपूर्ण संसाधन के रूप में स्वीकार किया गया है । उत्तराखण्ड में तीव्र प्रवाहिनी नदियों ने जहाँ विभिन्न पर्यटक आकर्षक स्थलों का निर्माण किया है वहीं सिंचाई एवं जल-विद्युत के निर्माण में भी इसका महत्व स्वीकार किया गया है । वर्तमान में उत्तराखण्ड में विभिन्न छोटी-बड़ी जलविद्युत परियोजनाओं के तहत लगभग 1100 मेगावाट विद्युत का उत्पादन किया जा रहा है । यह आंकलन किया गया है कि यदि राज्य में 10 मेगावाट से कम क्षमता वाली लघुजलविद्युत परियोजनाओं को स्थापित किया जाये तो प्रदेश में लगभग 40 हजार मेगावाट जलविद्युत उत्पादित की जा सकती है ।

स्वमूल्यांकित प्रश्न

1. उत्तराखण्ड की कुल जलविद्युत उत्पादन क्षमता कितनी है

4.10 प्रमुख धार्मिक तथा पर्यटन स्थल

जनगणना 2001में उत्तराखण्ड में कुल नगरीय स्थलों की संख्या 71 स्वीकार की गई है, यद्यपि इनमें से अधिकांश स्थलों पर नगरीय विकास न्यून स्तर का है । उत्तराखण्ड में स्थिति के अनुसार अनेक प्रकार के नगर विद्यमान हैं । इनमें रानीखेत, अल्मोड़ा, पौड़ी, लैंसडाउन, मंसूरी तथा चकराता जैसे नगर पर्वतीय

अवकूटों पर बसे हुए हैं । देहरादून व नैनीताल जैसे नगर, पर्वतीय घाटियों में विद्यमान हैं । देवप्रयाग, रुद्रप्रयाग, कर्णप्रयाग, बागेश्वर जैसे नगर, नदियों के संगम पर स्थित हैं । नदी वेदिकाओं पर भी नगर बसे हुए मिलते हैं, श्रीनगर, उत्तरकाशी तथा कीर्तिनगर ऐसे ही स्थल हैं । द्वार-नगर के रूप में ऋषिकेश, हरिद्वार, कालसी, कोटद्वार, काठगोदाम व टनकपुर जैसे नगर यहाँ मिलते हैं, इनके अलावा मैदानी नगरों के अन्तर्गत यहाँ रुड़की, रुद्रपुर, जसपुर, बाजपुर, काशीपुर, हल्द्वानी, रामनगर तथा लक्सर जैसे नगरों को शामिल किया जा सकता है ।

‘देवभूमि’ के नाम से जाना जाने वाला उत्तराखण्ड राज्य तीर्थाटन की दृष्टि से तीर्थस्थलों व मंदिरों से भरा पड़ा है । यहाँ बद्रीनाथ, केदारनाथ, गंगोत्री, यमनोत्री प्रमुख धार्मिक स्थल हैं, जबकि पंचप्रयागों में देवप्रयाग, रुद्रप्रयाग, कर्णप्रयाग, नंदप्रयाग तथा विष्णुप्रयाग उल्लेखनीय हैं । ज्योतिर्मठ, उखीमठ, ऋषिकेश, हरिद्वार, पूर्णागिरी, हेमकुंड, रीठा साहिब, जागेश्वर, बागेश्वर, बैजनाथ, कटारमल, कसारदेवी, चितई आदि राज्य के अन्य प्रमुख धार्मिक स्थल हैं । इनमें बद्रीनाथ, केदारनाथ, गंगोत्री तथा यमनोत्री को चारधाम कहा जाता है । पर्यटन की दृष्टि से यहाँ हरिद्वार, ऋषिकेश, हेमकुंड के अलावा नैनीताल, अल्मोड़ा, रानीखेत, बिनसर, कौसानी, बैजनाथ, मंसूरी, पिथौरागढ़, मुक्तेश्वर, कार्बेट नेशनल पार्क, पिण्डारी, मिलम, नंदाकोट, कफनी, सतोपंथ, खतलिंग जैसे हिमनद तथा औली जैसे स्कीइंग स्थल विद्यमान हैं ।

4.11 परिवहन

उत्तराखण्ड में सड़क परिवहन यातायात का प्रमुख साधन है। यहाँ परिवहन योग्य सड़क मार्गों की कुल लम्बाई लगभग 52 हजार किलोमीटर हैं । उत्तराखण्ड के महत्वपूर्ण सड़क मार्ग निम्नलिखित हैं –

- 1— हरिद्वार—ऋषिकेश—टिहरी—उत्तरकाशी—गंगोत्री मार्ग
- 2— ऋषिकेश—देवप्रयाग—चमोली—बद्रीनाथ मार्ग
- 3— हल्द्वानी—अल्मोड़ा—बागेश्वर—कपकोट मार्ग
- 4—काठगोदाम—नैनीताल मार्ग
- 5— देहरादून— मंसूरी मार्ग
- 6— कोटद्वार—पौड़ी—श्रीनगर—रुद्रप्रयाग—गौरीकुण्ड मार्ग
- 7—रामनगर—रानीखेत—कर्णप्रयाग—बद्रीनाथ मार्ग
- 8—पिथौरागढ़—लोहाघाट—टनकपुर—हल्द्वानी—रामनगर—कोटद्वार मार्ग
- 9—लोहाघाट—अल्मोड़ा—रानीखेत—कर्णप्रयाग—श्रीनगर—देहरादून मार्ग
- 10— कोटद्वार—हरिद्वार मार्ग
- 11—धारचूला—डीडीहाट—बागेश्वर—ग्वालदम—कर्णप्रयाग—रुद्रप्रयाग—रुड़की—हरिद्वार मार्ग
- 12— टिहरी—मंसूरी—चकराता मार्ग भवाली, कोटद्वार, देहरादून तथा हरिद्वार सड़क परिवहन के महत्वपूर्ण केन्द्र हैं ।

रेलमार्ग उत्तराखण्ड के केवल तराई, मैदानी तथा दूनघाटी क्षेत्रों तक ही सीमित हैं। देहरादून, हरिद्वार, ऋषिकेश, रुड़की, लक्सर, काशीपुर, रामनगर, लालकुआँ तथा काठगोदाम यहाँ के प्रमुख रेलवे स्टेशन हैं। उत्तराखण्ड के जौलीग्रांट (देहरादून), नैनीसैनी (पिथौरागढ़) तथा पंतनगर में हवाई अड्डे स्थापित हैं, यद्यपि इनसे नियमित उड़ानें संचालित नहीं होती हैं।

स्वमूल्यांकित प्रश्न

1-उत्तराखण्ड को किस अन्य नाम से भी पुकारा जाता है

2-उत्तराखण्ड में परिवहन योग्य सड़क मार्गों की कुल लम्बाई लगभग कितनी है।

4.12 सार-संक्षेप

भौगोलिक दृष्टि से उत्तराखण्ड एक महत्वपूर्ण राज्य है, इसकी पूर्वी एवं उत्तरी सीमाएँ अन्तर्राष्ट्रीय होने के कारण यह भू-राजनैतिक दृष्टि से अत्यन्त संवेदनशील क्षेत्र है। नैसर्गिक दृष्टि से भी उत्तराखण्ड आकर्षक है, यहां ऊँचे-ऊँचे पहाड़, नदियाँ, नदी-घाटियाँ तथा कल-कल करते झरने विद्यमान हैं। वर्तमान में तेरह जनपदों में विभाजित उत्तराखण्ड राज्य की जलवायु स्वास्थ्य की दृष्टि से श्रेष्ठ है। सन 2001 की जनगणना के अनुसार लगभग 84.4 लाख जनसंख्या वाले इस राज्य में अनेक जनजातियाँ भी निवास करती हैं। यहां हिंदी, अंग्रेजी भाषाओं के साथ-साथ कुमाऊँनी एवं गढ़वाली बोली भी बोली जाती है। यहां का वन्य प्राणि-जगत एवं वनस्पति जगत अत्यधिक संपन्न है। उत्तराखण्ड में अनेक प्रकार की खनिज संपदा है और अनेक उद्योग यहां पर चल रहे हैं। उत्तराखण्ड के पहाड़ी भागों में कृषि सीमित मात्रा में होती है जबकि मैदानी भाग कृषि एवं पशुपालन की दृष्टि से पर्याप्त समुन्नत हैं। प्रदेश में अनेक जलविद्युत परियोजनाएँ क्रियान्वित हैं। उत्तराखण्ड पर्यटन एवं धार्मिक स्थलों की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। यहां यातायात हेतु सड़क मार्गों का अधिक उपयोग होता है।

4.13 शब्दावली

हिमनद- बर्फ की नदी जिन्हें अंग्रेजी में ग्लेशियर कहते हैं।

4.14 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

इकाई 4.3 के उत्तर

प्रश्न 1 के लिए देखिए 4.1

प्रश्न 2 के लिए देखिए 4.3.1

प्रश्न 3 के लिए देखिए 4.3.2

इकाई 4.5 के उत्तर

प्रश्न 1 के लिए देखिए 4.4.1

प्रश्न 2 के लिए देखिए 4.4.2

प्रश्न 3 के लिए देखिए 4.5.1

इकाई 4.8 के उत्तर

प्रश्न 1 के लिए देखिए 4.6.1

प्रश्न 2 के लिए देखिए 4.7

प्रश्न 3 के लिए देखिए 4.8

इकाई 4.9 के उत्तर

प्रश्न 1 के लिए देखिए 4.9

इकाई 4.11 के उत्तर

प्रश्न 1 के लिए देखिए 4.10

प्रश्न 2 के लिए देखिए 4.11

4.15 संदर्भ ग्रंथावली

1— उत्तराखण्ड पर्यावरण मानचित्रावली 1997, उत्तराखण्ड पर्यावरण शिक्षण केन्द्र, अल्मोड़ा

2 — [http: @www-censusindia-net](http://www-censusindia-net)

- लेखक उत्तराखण्ड पर्यावरण शिक्षण केन्द्र, अल्मोड़ा के निदेशक का अत्यंत आभारी है जिन्होंने इस पुस्तक की सूचनाओं को छात्रहित में उपयोग करने की सहर्ष अनुमति दी।

उत्तराखण्ड में पाषाण युग ,शैलाश्रय एवं शैल चित्रण

- 1.1 प्रस्तावना
- 1.2 उद्देश्य
- 1.3 पाषाण युग का वर्गीकरण
- 1.4 पाषाण कालीन उपकरण
 - 1.4.1 ब्लेड—ब्यूरिन उद्योग
 - 1.4.2 निम्न पुरा पाषाण युगीन उपकरण
 - 1.4.3 मध्य पुरापाषाण युगीन उपकरण
 - 1.4.4 उच्च पुरापाषाण युगीन उपकरण
- 1.5 नवाष्प युगीन उपकरण
- 1.6 उत्तराखण्ड के चित्रित शैलाश्रय
 - 1.6.1 लखुउड्यार
 - 1.6.2 फड़कानौली
 - 1.6.3 फलसीमा
 - 1.6.4 कालामाटी
 - 1.6.5 ग्वारख्याउड्यार
 - 1.6.6 किमनी शैलाश्रय
- 1.7 चित्रण विधा
- 1.8 शैल उत्कीर्णन
- 1.9 शैल कला का कालक्रम
- 1.10 सारांश
- 1.11 तकनीकी शब्दावली
- 1.12 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर
- 1.13 संदर्भ ग्रंथसूची
- 1.14 निबंधात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

भारत में पाषाण युग के जो अभी तक प्राप्त प्राचीनतम साक्ष्य मिले हैं, उनसे भारत में 3,00,000 ईसा पूर्व से 2,00,000 ईसा पूर्व में के मध्य मानव का निवास करना साबित होता है सोहन घाटी और दक्षिण भारत से मिले आदिम पाषाण उपकरण प्रमुख रूप से इस काल का प्रतिनिधित्व करते हैं।

आधुनिक मानव के, जिसे होमो सेपियन्स (**homo sapiens**) कहा गया है, लगभग 36,000 ईसा पूर्व में प्रथम बार भारत में साक्ष्य मिलते हैं, मानवीय इतिहास का यह चरण लगभग 8000 ईस्वी पूर्व तक चला। इस काल का मानव खुरदरे पत्थर के उपकरण तथा औजारों का प्रयोग करता था। प्रारंभिक मानव निर्विवाद रूप से खाद्य संग्रहणकर्ता था और अपने भोजन के लिए मूलतः प्रकृति पर आधारित था। उसने आग पर नियंत्रण करना सीख लिया था, जिसने निश्चित ही उसकी जीवन दशा में सुधार किया होगा।

लगभग 8000 ईसा पूर्व में मध्यपाषाण युग प्रारंभ हुआ जो भारत में लगभग 4000 ईसा पूर्व तक चला। इस युग में तेज दौढ़ने वाले पशुओं के शिकार के लिए धारदार और नुकीले उपकरण प्रयोग में लाये गये मिलते हैं। 4000 ईसा पूर्व के उपरांत नवपाषाण काल शुरू हुआ, इस काल के मानव ने पशुओं को पालतू बनाना आरंभ किया, खेती करनी शुरू की और गांवों में स्थायी रूप से बसना प्रारंभ किया। उसके इन कामों में चक्र या पहिए के आविष्कार ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। नवपाषाण काल के अंतिम चरण से पत्थर के साथ-साथ धातु का भी प्रयोग प्रारंभ होता दिखाई देता है और मानव शनैः शनैः अपनी विकास यात्रा में धातु युग में प्रवेश करता है।

1.2 उद्देश्य

पाषाणयुग, विश्व में मानव सभ्यता के आविर्भाव का प्रथम चरण है। विश्व के अनेक स्थलों में इस युग से संबंधित प्रमाण मिले हैं। वर्तमान तक हुई खोजों के अनुसार भारत के विभिन्न भागों में भी पाषाणयुगीन मानव का निवास करना साबित हुआ है। जहां तक उत्तराखण्ड का प्रश्न है यहां भी मानव गतिविधियों के प्रमाण, पाषाण युग से ही मिलने लगते हैं। पाषाणयुगीन मानव के अनेक उपकरण उत्तराखण्ड में मिले हैं। पाषाण युग के विभिन्न चरणों में आये परिवर्तनों के अनुसार इन उपकरणों में भी कार्यात्मक उपयोगिता के अनुसार अंतर स्पष्ट दिखाई देते हैं। मानव सभ्यता का बीजारोपण सर्वप्रथम पाषाण काल की कठोर भूमि में ही हुआ था। भारत में सर्वप्रथम 1863 ई0 में जिओलॉजीकल सर्वे के विद्वान ब्रूस फूट ने मद्रास के निकट पल्लोवरम् नामक स्थान से एक पुरापाषाण कालीन उपकरण प्राप्त किया, इसके उपरांत किंग, ओल्डलहम, हैकेट, ब्लैसन्फार्ड आदि विद्वानों ने काफी संख्या में पुरापाषाण कालीन उपकरण प्राप्त किये। 20वीं शताब्दी के अंत तक भारत में व्यापक अनुसंधानों के परिणामस्वरूप पाषाणयुगीन मानव से संबंधित विस्तृत जानकारी आज हमारे समक्ष उपलब्ध है।

पाषाणकालीन मानव ने गुहाचित्रों के रूप में हमारे लिए अमूल्य अवशेष छोड़े हैं। चित्रों के माध्यम से तत्कालीन मानव ने अपने जनजीवन को अभिव्यक्ति दी है, अनेक चित्र स्पष्ट हैं जबकि अनेक बातें प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त की गयी हैं। उत्तराखण्ड के विभिन्न पुराविदों ने इन प्रतीकों का अर्थ जानने का प्रयत्न

किया है। इस इकाई में पाषाणकालीन चित्रण के विविध पक्षों के साथ ही प्रतीक अभिप्रायों का भी विस्तृत विश्लेषण किया जायेगा, इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप अग्रांकित जानकारी प्राप्त कर सकेंगे :

- भारत में पाषाण युग के विभिन्न चरण
- भारत में पाषाण युग के विभिन्न चरणों के उपकरण
- उत्तराखण्ड में पाषाणयुग के विभिन्न चरण
- उत्तराखण्ड में पाषाणयुग के विभिन्न चरण के उपकरण
- उत्तराखण्ड में विद्यमान शैलाश्रयों का परिचय
- शैलाश्रयों में अंकित मानव चित्रांकन
- शैलाश्रयों में अंकित पशु चित्रांकन
- शैलाश्रयों में अंकित प्रतीक चिह्न और उनका विश्लेषण
- शैलाश्रयों की चित्रण विधा
- शैल उत्कीर्णन
- शैल कला का कालक्रम

1.3 पाषाण युग का वर्गीकरण

विद्वानों ने मानव अतीत को तीन भागों – प्रागैतिहास, आद्यैतिहास एवं इतिहास – में विभाजित किया है। अतीत का यह त्रिधा विभाजन विभिन्न देशों के सन्दर्भ में भिन्न-भिन्न कालक्रमों का द्योतक है। विभिन्न देशों का इतिहास युग समान काल से आरंभ नहीं होता है, इसी प्रकार प्रागैतिहासिक युग की सीमाएँ भी भिन्न-भिन्न देशों में अलग-अलग मिलती हैं। आद्यैतिहास की स्थिति क्योंकि प्रागैतिहास और इतिहास के मध्य में आती है अतः उसमें भी समानता नहीं मिलती है। वस्तुतः आद्यैतिहास का उत्तरांश नवीन खोजों के फलस्वरूप निरन्तर इतिहास में परिवर्तित होता रहता है और इसी प्रकार नयी खोजों से उसका पूर्वांश भी प्रागैतिहास की सीमा में प्रविष्ट होता रहता है। एक ही देश के विभिन्न क्षेत्रों के अध्ययन से यह भी पता चलता है कि देश के सभी क्षेत्रों का प्रागैतिहास, आद्यैतिहास एवं इतिहास समान काल से प्रारम्भ नहीं होता है।

उत्तराखण्ड में भी यही बात दिखाई देती है, क्योंकि यहाँ जो पुरातात्विक साक्ष्य प्राप्त हुए हैं, उनका रासायनिक परीक्षण न होने के बावजूद भी उन्हें समसामयिक भारतीय इतिहास के प्रागैतिहासिक एवं आद्यैतिहासिक कालखण्डों में रखा जा सकता है। यहाँ प्राप्त साक्ष्यों में से जहाँ चित्रित शिलाश्रय एवं पाषाण-उपकरणों को प्रागैतिहासिक युग से सम्बन्धित किया जा सकता है, वहीं महाष्म संस्कृति के अवशेष प्रागैतिहासिक युग के नवाष्म चरण से सम्बन्धित माने जा सकते हैं और इनका एक विकसित चरण संभवतः ताम्र अथवा लौह युग से सम्बन्धित प्रतीत होता है। बात जो भी रही हो इस काल का कोई भी ऐसा प्रमाण उपलब्ध नहीं है जिसके आधार पर इन पुरावशेषों को प्रागैतिहासिक युग में रखा जा सके। के.पी.नौटियाल ने स्थानीय पुरातत्व के कुछ अवशेषों को आद्यैतिहासिक युग में वर्गीकृत किया है लेकिन एम0पी0 जोशी ने इन्हें स्थानीय पुरातत्व के प्रागैतिहासिक युग में रखना ही उचित समझते हैं।

1.4 पाषाण कालीन उपकरण

स्टूअर्ट पिगट ने उत्तर और दक्षिण भारत के अनेक उपकरणों का परीक्षण कर यह निष्कर्ष निकाला कि तकनीकी के आधार पर उन में विभेद स्थापित किया जा सकता है— इस काल में उत्तरी भारत में प्रमुखतः 'पलेक प्रणाली' का प्रयोग हुआ था, जिसके अंतर्गत पाषाण-खण्ड से छोटे-छोटे चप्पे छील लिये जाते थे और उन्ही चप्पों की सहायता से हथियार और उपकरण निर्मित किये जाते थे। इसके विपरीत दक्षिण भारत में प्रमुखतः 'कोर प्रणाली' प्रचलित थी, जिसके अंतर्गत किसी पाषाण खण्ड को ही छीलकर अभीष्ट हथियार या उपकरण का निर्माण किया जाता था।

भारत में उपलब्ध पाषाणकालीन उपकरणों में सर्वप्रथम द्विधारा-उपकरणों (Biface Industry) का उल्लेख प्रासंगिक है, इन उपकरणों के अंतर्गत Hand-axe और Clever आते हैं, जिनमें दोनों ओर धार मिलती है। पलेक उपकरणों के अंतर्गत विभिन्न पाषाणों— Quartzite, Sandstone, Chalcedony से निर्मित सुन्दर Hand-axe को शामिल किया जा सकता है। ब्लेड एवं ब्यूदरिन उपकरण प्रायः पतले आकारों के मिलते हैं। इनके अलावा Scrapers, Crescents, Triangles, Cores आदि उपकरण भी महत्वपूर्ण हैं, ये प्रायः Agate और Quartzite से निर्मित हैं

भारत में पाषाण युगीन उपकरणों का वर्गीकरण अभी भी पर्याप्त विवादास्पद है। उपकरणों के विभिन्न आकार-प्रकार एवं निर्माण की तकनीकी के आधार पर चार युगों—निम्न पुरा पाषाण युग (लोअर पैलियोलिथिक), मध्य पुरापाषाण युग (मिडिल पैलियोलिथिक), उच्च पुरा पाषाण युग (अपर पैलियोलिथिक) एवं मध्य पाषाण युग (मैसोलिथिक) में विभाजित किया जा सकता है। द्वितीय चरण मानव का वह स्तर है जब मानव ने अन्न उत्पादन सीखा, घरेलू पशु पाले, मृदभाण्डों का निर्माण किया और स्थायी जीवन बिताने लगा, यह चरण पुरातत्व में नवपाषाण या नवाष्म युग कहा गया है।

उत्तर-मध्य भारत अथवा उत्तरी विंध्य क्षेत्र की बेलन नदी घाटी तथा सोन नदी घाटी से निम्न पुरापाषाण काल से लेकर मध्य पुरापाषाण काल तक की मानव संस्कृति के विकास के रिकार्ड के रूप में विभिन्न पुरावशेष प्राप्त हुए हैं। इन अवशेषों में पाषाण उपकरणों के अतिरिक्त पशुओं के जीवाश्म भी भारी मात्रा में प्राप्त हुए हैं। पशुओं के जीवाश्म के अन्तर्गत गाय, बैल, भैंसा, हिरण, घड़ियाल, घोड़ा, दरियाई घोड़ा, गैंडा, हाथी, घड़ियाल तथा कछुओं के जीवाश्म महत्वपूर्ण हैं।

बेलन नदी घाटी तथा सोन नदी घाटी के अनेक स्थलों से उच्चपुरापाषाण काल के उपकरण भी प्रकाश में आये हैं। मानव के तकनीकी विकास-यात्रा में उच्च पुरापाषाण काल का विशेष महत्व है। इस काल में मानव ने न केवल उपकरण-निर्माण के क्षेत्र में विशिष्टता प्राप्त की वरन् प्रस्तर के अलावा हड्डी तथा सींग आदि पर भी उपकरणों का निर्माण किया।

1.4.1 ब्लेड-ब्यूरिन उद्योग

भारत तथा भारतीय प्रायद्वीप के बाहर उच्च पुरापाषाण काल का उपकरण उद्योग 'ब्लेड-ब्यूरिन उद्योग' के नाम से जाना गया है। पहले यह धारणा थी कि भारत में वास्तविक 'ब्यूरिन' नहीं पाये जाते हैं लेकिन बेलन तथा सोन नदियों की घाटियों से ऐसे अनेक उच्च पुरापाषाणकालिक स्थल प्रकाश में आये हैं जिनसे भारी मात्रा में 'ब्लेड-ब्यूरिन' उपकरण मिले हैं। ब्लेड सामान्यतः पतले एवं संकरे आकार के लगभग समानांतर पार्श्व वाले उन पाषाण-फलकों को कहा जाता है जिनकी लंबाई उनकी चौड़ाई से कम से कम

दुगनी हो। इस प्रकार के ब्लेडों के निर्माण के लिए नलिकाकार क्रोड़ों का निर्माण किया गया है। क्रोड़ को अभीष्ट आकार देने के लिए सबसे पहले पत्थर के टुकड़े को भलीभांति गढ़ लिया जाता था। गढ़ने के बाद क्रोड़ का आकार सामान्यतः बेलनाकार हो जाता था। इसके उपरान्त बेलनाकार क्रोड़ों के दोनों शिरों पर छोटे-छोटे फलक निकालकर 'आघात स्थल' बना लिए जाते थे। इसके बाद निपीड़ तथा संघात विधि से लंबे-पतले तथा समानांतर बाहु वाले ब्लेड निकाले जाते थे।

ब्यूरिन भी अपने निर्माण की तकनीक तथा कार्यात्मक उपयोगिता की दृष्टि से उल्लेखनीय है। सोन तथा बेलन नदी घाटियों से प्राप्त ब्यूरिन प्रायः अवशिष्ट कोरों को पुनर्जीवित करने के लिए निकाले गये फलकों आदि पर मिलते हैं। बेलन तथा सोन नदियों के उच्चपुरापाषाण युग के स्तरों से प्राप्त अन्य उपकरणों में छिद्रक, स्क्रैपर अर्द्धचान्द्रिक विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। सोन तथा बेलन नदी घाटियों से प्राप्त ये उच्च पुरापाषाण काल के उपकरण अधिकांशतः बेशकीमती पत्थर चर्ट से बनाये गये हैं हांलाकि क्वार्टजाइट पत्थर से निर्मित उपकरण भी मिले हैं।

1.4.2 निम्न पुरापाषाण युगीन उपकरण

भारतीय निम्न पुरा पाषाण युगीन उपकरण, भारी-भरकम और बेडौल हैं, कार्यात्मक उपयोग के आधार पर इन उपकरणों को – 'चॉपर-चॉपिंग' प्रकार (मांस काटने वाले उपकरण) तथा 'हैण्ड-एक्स क्लीवर' (मुष्टिकुठार-विदीर्णक)– वर्गों में रखा जा सकता है। ये उपकरण अधिकतर चमकीले पत्थर (क्वार्टजाइट) के बने हैं जिन्हें नदियों से प्राप्त रोड़ों, शिलाखण्डों आदि से प्राप्त किया गया है। इस चमकीले पत्थर के कारण ही भारत के पाषाणकालीन मानव को 'क्वार्टजाइट मैन' कहा गया है। भारतीय सन्दर्भ में इन उपकरणों का काल वर्तमान से पाँच लाख वर्ष पूर्व से पचास हजार वर्ष पूर्व तक आँका गया है।

उत्तराखण्ड में भी निम्न पुरा पाषाण युगीन उपकरण प्रकाश में आने की बात की गयी है। कालसी के समीप से प्राप्त ये उपकरण 'मुष्टिकुठार, विदीर्णक' भांति के हैं। नौटियाल एवं सहयोगियों ने गढ़वाल में श्रीनगर के समीप से निम्न पुरा पाषाण कालीन उपकरण खोजने का दावा किया है जो 'चॉपर-चॉपिंग' परम्परा के हैं। गढ़वाल में आदिबद्री से भी पाषाण उपकरण प्रकाश में आये हैं, इनमें पत्तर एवं खुरचनियाँ प्रमुख हैं। अल्मोड़ा जनपद की पश्चिमी रामगंगा घाटी से भी रोड़ों में निर्मित विभिन्न प्रकार की खुरचनियाँ तथा पत्तर मिलने तथा नैनीताल के खुटानी नाले से पत्तर एवं खुरचनियाँ मिलने की बात की गयी है। उत्तरांचल में प्राप्त उपरोक्त पाषाण उपकरणों के विषय में एम०पी० जोशी का मानना है कि क्योंकि इस प्रकार के पाषाण उपकरण निम्न तथा मध्य पुरा पाषाण युग में समान रूप से मिलते हैं अतः इनके विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता है, स्वयं इनके खोजकर्ता इनको मात्र पैलियोलिथिक उपकरण कहते हैं।

1.4.3 मध्य पुरापाषाण युगीन उपकरण

मध्य पुरा पाषाण युग में प्रमुखतः शल्क उपकरण मिलते हैं, इस प्रकार के शल्क प्रायः समस्त भारत में मिले हैं, हाँलाकि इनमें क्षेत्रीय भेद देखा जा सकता है। इन उपकरणों में शल्कों से निर्मित विभिन्न प्रकार के बर्मे, खुरचनियाँ और धार वाले उपकरण शामिल हैं। ये उपकरण निम्न पुरा पाषाण युगीन उपकरणों की तुलना में कुछ छोटे और सुन्दर हैं। भीमबेटका में मध्य पुरा पाषाण युग के स्तर से पाये गये

पाषाण उपकरणों में एक प्रमुख विशेषता यह दिखाई देती है कि इनमें से अनेक उपकरण सपाट, प्राकृतिक पाषाणखण्डों में बनाये गये हैं न कि पत्तों में । नौटियाल एवं साथियों ने गढ़वाल में श्रीनगर के समीप से इस काल के बरमे, खुरचनियां एवं शल्क उपकरण प्राप्त होने का दावा किया है । जहाँ तक भारत में प्राप्त मध्य पुरा पाषाण युगीन उपकरणों के कालक्रम का सम्बन्ध है, कार्बन तिथि(C-14)निर्धारण विधि द्वारा इन्हें मोटे तौर पर वर्तमान काल से चालीस हजार वर्ष पूर्व से लेकर पन्द्रह हजार वर्ष पूर्व का माना गया है ।

1.4.4 उच्च पुरापाषाण युगीन उपकरण

उच्च पुरापाषाण युग की जलवायु कम आर्द्र थी, इस युग का विस्तार हिमयुग की उस अंतिम अवस्था में रहा जब जलवायु अपेक्षाकृत गर्म हो गयी थी । इस युग में नए चकमक औजार उद्योगों का और आधुनिक किस्म के मानव का उदय हुआ । भारत में प्राप्त इस युग के विशिष्ट उपकरण— फलक और तक्षणियां — हैं । भीमबेटका में इस काल के उपकरणों की प्रमुख विशिष्टता के रूप में — फलक उपकरणों के अनुपात में वृद्धि तथा छोटे और पतले फलक बनाने की प्रवृत्ति दिखाई देती है साथ ही यहाँ सूक्ष्म फलक भी प्रथम बार दिखाई देते हैं । जहाँ तक उत्तराखण्ड का प्रश्न है अभी तक यहाँ से उच्च पुरापाषाण युगीन कोई भी उपकरण प्रकाश में नहीं आया है ।

पुरापाषाण युग की समाप्ति, हिमयुग के अन्त के साथ-साथ लगभग 8000 ई० पू० में हुई । अब जलवायु पहले की अपेक्षा उष्ण और शुष्क हो गयी थी । जलवायु के साथ ही वनस्पति एवं जीव-जन्तुओं में भी परिवर्तन हुए और मानव के लिए नये क्षेत्रों की ओर बढ़ना संभव हुआ । पाषाणयुगीन संस्कृति में आज से लगभग दस हजार वर्ष पूर्व एक मध्यकालीन अवस्था की शुरुआत हुई जिसे मध्य पाषाण युग कहा गया है, यह पुरापाषाण युग और नवाष्म युग के बीच का सक्रान्ति काल है । इस काल में इस बात के स्पष्ट संकेत मिलते हैं कि मानव ने स्थायी जीवन और प्रारंभिक कृषि कार्यों की ओर कदम बढ़ाना आरंभ कर दिया था । इस काल में मानव ने अपने मृतकों के अन्तिम संस्कार के लिए 'स्थायी भूमि' का चयन भी किया है, इस प्रकार के अनेक शवाधान प्रकाश में आये हैं । भीमबेटका में तो शवाधानों में पाषाण निर्मित आटा-चक्की, हिरण की सींग, अस्थि उपकरण आदि भी प्राप्त हुए हैं । मध्य पाषाण युग (मेसोलिथिक) के विशिष्ट उपकरण 'लघु पाषाण' हैं, ये आकार में अत्यन्त छोटे हैं इसीलिए इन्हें माइक्रोलिथ (सूक्ष्माश्म) कहा गया है । इस युग के अनेक स्थल छोटा नागपुर, मध्य भारत और कृष्णा नदी के दक्षिण में मिले हैं । जहाँ तक उत्तराखण्ड का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में एम०पी० जोशी ने जसकोट के निकट क्वाटर्जाइट पत्थर की रोड़ी के ढेर खोजे हैं, जिनमें पान की पत्ती के आकार सदृश त्रिभुजाकार उपकरण एवं सूक्ष्माश्म मिलने की बात की गयी है , जोशी द्वारा खोजे गये उपर्युक्त उपकरण संभवतः इस क्षेत्र में ऐपिपैलियोलिथिक युग का प्रतिनिधित्व कर सकते हैं ।

स्वमूल्यांकित प्रश्न

1— निम्न कथनों की सत्यता/असत्यता पर विचार कीजिये—

अ— पाषाण उपकरणों के निर्माण हेतु पत्थर प्रणाली दक्षिण भारत में प्रचलित थी (सत्य/असत्य)

ब— पाषाण उपकरणों के निर्माण हेतु कोर प्रणाली उत्तर भारत में प्रचलित थी (सत्य / असत्य)

1.5 नवाष्म युगीन उपकरण

भारतीय उपमहाद्वीप में स्थापित नवाष्म युगीन बस्तियाँ 8000 वर्ष से अधिक प्राचीन नहीं हैं । दक्षिण और पूर्वी भारत में तो कुछ बस्तियों की स्थापना ईसा पूर्व प्रथम सहस्राब्दी में हुई प्रतीत होती है । इस युग का मानव पालिशदार पत्थर के उपकरणों का प्रयोग करता था । इस युग का विशिष्ट उपकरण पत्थर की कुल्हाड़ियाँ हैं जो प्रायः सम्पूर्ण भारत में पर्याप्त मात्रा में मिलती हैं । नियोलिथिक संस्कृति (नवाष्म संस्कृति) की प्रमुख विशेषता— कृषि का आविष्कार एवं पशुपालन है — जिसके फलस्वरूप आखेट एवं खाद्य-संग्रहण के स्तर से हटकर मानव-जीवन अधिक स्थायी एवं स्थानबद्ध हो गया । पश्चिम एशिया के इतिहास में इस काल में प्रथम प्रौद्योगिक क्रान्ति घटित हुई क्योंकि इसी काल में मानव ने कृषि, बुनाई, मृदभाण्ड, गृह-निर्माण और पशुओं को पालतू बनाने आदि कलाओं का आविष्कार किया था ।

जहाँ तक उत्तराखण्ड का प्रश्न है यहाँ ऐसे अनेक पुरातात्विक अवशेष मिलते हैं जिन्हें भारत में अन्यत्र नवाष्म संस्कृति के साथ सम्बन्धित किया गया है । इस अवशेषों में नौटियाल एवं साथियों द्वारा उल्लिखित पाषाण उपकरण जो कि घिस कर बनाये गये हैं कुमाऊँ में अल्मोड़ा जनपद के बग्वाली पोखर , द्वाराहाट आदि स्थलों में पाये गये शिलाओं में निर्मित विशाल गर्त जिन्हें एम0 पी0 जोशी, कश्मीर की बुर्जहोम संस्कृति के समान बतलाते हैं और इन्हें आवासीय गर्त के रूप में पहचानते हैं । इनके अलावा जोशी अनेक स्थानों में पाषाणों में निर्मित विभिन्न प्रकार धंसाव और शिलाखण्डों में निर्मित इस प्रकार के चिह्नों का उल्लेख करते हैं जो ठोस वस्तु के घर्षण से ही बन सकते हैं। संभवतः उपरोक्त पुरावशेष स्थानीय पुरातत्व में नवाष्म युग के परिचायक हैं, क्योंकि इसी भाँति के पुरावशेषों को अन्य स्थानों में नवाष्म संस्कृति से सम्बन्धित किया गया है ।

उपरोक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि उत्तराखण्ड में भी पाषाण कालीन उपकरण प्रकाश में आये हैं और पाषाण युग में मानव का यहाँ निवास करना स्थापित हुआ है, लेकिन जहाँ तक इन साक्ष्यों की तिथि का प्रश्न है अभी तक इस दिशा में वैज्ञानिक प्रणालियाँ अपना कर इनका काल-निर्धारण नहीं किया जा सका है, अतः ऐसी स्थिति में हम निश्चित रूप से नहीं कह सकते हैं कि कौन से साक्ष्य निश्चित रूप से किस युग का प्रतिनिधित्व करते हैं । इस सम्बन्ध में स्थानीय पुराविदों, प्रमुखतः के0पी0 नौटियाल एवं साथी; यशोधर मठपाल; एम0पी0 जोशी आदि द्वारा प्रकाश में लाये गये साक्ष्यों एवं उनके द्वारा निर्धारित कालक्रम जो कि स्पष्टतः भारत में अन्य स्थानों में पाये गये ऐसे ही साक्ष्यों के साथ तुलनात्मक अध्ययन पर आधारित है को मानने के अलावा अन्य कोई चारा नहीं है ।

स्वमूल्यांकित प्रश्न

1— उत्तराखण्ड में नवाष्म युग के विषय पर अग्रांकित पंक्तियों में लिखिये :

.....

.....

.....

.....

.....

1.6 उत्तराखण्ड के चित्रित शैलाश्रय

उत्तराखण्ड में अति प्राचीन काल से ही मानवीय गतिविधियों के प्रमाण मिलते हैं। इकाई के प्रारंभ में आपने पाषाणयुगीन मानव की जानकारी उसके उपकरणों के आधार पर प्राप्त की, अब आप प्रागैतिहासिक मानव द्वारा शिलाश्रयों में किये गये चित्रण के बारे में जानकारी प्राप्त करेंगे। हम यह जानते हैं कि पाषाणकालीन मानव गुफाओं में निवास करता था, विश्व के विभिन्न स्थानों और भारत में भी अनेक स्थलों में हमें ऐसी गुफाएँ मिलती हैं, जहाँ पाषाणकालीन मानव ने अपनी उपस्थिति के अनेक प्रकार के प्रमाण छोड़े हैं। ऐसा ही एक प्रमाण पाषाणकालीन मानव द्वारा किया गया शैल चित्रण है।

उत्तराखण्ड में अल्मोड़ा जनपद तथा चमोली जनपद में पाषाणयुगीन शिलाश्रय मिले हैं। अल्मोड़ा जनपद के शिलाश्रयों को प्रथमतः प्रकाश में लाने का श्रेय एम०पी० जोशी को है। जोशी के अनुसार सघनता की दृष्टि से अल्मोड़ा जनपद के शिलाश्रय कालामाटी-डीनापानी पर्वत शृंखला के पूर्व दिशा में लगभग 15 किलोमीटर की परिधि में सकेन्द्रित हैं। इन शिलाश्रयों में लखुउड्यार, ल्वेथाप, पेटशाल, फलसीमा, मल्ला पैनाली, फड़कानौली आदि शिलाश्रयों का उल्लेख किया जा सकता है। अल्मोड़ा जनपद में वर्तमान में ज्ञात लगभग एक दर्जन से अधिक शिलाश्रयों में चित्रण तथा उत्कीर्णन पाया जाता है। इन शिलाश्रयों में लखुउड्यार, फड़कानौली, फलसीमा और कालामाटी के शिलाश्रय महत्वपूर्ण हैं। चमोली जनपद के किम्नी तथा डुंग्री गांवों में भी चित्रित शिलाश्रय मिलते हैं।

पाषाणयुगीन मानव ने उत्तराखण्ड के अल्मोड़ा जनपद तथा चमोली जनपद में चित्रांकित शैलाश्रय के अवशेष छोड़े हैं। इन शैलाश्रयों का अध्ययन अग्रांकित शीर्षकों के अंतर्गत किया जा सकता है –

1.6.1 लखुउड्यार

अल्मोड़ा नगर से लगभग 20 कि० मी० दूर अल्मोड़ा-जागेश्वर मोटर मार्ग पर लखुउड्यार नामक प्रसिद्ध शिलाश्रय विद्यमान है। एक प्रकार से यह पूरा शिलाश्रय ही चित्रित है, हाँलाकि शिलाश्रय के निचले भाग के चित्र, सूर्य के प्रकाश और वर्षादि के कारण अधिकांशतः धुंधले पड़ चुके हैं। इस शिलाश्रय में विभिन्न भाव-भंगिमाओं में मानव और मानव समूहों का स्टाइलाइज्ड प्रदर्शन, विभिन्न पशुओं और ज्यामितीय अभिप्रायों, रेखाओं आदि का अंकन रंगों के माध्यम से किया गया है।

1.6.2 फड़कानौली

फड़कानौली का प्रसिद्ध शिलाश्रय अल्मोड़ा नगर से लगभग 15 कि० मी० उत्तर-पूर्व दिशा में अल्मोड़ा-पिथौरागढ़ मोटर मार्ग से लगभग एक किलोमीटर की चढ़ाई पर स्थित है। यहाँ मुख्य रूप से तीन शिलाश्रय प्रकाश में आये हैं जिनमें दो शिलाश्रय साथ-साथ हैं जबकि तीसरा शिलाश्रय समीप स्थित सरकारी चुंगी-चौकी के पास स्थित है। इन शिलाश्रयों में भी पाषाणयुगीन मानव द्वारा किया गया चित्रण मिलता है।

1.6.3 फलसीमा

अल्मोड़ा नगर से लगभग छह किलोमीटर दूर फलसीमा नामक गाँव है, इसके समीपवर्ती स्थलों में अनेक शिलाश्रय विद्यमान हैं। चितई मन्दिर से होकर फलसीमा के प्रसिद्ध शिलाश्रय तक जाया जा सकता है, यह शिलाश्रय ना होकर वस्तुतः एक शिलाखण्ड है, जिसमें मानव एवं पशु आकृतियों का अंकन मिलता है।

1.6.4 कालामाटी

अल्मोड़ा नगर के उत्तर में विद्यमान कालामाटी क्षेत्र में भी अनेक शिलाश्रय विद्यमान हैं। इनमें भी प्राचीन मानव द्वारा किया गया प्रागैतिहासिक चित्रण मिलता है। यहाँ के अनेक चित्रों में काली परत सी आ गयी है संभवतः परवर्ती काल में मानव ने यहाँ आग जलायी हो जिसके धुँएँ के कारण इनका रंग दब सा गया है।

1.6.5 ग्वारख्याउड्यार

यह शैलाश्रय चमोली जिले के दुंग्री नामक गाँव में स्थित है। गोरखा काल में नेपाली सैनिकों के एक दल ने डा0 मठपाल के अनुसार गाँवोंको लूट कर माल छिपाया था तथा अन्य दलों के परिचय हेतु चट्टानों पर चित्रों के रूप में लिखावट की थी। इस लोक विश्वास पर चित्रित शिलापट का नाम ग्वारख्याउड्यार पड़ा। परन्तु यहाँ न तो उड्यार (गुफा) जैसी कोई चीज है न ही खजाने छिपाने का स्थान। यहाँ पीले रंग की धारीदार चट्टान पर गुलाबी व लाल रंग से चित्र अंकित किए गए हैं जो अब काफी धुंधले हो चुके हैं। डा0 यशोधर मठपाल के अनुसार इन शिलाश्रयों में लगभग 41 आकृतियाँ हैं जिनमें 30 मानवों की, 8 पशुओं की तथा 3 पुरुषों की हैं चित्रकला की दृष्टि से ये उत्तराखण्ड के सम्भवतः सबसे सुन्दर चित्र हैं यहाँ मनुष्य को त्रिशूल आकार से अंकित किया गया है जब कि बकरीनुमा जानवरों के छाया चित्र काफी प्राकृतिक हैं। मुख्य विषय पशुओं को हाँका देकर घेरना है। ग्वारख्याउड्यार को यद्यपि स्थानीय लोग अरसे से जानते थे परन्तु पुराविदों हेतु इसको राकेश भट्ट ने उजागर किया।

1.6.6 किमनी शैलाश्रय— चमोली जनपद में ही कर्णप्रयाग—ग्वालदम मोटर मार्ग पर एक छोटा सा गाँव है किमनी जिसके पास ही श्वेत रंग से चित्रित एक शिलाश्रय है। यहाँ पशुओं आदि की आकृतियाँ अत्यन्त धूमिल अवस्था में विद्यमान हैं। उपरोक्त शिलाश्रयों के अतिरिक्त अल्मोड़ा जनपद के त्वेथाप, पेटसाल, मल्ला पैनाली आदि के शिलाश्रय भी प्रागैतिहासिक चित्रण की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं।

स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न—

1— उत्तराखण्ड में प्राप्त शैलाश्रयों के विषय में अग्रांकित पंक्तियों में लिखिये —

.....

.....

.....

.....

1.7 चित्रण विधा

अल्मोड़ा जनपद के शिलाश्रयों में जो प्रागैतिहासिक चित्रण मिलता है, वह स्थूल-चित्रण की कोटि में आता है । यह चित्रण सामान्य तूलिका से किया गया प्रतीत होता है जो शायद पेड़ की छोटी शाखाओं से बनायी गयी हों । कुछ अंकन केवल बाहरी रेखाओं से बने हैं जबकि अधिकांश में पूरा अंकन रंगों से भरा गया है । प्रागैतिहासिक मानव ने अपने अंकन के लिए किसी प्रकार की पृष्ठभूमि के निर्माण की आवश्यकता महसूस नहीं की है और उसने सीधे रंगों का प्रयोग शिलाखण्ड में किया है । इन अंकनों में मानव एवं पशुओं का प्रदर्शन सामान्यतः 'पार्श्वदृश्य' के रूप में हुआ है, हाँलाकि दृश्य परिप्रेक्षण सदैव वैज्ञानिक नहीं है तथापि कुल मिलाकर 'दृश्य प्रभाव' आकर्षक कहा जा सकता है ।

इन अंकनों में मानव-चित्रण प्रायः 'स्टाइलाइज्ड रूप' में है जबकि पशुओं को प्रायः आकार देने की कोशिश की गयी है । कुछ आकृतियों को तो तत्कालीन मानव ने लघु आकार में चित्रित किया है जबकि छिपकली या मछलियों की कतार सदृश आकृतियों को उनके वास्तविक आकार में चित्रित किया गया प्रतीत होता है । अल्मोड़ा जनपद के इस प्रागैतिहासिक चित्रण में संख्या की दृष्टि से सर्वाधिक अंकन 'स्टाइलाइज्ड' मानव आकृतियों का है, तत्पश्चात् पशु-चित्रण एवं अमूर्त अभिप्रायों का अंकन मिलता है ।

अल्मोड़ा जनपद के शैलाश्रयों में अंकित चित्रण में तीन रंगों-लाल, काला और सफेद का प्रयोग मिलता है, इन रंगों में से लाल रंग का प्रयोग सर्वाधिक हुआ है और यह रंग अपने अनेक उप-प्रकारों में मिलता है, ये रंग प्राकृतिक खनिजों से बनाये गये प्रतीत होते हैं ।

स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. उत्तराखण्ड के शैलाश्रयों में अंकित चित्रों में प्रयुक्त रंगों एवं चित्रण विधा का परिचय दीजिये ।

1.8 शैल उत्कीर्णन

उत्तरांचल में शैल-उत्कीर्णन के अन्तर्गत महाष्म संस्कृति से सम्बन्धित शिलाखण्डों में निर्मित गोलाकार या चतुर्भुजाकार धंसाव, विभिन्न प्रकार की टेड़ी-मेड़ी, त्रिभुजाकार, लहरदार या एक दूसरे को काटती रेखाएं एवं अन्य अभिप्राय मिलते हैं ।

1.9 शैल कला का कालक्रम

पुरातत्व के अन्तर्गत, वर्तमान में काल-निर्धारण की अनेक विकसित वैज्ञानिक प्रविधियाँ अस्तित्व में आ चुकी हैं, परन्तु यह खेद का विषय है कि उत्तराखण्ड में किसी पुराविद ने स्थानीय पुरातात्विक सामग्री का प्रयोग कर 'काल-निर्धारण' के लिए सन्तुलित वैज्ञानिक प्रयास नहीं किया है और हम आज भी काल-निर्धारण के लिए परिस्थितिजन्य साक्ष्यों पर निर्भर हैं ।

इन शैलाश्रयों के कालक्रम के बारे में विद्वानों में मतभेद है, जहाँ भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण के प्रागैतिहासविद डॉ० के०डी० बनर्जी इन शिलाश्रयों के चित्रण को तीन-चार सौ वर्ष से ज्यादा प्राचीन नहीं समझते हैं, वहीं जोशी तथा अग्रवाल ने इन चित्रों को प्रागैतिहासिक युग का मानते हुए मेसोलिथिक-चाल्कोलिथिक काल अर्थात् वर्तमान से सात-आठ हजार वर्ष पूर्व का बतलाया है । वर्तमान में एम०पी० जोशी कुछ अन्य साक्ष्यों के प्रकाश में शैल कला को कहीं अधिक प्राचीन मानने का आग्रह करते

हैं। जोशी मध्य हिमालय में शिला-चित्रण और कप-मार्क्स के बीच निश्चित अन्तर्संबन्ध मानते हैं वे जसकोट से प्राप्त विभिन्न प्रकार के धंसाव, केअर्न, फ्लूटैड क्रोड, शैलाश्रय, सूक्ष्माश्म तथा पान की पत्ती सदृश क्वाटर्ज प्रस्तर पिण्डों का विश्लेषण कर उनका सम्बन्ध मेसोलिथिक संस्कृति से स्थापित करते हैं और यहाँ के शैल-कला सम्बन्धी पुरावशेषों को वर्तमान से 10000 वर्ष से 8000 वर्ष पूर्व तक सुझाते हैं ।

1.10 सारांश

पाषाण युग मानव की विकास यात्रा का आरंभ बिंदु है। विश्व के विभिन्न स्थलों से इस युग के साक्ष्य प्रकाश में आये हैं। भारत में भी विभिन्न स्थलों में इस युग के मानव का निवास करना साबित हुआ है, उत्तर- राखण्ड भी इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है। स्थानीय पुराविदों ने पाषाण युग से संबंधित अनेक साक्ष्य प्रस्तुत कर उत्तराखण्ड में पाषाणकालीन मानव का रहना साबित किया है। पाषाण युग के विभिन्न चरणों से संबंधित उपकरण एवं हथियार यहां की नदियों के कगारों से प्राप्त हुए हैं लेकिन इनका वैज्ञानिक परीक्षण अभी तक नहीं हो पाया है इसीलिए हम कालक्रम के संदर्भ में केवल तुलनात्माक अध्ययन पर निर्भर हैं।

उत्तराखण्ड के अल्मोड़ा जनपद तथा चमोली जनपद में मिले पाषाणयुगीन शिलाश्रयों का अध्ययन ऊपर किया गया है। इन शिलाश्रयों में लखुउड्यार फड़कालौनी, फलसीमा और कालामाटी के शिलाश्रय महत्वपूर्ण हैं। चमोली जनपद के किम्नी तथा डुंग्री गांवों में भी चित्रित शिलाश्रय मिलते हैं। शिलाश्रयों में विभिन्न भाव-भंगिमाओं में मानव और मानव समूहों का स्टाइलाइज्ड प्रदर्शन, विभिन्न पशुओं और ज्यामितीय अभिप्रायों, रेखाओं आदि का अंकन रंगों के माध्यम से किया गया है, इन अंकनों का पुराविदों ने विश्लेषण किया है। प्रागैतिहासिक मानव द्वारा अंकित ये प्रतीक क्या सामान्य जन-जीवन की वस्तुओं को प्रतीकात्मक रूप में अभिव्यक्त करने का प्रयास है अथवा इनका कोई गूढार्थ है, इस विषय में वर्तमान ज्ञान के प्रकाश में प्रामाणिक रूप से कुछ भी कहना संभव नहीं है। प्रागैतिहासिक मानव ने अपने अंकन के लिए किसी प्रकार की पृष्ठभूमि के निर्माण की आवश्यकता महसूस नहीं की है और उसने सीधे रंगों का प्रयोग शिलाखण्ड में किया है। इन अंकनों में मानव एवं पशुओं का प्रदर्शन सामान्यतः 'पार्श्वदृश्य' के रूप में हुआ है, हाँलाकि दृश्य परिप्रेक्षण सदैव वैज्ञानिक नहीं है तथापि कुल मिलाकर 'दृश्य प्रभाव' आकर्षक कहा जा सकता है।

1.11 तकनीकी शब्दावली

हिमकाल : एक भूगर्भ शास्त्रीय कालखण्ड जब पृथ्वी अत्यंत ठण्डी थी और बर्फ से आच्छादित थी।

फलेक प्रणाली : इसके अंतर्गत पाषाण-खण्ड से छोटे-छोटे चप्पे छील लिये जाते थे और उन्हीं चप्पों की सहायता से हथियार और उपकरण निर्मित किये जाते थे।

द्विधारा-उपकरण : इन उपकरणों के अंतर्गत Hand Axe और Clever आते हैं, जिनमें दोनों ओर धार मिलती है।

मृदभाण्ड : मिट्टी के बरतन

अस्थि उपकरण : हड्डी के औजार

आखेट एवं संग्रहण : मानव विकास का वह स्तर जब वह पशुओं के शिकार एवं जंगली खाद्य पदार्थों के संग्रहण पर निर्भर था।

शैलाश्रय/शिलाश्रय : विशाल शिलाओं में पाषाणकालीन मानव के आवास।

शैल चित्रण : पाषाणकालीन मानव द्वारा शिलाओं पर किया गया चित्रण।

प्रागैतिहासिक काल : मानव के लेखन ज्ञान से पूर्व का काल

बहुपादीय : अनेक पैरों वाला

1.12 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

इकाई 1.4 के उत्तर

1— असत्य

2— असत्य

इकाई 1.5 के उत्तर के लिए देखिये इकाई 1.5

इकाई 1.6 के उत्तर के लिए देखिये 1.6

इकाई 1.7 के उत्तर के लिए देखिए 1.7

1.13 संदर्भ ग्रंथसूची

जोशी,एम0पी01998 : प्रागैतिहासिक मध्यहिमालय, 'मानव' ऐथनोग्राफिक एण्ड फोक कल्चर सोसाइटी, लखनऊ, वर्ष 26, अंक 1-2, जनवरी-जून, 1998, पृ0-69-92।

मठपाल, यशोधर 1987 : उत्तराखण्ड में संस्कृति की प्रागैतिहासिक पृष्ठभूमि, उत्तराखण्ड-1, 1-8, उत्तराखण्ड शोध संस्थान, सम्पा0 प्रमोद जोशी, पंतनगर।

सकलानी,अतुल 1983 : ग्वारख्यावडयार (ग्राम डुँग्री) के शैल चित्र, पहाड़, पहला अंक, 217-18, नैनीताल, पहाड़ पब्लिकेशन्स, नैनीताल।

Sharma, A.K. 1990-91 : Excavation at Ladyura, Almora, U.P. Puratattva No. -21:77-79.

Nautiyal, K.P., B.M. Khanduri, Vinod Nautiyal, D.L.Rajput 1980: In quest of lithic Industry in Garhwal: Results of first phase survey, Journal of Himalayan Studies Regional Development, 4:61-67.

Joshi, M.P.1990 : Uttaranchal (Kumaon-Garhwal) Himalaya: An Essay in Historical Anthropology. Shree Almora Book Depot, Almora.

1.14 निबंधात्मक प्रश्न

1— भारत में पाषाण युग के विभिन्न चरणों का विवेचन कीजिये।

2— उत्तराखण्ड से प्राप्त पाषाणयुगीन साक्ष्यों का विस्तृत विश्लेषण कीजिये।

3. उत्तराखण्ड से प्राप्त शैलचित्रण का विवेचन कीजिये।

इकाई दो

ताम्रमानवाकृति

- 2.1 प्रस्तावना
- 2.2 उद्देश्य
- 2.3 उत्तराखण्ड में ताम्र मानवाकृतियाँ
- 2.4 निर्माण विधि
- 2.5 निर्माण का प्रयोजन
- 2.6 मानवाकृतियों के निर्माता
- 2.7 सारांश
- 2.8 तकनीकी शब्दावली
- 2.9 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर
- 2.10 संदर्भ ग्रंथसूची
- 2.11 निबंधात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

पुरातत्वविदों को खुदाई के दौरान उत्तरी भारत के विभिन्न स्थानों से तांबे की बनी अनेक वस्तुएँ मिली, ये वस्तुएँ मुख्यतः निधियों या संचय रूप में मिली हैं। पुराविदों ने मौटे तौर पर इनका काल द्वितीय सहस्राब्दी ईसापूर्व या आज से लगभग चार हजार पूर्व में निश्चित किया है यद्यपि नियंत्रित खुदाइयों में बहुत कम ताम्र संचय की वस्तुएँ मिली हैं। हथियारों के आधार पर इसे एक विशिष्ट संस्कृति बतलाया गया है। दोआब क्षेत्र से मिली ताम्र संचय की वस्तुओं को गेरूए मृदभाण्ड संस्कृति से संबंधित किया गया है। 19वीं सदी से ही तांबे धातु की बनी निधियां यदाकदा मिलना शुरू हो गया था, इनके आधार पर उत्तर भारत में चार क्षेत्रों का निर्धारण किया गया जहां से इस प्रकार की निधियां (संचय) मिली हैं। ये क्षेत्र दक्षिण हरियाणा/उत्तरी राजस्थान ; गंगा/यमुना का मैदान ; छोटा नागपुर तथा मध्यप्रदेश है, सभी क्षेत्रों से मिले हथियारों/उपकरणों की अपनी विशिष्टताएँ हैं। दक्षिण हरियाणा/उत्तरी राजस्थान से मिली निधियों में सपाट कुल्हाड़ियां , हारपून या बरछा, दुधारी कुल्हाड़ियां तथा एंटेना वाली तलवारें सम्मिलित हैं। गंगा/यमुना के मैदान से भी ऐसी ही वस्तुएँ मिलती हैं। छोटा नागपुर से मिली निधियां बिल्कुल अलग हैं,

ये बड़ी अच्छी तरह से निर्मित हैं। निधियों (संचय) से प्राप्त तांबे के परीक्षणों से पता चला है कि इनमें तांबे की मात्रा 71 से 99 प्रतिशत तक है जबकि कुछ हथियारों/उपकरणों में लगभग 33 प्रतिशत तक लोहे की मात्रा पायी गयी है। इन हथियारों/उपकरणों के लिए तांबा राजस्थान (क्षेत्री की खान), बिहार, पश्चिम बंगाल, उड़ीसा (सिंहभूमि की खान) तथा मध्य प्रदेश से प्राप्त किया गया है।

ताम्र मानवाकृतियाँ गंगा-घाटी की ताम्र संचय संस्कृति का एक विशिष्ट उपकरण मानी गयी हैं। इस प्रकार के उपकरण भारत को छोड़कर विश्व के किसी भी भाग में नहीं मिलते हैं। अब तक जो भी ताम्र मानवाकृतियाँ मिली हैं उनमें अधिकांशतः गंगा-घाटी में प्राप्त हुई हैं।

2.2 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको उत्तराखण्ड से प्राप्त ताम्र मानवाकृतियों की जानकारी देना है ताकि आप यहां की पुरातात्विक संपदा और प्राचीन काल में यहां के गंगा घाटी के साथ सम्पर्कों के विषय में विविध स्थानीय पुराविदों के विचारों से अवगत हो सकें और स्थानीय पुरातत्व एवं इतिहास को सही प्रकार समझ सकें। इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप अग्रांकित जानकारी प्राप्त कर सकेंगे—

- ताम्र मानवाकृतियों का सामान्य परिचय
- उत्तराखण्ड की ताम्र मानवाकृतियाँ
- उत्तराखण्ड की ताम्र मानवाकृतियों की निर्माण विधि
- ताम्र मानवाकृतियों के निर्माण का प्रयोजन
- ताम्र मानवाकृतियों के निर्माता

2.3 उत्तराखण्ड में ताम्र मानवाकृतियाँ

ताम्र निधियों के इस विशिष्ट उपकरण के सम्बन्ध में उत्तराखण्ड के अल्मोड़ा जनपद और इससे लगे समीपवर्ती जनपद भी महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। अल्मोड़ा जनपद में 1986 के मध्य एक ताम्र-मानवाकृति प्रकाश में आयी थी जो उससे पूर्व में अल्मोड़ा के किसी गाँव से प्राप्त कर हल्द्वानी भेज दी गयी थी। इसके उपरान्त अल्मोड़ा जनपद के भैसियाछाना विकास खण्ड से लगे सेराघाट (जनपद पिथौरागढ़) के ग्राम बनकोट से एम.पी. जोशी ने आठ ताम्र मानवाकृतियों की खोज की। 1999 ईस्वी के अन्तिम चतुर्थांश में पिथौरागढ़ जनपद के नैनीपातल ग्राम से पाँच ताम्र-मानवाकृतियाँ प्रकाश में आयी हैं, जो राजकीय संग्रहालय अल्मोड़ा में संरक्षित हैं। ताम्र मानवाकृतियों की उपरोक्त खोजें स्थानीय पुरातत्व की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं।

इन ताम्रमानवाकृतियों की खोज से अल्मोड़ा जनपद और कुमाऊँ भी गंगा-घाटी की ताम्र संचय संस्कृति के विकास में योगदान देने वाले एक महत्वपूर्ण केन्द्र के रूप में हमारे सामने आता है। इन खोजों का महत्व तब और भी बढ़ जाता है जब हमें पता चलता है कि एक साथ आठ ताम्र मानवाकृतियाँ,

गंगा-घाटी सहित भारत के किसी भी भाग में इकट्ठे अब तक नहीं मिली हैं । एक अन्य रोचक तथ्य यह भी है कि ये ताम्र मानवाकृतियाँ किसी योजनाबद्ध पुरातात्विक उत्खनन के द्वारा नहीं वरन् अनायास ही स्थानीय पुराविदों द्वारा खोजी गयी हैं, इस तथ्य से यह प्रबल संभावना उत्पन्न होती है कि यदि कुमाऊँ के महत्वपूर्ण पुरातात्विक स्थलों का उत्खनन किया जाय तो इस सम्बन्ध में और भी अधिक ताम्र मानवाकृतियाँ तथा अन्य तथ्य प्राप्त हो सकेंगे जो कुमाऊँ और गंगा-घाटी की ताम्र संचय संस्कृति के सम्बन्धों को अधिक स्पष्ट करेंगे ।

2.4 निर्माण विधि

वर्तमान तक प्राप्त गंगा-घाटी की अधिकांश ताम्र मानवाकृतियों को ताँबे के मोटे पत्तों को पीटकर बनाया गया है । इनके अर्द्धवृत्ताकार शीर्ष भाग की सतह को अपेक्षाकृत अधिक मोटा बनाया गया है जिससे सतह के दोनों ओर उभार आ गया है । इन मानवाकृतियों की भुजाएँ अन्दर की ओर आवृत्ति लिए हुए बनायी गयी हैं और इनमें बाहर की ओर धार दी गयी हैं । इनके पाँव के अन्तिम छोर नोकयुक्त या आवृत्ति लिए बाहर की ओर फैले दर्शाये गये हैं ।

अल्मोड़ा से प्राप्त ताम्र-मानवाकृति की लम्बाई 40 से.मी. से अधिक और चौड़ाई 38 से.मी. है, इसका भार लगभग 5 किलोग्राम है, इस मानवाकृति का शीर्ष, अर्द्धवृत्ताकार और भुजाएँ अन्दर की ओर पर्याप्त आवृत्ति लिए बनायी गयी हैं, इसके पैर पर्याप्त फैले प्रदर्शित हैं यह मानवाकृति पीट कर बनायी गयी प्रतीत होती है, इसकी सतह बाहर की ओर हल्की धारदार है ।

बनकोट से प्राप्त ताम्र मानवाकृतियाँ अपने स्वरूप में अल्मोड़ा से प्राप्त ताम्र मानवाकृति से थोड़ी भिन्न प्रतीत होती हैं । जहाँ अल्मोड़ा से प्राप्त मानवाकृति स्पष्ट रूप से मानव आकृति से मिलती-जुलती है वहीं बनकोट की मानवाकृतियों में पैरों को स्पष्ट रूप से पृथक नहीं दर्शाया गया है, इनके हाथ भी भूमि के समानान्तर बिना आवृत्ति लिये फैले हुए प्रदर्शित हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि इनके निर्माण में ऐसा प्रयास किया गया है मानों ताम्रकार इन्हें लबादा सदृश वस्त्र पहने प्रदर्शित करना चाहता हो, ठीक इसी प्रकार की मानवाकृतियों का चित्रण हमें जनपद के ल्वेथाप, लखुउड्यार तथा अन्य चित्रित शिलाश्रयों में मिलता है जहाँ अनेक मानवाकृतियाँ ठीक इसी प्रकार हाथों को फैलाये, लबादा सदृश वस्त्र पहने अंकित की गयी हैं । बनकोट की मानवाकृतियाँ निर्माण-प्रक्रिया की दृष्टि से भी भिन्न प्रतीत होती हैं । एम.पी.जोशी के अनुसार ये पीटकर नहीं वरन् इन्हें साँचे में ढालकर बनाया गया प्रतीत होता है । इन मानवाकृतियों की लम्बाई शीर्ष से पाँव तक लगभग 22 से.मी. और चौड़ाई भुजा सहित एक छोर से दूसरे छोर तक लगभग 29 से.मी. है, इनका भार 2-50 किग्रा से 3-50 किग्रा के मध्य है ।

नैनीपातल से प्राप्त पाँचों ताम्र-मानवाकृतियाँ एक ही भाँति की हैं, जहाँ तक इनके स्वरूप का संबंध है ये बनकोट और अल्मोड़ा से प्राप्त मानवाकृतियों से थोड़ा भिन्न हैं, इनकी भुजाओं का अग्र भाग बनकोट की मानवाकृतियों की भुजाओं के अग्र भाग की भाँति भूमि के समानान्तर नहीं है, वरन् इस भाग में थोड़ा आवृत्ति लिए झुकाव दिखाई देता है, लेकिन इस झुकाव में उतनी आवृत्ति नहीं दिखती है जितनी की अल्मोड़ा से प्राप्त मानवाकृति की भुजाओं में हैं । वस्तुतः निर्माण की दृष्टि से ये मानवाकृतियाँ बनकोट और अल्मोड़ा की मानवाकृतियों के मध्य की अवस्था की परिचायक प्रतीत होती हैं । इन ताम्र-मानवाकृतियों की

चौड़ाई भुजाओं के एक छोर से दूसरे छोर तक 27 सें.मी. से 32 से.मी. के मध्य तथा लम्बाई शीर्ष से पाँव तक 16 से.मी. से 22 से.मी. के मध्य है । इनका भार 1-10 किग्रा से लेकर 1-50 किग्रा के मध्य है ।

सतही दृष्टि से देखने पर उपरोक्त ताम्र मानवाकृतियों में अनेक अन्तर दिखाई देते हैं परन्तु गहराई से विश्लेषण करने पर इनके बीच अन्तर्सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है । वास्तव में इनमें जो अन्तर दिखाई देते हैं वह इनके निर्माण के विभिन्न चरणों का प्रतिनिधित्व करते प्रतीत होते हैं । इनके निर्माण के सम्बन्ध में एम.पी. जोशी बताते हैं कि – “प्रथम चरण में एक सपाट कांटेदार कुल्हाड़ी का निर्माण किया गया था जो ढालकर बनायी गयी थी जैसा कि सर्वधौली (शाहजहाँपुर) के उदाहरण से स्पष्ट होता है, दूसरे चरण में महमूदाबाद के उदाहरणों की भाँति ढूँठ का निर्माण किया गया, तीसरे चरण में यह प्रयास किया गया कि इन कुल्हाड़ियों को मानवाकार रूप दिया जाय, इसके लिए ढूँठ को बेलनाकार बनाया गया जो कि भुजाओं का आभास दे सके और अर्द्धवृत्ताकार शीर्ष भाग को अपेक्षाकृत गोल और कम चौड़ा बनाकर मानव मुख के समान बनाने का प्रयास किया गया और साथ ही निचले भाग में मत्स्य-पुच्छ के सदृश पाँव का आकार भी प्रदान किया गया । चतुर्थ चरण में मानव आकृति का पूर्ण आकार प्रस्तुत किया गया जबकि सीधे बेलनाकार हाथों को अन्दर की ओर आवृत्ति लिए दर्शाया गया और पाँवों को सिर के अनुपात में लम्बा पूर्ण नोकदार बनाया गया, अन्तिम चरण में एक दर्शनीय परन्तु अपेक्षाकृत अधिक जटिल मानव आकृति बनायी गयी जिसके शीर्ष भाग में उभार, भुजाओं में अन्दर की ओर आवृत्ति और पाँवों को अधिक लम्बा और अन्तिम छोर में अर्द्धवृत्ताकार पंजा सा दर्शाना शामिल है” ।

एम.पी. जोशी के उपरोक्त निर्माण प्रक्रिया संबंधी चरणों में हम आसानी से कुमाऊँ में प्राप्त ताम्र-मानवाकृतियों का स्थान-निर्धारण कर सकते हैं । इन विकास-चरणों में से तृतीय चरण के उदाहरण हमें बनकोट से प्राप्त होते हैं जबकि नैनीपातल से प्राप्त ताम्र-मानवाकृतियों को विकास के चतुर्थ चरण में रखा जा सकता है । विकास के अन्तिम अथवा पाँचवें चरण का उदाहरण हमें अल्मोड़ा से प्राप्त होता है । जोशी द्वारा विकास सम्बन्धी किया गया उपरोक्त विश्लेषण अल्मोड़ा जनपद और इसके सीमावर्ती स्थानों से प्राप्त ताम्र मानवाकृतियों के विभिन्न स्वरूपों के पीछे निहित निर्माण-प्रक्रिया संबंधी अन्तरों को स्पष्ट करने के साथ ही इन मानवाकृतियों का गंगा-घाटी से प्राप्त ताम्र मानवाकृतियों के साथ सम्बन्ध भी स्थापित करता है । प्रतीत होता है कि ताम्र संचय संस्कृति के काल में अल्मोड़ा जनपद में भी एक विकसित ताम्र उद्योग विद्यमान था जो स्थानीय ताबें की खानों का उपयोग कर संभवतः गंगा-घाटी को भी ताम्र उपकरणों की आपूर्ति करता था । जनपद से प्राप्त विभिन्न चरणों की परिचायक ये ताम्र मानवाकृतियाँ इस उद्योग की दीर्घकाल तक विद्यमान होने की परिचायक हैं और वर्तमान में भी ताम्रकारिता अल्मोड़ा जनपद का एक प्रमुख उद्योग माना जाता है ।

स्वमूल्यांकित प्रश्न

1. भारतीय संदर्भ में ताम्र संचय संस्कृति के विषय में अग्रांकित पंक्तियों में लिखिए—

2. उत्तराखण्ड में जिन स्थानों से ताम्र मानवाकृतियां मिली हैं उनके नाम बताइये।
3. उत्तराखण्ड में ताम्र मानवाकृतियों के निर्माण के विभिन्न चरणों के विषय में अग्रांकित पंक्तियों में लिखिए—

2.5 निर्माण का प्रयोजन

ताम्र संचय संस्कृति के इस विशिष्ट उपकरण के उपयोग, महत्व तथा निर्माण के प्रयोजन के विषय में व्यापक विवाद रहा है और वर्तमान तक भी इस सम्बन्ध में सर्वमान्य मत प्राप्त नहीं हो सका है । अग्रवाल इन ताम्र मानवाकृतियों को प्रक्षेपास्त्र या बुमरैंग सदृश हथियार से समीकृत करते हुए इन्हें पक्षियों को मारने के लिए प्रयुक्त बतलाते हैं, और इनके किसी भी प्रकार के कर्मकाण्डीय महत्व को अस्वीकार करते हैं । इस संबंध में एच.डी. सांकलिया का मानना है कि पूरे विश्व में अति प्राचीन काल से ही पक्षियों को मारने के लिए अनेक साधारण तरीके अपनाये जाते रहे हैं अतः अग्रवाल का मत एक अटकल प्रतीत होता है । एलचिन-द्वय इन ताम्र मानवाकृतियों को धार्मिक अनुष्ठानों में प्रयोग आने वाले उपकरणों से पहचानते हुए इनकी समता छोटा नागपुर के सन्थाल तथा अन्य जनजातियों द्वारा अनुष्ठानों में प्रयोग की जाने वाली लोहे या इस्पात की कुल्हाड़ियों से करते हैं । एस.पी.गुप्ता ने इन ताम्र मानवाकृतियों को दैवीय आकृतियों से समीकृत किया है । एम.पी. जोशी ने इन ताम्र मानवाकृतियों को परशु से समीकृत किया है और आयुध का प्राचीनतम मानवरूपेण प्रदर्शन बतलाया है । जोशी के अनुसार इनका उपयोग किसी विशिष्ट कर्मकाण्ड हेतु

किया जाता था । उपरोक्त विभिन्न मतों के प्रकाश में इन ताम्र मानवाकृतियों के उपयोग एवं निर्माण के प्रयोजन के सम्बन्ध में इतना कहा जा सकता है कि – “क्योंकि ये उपकरण गंगा-घाटी की ताम्र संचय संस्कृति में अन्य उपकरणों के साथ मिले हैं अतः यह माना जा सकता है कि ताम्र मानवाकृति एक विशिष्ट प्रकार का आयुध था, जिसका धर्मिक महत्व भी था” ।

स्वमूल्यांकित प्रश्न

1. आपके अनुसार ताम्र मानवाकृतियों के निर्माण का क्या प्रयोजन हो सकता है, अग्रांकित पंक्तियों में लिखिए—

2.6 मानवाकृतियों के निर्माता

इन ताम्र मानवाकृतियों के निर्माता अथवा ताम्र संचय संस्कृति के रचयिता कौन थे ? यह प्रश्न भी इन मानवाकृतियों के प्रयोजन की भांति ही अभी तक अनुत्तरित है इन मानवाकृतियों के निर्माताओं को जानने का पुराविदों ने प्रयास किया है । इस सम्बन्ध में हेने जेल्डर्न का मानना है कि गंगा घाटी की ये ताम्र-निधियां आर्यों तथा कुछ अन्य वर्ग के लोगों—हिन्द-यूरोपीय अथवा कॉकेशियाई जनजातियों — से सम्बन्धित हैं जो कि आर्यों के पूर्व की ओर प्रसरण के समय उनसे मिल गयीं थीं । पिगोट ने भी पहले हेने जेल्डर्न के मत का समर्थन किया था किन्तु बाद में अपना मत परिवर्तित कर यह सुझाया कि ताम्र निधियों के निर्माता, सिन्धु सभ्यता के निवासी थे जो आर्यों के भारत आक्रमण के फलस्वरूप गंगा घाटी में पलायन करने को विवश हुए थे । इस सम्बन्ध में फेयर सर्विस, आर्यों और ताम्र संचय संस्कृति में किसी प्रकार के सम्बन्धों से इन्कार करते हुए ताम्र-निधियों को स्वदेशी विकास मानते हैं ।

बी.बी. लाल ने लगभग 34 ताम्र-निधियों से प्राप्त एक हजार से अधिक ताम्र-उपकरणों का अध्ययन कर ताम्र-कर्म की तकनीक के आधार पर इनकी पहचान उन मानव समूहों से की है जो कि गंगा-घाटी, विशेष रूप से दक्षिणी उत्तर प्रदेश, बिहार और उससे लगे क्षेत्र में पहले से ही नवपाषाण संस्कृति का विकास कर चुके थे, बी.बी. लाल इनकी पहचान मुण्डा, संथाल तथा उन अन्य जनजातियों से करते हैं जो

कि भारतीय जनसंख्या के आद्य-आस्ट्रेलियाई वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। एस.पी. गुप्ता भी इनका सम्बन्ध आर्येतर जनजातियों के उस समूह से करते हैं जो आज मध्य भारत और उड़ीसा क्षेत्र में विचरण करते हैं। डी.पी. अग्रवाल के अनुसार इनकी पहचान उन घुमन्तु ताम्र-कर्मियों से की जानी चाहिए जिनके वंशज कालान्तर में लोहार आदि के नाम से कुमाऊँ-गढ़वाल एवं अन्य स्थानों में विद्यमान हैं। एम.पी. जोशी इनका सम्बन्ध कुमाऊँ-गढ़वाल में रहने वाले परम्परागत प्रसिद्ध ताम्रकर्मी टम्टा या तामता जाति से स्थापित करते हैं और बताते हैं कि गंगा-घाटी की ताम्र संचय संस्कृति के विकास में इनके पूर्वजों की महत्वपूर्ण भूमिका थी।

स्वमूल्यांकित प्रश्न

1. आपके अनुसार ताम्र मानवाकृतियों का निर्माता कौन हो सकता है, अग्रांकित पंक्तियों में लिखिए—

2.7 सारांश

भारत में 19वीं सदी से ही तांबे धातु की बनी निधियां यदाकदा मिलना शुरू हो गया था, ताम्र मानवाकृतियों गंगा-घाटी की ताम्र संचय संस्कृति का एक विशिष्ट उपकरण मानी गयी हैं। ताम्र निधियों के इस विशिष्ट उपकरण के सम्बन्ध में उत्तराखण्ड के अल्मोड़ा जनपद और इससे लगे समीपवर्ती जनपद भी महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इन ताम्रमानवाकृतियों की खोज से अल्मोड़ा जनपद और उत्तराखण्ड भी गंगा-घाटी की ताम्र संचय संस्कृति के विकास में योगदान देने वाले एक महत्वपूर्ण केन्द्र के रूप में हमारे सामने आता है। इन खोजों का महत्व तब और भी बढ़ जाता है जब हमें पता चलता है कि एक साथ आठ ताम्रमानवाकृतियां गंगा-घाटी सहित भारत के किसी भी भाग में इकट्ठे अब तक नहीं मिली हैं। प्रतीत होता है कि ताम्र संचय संस्कृति के काल में अल्मोड़ा जनपद में भी एक विकसित ताम्र उद्योग विद्यमान था जो स्थानीय तांबे की खानों का उपयोग कर संभवतः गंगा-घाटी को भी ताम्र उपकरणों की आपूर्ति करता था। ताम्र संचय संस्कृति के इस विशिष्ट उपकरण के उपयोग, महत्व तथा निर्माण के प्रयोजन के विषय में व्यापक विवाद रहा है और वर्तमान तक भी इस सम्बन्ध में सर्वमान्य मत प्राप्त नहीं हो सका है। इन ताम्र मानवाकृतियों के निर्माता अथवा ताम्र संचय संस्कृति के रचयिता कौन थे? यह प्रश्न भी इन मानवाकृतियों के प्रयोजन की भांति ही अभी तक अनुत्तरित है।

2.8 तकनीकी शब्दावली

सहस्राब्दी – एक हजार वर्ष

पुरातात्विक उत्खनन – पुरातत्वविदों द्वारा की गयी योजनाबद्ध खुदाई

अर्धवृत्ताकार शीर्ष भाग – आधे वृत्त के समान उपरी या सिर का भाग

मत्स्य-पुच्छ – मछली की पूंछ

ताम्रकारिता– तांबे का शिल्प

बुमरैंग– अनेक कबीलों द्वारा पक्षियों को मारने के लिए प्रयुक्त ऐसा हथियार जो हथियार चलाने के बाद स्वयं चलाने वाले के पास आ जाता है

2.9 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

इकाई 2.4 के प्रश्न 2 के उत्तर के लिए देखिए इकाई 2.4

2.10 संदर्भ ग्रंथसूची

1. सक्सेना, कौशल . 1986 : ' कबाड़खाने से निकली ताम्र मानवाकृति ', अमर उजाला, दैनिक मई 8 बरेली।
2. Joshi, M.P. 1990 : "New Horizon of the Ganga Valley Copper Hoard archaeology", Bulletin of Museums and archaeology in U.P., 45-46:1-6.
3. Lal, B.B. 1951. : Further Copper Hoards from the Gangetic Basin and a review of the problems", Ancient India, 7:20-39.
4. Lal, B.B. 1972 : " The Copper Hoard Culture of the Ganga Valley", Antiquity, XLVI: 282-87 .

2.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. भारत में ताम्र संचय संस्कृति के विशिष्ट उपकरण 'ताम्र मानवाकृतियों' पर सविस्तार एक निबंध लिखिये।

महाष्म संस्कृति, कप मार्क्स एवं उत्कीर्णन

- 2.1 प्रस्तावना
- 2.2 उद्देश्य
- 2.3 भारत में महाष्म संस्कृति
 - 2.3 सिस्ट् समाधि
 - 2.3 पिट सर्कल
 - 2.3 कैर्न सर्कल
 - 2.3 डोलमेन
 - 2.3 अम्ब्रेला स्टोन
 - 2.3 हुड स्टोन
 - 2.3 मेनहिर
- 2.4 उत्तराखण्ड में महाष्म संस्कृति
 - 2.4 शवागार
 - 2.4 सिस्ट
 - 2.4 दीर्घाश्म (मेनहिर)
- 2.5 कप—मार्क्स एवं अन्य उत्कीर्णन
- 2.6 महाष्म संस्कृति के निर्माता
- 2.7 सारांश
- 2.8 तकनीकी शब्दावली
- 2.9 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर
- 2.10 संदर्भ ग्रंथ सूची
- 2.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 2.12 निबंधात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

यूनानी भाषा में **Megas** और **Lithos** क्रमशः विशाल और पाषाण के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं । अतः मेगालिथिक , विशाल पाषाण के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है , परंतु पूर्वतिहास में मेगालिथिक शब्द विशेष अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । दक्षिण भारत में विशाल पाषाण खण्डों से बनी इस काल की अनेक समाधियां मिली हैं जिन्हें मेगालिथिक पुकारा गया है जिस काल में ये समाधियां बनी हैं वह काल इतिहास में मेगालिथिक काल कहा जाता है ।

मेगालिथ का निर्माण विशेषतः दक्षिण भारत में ही हुआ है तथापि इसके उदाहरण मध्यप्रदेश, मध्यभारत , उड़ीसा ,आसाम , बिहार, राजस्थान, गुजरात,काश्मीर तथा उत्तराखण्ड में भी मिले हैं । मेगालिथिक समाधियों से पता चलता है कि स्वयं दक्षिण भारत में भी मेगालिथिक संस्कृति एक समय और एक प्रकार की नहीं है ,मेगालिथ के अन्दर मिली सामग्री कभी पाषाण की है तो कभी तांबे की, कभी कांसे की तो कभी लोहे की है ।

एक विचार के अनुसार, प्रथम सहस्राब्दी ईस्वी पूर्व के आरंभ में प्रायद्वीपीय भारत से महाष्म कालीन लोगों ने भारत के विभिन्न क्षेत्रों की ओर अग्रसर होना प्रारंभ किया और कालान्तर में ये उत्तराखण्ड में भी प्रविष्ट हुए और अपनी सांस्कृतिक धरोहर के रूप में उन अवशेषों को हमारे लिए छोड़ गये जिन्हें हम महाष्म कालीन अवशेष के रूप में जानते हैं । यह तो निश्चित है कि महाष्म मानव घुमन्तु था लेकिन हम यह नहीं कह सकते हैं कि वह भारत के बाहर से ही आया था, संभव है दक्षिण-भारत के महाष्म मानव ने ही भारत के विभिन्न स्थलों में अपने स्मारकों का निर्माण किया हो और विभिन्न स्थलों में इनके स्मारकों में जो अन्तर दिखाई देते हैं वे विभिन्न भौगोलिक परिस्थितियों, विभिन्न क्षेत्रों के स्थानीय जनों के साथ सांस्कृतिक तथा अन्य संबंधों और क्षेत्र विशेष के धार्मिक कृत्यों के प्रभाव स्वरूप उत्पन्न माने जा सकते हैं ।

2.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप अग्रांकित जानकारी प्राप्त कर सकेंगे—

- भारत में महाष्म संस्कृति का विकास
- उत्तराखण्ड में महाष्म संस्कृति के अवशेषों के प्राप्ति स्थल
- महाष्म संस्कृति से संबंधित शवागार,सिस्ट तथा दीर्घाष्म
- कप-मार्क्स तथा महाष्म संस्कृति से संबंधित उत्कीर्णन
- महाष्म संस्कृति के निर्माताओं के संबंध में प्रचलित विचार

2.3 भारत में महाष्म संस्कृति

आइये अब जानते हैं कि भारत में मेगालिथिक के कितने प्रकार विशेष रूप से प्राप्त हुए हैं—

2.3.1 सिस्ट (समाधि)

इस प्रकार की समाधियों के निर्माण हेतु सबसे पहले भूमि में एक आयताकार खाई खोदी जाती थी , फिर खाई के फर्श को एक पाषाण खण्ड से पाट दिया जाता था। खाई के भीतर की चारों दिवारों पर भी चार पाषाण खण्ड लगा दिये जाते थे । इन पाषाण खण्डों को आर्थोस्टैट पुकारा जाता है । अन्त में एक अन्य पाषाण खण्ड के सहारे छत को पाट दिया जाता था , इस पाषाण खण्ड को कैपस्टोन कहा गया है। अब यह एक बन्द सन्दूक की भांति संरचना बन जाती थी , इस बन्द सन्दूक की पूर्वी दिवार में एक गोलाकार छेद किया जाता था जिसे पोर्टहोल पुकारा गया है। इस प्रकार के सन्दूक का प्रयोग समाधि के रूप में किया जाता था। इन समाधियों में मृतक के अस्थिपंजरों के अलावा हथियार, उपकरण, मृण्माण्ड , आभूषण आदि मिलते हैं।

2.3.2 पिट सर्कल

इस प्रकार की समाधियों के निर्माण के लिए सबसे पहले ग्रेनाइट पाषाण खण्डों की सहायता से 20–30 फीट व्यास का एक वृत्त बनाया जाता था और फिर मध्य में एक खाई खोदी जाती थी, यह खाई भी वृत्ताकार होती थी और इसका व्यास 8 से 10 फीट तथा इसकी गहराई 6 से 8 फीट होती थी। खाई के फर्श में चार पाषाण पाद रख दिये जाते थे। इस प्रकार की समाधियां ब्रह्मगिरि के उत्खनन में मिली हैं , अस्थि अवशेषों के अलावा यहां समाधियों में लौह सामग्री, आभूषण, शंख, मूंगे और मृण्पात्र आदि प्राप्त हुए हैं।

2.3.3 कैर्न सर्कल

यह रूबल पाषाण खण्डों से बनी समाधियां होती हैं। इन समाधियों में शवपात्र में शव-भस्म या शव-अस्थियां मिलती हैं। समाधि के चारों ओर बड़े-बड़े पाषाण खण्डों की सहायता से एक वृत्त बना दिया जाता था। इस प्रकार की समाधियां मद्रास के चिंगुलपुट जिले में मिली हैं।

2.3.4 डोलमेन

यह प्रायः सिस्ट की भांति ही होता है लेकिन इसमें सन्दूक खाई के अन्दर न होकर पृथ्वी के ऊपर होता है। इस प्रकार की समाधियां चिंगुलपुट में मिलती हैं।

2.3.5 अम्ब्रेला स्टोन

इस प्रकार की समाधियों की चारों कोनों में 4 पाषाण पाद खड़े किये जाते थे जिनके ऊपर एक कम ऊंचे और अधिक चौड़ा शंखु के आकार का एक पाषाण खण्ड रख दिया जाता था। यह छाते के समान दिखता है इसीलिए इस मेगालिथ को अम्ब्रेला स्टोन कहा जाता है।

2.3.6 हुड स्टोन

इस प्रकार की समाधियों में पाषाण पाद नहीं होते। छत्राकार मेगालिथ पृथ्वी पर ही आघारित रहता है।

2.3.7 मेनहिर

इस प्रकार की समाधियां एकाश्मीय स्तंभ के समान होती हैं।

स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. दक्षिण भारत में महाष्म संस्कृति से संबंधित दो स्थलों के नाम लिखिए।
2. दक्षिण भारत में महाष्म संस्कृति के शवागारों से प्राप्त सामग्री का उल्लेख कीजिए।
3. सिस्ट के विषय में अग्रांकित पंक्तियों में लिखिये –

2.4 उत्तराखण्ड में महाष्म संस्कृति

भारत में महाष्म संस्कृति के अवशेष विभिन्न भागों में मिलते हैं। ये अवशेष उत्तर में लेह, दक्षिण में आदिचन्नालूर, पूर्व में आसाम और छोटा नागपुर तथा पश्चिम में लासबेला तक मिले हैं। इस सम्बन्ध में कुमाऊँ में 1856 ई. में हेनवुड द्वारा सर्वप्रथम देवीधूरा में महापाषाणयुगीन अवशेष देखे गये थे, उसके बाद 1877 में कार्नाक ने द्वाराहाट में एक बार फिर महाष्म युग से सम्बन्धित अवशेषों को खोजा था। कार्नाक के उपरान्त 20वीं सदी ईस्वी के अन्तिम चतुर्थांश में इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किये गये। अब उत्तराखण्ड और विशेषकर कुमाऊँ में महाष्म संस्कृति की विद्यमानता को स्वीकार किया जाता है। स्थानीय पुराविदों द्वारा किये गये सर्वेक्षण एवं उत्खनन कार्यों के फलस्वरूप इस संस्कृति से सम्बन्धित अनेक महत्वपूर्ण साक्ष्य प्रकाश में आये हैं। महाष्म संस्कृति के मूल, कालक्रम तथा अन्य जानकारी के लिए इन साक्ष्यों का विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत विश्लेषण किया जा सकता है –

2.4.1 शवागार

द्वाराहाट, नौला-जैनल तथा अल्मोड़ा जनपद के भागों में ऐसे अनेक प्राचीन शवागार प्राप्त हुए हैं जिन्हें महाष्म संस्कृति से सम्बन्धित किया गया है। कार्नाक ने द्वाराहाट के समीप चण्डेश्वर महादेव से लगभग 180 मीटर दक्षिण में नाले के मध्य एक शिला का उल्लेख किया है जो नाले से लगभग 45 अंश का कोण बनाती हुई लगभग 19-20 मीटर की ऊँचाई तक चली गयी है, इस शिला पर अलग-अलग आकार के 200 कप-माक्स अंकित हैं जो समानान्तर पंक्तियों में खुदे हैं, बाहर एक अति प्राचीन महाशिला है, भीतर 37 समाधियाँ हैं जिन पर योनि-लिंग बने हैं। एटकिंसन भी द्वाराहाट में प्राप्त कुछ शवागारों का उल्लेख करता है जो चौकोर कटे हुए पत्थरों से निर्मित थी, इनका सम्बन्ध ट्रेल ने तातार-जाति से जोड़ा था। द्वाराहाट के इन शवागारों का विस्तृत अध्ययन किये बिना ही कालान्तर में इन्हें नष्ट कर दिया गया।

अल्मोड़ा जनपद की पश्चिमी रामगंगा घाटी में स्थित नौला-जैनल गांवों में भी सड़क-निर्माण के दौरान कुछ शवाधान प्रकाश में आये थे , यशोधर मठपाल ने सर्वप्रथम इन शवाधानों का अध्ययन किया था, मठपाल के अनुसार “ये कब्रें, जो जमीन से एक फीट से अधिक नीचे नहीं हैं साढ़े सात फीट लम्बी, ढाई फीट चौड़ी तथा तीन फीट गहरी हैं। ये चारों ओर से बादामी रंग के चपटे पत्थरों से ढकी हैं और इनकी दिशा पूर्व-पश्चिम है । इनमें धूसर रंग के कहीं-कहीं रेखाओं से अलंकृत चौड़े मुहँ वाला कटोरीनुमा मिट्टी का बरतन, टोंटीदार लोटे तथा मटके आदि रखे हुए थे जो वहाँ से उपलब्ध हुए हैं । नौला और समीपवर्ती जैनल गांव के ठीक सामने लगभग दो मिलोमीटर के क्षेत्र में ये शवाधान बिखरे पड़े हैं ————— इन शवागारों में हड्डियाँ नष्ट हो चुकी हैं और मात्र छोटे-छोटे टुकड़े ही बचे हैं ————— इसमें सन्देह नहीं कि पश्चिमी रामगंगा घाटी के ये शवाधान महापाषाणकालिक हैं – लगभग तीन हजार वर्ष प्राचीन ” ।

2.4.2 सिस्ट

“सिस्ट” का तात्पर्य भी ऐसी प्रस्तर संरचना से है जो मकबरों के रूप में प्रयुक्त होती थी, सिस्ट विशेष रूप से महाष्म संस्कृति से सम्बन्धित हैं । सिस्ट या तो पूर्णतः भूमि के अन्दर अवस्थित मिलती है अथवा अंशतः भूमि के बाहर निकली मिलती हैं । ब्रह्मगिरि में सिस्ट पूर्णतः भूमि के बाहर भी निर्मित मिली है । इस संदर्भ में उत्तराखण्ड भी महत्वपूर्ण है, यहां की कत्यूर घाटी में स्थित अनेक स्थलों और काकड़ीघाट, तथा रामगंगा घाटी के अनेक स्थलों से सिस्ट प्रकाश में आये हैं ।

काकड़ीघाट और कत्यूर क्षेत्र से प्रकाश में आयी सिस्ट भूमि के अन्दर चार समान आकार के प्रस्तर खण्डों को खड़े रखकर और उन्हें ऊपर से एक प्रस्तर खण्ड से ढक कर बनायी गयी है, यहाँ ऐसी कोई सिस्ट प्राप्त नहीं हुई जिसमें छिद्र (पोर्ट होल) निर्मित हो । लद्दूड़ा और रामगंगा घाटी से प्राप्त सिस्टों में भी ‘पोर्ट होल’ नहीं मिलता है । यहां ब्रह्मगिरि से प्राप्त स्लैब-सिस्टों का उल्लेख आवश्यक है जहां सिस्टों में प्रायः पूर्वाभिमुख खड़े प्रस्तर खण्ड के ऊपरी भाग में एक अर्द्धवृत्ताकार अथवा समानान्तर चतुर्भुज की भौति का छिद्र मिलता है, यह छिद्र ढकने के लिए प्रयुक्त प्रस्तर खण्ड के ठीक नीचे होने के कारण ऊपर से तो ढक जाता है लेकिन पार्श्व से खुला रहता है । व्हीलर के अनुसार ये छिद्र संभवतः अस्थि या अन्य सामग्री को अन्दर डालने के लिए बनाये जाते थे । जैसा कि बताया जा चुका है कि अल्मोड़ा जनपद में वर्तमान तक ज्ञात किसी भी सिस्ट में छिद्र का प्रावधान नहीं मिलता है, इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि यहां सिस्ट का निर्माण पूर्ण करने के उपरान्त उसमें अस्थि-अंश या अन्य सामग्री डालने की परम्परा नहीं रही होगी और जो भी सामग्री इनमें प्राप्त होती है वह संभवतः सिस्ट निर्माण के समय ही रखी गयी होगी ।

एम.पी.जोशी कुछ अन्य सिस्टों का उल्लेख करते हैं जो तीन-पाँच या अधिक की पंक्ति में बनायी गयी मिलती हैं , ए.के.शर्मा भी लद्दूड़ा में बहुखण्डीय सिस्टों का उल्लेख करते हैं जो दक्षिणी सिरे में निर्विवाद रूप से खुली हुई मिली हैं, लेकिन महाष्म स्थलों से सामान्यतः एक खण्डीय सिस्ट ही अधिक संख्या में मिली हैं, लद्दूड़ा के उत्खनन से एक अन्य महत्वपूर्ण जानकारी भी मिली है , यहाँ कब्र हेतु निर्मित गर्त के दोनों ओर (पूर्वी और पश्चिमी) दो पोस्ट-होल (गर्त) मिले हैं, शर्मा संभावना व्यक्त करते हैं कि ऐसे ही कम से कम दो पोस्ट-होल सिस्ट के दक्षिण-पश्चिमी और उत्तर-पूर्वी छोर पर भी रहे होंगे, और सिस्ट में दफन की प्रक्रिया और उसे बन्द करने के उपरान्त शवाधान के ऊपर कम से कम चार खड़े प्रस्तरों (प्रत्येक ओर दो) और एक मध्य के स्तंभ द्वारा शंक्वाकार छत्रक बनाया जाता रहा होगा ।

इन सिस्टों के भीतर एम.पी.जोशी ने विभिन्न आकार-प्रकार के बर्तनों जैसे हांडियां, बेसिन, ठूठदार पैरों और बटन हैण्डल वाले कटोरे तथा विशेष रूप से आधार वाले कटोरों का उल्लेख किया है जो कि ज्यादातर चाक निर्मित और लाल या धूसर रंग के हैं । ए.के.शर्मा, लघूड़ा में सिस्ट नम्बर 1 से चाकनिर्मित, भट्टे, अच्छी तरह नहीं पकाये लाल रंग के मृणभाण्ड मिलने का उल्लेख करते हैं जिनमें बाहर की ओर चटाई के निशान और कुछ उदाहरणों में लाल स्लिप मिलती है साथ ही धूसर रंग के मृदभाण्डों एवं सिस्ट नम्बर 2 से अच्छी गुणवत्ता के काले मृणभाण्डों के मिलने का उल्लेख भी शर्मा ने किया है । खरकवाल भी लघूड़ा से 5-6 शवागारों के मिलने की सूचना देते हैं जिनमें विभिन्न प्रकार की हांडियां, नालीदार मुहयुक्त जार, मनके, एक छोटी सी लोहे की पत्ती या छड़ी, कभी-कभी एक हांडी या बड़े आकार के कटोरे के अन्दर दूसरा बर्तन सम्मिलित है, ये सभी लाल व काले रंगों में बने थे, एक शवागार से दो काले मृणपात्र मिले जिनमें एक जारनुमा छोटा गिलास तथा दूसरा एक तीन टांगोंयुक्त कटोरी थी । बी.एम.खण्डूरी और साथी, रामगंगा घाटी में किये गये उत्खनन से विभिन्न आकार-प्रकार और संरचना के कम से कम 80 मृणभाण्डों का उल्लेख करते हैं जो रुक्ष लाल से लेकर चाक निर्मित श्रेष्ठ लाल और धूसर भाण्डों तक मिलते हैं । इन बर्तनों के अलावा सनाना और बसेरी के उत्खनन से कुछ मनके भी मिले हैं जो अगेट या कार्नेलियन के हैं । यहाँ से लोहे की उपस्थिति के प्रमाण दो टूटी हुई पिनें, एक कील और टूटी हुई हँसिया के रूप में मिले हैं वह भी मात्र एक ही सिस्ट में ।

यशोधर मठपाल ने नौला-जैनल के शवागारों से अस्थि-अंश मिलने की बात की है , इस दृष्टि से सनाना और बसेरी में किये गये उत्खनन महत्वपूर्ण हैं । खण्डूरी और साथी, बसेरी से एक 11.3 से.मी. लम्बी जंघास्थि और एक दांत मिलने, सनाना से मानव दाँत; बसेरी से दो खोपड़ियों की हड्डियाँ, जंघास्थि (फीमर), पैर की हड्डी (टिबिया-फिब्यूला), ऊपरी और निचले जबड़े के भाग तथा कुछ अन्य जबड़े, खोपड़ियाँ आदि सुव्यवस्थित ढंग से रखे हुए मिलने की बात करते हैं । उपरोक्त अस्थि-अवशेष अत्यधिक गलित अवस्था में प्राप्त हुए हैं । अस्थि अवशेषों की दृष्टि से गढ़वाल स्थित मलारी भी महत्वपूर्ण है जहाँ से एक पूर्ण हड्डी का ढाँचा प्रकाश में आया है।

सनाना और बसेरी से शव-पात्रों के उदाहरण भी मिले हैं । ये शव-पात्र हाथ से बने हुए और 48 से.मी. से 56 से.मी. व्यास तक के मिले हैं । इनमें से कुछ शव-पात्र कठोर और रुक्ष लाल तथा काली मिट्टी के बने हैं । इन शवाधानों की रक्षा के लिए मानव द्वारा प्रस्तर-दीवार बनाने के चिह्न भी मिले हैं।

2.4.3 दीर्घाश्म (मेनहिर)

दीर्घाश्म से तात्पर्य ऐसे अनगढ़ एकाश्म प्रस्तर खण्ड से है जो सभवतः महाष्म संस्कृति के लोगों द्वारा स्मृति-स्तंभ के रूप में प्रयुक्त किये गये थे, लेकिन दीर्घाश्म को मात्र स्मृति पाषाण- खण्ड मानना भी उचित नहीं है, क्योंकि दक्षिण भारत (केरल) में कुछ स्थलों में दीर्घाश्म के नीचे 'गर्त शवाधान' (पिट बरियल) भी मिले हैं । अतः इतना कहा जा सकता है कि दीर्घाश्म का संबंध महाष्म-मानव के अन्त्येष्टि क्रियाविधानों से अवश्य था । अनेक स्थलों में दीर्घाश्म मिलते हैं । इन दीर्घाश्मों की ऊँचाई प्रायः एक मीटर से पाँच मीटर तक पायी जाती है । एम.पी.जोशी सिमतोला के समीप स्नो-व्यू स्टेट में स्थित मेनहिर और इसके समीपवर्ती कालामाटी के कप-मार्क्स के निरीक्षण का उल्लेख करते हैं, जोशी, जनपद में स्थित इन दीर्घाश्मों के सम्बन्ध में एक अन्य रोचक तथ्य का उल्लेख करते हुए बताते हैं कि अनेक उदाहरणों में इन दीर्घाश्मों में सिन्दूरी रंग पुता है और ये स्थानीय देवता-गोरिल के निकट स्थित मिलते हैं। कार्नाक ने भी पाण्डुखोली और

सोमेश्वर में दीर्घाश्म देखे जाने का उल्लेख किया है। मठपाल, अल्मोड़ा के नौगाँव, नौला, जोयों (रानीखेत—मासी मार्ग पर) गाँव के समीप सिमलखेत के जंगल, मुनिया की ढाई आदि स्थलों से दीर्घाश्मों के प्रकाश में आने की सूचना देते हैं, मठपाल के अनुसार इनमें से मुनिया की ढाई में स्थित दीर्घाश्म वर्तमान में 1.81 मीटर लम्बा और 42 से.मी. चौड़ा है इसमें एक ही आकार और गहराई (16 से.मी.) के सात ऊखल (कप—मार्क्स) क्रमशः खुदे हैं, आठवाँ आधा दिखाई देता है। जोयों के पास वाले दो दीर्घाश्मों में से एक में 11 समान कप—मार्क्स (15 से.मी. चौड़ा और 13 सेमी गहरा) तथा दूसरे दीर्घाश्म में 22 कप—मार्क्स हैं जिनमें हर दक्षिणवर्ती ऊखल अपने उत्तरवर्ती से उथला और कम चौड़ा है। उपरोक्त दीर्घाश्मों के अतिरिक्त भी विभिन्न स्थानों, जंगलों आदि में ऐसे दीर्घाश्म देखे जा सकते हैं जो महाष्म संस्कृति से सम्बन्धित हैं, अनेक स्थलों में तो गाँव वाले इन दीर्घाश्मों की विभिन्न नामों से पूजा करते हुए भी मिलते हैं, यथा — डीनापानी स्थित दीर्घाश्म को स्थानीय गाँव वाले पड़ियादेव के रूप में पूजते हैं।

स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. उत्तराखण्ड में महाष्म संस्कृति से संबंधित दो स्थलों के नाम लिखिए।
2. नौला—जैनल गांव के शवागारों से प्राप्त सामग्री का उल्लेख कीजिए।
3. लघूड़ा में बहुखण्डीय सिस्टों की क्या प्रमुख विशेषता है।
4. दीर्घाश्म से आप क्या समझते हैं, अग्रांकित लाइनों में अपना उत्तर लिखिए—

2.5 कप—मार्क्स एवं अन्य उत्कीर्णन

महाष्म संस्कृति से सम्बन्धित एक महत्वपूर्ण साक्ष्य, उत्कीर्णन—कला के विविध उदाहरण हैं जो विभिन्न प्रकार के धंसावों (कप—मार्क्स), सर्पिल आकृतियों तथा अनेक प्रकार की सकेन्द्रित ज्यामितीय आलेखनों के रूप में मिलते हैं। महाष्म—शिलाओं में मानव निर्मित ऐसे अनेक धंसाव या गर्त मिले हैं, जिन्हें पुराविदों ने महाष्म संस्कृति से सम्बन्धित माना है। इन धंसावों (कप—मार्क्स) का सर्वप्रथम उल्लेख कार्नाक ने 1877 ई. में किया था, उसने द्वाराहाट, चण्डेश्वर, पाण्डुखोली, सोमेश्वर आदि स्थलों में इनके देखे जाने का उल्लेख किया था। कार्नाक के बाद से आज तक अल्मोड़ा जनपद के जसकोट, सिमल्टी, ल्वेथाप, फलसीमा, कपड़खान, चूरीकोट, ड्योलीडांडा, कालामाटी जैसे अनेक स्थलों से महाष्म मानव द्वारा निर्मित कप—मार्क्स प्रकाश में आ चुके हैं।

एम.पी.जोशी ने कुमाऊँ में प्राप्त महाष्मकालीन ऐसे धंसावों को 7 प्रकारों में विभाजित किया गया है। इस वर्गीकरण के अनुसार इनका उल्लेख यथावत है — (1) बिन्दु सदृश धंसाव, इनकी गहराई और व्यास लगभग 0—5 सेमी. है, (2) छोटे छिद्र सदृश धंसाव जिनका व्यास लगभग 2 सेमी. से 8 सेमी. तक तथा गहराई 1 सेमी. से 10 सेमी. तक मिलती है, (3) सामान्य प्रकार के कप—मार्क्स जिनका व्यास 9 सेमी. से 27

सेमी. तथा गहराई 13 सेमी. से 55 सेमी. तक मिलती है, (4) आयताकार धंसाव जिनकी भुजाएँ 5 सेमी. से 10 सेमी. तक तथा गहराई 2 सेमी. से 10 सेमी. तक मिलती है, (5) सर्पाकार धंसाव जो केवल अल्मोड़ा के समीप स्थित ड्योलीडान में मिले हैं । (6) सिमल्टी ग्राम, अल्मोड़ा से प्राप्त इकलौता उदाहरण जिसमें बिल्ली/व्याघ्र भाँति के जानवर का उत्कीर्णन मिलता है, तथा (7) नाशपाती के प्रकार के गर्त जिनका व्यास और गहराई 1.20 मीटर से 2.00 मीटर तक मिलती है ।

इन धंसावों या कप-माक्स का क्या प्रयोजन था, इस विषय में आधिकारिक रूप से कुछ भी कहना संभव नहीं है । जनपद में जो नाशपाती के आकार के बड़े गर्त मिले हैं, उन्हें बुर्जहोम से प्राप्त ठीक इसी प्रकार के धंसावों के साथ समीकृत करें तो पता चलता है कि बुर्जहोम में इन धंसावों का प्रयोग मानव, आवास के लिए करता था, अतः जनपद अल्मोड़ा में प्राप्त ऐसे धंसावों को भी महाभ्रमकालीन मानव का निवास-स्थान माना जा सकता है; जोशी भी इस प्रकार के धंसावों को आवास सम्बन्धी गर्त बतलाते हैं। जोशी ने अपने वर्गीकरण में से प्रकार 1,2,4,5 और 6 को महाभ्रम मानव के किसी प्रकार के कर्मकाण्डीय प्रयोजन हेतु प्रयुक्त और प्रकार 3 को महाभ्रम मानव की अन्त्येष्टि क्रिया से सम्बद्ध किया है।

अल्मोड़ा जनपद में इन कप-माक्सों के साथ ही विभिन्न आलेखन उत्कीर्ण मिलते हैं । कानार्क ने चण्डेश्वर में लहरदार रेखा के मध्य पत्ती सदृश अभिप्राय उत्कीर्ण होने का उल्लेख किया है ;एम.पी. जोशी, सिमल्टी के समीप एक शिलाखण्ड के ऊपर बिन्दु सदृश धंसावों के साथ बिल्ली/व्याघ्र का उत्कीर्णन होने ;सिमल्टी में ही टेड़ी-मेड़ी, लहरदार, त्रिभुजाकार अथवा एक-दूसरे को काटती हुई धंसी रेखाओं जिनके साथ गोलाकार धंसाव है का उल्लेख करते हैं । मठपाल, बग्वाली पोखर में मानव-पदचिह्न का अंकन, कपड़खान से 7 कि. मी. आगे पतनिया नैल के जंगल में स्थित 12 कप-माक्सयुक्त चट्टान में बैल और सकेन्द्रित वर्ग का आलेखन, पोखरी से 3 किमी. की दूरी पर देवलीधार में एक शिलाखण्ड में उकेरे गये दो बालकों का उल्लेख करते हैं ।

उपरोक्त पुरातात्विक साक्ष्यों के आधार पर मध्य हिमालय में भी महाभ्रम कालीन संस्कृति के विद्यमान होने की पुष्टि होती है । इस संस्कृति के फैलाव के सम्बन्ध में एम.पी. जोशी द्वारा किया गया अन्वेषण द्रष्टव्य है ,जोशी के अनुसार कुमाऊँ में दीर्घाश्म तथा धंसाव सामान्यतः पथरीली सतहों और पहाड़ी ढलानों में मिलते हैं जबकि सिस्ट एवं शवागार घाटियों के साथ-साथ मिलते हैं । जोशी ने अपने अन्वेषण द्वारा यह संभावना व्यक्त की है कि अपनी भौगोलिक स्थिति के अनुसार दीर्घाश्मों और कप-माक्सों के निर्माता, आखेटक-संग्रहणकर्ता थे और महाभ्रम संस्कृति के प्रारम्भिक चरण से सम्बन्धित थे जबकि सिस्ट और शवागारों के निर्माता अपनी भौगोलिक स्थिति के अनुसार कृषक थे और संस्कृति के बाद के चरण के प्रतिनिधि थे ।

2.6 महाभ्रम संस्कृति के निर्माता

मध्य हिमालय में महाभ्रम-निर्माताओं के बारे में ज्ञान प्राप्त करने के लिए हम भारत के अन्य स्थलों में की गयी शोधों पर ही मुख्यतः आश्रित हैं ।

भारत में महाभ्रम संस्कृति के निर्माताओं के सम्बन्ध में व्यापक विवाद है । हैमनडॉर्फ ने पूर्वी भारत के महाभ्रमों को दक्षिण-पूर्वी एशिया से सम्बन्धित किया है और यह मत प्रतिपादित किया है कि ऑस्ट्रेनेशियन भाषा-भाषी लोग इस संस्कृति से सम्बन्धित थे, हैमनडॉर्फ ने दक्षिण भारत के लौह युगीन महाभ्रम निर्माताओं

को द्रविड़ भाषा बोलने वालों के रूप में भी पहचाना है। महाष्म निर्माताओं को जानने के लिए इस संस्कृति के अस्थि-अवशेषों के अध्ययन का प्रयास भी किया गया है। इस सम्बन्ध में मीडोज टेलर ने शोलापुर से प्राप्त महाष्म अस्थि अवशेषों का अध्ययन कर यह निष्कर्ष निकाला कि ये समसामयिक समाज के किसी भी वर्ग से सम्बन्धित नहीं हैं। जूकरमैन ने आदिचनाल्लूर से प्राप्त एक मानव खोपड़ी को आस्ट्रेलॉयड भाँति से सम्बन्धित किया है जिसमें कुछ द्रविड़ खोपड़ी की विशेषताओं से भी समानता मिलती है, जूकरमैन ने एक अन्य खोपड़ी को भूमध्यसागरीय माना है जो पूर्णतः द्रविड़ विशेषता है। सरकार ने ब्रह्मगिरि तथा गुप्ता एवं दत्ता ने येलेश्वरम से प्राप्त अस्थि-अवशेषों का अध्ययन कर यह निष्कर्ष निकाला कि महाष्म संस्कृति का मानव, आस्ट्रेलॉयड प्रकार का आदिमानव था जिसमें मेसो-ब्रेकीक्रेनिक प्रकार (जिसमें खोपड़ी की चौड़ाई उसकी लम्बाई की कम से कम 4/5 होती है) की कुछ वैसी ही समानताएँ मिलती हैं जैसी कि टेपे हिसार या नेक्रोपोलिस बी-सिआल्क 6 में प्राप्त सीथो-ईरानी जातीय समुदाय के मानव अवशेषों में मिली हैं। सरकार का यह भी मानना है कि ब्रह्मगिरि के महाष्म अवशेषों में चौड़े सर वाले लोगों की उपस्थिति वहाँ नवीन संस्कृति-वाहकों के आकस्मिक आक्रमण और वहाँ के लम्बे सर वाले अधिवाहकों (डोलिकोक्रेनिक) को उखाड़ फेंकने की सूचना भी देती है। कुछ अन्य विद्वान जिनमें एलचिन-द्वय भी शामिल हैं, यह मानते हैं कि भारत में अधिकांश प्रायद्वीपीय शवागार, बलूचिस्तान, ईरान, कॉकेशस और मध्य एशिया में पाये गये शवाधानों से साम्यता रखते हैं, एलचिन-द्वय महाष्म मानव को हिन्द यूरोपीय भाषी आब्रजक मानते हैं।

इस सम्बन्ध में केनेडी के अध्ययन के निष्कर्ष उपरोक्त विद्वानों के निष्कर्षों से पर्याप्त भिन्न हैं केनेडी प्रायद्वीपीय भारत के महाष्म स्थलों से प्राप्त खोपड़ियों के आकार में अत्यधिक उच्च स्तर पर परिवर्तन पाते हैं और बताते हैं कि यहाँ के अवशेषों में चौड़े सर वाले लोगों (ब्रेकीसेफोलिक) के कोई साक्ष्य नहीं मिलते हैं जिन्होंने स्थानीय लम्बे सर वाले लोगों (डोलिकोसेफेली) को प्रभावित किया हो, ना ही यहाँ किसी एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में पलायन के कोई प्रमाण मिलते हैं, इसके विपरीत केनेडी का मानना है कि महाष्म सांस्कृतिक संवृद्धि एक क्रमिक विकास था ना कि वह एकाएक प्रकट हुई थी।

महाष्म संस्कृति के निर्माताओं के संबंध में परस्पर विरोधी विचारों के कारण वर्तमान ज्ञान के प्रकाश में निश्चित रूप से कहना अभी संभव नहीं है। प्रतीत होता है कि प्रथम सहस्राब्दी ईस्वी पूर्व के आरंभ में प्रायद्वीपीय भारत से महाष्म कालीन लोगों ने भारत के विभिन्न क्षेत्रों की ओर अग्रसर होना प्रारंभ किया और कालान्तर में ये उत्तरांचल में भी प्रविष्ट हुए और अपनी सांस्कृतिक धरोहर के रूप में उन अवशेषों को हमारे लिए छोड़ गये जिन्हें हम महाष्म कालीन अवशेष के रूप में जानते हैं। यह तो निश्चित है कि महाष्म मानव घुमन्तु था लेकिन हम यह नहीं कह सकते हैं कि वह भारत के बाहर से ही आया था, संभव है दक्षिण-भारत के महाष्म मानव ने ही भारत के विभिन्न स्थलों में अपने स्मारकों का निर्माण किया हो और विभिन्न स्थलों में इनके स्मारकों में जो अन्तर दिखाई देते हैं वे विभिन्न भौगोलिक परिस्थितियों, विभिन्न क्षेत्रों के स्थानीय जनो के साथ सांस्कृतिक तथा अन्य संबंधों और क्षेत्र विशेष के धार्मिक कृत्यों के प्रभाव स्वरूप उत्पन्न माने जा सकते हैं। संभवतः जोशी द्वारा उल्लिखित 'टाँक जनजाति' और 'मूल्या जनजाति' महाष्म कालीन मानव की वंशज हों जो अपने पूर्वजों की भाँति ही घुमन्तु हों क्योंकि जोशी के कथनानुसार ये जनजातियाँ अपना स्थान छोड़कर कहीं और पलायन कर चुकी हैं। इस संदर्भ में एम.पी. जोशी द्वारा बग्वाली पोखर में किया गया हाल का उत्खनन भी महत्वपूर्ण है, उत्खनन से पता चल रहा है कि ये स्थानीय संस्कृति थी, डॉ. जोशी ने इसका नाम 'बग्वाली पोखर-धनखल संस्कृति' सुझाया है, इसका विस्तृत उत्खनन अवश्य ही महाष्म-मानव के विषय में अधिक स्पष्ट जानकारी प्रदान कर सकेगा।

स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. कप मार्क्स के संबंध में आपकी क्या जानकारी है।
2. महाभू संस्कृति के निर्माताओं से संबंधित विचारों को बतलाइये ।

2.7 सार संक्षेप

प्रथम सहस्राब्दी में प्रायद्वीपीय भारत में एक विशिष्ट संस्कृति पल्लवित हुयी थी, इस संस्कृति के लोगों ने हमारे लिए केवल अपने मृतक संस्कार परंपरा से संबंधित अवशेष छोड़े हैं, जो समाधियों के विभिन्न प्रकारों के रूप में हैं। इन समाधियों के निर्माण में विशाल प्रस्तर खण्डों का प्रयोग करने के कारण इस संस्कृति को पुराविदों ने महाभू संस्कृति के नाम से पुकारा है। इस संस्कृति के निर्माताओं के संबंध में पुराविदों ने अनेक मत दिये हैं लेकिन वर्तमान तक कोई सर्वमान्य निर्णय नहीं हो पाया है। उत्तराखण्ड में भी महाभू संस्कृति विद्यमान रही थी और यहां भी महाभू मानव ने अपनी संस्कृति से संबंधित अवशेष छोड़े हैं। डॉ. जोशी के अनुसार, यहां दीर्घाश्म तथा धंसाव सामान्यतः पथरीली सतहों और पहाड़ी ढलानों में मिलते हैं जबकि सिस्ट एवं शवागार घाटियों के साथ-साथ मिलते हैं। इस संस्कृति के बारे में अधिकाधिक जानकारी प्राप्त करने का स्थानीय पुराविद प्रयास कर रहे हैं।

2.8 तकनीकी शब्दावली

शवागार : कब्र

कैपस्टोन: ढकने के लिए प्रयुक्त किया गया पत्थर का खण्ड

पोर्टहोल: छिद्र

अंत्येष्टि क्रिया: मृत्यु के बाद शव के विसर्जन हेतु की जाने वाली क्रिया

महाशिला:विशालकाय प्रस्तर खण्ड

बहुखण्डीय : अनेक कक्ष वाला

स्मारक : यादगार के लिए बनाया गया

2.9 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

इकाई 2.3 के उत्तर

प्रश्न 1 के लिए देखिए 2.3.2 ,2.3.3

प्रश्न 2 के लिए देखिए 2.3.2

प्रश्न 3 के लिए देखिए 2.3.1,2.4.2

इकाई 2.4 के उत्तर

प्रश्न 1 के लिए देखिए 2.4.1, 2.4.2, 2.4.3

प्रश्न 2 के लिए देखिए 2.4.1

प्रश्न 3 के लिए देखिए 2.4.2

प्रश्न 4 के लिए देखिए 2.4.3

इकाई 2.6 के उत्तर

प्रश्न 1 के लिए देखिए 2.5

प्रश्न 2 के लिए देखिए 2.6

2.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

जोशी एम. पी. 1998 : 'प्रागैतिहासिक मध्यहिमालय', 'मानव', ऐथनोग्राफिक एण्ड फोक कल्चर सोसाइटी, लखनऊ, वर्ष 26, अंक 1-2, जनवरी-जून, 1998 पृ.-69-92

मठपाल, यशोधर, 1987 : उत्तराखण्ड में संस्कृति की प्रागैतिहासिक पृष्ठभूमि, उत्तराखण्ड-1: 1-8
उत्तराखण्ड शोध संस्थान, सम्पा. प्रमोद जोशी, पंतनगर ।

Carnac, H. Rivett, 1877 : Rough Notes on some Ancient Sculpturings on rocks in Kumaon Similar to those found on Monoliths and Rocks in Europe, Journal of the Asiatic Society of Bengal, XLVI (1) : 1-15.

Henwood, W.J. 1856 : Notice of the Rock-Basins at Deodhoora near Almorah in Upper Indica, Edinburgh New Philosophical Journal New Series, IV : 204-6.

Joshi, M.P. 1987 : Dots, Cup-marks and pits, vis-a-vis the megaliths, now evidences from kumaon, Puratattawa, 16:25-28.

Joshi, M.P. 1988 : Early burial practices in Kumaon: some recent discoveries. Bulletin of Museums and Archaeology in U.P., 41-42: 23-30.

Khanduri, B.M.; K.P. Nautiyal; Vinod Nautiyal ; R.C. Bhatt; Pradeep Saklani & Y.S. Farswan, 1998-99 : Excavation of Burial Complexes in Ramganga Valley, Kumaon Himalaya, Puratattva No. 29:68-74.

Sharma, A.K. 1990-91 : Excavation at Ladyura, Almora, U.P. Puratattva No. -21:77-79

2.11 सहायक/उपयोगी पाठ्यसामग्री

Joshi, M.P. 1987 : Dots, Cup-marks and pits, vis-a-vis the megaliths, now evidences from kumaon, Puratattawa, 16:25-28.

Joshi, M.P. 1988 : Early burial practices in Kumaon: some recent discoveries. Bulletin of Museums and Archaeology in U.P., 41-42: 23-30.

Khanduri, B.M.; K.P. Nautiyal; Vinod Nautiyal ; R.C. Bhatt; Pradeep Saklani & Y.S. Farswan, 1998-99 : Excavation of Burial Complexes in Ramganga Valley, Kumaon Himalaya, Puratattva No. 29:68-74.

2.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. दक्षिण भारत तथा उत्तराखण्ड की महाभूमि सभ्यताओं का तुलनात्मक अध्ययन कीजिये ।

उत्तराखण्ड और पौराणिक आख्यान

- 4.1 प्रस्तावना
- 4.2 उद्देश्य
- 4.3 उत्तराखण्ड और पौराणिक आख्यान –अध्ययन के स्रोत
 - 4.3.1 महाभारत और पुराण
 - 4.3.2 क्षेत्रीय पौराणिक साहित्य
- 4.4 भौगोलिक स्थिति
 - 4.4.1 उत्तराखण्ड की पर्वत श्रृंखलाएँ
 - 4.4.2 नदियाँ
 - 4.4.3 सरोवर और कुण्ड
 - 4.4.4 वन
 - 4.4.5 यात्रा मार्ग
- 4.5 राजनीतिक स्थिति
 - 4.5.1 उशीनर
 - 4.5.2 कुलिन्द
 - 4.5.3 कालकूट
 - 4.5.4 यामुन
 - 4.5.5 भारद्वाज और आत्रेय
 - 4.5.6 तंगण
- 4.6 सामाजिक पक्ष –निवासी
 - 4.6.1 कोल
 - 4.6.2 किरात
 - 4.6.3 खश
 - 4.6.4 तंगण
- 4.7 सांस्कृतिक पक्ष–प्रमुख तीर्थ एवं धार्मिक स्थल
 - 4.7.1 बदरीनाथ
 - 4.7.2 केदारनाथ
 - 4.7.3 गंगाद्वार (हरिद्वार)
 - 4.7.4 कनखल
 - 4.7.5 कर्णप्रयाग
 - 4.7.6 देवप्रयाग
 - 4.7.7 गणेशतीर्थ (टिहरी)
 - 4.7.8 जागेश्वर

- 4.7.9 बागीश्वर
- 4.7.10 वैद्यनाथ
- 4.7.11 भद्रवट
- 4.8 सारांश
- 4.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 4.10 सहायक संदर्भ ग्रंथ
- 4.11 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 4.12 निबंधात्मक प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

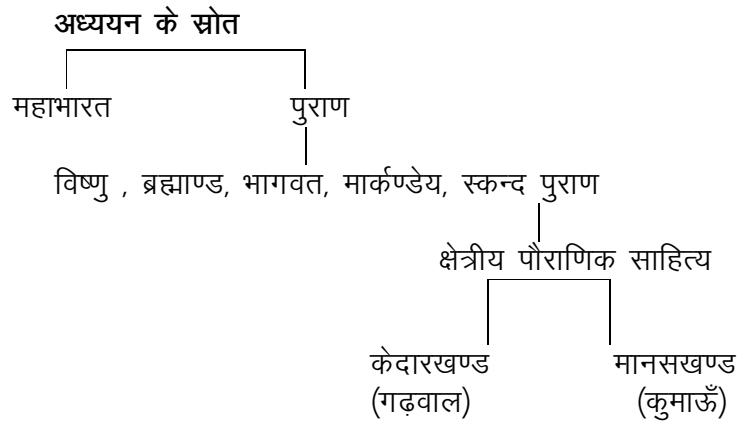
किसी भी क्षेत्र विशेष के अतीत के संदर्भ में प्रामाणिक जानकारी प्राप्त करने के लिए पुरातात्विक तथा साहित्यिक स्रोतों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। जहाँ तक पौराणिक आख्यानों का प्रश्न है, उनमें वर्णित कुछ तथ्यों की पुष्टि अन्य स्रोतों के माध्यम से हो सकती है। आख्यानों का अध्ययन करते समय आपके सामने अनेक कठिनाइयाँ आती हैं, जैसे घटनाओं के वर्णन में कालक्रम का ध्यान न रखा जाना, अनेक व्यक्तियों के लिए उनके व्यक्तिवाचक नाम के स्थान पर केवल गोत्र या परिवार का नाम, घटना के वर्णनों में संबन्धित क्षेत्र के भौगोलिक वर्णनों का अभाव आदि। इनमें ऐतिहासिक तथ्यों के साथ-साथ कल्पना का भी मिश्रण है, अतः इस विषय के अध्येता के रूप में आप समझ सकते हैं कि आपको इन स्रोतों में वर्णित काल्पनिक घटनाओं /विवरणों के बीच ऐतिहासिक तथ्यों का अवलोकन करना है और एक वस्तुनिष्ठ विवरण को सामने लाना है, जो कि एक अत्यंत दुरुह कार्य है।

4.2 उद्देश्य

- इस इकाई में आप पौराणिक आख्यानों में वर्णित उत्तराखण्ड के स्वरूप का अध्ययन करेंगे।
- आख्यानों में आपको संबन्धित युग के राज्यों, राजवंशों, भौगोलिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिकस्थिति की एक झलक मिलेगी।
- इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इन वर्णनों से प्रमुख ऐतिहासिक तथ्यों की छानबीन करके अन्य स्रोतों से उसका साम्य स्थापित करते हुए उसके एक सुस्पष्ट ऐतिहासिक स्वरूप का अध्ययन करने में भी सक्षम होंगे।
- इन आख्यानों में अधिकतर महात्म्य वर्णन हैं। उनमें से ऐतिहासिक उपयोग की सामग्री को संकलित कर तथ्यपरक रूप में प्रस्तुत करना ही इस अध्ययन का उद्देश्य है।

4.3 उत्तराखण्ड और पौराणिक आख्यान –अध्ययन के स्रोत

इस भाग में आप उन विभिन्न स्रोतों से परिचित होंगे, जो आपकी पाठ्य सामग्री के लिए उपयोगी और आपके समक्ष पौराणिक आख्यानों में वर्णित उत्तराखण्ड का स्वरूप स्पष्ट करने में सहायक होंगे।



4.3.1 महाभारत और पुराण

महाभारत और पुराणों में उत्तराखण्ड से संबंधित अनेक सूचनाएँ मिलती हैं। डबराल के अनुसार "इनसे संबंधित अंशों को विक्रम पूर्व छठी-सातवीं शताब्दी से लेकर विक्रम की तीसरी शताब्दी तक की रचना माना जा सकता है। इनमें पौराणिक साहित्य के अन्तर्गत उत्तराखण्ड का वर्णन मुख्यतः गंगा-यमुना के तटवर्ती तीर्थों में तपस्या करने वाले ऋषि मुनियों आदि की गाथाओं में तथा गंगा-यमुना के अवतरण, सती दाह, काम दहन, पार्वती विवाह, गणेश और कार्तिकेय की उत्पत्ति, देवी महात्म्य आदि के रूप में मिलता है। पर इनके साथ-साथ कुछ नदियों, तीर्थों, पर्वतों आदि के उल्लेख भी हैं, जो आपको भौगोलिक जानकारी से भी अवगत कराते हैं और जिनकी पुष्टि अन्य स्रोतों के माध्यम से हो जाती है। इनके अलावा कुछ व्यक्तियों, राजाओं, राजवंशों, राज्यों, आश्रमों के भी उल्लेख हैं। महाभारत और पुराणों में उल्लिखित अनेक व्यक्तियों के नाम वैदिक साहित्य में मिल जाते हैं यथा, उत्तराखण्ड के निवासी कण्व, शकुन्तला, दुष्यन्त पुत्र भरत, कुलिन्द नरेश सुबाहु आदि को ऐतिहासिक व्यक्ति माना जा सकता है। वैदिक साहित्य से बहुत बाद का होने पर भी पौराणिक साहित्य उत्तराखण्ड संबंधी सूचनाओं के संकलन की दृष्टि से अत्यंत उपयोगी है।" मजूमदार तथा पुसलकर (वैदिक एज) मानते हैं कि पहले पुराणों को सर्वथा कल्पनाओं पर आधारित माना जाता था, किन्तु उनमें वर्णित अनेक ऐतिहासिक सूचनाओं की पुष्टि अन्य स्रोतों से भी हो जाने के कारण अब उनकी प्रामाणिकता पर विश्वास बढ़ता जा रहा है। पुराणों के भौगोलिक वर्णनों के अन्तर्गत विष्णुपुराण में अलकनंदा, कुमुद्वती, गंगा आदि नदियों तथा गंधमादन, सुमेरु, हेमकूट, कैलास, द्रोण, क्रौंच, मंदराचल आदि पर्वतों; ब्रह्माण्ड पुराण में अलकनन्दा व गंगा; वराह पुराण में बदरी तथा हृषीकेश; पद्म पुराण में बदरी और गंधमादन; मत्स्य पुराण में बिन्दु सरोवर और गंगोत्री; हरिवंश पुराण में गंधमादन और कूर्मपुराण में हेमवत, मेरु और कनखल का उल्लेख हुआ है। इसके अतिरिक्त लिंग पुराण, कालिका पुराण, मार्कण्डेय पुराण तथा भागवत पुराण में भी इस अंचल से संबंधित जानकारी मिलती है।

महाभारत उत्तराखण्ड से संबंधित सूचनाओं के लिए एक महत्वपूर्ण स्रोत है। शान्तिपर्व में ("उत्तरे हिमवतपार्श्वे पुण्ये सर्वगुणान्विते। पुण्यःक्षेम्यश्चकाम्यश्चपरोलोकः स उच्यते 192/8) उत्तराखण्ड को सर्वगुणों से सम्पन्न क्षेत्र मानते हुए उसे परलोक की संज्ञा दी गई है। वनपर्व में इस क्षेत्र के अनेक स्थानों और भौगोलिक स्थितियों का वर्णन मिलता है। इनमें हिमवत (140/25), श्वेतगिरि और

मंदराचल (139/5), हेमकूट (139/11), कैलास, उशीरबीज, मैनाक तथा कालशैल (139/11), गंधमादन (140/22) आदि अनेक पर्वत, गंगा, यमुना, भागीरथी, मंदाकिनी, जला-उपजला आदि नदियाँ (वही क्रमशः 85/96, 90/3, 81/13, 85/58, 130/21), कनखल, गंगाद्वार, शक्रावर्त, कुब्जाम्रक, बदरीनाथ आदि तीर्थ (वही क्रमशः 84/30, 84/27, 84/29, 84/33) तथा बदरीनाथ में स्थित ठंडे एवं गर्म जल के कुण्ड प्रमुख हैं (90/26)। महाभारत के रचनाकार न केवल उत्तराखण्ड के तीर्थों एवं प्राकृतिक स्थितियों से परिचित थे अपितु यहाँ के कुलिन्द, तंगण, परतंगण, किरात आदि जातियों की भी उन्हें पूर्ण जानकारी थी (वनपर्व 139/25 तथा सभापर्व 28/8 एवं 52/3)। नदियों की रेत से निकाले जाने वाले 'पिपीलिका स्वर्ण' नाम से प्रसिद्ध सोने का भी महाभारत में उल्लेख है (सभापर्व 42/4)। उशीनर, कुलिन्द, यामुन और तंगण जैसे तत्कालीन प्रमुख जनपदों के भी विवरण हैं।

4.3.2 क्षेत्रीय पौराणिक साहित्य

उत्तराखण्ड के विभिन्न पर्वत शिखरों, नदियों, तीर्थों और थोड़ा सा भी धार्मिक महत्व रखने वाले स्थलों में से प्रत्येक के महात्म्य से परिपूर्ण केदारखण्ड और मानसखण्ड नामक दो परवर्ती पौराणिक ग्रन्थ हैं, जिन्हें स्कन्दपुराण का अंश कहा गया है। केदारखण्ड में गढ़वाल क्षेत्र के लगभग सौ पर्वतों, एक सौ छः तीर्थों, कुछ प्रमुख कुण्डों और बावड़ियों तथा मानसखण्ड में कुमाऊँ के एक सौ पचास पर्वतों, लगभग तीन सौ पन्द्रह नदियों और छोटी-छोटी जलधाराओं, दो सौ अट्ठासी तीर्थों, सत्तर सरोवरों और कुछ गुफाओं तथा वनों के महात्म्य का वर्णन है। लगभग प्रत्येक शिखर पर विद्यमान स्थान विशेषों का महत्व देवता तथा तीर्थ से संबद्ध कर वर्णित किया गया है।

अभ्यास प्रश्न

1. निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए

(क) विषय से संबन्धित प्रमुख स्रोतों के नाम लिखिए।

(ख) उत्तराखण्ड के अध्ययन में सहायक स्कन्द पुराण के दो अंश कौन से हैं?

2. नीचे लिखे प्रश्नों के उत्तर दीजिए

(क) महाभारत से आपको विषय के संबन्ध में क्या जानकारी मिलती है?

(ख) क्षेत्रीय पौराणिक साहित्य के बारे में बताइए।

4.4 भौगोलिक स्थिति

किसी भी क्षेत्र विशेष के इतिहास को उसके भूगोल से अलग करके नहीं देखा जा सकता। उत्तराखण्ड को समझने के लिए भी उसके भूगोल को जानना अत्यंत आवश्यक है। यहाँ आप पौराणिक आख्यानों में वर्णित हिमालय के इस भाग की भौगोलिक स्थिति से परिचित होंगे। पुराणों के भुवनकोश खण्ड में भारत के पाँच भागों—मध्यदेश, उदीच्य या उत्तरापथ, प्राच्य, दक्षिणापथ और अपरान्त का उल्लेख हुआ है (एस.एम. अली, ज्योग्रैफी ऑफ पुराणाज)। इनमें उत्तरापथ के उत्तर मध्य भाग में पश्चिम में टौंस नदी से लेकर पूर्व में काली नदी तक तथा उत्तर में हिमालय की पर्वत श्रृंखलाओं से दक्षिण में भाबर और तराई तक विस्तृत मध्य हिमालयी क्षेत्र के दो उपविभागों—गढ़वाल और कुमाऊँ को पुराणों में केदारखण्ड और मानसखण्ड कहा गया है। इनमें केदारखण्ड की सीमा नन्दा पर्वत से लेकर काष्ठगिरि तक (केदारखण्ड 101/30) या पूर्व में बौद्धाचल से लेकर

पश्चिम में तमसा (टौंस नदी) तक और दक्षिण में गंगाद्वार (हरिद्वार) से लेकर उत्तर में श्वेत पर्वत तक बताई गई है (वही 40/28)। केदारखण्ड के पूर्व में नन्दा पर्वत से लेकर काक पर्वत तक विस्तृत भू-भाग को मानसखण्ड नाम दिया गया है (मानसखण्ड 21/4)।

4.4.1 उत्तराखण्ड की पर्वत श्रृंखलाएँ

महाभारत (सभापर्व 27/3) में हिमालय की श्रृंखलाओं को तीन भागों— अन्तर्गिरि (उच्च हिमालय), बहिर्गिरि (लघु हिमालय) और उपगिरि (शिवालिक) में विभक्त किया गया है। मार्कण्डेय पुराण में हिमालय को मेरु पर्वत के दक्षिण में स्थित एक समुद्र से दूसरे समुद्र तक धनुष की प्रत्यंचा के समान फैला हुआ बताया गया है (54/23 तथा 24)। केदारखण्ड में इसे गिरिराज की संज्ञा देते हुए एक सुरम्य पर्वत के रूप में वर्णित किया गया है (51/17 तथा 90/17)। महाभारत में पाण्डवों की तीर्थयात्रा के संदर्भ में कनखल की पर्वतमालाओं का उल्लेख मिलता है, जिनकी तलहटी से होकर गंगा नदी बहती थी (वन पर्व 135/5)। हरद्वार के समीप गंगा के पूर्वी तट पर चण्डीघाट होकर लक्ष्मणझूला की ओर की शिवालिक श्रृंखला को महाभारत उशीरबीज के रूप में अंकित करता है। कथासरित्सागर में यह कनखल और गंगाद्वार के समीप उशीरगिरि के रूप में उल्लिखित है। शिवालिक के इसी भाग से गंगा मैदान में प्रवेश करती है। महाभारत उशीरबीज, मैनाक, श्वेतगिरि और कालशैल का उल्लेख एक ही क्रम में करता है। केदारखण्ड मैनाक को हिमालय का पुत्र बताता है (32/16)। इनमें श्वेतगिरि और मैनाक पर्वत निश्चित रूप से उत्तराखण्ड महाहिमालय के पर्वत शिखर हैं, जबकि उशीरबीज और कालशैल या कालकूट या वर्तमान कालसी शिवालिक पर्वत श्रृंखला में हैं। इससे ज्ञात होता है कि महाभारतकार ने उत्तराखण्ड के भूगोल का ध्यान रखे बिना पर्वत श्रृंखलाओं का उल्लेख कर दिया है।

प्रायः महाभारत, पुराणों तथा अन्य अनेक प्राचीन ग्रन्थों में कैलास और गंधमादन पर्वतों की महिमा का वर्णन मिलता है। पार्जितर ने मार्कण्डेय पुराण की भूमिका में लिखा है कि कैलास पर्वत हिमालय के मध्य भाग के उत्तर में स्थित है। महाभारत के अनुसार छः योजन ऊँचा (वन पर्व 139/11) यह पर्वत ऊँचे-नीचे दुर्गम प्रदेश से युक्त था (वन पर्व 140/12)। मत्स्य पुराण इसे हिमालय पर्वत का ही एक भाग बताता है (12/2), जबकि मार्कण्डेयपुराण एक पृथक् पर्वत के रूप में उल्लेख करता है। (विमलचरण लाहा, प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल)। हिमालय की एक पर्वत श्रृंखला गंधमादन (संभवतः माणा पर्वत) को महाभारत में अप्सराओं की प्रिय भूमि, किन्नरों की क्रीड़ा स्थली तथा ऋषियों, सिद्धों एवं देवताओं का निवास बताया गया है (वनपर्व 139/6)। यहाँ तेज आँधी के साथ वर्षा होती थी (वनपर्व 143/7)। कालिदास ने भी इस पर्वत का वर्णन करते हुए कैलास को उसकी एक शाखा कहा है (विक्रमोर्वशीयम्, अंक 4)। हिमालय पर्वत की ही एक श्रृंखला हेमकूट को केदारखण्ड में धर्मकूट कहा गया है (100/9.10)। केदारखण्ड और मानसखण्ड में कुछ अन्य पर्वतों का भी उल्लेख मिलता है, जिनमें केदारखण्ड के अंतर्गत बौद्धाचल (बधाण पर्वत), नन्दागिरि (नन्दा देवी), गंधमादन (माणा पर्वत), नर-नारायण (बदरीनाथ के समीप इसी नाम से), बिल्व (हरद्वार के समीप बिल्वकेश्वर), महिषखण्ड (मैखण्डा), स्फटिक (खतलिंग ग्लेशियर के ऊपर स्फटिक पर्वत), वानराचल (बंदरपूँछ) तथा मानसखण्ड के अंतर्गत द्रोण (द्वाराहाट के निकट दूनागिरि), दारुकानन (अल्मोड़ा जनपद में दारुण-जागेश्वर), गणनाथ (गणनाथ), वेण्य (बिन्सर), नागार्जुन (भटकोट के पास नगार्दण), काषाय (अल्मोड़ा के समीप कलमटिया), गर्गाचल (गागर), ध्वज (ध्वज), स्थाकिल (थलकेदार), लिपि (लिपुलेख) हैं। मानसखण्ड में एक पौराणिक आख्यान (दक्षिण पर्वतपत्रायाः पुण्यः

कूर्माचलो गिरिः। -67/2.3) के संदर्भ में पर्णपत्रा (पनार) नदी के दक्षिण में कूर्माचल पर्वत (वर्तमान कानद्यो) का उल्लेख है।

4.4.2 नदियाँ

पौराणिक आख्यानों में उत्तराखण्ड की विभिन्न नदियों के उल्लेख मिलते हैं। मानसखण्ड और केदारखण्ड में तो बड़ी नदियों का ही नहीं, छोटी-छोटी नदियों और जलधाराओं को भी नदियों के रूप में अंकित कर उनके महात्म्य पर बढ़-चढ़ कर लिखा गया है। प्रमुख नदियों में गंगा, यमुना, मंदाकिनी, अलकनन्दा, भागीरथी आदि का उल्लेख हुआ है।

गंगा— मार्कण्डेय पुराण में गंगा नदी को नारायण के चरण से निकल कर मेरु पर्वत होते हुए, वहाँ से चार शाखाओं में विभक्त होकर पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर की ओर बहने वाली बताया गया है (56/1.2)। पद्म पुराण में गंगा की सात शाखाओं का उल्लेख है (स्वर्ग खण्ड 2/68)। महाभारत में उशीरबीज, कालशैल और मैनाक से आगे गंगा सात धाराओं से सुशोभित कही गई है (वन पर्व 139/2)। केदारखण्ड में उद्गम के बाद इसकी तीन धाराओं — भागीरथी, अलकनन्दा और कुमुद्वती में विभक्त होने का उल्लेख है।

यमुना—महाभारत में यमुना को गंगा की सात धाराओं में से एक कहा गया है (वन पर्व 90/7) तथा इसमें यमुना की सहायक नदियों जला-उपजला (रूपी-सूपी) (वन पर्व 130/31) तथा तमसा (टौंस) (वन पर्व 130/31) का भी उल्लेख है। यामुन पर्वत यमुना के स्रोत प्रदेश में था (शान्ति पर्व 59/1.9)।

अलकनन्दा— भागवत पुराण (4/6/24), ब्रह्माण्ड पुराण (3/41/21) तथा विष्णु पुराण (2/2/34) के अनुसार अलकनन्दा का उद्गम गंधमादन पर्वत से हुआ है। केदारखण्ड (58/7 तथा 14/7) इसके उत्तर में श्रीसंज्ञक क्षेत्र की स्थिति तथा नन्दप्रयाग में नन्दा (नन्दाकिनी) के साथ एवं वशिष्ठ आश्रम में भागीरथी से संगम (47/17 तथा 58/4) बताता है।

भागीरथी— गंगा की मूल शाखा, जो अपने उद्गम (गोमुख) के समीप उत्तर की ओर बहती है (केदारखण्ड 81/48) तथा देवप्रयाग में अलकनन्दा से मिलती है।

मंदाकिनी—केदारखण्ड में इसे क्षीरधारा कहा गया है (42/31)। रुद्रप्रयाग में अलकनन्दा से इसका संगम होता है।

रथवाहिनी (पश्चिमी रामगंगा)— महाभारत के आदिपर्व में इसका नाम रथस्या दिया गया है (आदिपर्व 172/48)। मानसखण्ड इसे गंगा की सातवीं धारा और भगीरथ के पीछे जाने के कारण इसका नाम रथवाहिनी बताता है (26/16)।

कौशिकी (कोशी)— वाल्मीकि रामायण (बालकाण्ड सर्ग 34) इसे हिमवन्त प्रदेश में प्रवाहित तथा महाभारत (110/21) नन्दा क्षेत्र में स्थित बताता है। मानसखण्ड में इसे एक प्रमुख नदी के रूप में उद्धृत किया गया है (कौशिकीशाल्मली मध्ये)। संभवतः वाल्मीकि रामायण में वर्णित कौशिकी उत्तराखण्ड में स्थित कोशी न होकर नेपाल में स्थित कोशी है।

पिंडर— मानसखण्ड के अनुसार अत्यंत शुद्ध जल वाली यह नदी नन्द पर्वत से निकलती है (24/3.4) और केदारखण्ड में इसे कर्णप्रयाग में अलकनन्दा में मिलने वाली नदी कहा गया है (81/48)।

रामगंगा (पूर्वी)— मानसखण्ड में इसे हिमालय के एक प्रान्त से निकलने और सरयू में मिलने वाली नदी बताया गया है(95/12 तथा19)। पिथौरागढ़ जिले में रामेश्वर नामक स्थान पर सरयू के साथ पूर्वी रामगंगा का संगम होता है।

सरयू— मानसखण्ड में उल्लिखित (95/10.11) कुमाऊँ की एक प्रमुख नदी है और पिथौरागढ़ जिले के रामेश्वर में पूर्वी रामगंगा से इसका संगम होता है।

श्यामा (काली)—मानसखण्ड के अनुसार मानसरोवर के जल से युक्त यह नदी लिपि पर्वत (लिपूलेख) से निकलती है (117/4)।

अन्य नदियाँ

केदारखण्ड तथा मानसखण्ड में उत्तराखण्ड की प्रमुख नदियों की अनेक शाखाओं का उल्लेख मिलता है। इनमें से अनेक छोटी जलधाराएँ हैं। कुछ प्रमुख नदियों और उनकी सहायक नदियों की पहचान कोष्ठ में अंकित नदियों/जलधाराओं से जा सकती है और कुछ के नाम वर्तमान नामों के समान हैं। इनमें गंगा की सहायक विष्णुगंगा, विरही, गरुड़गंगा, नन्दा (वर्तमान नन्दाकिनी), बरेश्वरी (बड़यारगाड़), मन्दाकिनी की सहायक अलसतरंगा (लस्टरगाड़), भीमा (ब्यून), मुनिगंगा (लणगाड़), पटुमती (मदमहेश्वरगाड़), कपिल नदी (क्यूँगाड़), सिद्धतरंगा (सिहागाड़), हेमधारा (ह्यूँलगाड़), पिंडर की सहायक काली (कैलगाड़), सरस्वती (सुरसती), कमठी (कमला), कृकलासी (गोप्तारगाड़), रथवाहिनी (पश्चिमी रामगंगा) की सहायक गार्गी (गगास), शुकवती (शकुनीगाड़), गुप्त सरस्वती (चोरमुन्यावगाड़), कोशी की सहायक शाला (शाङगाड़), कुम्भवती (कुजगाड़), देवकी (दाबका), पुष्पभद्रा (गौला) की सहायक चन्द्रभद्रा (चनगाड़), वेणुभद्रा (विणगाड़), शाली (सुआल) की सहायक शतवती (शल्लागाड़), जटागंगा, सरयू की सहायक पद्मपर्णा (पुंगरगाड़), गण्डकी (गिडिया), पर्णपत्रा (पनार), पूर्वी रामगंगा की सहायक खगवती (गोरंगगाड़), भार्गवी (भरङगाड़), श्यामा (काली) की सहायक चर्मण्वती (चर्मा), सत्यवती (सतगाड़), रन्तिजा (रेलागाड़), बिल्ववती (बिलैगाड़) आदि हैं। कुछ नदियों की पहचान वर्तमान में काफी दुरुह जान पड़ती है। (संदर्भ के लिए देखें केदारखण्ड और मानसखण्ड के विभिन्न अध्याय तथा किरन त्रिपाठी— उत्तराखण्ड का ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक भूगोल, पृ.19)

4.4.3 सरोवर और कुण्ड

केदारखण्ड तथा मानसखण्ड में अनेक सरोवरों तथा बावड़ियों का उल्लेख हुआ है। मानसरोवर सबसे अधिक प्रसिद्ध और पवित्र माना गया है। यद्यपि यह उत्तराखण्ड से बाहर है, पर ग्रन्थकारों में इसे यहीं अंकित करने की परंपरा रही है। मानसखण्ड(अध्याय 173) में इसके अलावा अनोतप्त सरोवर (मानसखण्ड का रावणहृद) या वर्तमान राकसताल, त्रिषि सरोवर(नैनीताल), भीमहृद (भीमताल), सनत्कुमार सरोवर (नौकुचियाताल), चित्रहृद (गरुड़ताल), राम सीता ताल, नल दमयन्ती ताल, प्रौढ़ सरोवर (द्वाराहाट में स्याल्दे पोखर), नन्दासर (ऋषिताल) प्रमुख हैं। केदारखण्ड में सरोवरों का उल्लेख तो नहीं मिलता पर कुछ कुण्डों का उल्लेख अवश्य हुआ है। इनमें हंसकुण्ड, ब्रह्मकुण्ड, शिवकुण्ड, विष्णुकुण्ड, सूर्यकुण्ड आदि अनेक कुण्ड प्रमुख हैं (अध्याय 42,43,58) और आज

भी अपने मूल नामों के साथ तीर्थ के रूप में महत्वपूर्ण माने जाते हैं। इन ग्रन्थों में कुछ सरोवर ऐसे भी हैं, जो मूल रूप से सरोवर न होकर नदियों के प्रवाह पथ में गढ़े बन जाने से निर्मित हुए हैं। पुराणकारों ने इन्हें भी सरोवरों की संज्ञा देते हुए पौराणिक महात्म्य से अलंकृत कर दिया। महाभारत में भी इन्द्रद्युम्न, चन्द्रहृद, बिन्दुसर तथा मानसरोवर का उल्लेख है (आदि पर्व 118/50 तथा भीष्म पर्व 6/29)।

4.4.4 वन

महाभारत के अनुसार दुष्यन्त ने यहाँ बेल, खैर, कैथ आदि के वृक्षों से युक्त वन देखे थे (आदि पर्व 69/20)। कुछ वनों में जल का सर्वथा अभाव था और आस-पास मनुष्य भी नहीं दिखाई देते थे। संभवतः ये वन भाबर के वन रहे होंगे। इसके अलावा महाभारत में पर्वतीय क्षेत्र में मेरु और मंदराचल के बीच की घाटी में बहने वाली शैलोदा नदी के तटों पर कीचकवेणु (रिंगाल) के सुरम्य वनों का उल्लेख है। वन्य पशुओं के नाम भी मिलते हैं। स्थानीय तीर्थों के महात्म्य पर केन्द्रित होने के कारण केदारखण्ड और मानसखण्ड में इस अंचल की वनस्पति या वनों का विवरण नहीं मिलता। मानसखण्ड में केवल कूर्मपर्वत में तैंतीस वनों की स्थिति (67/3) और कहीं-कहीं पत्तों और कन्दमूलों का उल्लेख कर दिया गया है।

4.4.5 यात्रा मार्ग

उत्तराखण्ड के अधिकांश मार्ग दुर्गम थे। पौराणिक साहित्य से इतर अन्य साहित्यिक स्रोतों जैसे अष्टाध्यायी, बौद्ध साहित्य और यहाँ तक कि यूरोपीय यात्रियों के विवरणों से भी इनका परिचय मिलता है। महाभारत में कनखल से आगे के मार्ग को अत्यंत दुर्गम बताया गया है। यह इतना ऊबड़-खाबड़ और कन्दराओं से युक्त था कि आगे रथ ले जाना संभव नहीं था (वन पर्व 140/15)। बदरिकाश्रम जाने वाला मार्ग मन्दराचल होकर जाता था (वही 142/2)। पाण्डवों ने इस मार्ग को राक्षसों की सहायता से पार किया था (वन पर्व 145/11, 20)।

अभ्यास प्रश्न

1. निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए

- (क) मानसखण्ड में अंकित सरोवरों का उल्लेख कीजिए।
- (ख) यात्रामार्गों के बारे में महाभारत में क्या जानकारी मिलती है?

2. नीचे लिखे प्रश्नों के उत्तर दीजिए

- (क) उत्तराखण्ड की पर्वत श्रृंखलाओं के बारे में बताइए।
- (ख) प्रमुख नदियों का विवरण दीजिए।

4.5 राजनीतिक स्थिति

पौराणिक साहित्य में उत्तराखण्ड के क्रमबद्ध राजनैतिक इतिहास के लिए बहुत कम सामग्री है। केदारखण्ड में भारत के पौराणिक इतिहास के अनेक व्यक्तियों का संबंध उत्तराखण्ड से जोड़ा गया है। इनमें अनेक नाम हैं, जिनमें अत्रि, अर्जुन, दिलीप, द्रोण, दुःशासन, पांडु, परशुराम, पृथु, भगीरथ, भरद्वाज, भीमसेन, राम, लक्ष्मण, वशिष्ठ, विश्वामित्र, शिव, सगर, सत्यव्रत आदि को हम उदाहरणस्वरूप ले सकते हैं। राजनैतिक स्थिति की जानकारी के लिए महाभारत में जो महत्वपूर्ण उल्लेख आपको मिलता है, वह उशीनर तथा कुलिन्द जनपद से संबंधित है।

4.5.1 उशीनर

महाभारत के अनुसार उशीनर नरेश ने यमुना की जला-उपजला (रूपी-सूपी) नाम की सहायक नदियों के तट पर यज्ञ किया था (वन पर्व 130/31)। उशीनर का उल्लेख हम ऐतरेय ब्राह्मण, कौशीतकी उपनिषद्, गोपथ ब्राह्मण, बौद्ध साहित्य, कथासरित्सागर आदि अन्य स्रोतों में भी उशीनर, उशीरध्वज या उशीरगिरि के रूप में पाते हैं। मैक्डनल और कीथ ने उशीनर की पहचान उत्तराखण्ड से की है, जिससे रायचौधरी भी सहमत हैं। डबराल के अनुसार हरद्वार के समीप गंगा के पूर्वी तट पर चण्डीघाट होकर लक्ष्मणझूला की ओर शिवालिक श्रृंखला को महाभारत में उशीरबीज कहा गया है। पार्जितर ने इसे पंजाब की पूर्वी सीमा में स्थित बताया है। संभवतः उशीनर हरद्वार के आस-पास का ही क्षेत्र रहा होगा।

4.5.2 कुलिन्द

महाभारत में कुलिन्द विषय (सभा पर्व 26/3, वन पर्व 140/26, भीष्म पर्व 9/5) तथा मार्कण्डेय पुराण ('शतद्रुजा कुलिन्दांश्च'. मार्कण्डेय पुराण की जनपद सूची) और ब्रह्माण्ड पुराण (रुषणांश्च कुलिन्दाश्च, ब्रह्माण्ड पुराण की जनपद सूची) में कुलिन्द नाम मिलते हैं। सभापर्व में पाण्डवों के राज्य की उत्तरी सीमा से सटे हुए कुलिन्द जनपद की ठकुराइयों को अर्जुन द्वारा जीतने का तथा कुलिन्द नरेश सुबाहु द्वारा युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में विभिन्न बहुमूल्य उपहार दिए जाने का विवरण है। इसके अलावा अज्ञातवास की अवधि में उत्तराखण्ड की तीर्थयात्रा के अवसर पर पाण्डवों के उशीरबीज, मैनाक, कालशैल पर्वतों को लांघकर गंगा के तट से आगे कुलिन्द राजा सुबाहु के राज्य में पहुँचने पर सुबाहु द्वारा उनके स्वागत सत्कार के भी उल्लेख हैं।

टॉलेमी के अनुसार कुलिन्द्राइन जनपद का विस्तार व्यास, सतलज यमुना एवं गंगा के स्रोत प्रदेश में था। इनमें से गंगा-यमुना नदियों के उद्गम स्थल उत्तरकाशी जनपद के गंगोत्री और यमुनोत्री तीर्थों के नीचे की भूमि कुलिन्द्राइन और महाभारत में उल्लिखित कुलिन्द विषय से पूर्ण साम्य रखती है। कुलिन्दों की मुद्राओं से भी इसकी स्थिति तथा विस्तार के संबंध में प्रामाणिक जानकारी मिलती है। आरंभिक ताम्र मुद्राओं में राजाओं के नामों के साथ कुलिन्द नाम मिलता है (राज्ञो कुणिदस अमोघभूतिस महरजस वासुदेव उपाध्याय, भारतीय सिक्के, पृ. 82)। कटोच के अनुसार इनमें अमोघभूति की मुद्राएँ, अल्मोड़ा सिक्के नाम से प्रसिद्ध मुद्राएँ और अनाम या छत्रेश्वर की मुद्राएँ, कत्यूर घाटी से प्राप्त तीन कुलिन्द सिक्के, जिनमें म.ग.भ.त.स (मगभूति), शिवदत्तस (शिवदत्त), हरदत्तस (हरदत्त), शिवपालितस (शिवपालित) आदि आठ नरेशों के नाम मिलते हैं। के.पी. नौटियाल के अनुसार गोल आकृति की चाँदी की अनेक मुद्राएँ मिली हैं, जिनमें एक ओर आहत चिह्न तथा दूसरी ओर शासक का नाम अंकित है, जो कुलिन्द वंश की अल्मोड़ा शाखा से संबंधित थीं और इन पर अंकित देवदार व चीड़ के वृक्ष, मृग, पर्वत श्रेणियों आदि के आधार पर कुलिन्दों की स्थिति पर्वतीय प्रदेश में मानी जा सकती है। विभिन्न स्थानों पर सिक्कों की प्राप्ति से कुलिन्दों के राज्य विस्तार का भी पता

चलता है। सुघगाँव में बड़ी मात्रा में अगरज, बलभूति और अमोघभूति के सिक्कों की प्राप्ति के आधार पर कनिंघम ने इसकी पहचान ह्वेनसांग द्वारा उल्लिखित सु.लु.किन.न (सुघ्न) से करते हुए इसे कुणिन्द राज्य के अन्तर्गत बताया है। इन मुद्राओं का प्रसार यमुना के पूर्व और पश्चिम में तथा दक्षिण की ओर सहारनपुर जनपद के बेहट तक है। गोविषाण (काशीपुर), ढिकुली (रामनगर), विष्णुप्रयाग (चमोली), तथा बाड़ाहाट (उत्तरकाशी) में भी कुणिन्दों की मुद्राएँ मिली हैं। श्रीनगर के पास स्थित सुमाड़ी गाँव से एक हजार सिक्कों के ढेर से आठ कुणिन्द सिक्कों की पहचान की गई है। इससे स्पष्ट होता है कि कुणिन्द राज्य का विस्तार गढ़वाल, कुमाऊँ, हिमाचल प्रदेश, अंबाला, सहारनपुर और बिजनौर तक हो चुका था किन्तु विषम भौगोलिक परिस्थितियों से युक्त संपूर्ण उत्तराखण्ड में, जबकि उन दिनों संचार साधनों का भी अत्यंत अभाव था एक स्थान से एक शासक के अधीन शासन संचालन संभव नहीं था। कत्यूरी राज्य की तरह ही यह भी अनेक ठकुराइयों में बँटा होगा। डबराल ने महाभारत के वर्णन और सुमाड़ी ग्राम में सिक्के मिलने से राणीहाट को इस राज्य की राजधानी माना है। कनिंघम के अनुसार कुलिन्द जनपद के पश्चिमी भाग की राजधानी सुघ्न थी। संभव है कि पूर्वी भाग की राजधानी राणीहाट रही हो। पतंजलि ने भी सुघ्न की भव्यता का वर्णन किया है। यहाँ आप समझ गए होंगे कि पौराणिक ग्रन्थों में उल्लिखित साक्ष्यों की पुष्टि किस प्रकार अन्य स्रोतों से हो सकती है।

4.5.3 कालकूट

महाभारत (सभापर्व 26/3/4) तथा आदिपुराण (29/48) में उल्लिखित कालकूट की पहचान यमुना और टौंस के संगम पर स्थित कालसी से की गई है। वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार कालकूट यमुना की उपरली धारा का यामुन प्रदेश था। अथर्ववेद में हिमालय में उत्पन्न होने वाले यामुन अंजन का उल्लेख है (4/9/10)। काले अंजन के कारण यामुन पर्वत का नाम कालकूट या काला पहाड़ होना स्वाभाविक ही था (अग्रवाल, वही)। महाभारत के वनपर्व में इसे कालशैल भी कहा गया है (139/1)।

कालसी उत्तरापथ की उत्तरी शाखा पर यमुना के किनारे स्थित एक महत्वपूर्ण व्यापारिक केन्द्र था। इसीलिए मौर्य सम्राट अशोक ने यहाँ पर बृहत् शिलालेख अंकित करवाया था, पर गुप्त काल तक आते आते इसका महत्व कम हो गया और हर्ष के समय भारत आए चीनी यात्री ह्वेनत्सांग ने, जो कालसी के निकट ही सुघ्न तक पहुँचा था, इसका कोई उल्लेख नहीं किया है।

4.5.4 यामुन

महाभारत (भीष्मपर्व 9/15) में वर्णित यामुन जनपद का उल्लेख पाणिनि की अष्टाध्यायी में भी हुआ है। यह वर्तमान देहरादून, टिहरी और उत्तरकाशी जनपदों के यमुना के जलागम क्षेत्र में स्थित भू-भाग का नाम रहा होगा। संभव है कालकूट यामुन जनपद की राजधानी रहा हो।

4.5.5 भारद्वाज और आत्रेय

मार्कण्डेय पुराण में भारद्वाज और आत्रेय का एक साथ उल्लेख है (आत्रेयभारद्वाजे 4/1/110)। पाणिनि तथा पतंजलि ने भी भारद्वाज का उल्लेख किया है। पार्जितर ने भारद्वाज की पहचान गढ़वाल से की है। इसके शाब्दिक अर्थ (दो नदियों के बीच का प्रदेश) के आधार पर इसे यामुन जनपद के पूर्व में स्थित भागीरथी और अलकनन्दा के मध्य का क्षेत्र माना जा सकता है। डबराल ने आत्रेय की पहचान गोविषाण से करते हुए उसे अल्मोड़ा और नैनीताल जनपदों में तथा तारात्रन्त्र त्रिपाठी ने अलकनन्दा को भारद्वाज जनपद की पूर्वी सीमा मानते हुए इसे अलकनन्दा के पूर्व में

स्थित चाँदपुरगढ़ी या आटागाड़ माना है, जिसमें संभवतः अलकनन्दा से लेकर पश्चिमी रामगंगा तक का क्षेत्र समाहित रहा होगा।

4.5.6 तंगण

महाभारत के अनुसार तंगण जाति हिमालय के पदतल में कुलिन्द राज्य में निवास करती थी (किराततंगणाकीर्णकुलिन्दशतसंकुलम्। हिमवत्यमरैर्जुष्टं बह्वाश्चर्यसमाकुलम्।। वनपर्व 140/25)। यह भी कहा गया है कि तंगण युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में पिपीलिका स्वर्ण, सुंदर काले तथा चंद्रमा के समान श्वेत चमर, हिमालय का स्वादिष्ट मधु, उत्तर कुरु देश से माला बनाने योग्य रत्न और पवित्र जल तथा कैलास से महावला औषधि लाए थे (सभापर्व 48/3.7)। पुराणों (डी.सी. सरकार द्वारा स्टडीज इन द ज्योग्रैफी ऑफ एंशेंट एंड मेडिवल इंडिया में उद्धृत) तथा बृहत्संहिता (10/12) में तंगण देश का उल्लेख कश्मीर और खश देश के साथ हुआ है। बृहत्संहिता के अनुसार तंगण देश के निवासी तंगण कहलाते थे (14/29.30 तथा 16/6)। टॉलेमी ने उत्तराखण्ड के सीमान्त प्रदेश के निवासियों को तंगणोई कहा है, जो भागीरथी के पूर्वी तट से काली नदी की ऊपरी शाखाओं तक फैले थे। इन प्राचीन उल्लेखों के आधार पर डी.सी. सरकार ने तंगण देश की पहचान गढ़वाल में जोशीमठ के निकटवर्ती प्रदेश (पैन्खण्डा) से की है (एपिग्राफिका इण्डिका, वॉल्यूम 31)। पार्जिटर ने पुराणों के आधार पर तंगणों की स्थिति बदरीनाथ के निकट बताई है। डबराल के अनुसार भागीरथी घाटी का टंगणौर क्षेत्र तथा बदरीनाथ के निकट का टंगणी गाँव आज भी प्रचीन तंगणों के स्मारक हैं (भाग 1, पृ 42)। कत्यूरी शासक पद्मटदेव के पाण्डुकेश्वर ताम्रपत्र में जोशीमठ तहसील (कार्तिकेयपुर विषय) के पश्चिम में भागीरथी के स्रोत प्रदेश को तंगणपुर विषय कहा गया है। तंगण उत्तराखण्ड के इसी क्षेत्र में फैले हुए थे और उनका मुख्य व्यवसाय तिब्बत से सुहागा लाकर दक्षिणवर्ती मण्डियों में बेचना था। सुहागे के लिए संस्कृत में टंकण शब्द है, अतः टंकण या सुहागे के व्यापारी होने के कारण इन्हें भी टंकण या तंगण नाम दिया गया होगा। इस प्रकार तंगण और परतंगणों की तुलना वर्तमान भोटांतिकों से की जा सकती है। उत्तराखण्ड के उत्तरवर्ती क्षेत्रों जैसे कत्यूर, दानपुर तथा पिण्डर घाटी में आज भी तंगणियाँ जाति निवास करती है।

इस अध्ययन में आप इस तथ्य से परिचित हुए होंगे कि पौराणिक एवं अन्य साहित्यिक स्रोतों में अंकित तथ्यों की जाँच के लिए किस प्रकार पुरातात्विक साक्ष्य, यथा ताम्रपत्र का प्रमाण भी प्रस्तुत किया गया और साथ ही भाषा संबंधी विश्लेषण भी किया गया।

अभ्यास प्रश्न

2. निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए

(क) उशीनर।

(ख) कालकूट

2. नीचे लिखे प्रश्नों के उत्तर दीजिए

(क) कुलिन्द जनपद के बारे में बताइए।

(ख) तंगण पर एक टिप्पणी लिखिए।

4.6 निवासी

इकाई के इस भाग में आप में इस अंचल के निवासियों के बारे में परिचित होंगे।

महाभारत काल में कुलिन्द जनपद के निवासियों में खश, एकासन, ज्योहा, दीर्घवेणिक, पशुप, तंगण, परतंगण, किरात, तुषार तथा दरद आदि जातियों का उल्लेख हुआ है (वन पर्व 177/111.12)। कुलिन्दराज सुबाहु के राज्य में किरात, तंगण, कुलिन्द आदि वन्य जातियों के लोग बसे हुए थे (वन पर्व 140/25)। में हिमालय की उपत्यकाओं में खश जाति निवास करती थी (सभापर्व 52/3)। पुराणों की जनपद सूची (एस.एम. अली, ज्योग्रैफी ऑफ पुराणाज, पृ. 169) में नगरहार, हुंजा, उत्तरकुरु, तंगण, खश, कर्ण (कुन्त), प्रावर्ण, दार्द और हुडुक नामक जनजातियों को पर्वताश्रयी आयुधजीवी कहा गया है। कत्यूरी शासकों के पाण्डुकेश्वर ताम्रपत्रों में कार्तिकेयपुर राज्य की प्रजाओं में खस, द्रविड़, कलिंग, गौड़, ओड़, चाण्डाल, किरात, हूण, मेड़ आदि जनों का उल्लेख है। इनमें से खश और किरात निश्चित रूप से इस अंचल के निवासी थे। उत्तराखण्ड के स्थान नामों में भी इस अंचल में प्राचीन और वर्तमान निवासियों से संबन्धित सूचनाएँ मिलती हैं। इनमें कोल, किरात, खश, नाग आदि जातियाँ प्रमुख हैं। शिवप्रसाद डबराल (उत्तराखण्ड का इतिहास, भाग 1, पृ.82) के अनुसार अनुमान किया जाता है कि कोल या मुण्ड जाति भारत और हिमालय की प्राचीनतम जाति है और उसके पश्चात क्रमशः किरात और खश जातियाँ हिमालय प्रदेश में बसीं।

4.6.1 कोल

केदारखण्ड में गढ़वाल और श्रीक्षेत्र (श्रीनगर) को कोलासुर की राजधानी बताया गया है। उत्तराखण्ड के प्राचीनतम निवासियों में प्रमुख कोल या मुण्ड जाति के बारे में पौराणिक आख्यानों से सूचना नहीं मिलती, पर द्विजवर्मन के तालेश्वर ताम्रपत्र में उल्लिखित कोल्लपुरी तथा वर्तमान स्थान नामों में कोली, कोली गूँठ, कोलांडी, कोलखी, कोलखांडी, कोलगाड, कोलडुंगरी, कोलारी, कोली, कोलीधार, कोलीगाँव, कोल्याणी जैसे अनेक स्थान नाम अतीत में इस क्षेत्र में कोल जाति के व्यापक प्रसार का संकेत देते हैं। कोल जाति के वंशजों में वर्तमान कोली, कोलटा, बाजीगर, ओड़ आदि सभी शिल्पकार जातियों को सम्मिलित किया जा सकता है।

4.6.2 किरात

मत्स्य (114/35), मार्कण्डेय (57/35), वायु (45/110) और ब्रह्माण्ड (49/45) पुराणों और महाभारत (भीष्म पर्व 2/51.57) में किरात जाति का अनेक बार उल्लेख मिलता है। महाभारत के वन पर्व (177/11) में कुलिन्द नरेश सुबाहु को किरातराज भी कहा गया है। टॉलेमी ने किरातों को गंगा के उद्गम प्रदेश का निवासी कहा है। केदारखण्ड में इन्हें संध्या स्नान से परामुख, नित्य मृगमांस का भोजन करने वाला, काले कंबल के परिधान वाला, हाथ में धनुष-बाण और कमर में खुकरी लिए हुए आखेटक के रूप में अंकित किया गया है (केदारखण्ड 206.4/5)। डबराल (उत्तराखण्ड के भौगोलिक, पृ.8) के अनुसार किरात शब्द का प्रयोग अनार्य आदिवासी पर्वतीय जाति के लिए हुआ है। चपटी मुखाकृति, चपटा मस्तक, छोटी या पिचकी नाक, दाढ़ी-मूँछ की कमी, पीला या गेहूँआ रंग, अपेक्षाकृत नाटा आकार एवं हृष्ट-पुष्ट शरीर किरात जाति की विशेषताएँ हैं। यह जाति हिमालय के उत्तरी तथा दक्षिणी ढालों के निवासियों में लद्दाख, लाहुल और किन्नौर से लेकर असम तक मिलती है। राहुल (ऋग्वैदिक आर्य, पृ. 81.82 व कुमाऊँ, पृ.28) का मानना है कि पश्चिम की ओर से आने वाली खश जाति की प्रतिद्वन्द्विता में न टिक पाने के कारण किरात जाति को हिमालय की दुर्गम घाटियों और तराई के वन्य प्रदेशों में शरण लेनी पड़ी। इन प्रदेशों में अधिकतर भौगोलिक, थाडू, बुक्सा, मिहर, आदि इन्हीं किरात जाति के वंशज हैं। असकोट के राजी (राज्य किरात) भी इन्हीं के अवशेष हैं। मध्ययुगीन स्थानीय कत्यूरी ताम्रपत्रों के अलावा

उत्तराखण्ड के स्थान नामों में किरमाणा, किरमोला, किरखू, किरसू, किरमोली, किरसाल, किरसिया जैसे अनेक स्थान नाम इस क्षेत्र में किरात जाति की स्थिति के साक्षी हैं।

4.6.3 खश

डी. एन. मजूमदार (हिमालयन पोलिएंथ्री, पृ.155.58) के अनुसार लम्बी मुखाकृति, लम्बी और सीधी नाक, दाढ़ी मूँछ की प्रचुरता, गोरा या गेहुँआ रंग, अपेक्षाकृत लम्बे आकार और हृष्ट पुष्ट शरीर के कारण यह कोल और किरात जाति से भिन्न आर्य, शक जैसी गौरवर्ण जातियों के समान थी। यह प्रजाति आर्य जाति के भारत आगमन से शताब्दियों पूर्व मध्य एशिया से भारत में प्रविष्ट हुई और धीरे-धीरे कश्मीर से नेपाल तक सारे मध्य हिमालय में तथा भारत के उत्तरी मैदान और दक्षिण के पठार पर फैल गई।

उत्तराखण्ड के इतिहास की दृष्टि से खश जाति अत्यंत महत्वपूर्ण है। महाभारत (सभापर्व, 25/2. 5, वन पर्व 2/3 तथा 176/1 व द्रोण पर्व 9/98), मार्कण्डेय पुराण (पार्जितर. मार्कण्डेय पुराण की भूमिका, पृ.345) तथा भागवत पुराण (2/4/18) में इस क्षेत्र के निवासियों के रूप में खशों का वर्णन है। महाभारत के सभापर्व में इन्हें कुलिन्द, तंगण, परतंगण आदि जातियों के साथ मेरु तथा मन्दार पर्वतों के मध्य शैलोदा नदी के रम्य तटों पर कीचकवेणुओं की रम्य छाया में निवास करने वाला कहा गया है (सभापर्व)। संपूर्ण भूमि को खशमण्डल कहा गया है। 'केदारे खशमण्डले' उक्ति से भी उत्तराखण्ड में खशों के व्यापक प्रसार का पता चलता है। खशोड़ी, खशपड़, खशियाखोला, खशोली, खश तिलाड़ी जैसे अनेक स्थान नामों से भी इस अंचल में खशों के निवास का बोध होता है। डी. डी. शर्मा की पुस्तक (देखें संदर्भ) में इस जाति के बारे में विस्तार से चर्चा है।

4.6.4 तंगण

तंगणों के बारे में आपको इस इकाई के राजनीतिक स्थिति खण्ड 4.5 के भाग 4.5.6 में तंगण राज्य के अन्तर्गत विस्तार से जानकारी दी गई है।

पौराणिक आख्यानों में उल्लिखित उपर्युक्त निवासियों के अतिरिक्त उत्तराखण्ड की भौगोलिक शब्दावली में व्यक्त स्थान नामों जैसे जाख, जखोली, जखेड़ा से यक्ष जाति, नागपुर, बेनीनाग, धौलीनाग, नागराज धार, पिंगलनाग आदि से नाग जाति के अस्तित्व के संकेत मिलते हैं। इनके अलावा उत्तराखण्ड में पाँच जनजातियाँ भी निवास करती हैं – 1. भोटान्तिक 2. वनराजि 3. थारू 4. बुक्सा 5. जौनसारी। मध्ययुग में भी अनेक जातियाँ मध्य भारत से प्रविष्ट हुईं। राजसत्ता से निकट संपर्क, विशेष रूप से कुमाऊँ में नये राजवंश के साथ-साथ आई इन मध्य देशीय जातियों ने अपना वर्चस्व स्थापित कर लिया। मध्ययुग में ही कुछ मुस्लिम आप्रवासी भी श्रीनगर आदि स्थानों में आकर बसे। 19 वीं शताब्दी में ब्रिटिश शासन के साथ ही ईसाइयों का आगमन भी हुआ।

अभ्यास प्रश्न

1. निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए
(क) किरात।
(ख) खश।

2. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए

(क) उत्तराखण्ड के निवासियों पर एक टिप्पणी लिखिए।

4.7 सांस्कृतिक पक्ष—प्रमुख तीर्थ एवं धार्मिक स्थल

उत्तराखण्ड के तीर्थों की यात्रा महाभारत के संग्रह काल में प्रचलित थी, जिसकी पुष्टि विक्रम की दूसरी शताब्दी के देवप्रयाग के अभिलेखों से हो जाती है। महाभारत आदि प्राचीन ग्रन्थों तथा विभिन्न मन्दिरों में अंकित अभिलेखों से ज्ञात होता है कि भारत के विभिन्न भागों के निवासी इस अंचल की तीर्थ यात्रा पर आते रहते थे और जो किसी कारण से ऐसा नहीं कर पाते थे, वे अपने प्रतिनिधि के रूप में किसी व्यक्ति को भेज दिया करते थे। ऐसे व्यक्ति को दर्शनार्थी का पक्षपाती कहा जाता था। विभिन्न तीर्थों में मन्दिरों की दीवारों पर दर्शनार्थी का तथा उसके पक्षपाती का नाम अंकित करने की परंपरा थी (जागेश्वर, अभिलेख, डी. सी. सरकार, एपिग्राफिका इंडिका)। पौराणिक आख्यानों में वर्णित उत्तराखण्ड के कुछ प्रमुख तीर्थों तथा उनके महत्व से आप इस खण्ड में परिचित होंगे।

4.7.1 बदरीनाथ

महाभारत में इसे विशालापुरी भी कहा गया है (वन पर्व 90/25)। केदारखण्ड के अनुसार कण्व के आश्रम से आरंभ कर जहाँ तक नन्दगिरि है, उस परम पवित्र क्षेत्र बदरिकाश्रम में अनेक तीर्थ हैं (57/7 तथा 14) तथा तीन योजन विस्तृत और बारह योजन दीर्घ यह क्षेत्र गंधमादन, बदरीवन, नर-नारायण के आश्रम और अनेक तीर्थों से विभाजित है (57/18 तथा 20)।

4.7.2 केदारनाथ

केदारनाथ का प्राचीनतम उल्लेख महाभारत में है (वन पर्व 83/12)। केदारखण्ड इसे सब क्षेत्रों में उत्तम बताता है। केदार क्षेत्र में केदार, मध्यमहेश्वर, तुंगनाथ, रुद्रनाथ तथा कल्पनाथ क्षेत्र को शिव के पाँच क्षेत्रों में माना गया है (केदारखण्ड 47/7)।

4.7.3 गंगाद्वार (हरद्वार)

महाभारत के अनुसार गंगा अपने वेग से शैलराज हिमालय को भेद कर जहाँ प्रकट हुई है, वह पुण्य स्थान गंगाद्वार के नाम से प्रसिद्ध है (वन पर्व 90/2)। केदारखण्ड में इसे मायाक्षेत्र कहा गया है (102/5-6)।

4.7.4 कनखल

कनखल पुराणों में वर्णित दक्ष यज्ञ का स्थान था। (कूर्म पुराण, अध्याय.36, वामन पुराण, अध्याय 4 तथा लिंग पुराण, भाग 1, अध्याय 100)। पद्म पुराण में इसका वर्णन एक तीर्थ के रूप में किया गया है (पद्म पुराण, अध्याय 14 तीर्थ महात्म्य)। महाभारत में सप्तगंग, त्रिगंग और शक्रावर्त तीर्थों के पश्चात कनखल की स्थिति बताई गई है (वन पर्व 84/29)। पाण्डवों की तीर्थ यात्रा के संदर्भ में कनखल का उल्लेख मिलता है, जिसकी तलहटी से होकर गंगा नदी बहती थी (एते कनखला राजन्मृषीणां दायिता नगाः। एषा प्रकाशते गंगा युधिष्ठिर महानदी। महाभारत—वन पर्व 135/5)।

4.7.5 कर्णप्रयाग

केदारखण्ड के अनुसार अलकनन्दा और पिण्डर के संगम पर स्थित इस स्थान पर कर्ण द्वारा सूर्य की आराधना किए जाने के कारण इसका नाम कर्णप्रयाग पड़ा (81/18 तथा 84/55)।

4.7.6 श्रीक्षेत्र (श्रीनगर)

हिमालय के दक्षिणी भाग में जहाँ अलकनन्दा है, वहीं श्रीक्षेत्र नामक श्रेष्ठ तीर्थ है (केदारखण्ड 176/4-6)। श्रीनगर के समीप अलकनन्दा के मध्य में एक टापू को आज भी श्रीयंत्र टापू कहा जाता है।

4.7.7 देवप्रयाग

देवप्रयाग को केदारखण्ड में अयोध्या, मथुरा, काशी, गंगाद्वार, प्रयाग, गया, मायाक्षेत्र (हरद्वार), बदरिकाश्रम आदि सभी तीर्थों से उत्तम तथा गंगाद्वार के उत्तर पूर्व भाग में गंगा (भागीरथी) और अलकनन्दा के संगम पर स्थित कहा गया है (149/18,19,25)।

4.7.8 गणेशतीर्थ (टिहरी)

केदारखण्ड में इसकी स्थिति उस स्थल पर बताई गई है, जहाँ गंगा में प्रादुर्भूत भिलंगना धारा है, वहीं संगम के ऊपर यह तीर्थ है (147/2)। इसकी पहचान वर्तमान गणेशप्रयाग या टिहरी से की गई है।

4.7.9 जागेश्वर

मानसखण्ड के अनुसार दारु पर्वत और टंकण पर्वत के बीच जटागंगा नदी तथा दारुकानन के मध्य भगवान यागीश्वर के क्षेत्र में अलकनन्दा नदी भी है और इन दोनों नदियों के संगम पर भगवान यागीश्वर विद्यमान हैं (61/38)।

4.7.10 बागीश्वर

मानसखण्ड में गोमती और सरयू के मध्य नीलगिरि पर्वत (कोकस का डाँडा) पर इसकी स्थिति बताई गई है (78/72 तथा अन्य)।

4.7.11 वैद्यनाथ

गोमती और गारुड़ी के संगम पर स्थित (मानसखण्ड 71/6) तीर्थ।

4.7.12 भद्रवट

गर्गाचल(गागर पर्वतमाला) के बायीं ओर भीमहृद (भीमताल) से निर्गत पुष्पभद्रा तथा सुभद्रा नदी के संगम पर स्थित इस क्षेत्र में चित्रशिला का उल्लेख है (43/22)। हल्द्वानी नैनीताल मार्ग पर स्थित रानीबाग से इसकी पहचान की जा सकती है।

इनके अलावा अनेक सन्निवेशों का महात्म्य वर्णन केदारखण्ड और मानसखण्ड में हुआ है। इनमें केदारखण्ड में गंगोत्री, यमुनोत्री, विष्णुप्रयाग, नन्दप्रयाग, रुद्रप्रयाग और मानसखण्ड में पाताल भुवनेश्वर, गणनाथ, बड़ादित्य, सीतावनी आदि प्रमुख हैं।

अभ्यास प्रश्न

1. निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए
(क) गंगाद्वार किस तीर्थस्थल का पौराणिक नाम है?
(ख) श्रीक्षेत्र का वर्तमान नाम क्या है?

2. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए

- (क) बदरीनाथ और केदारनाथ के बारे में पौराणिक आख्यान क्या कहते हैं?

4.8 सारांश

इस प्रकार इकाई के अध्ययन से आपको पौराणिक आख्यानों में अंकित उत्तराखण्ड के स्वरूप की एक झलक मिली। महाभारत एवं पुराणों में इस अंचल के विविध चित्रण हैं और इतिहास के अध्येता के रूप में आपका कार्य महात्म्य और कल्पनाओं से युक्त विवरणों में से उपयोगी तथ्यों का छँटकर अन्य साक्ष्यों की सहायता से उनकी पुष्टि तथा विश्लेषण करना है। इस दृष्टि से इकाई में

आप इन स्रोतों में उल्लिखित हिमालय के इस भाग के के विभिन्न भौगोलिक, राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक पक्ष से परिचित हुए।

4.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

- खण्ड 4.3 – 1. (क) देखें 4.3 (ख) देखें 4.3.2
2. (क) देखें 4.3.1 (ख) देखें 4.3.2
- खण्ड 4.4 – 1. (क) देखें 4.4.3 (ख) देखें 4.4.5
2. (क) देखें 4.4 (ख) देखें 4.4.2
- खण्ड 4.5 – 1. (क) देखें 4.5.1 (ख) देखें 4.5.3
2. (क) देखें 4.5.2 (ख) देखें 4.5.6
- खण्ड 4.6 – 1. (क) देखें 4.6.2 (ख) देखें 4.6.3
2. देखें 4.6
- खण्ड 4.7 – 1. (क) देखें 4.7.3 (ख) देखें 4.7.6
2. (क) देखें 4.7.1 व 4.7.2

4.10 सहायक संदर्भ ग्रंथ

1. महाभारत— गीता प्रेस संस्करण
2. विष्णु पुराण— ओरिएंटल मुद्रणालय, मुम्बई
3. मार्कण्डेय पुराण— जीवानन्द विद्यासागर, कोलकाता, 1879
4. भागवत पुराण— वेंकटेश्वर प्रेस, मुम्बई, 1901
5. कूर्म पुराण— इंडोलॉजिकल बुक हाउस, वाराणसी, 1968
6. केदारखण्ड— महेशानन्द , नन्द प्रयाग, 1910
7. मानसखण्ड— सं. गोपालदत्त पाण्डे, चौखम्भा, वाराणसी, 1990
8. अष्टाध्यायी— पाणिनि, चौखम्भा, वाराणसी
9. महाभाष्य— पतंजलि, निर्णयसागर प्रेस, मुम्बई, 1951

4.11 उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. शिवप्रसाद डबराल— उत्तराखण्ड का इतिहास, भाग 2 व 3 (दोगड़ा, गढ़वाल)
2. शिवप्रसाद डबराल— उत्तराखण्ड के अभिलेख एवं मुद्राएँ (दोगड़ा, गढ़वाल, 1989)
3. हरिकृष्ण रतूड़ी—गढ़वाल का इतिहास, देहरादून, 1918
4. एस.एम. अली— द ज्यॉग्रफी ऑफ पुराणाज (दिल्ली 1966)
5. वासुदेवशरण अग्रवाल— पाणिनिकालीन भारतवर्ष (वाराणसी, 1969)
6. बदरीदत्त पाण्डे— कुमाऊँ का इतिहास (अल्मोड़ा, 1937)
7. के.पी.नौटियाल— आर्क्योलॉजी ऑफ कुमाऊँ (वाराणसी, 1969)
8. यशवन्त सिंह कटोच— मध्य हिमालय का पुरातत्व (वाराणसी, लखनऊ, 1981)
9. डी.डी. शर्मा. हिमालय के खश एक ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक विश्लेषण (पहाड़, नैनीताल, 2006)

10. किरन त्रिपाठी- उत्तराखण्ड का ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक भूगोल (ज्ञानोदय प्रकाशन, नैनीताल, 2006)

4.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. पौराणिक आख्यानो के अन्तर्गत उत्तराखण्ड की भौगोलिक स्थिति का चित्रण कीजिए।
2. उत्तराखण्ड की राजनीतिक स्थिति का परिचय दीजिए।
3. उत्तराखण्ड के प्रमुख निवासियों पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।
4. प्रमुख तीर्थ एवं धार्मिक स्थलों का वर्णन कीजिए।

कुणिन्द मुद्राएँ

- 1.1 प्रस्तावना
- 1.2 उद्देश्य
- 1.3 कुणिन्द मुद्राएँ
 - 1.3.1 अमोघभूति भाँति
 - 1.3.1.1 अमोघभूति भाँति रजत मुद्रा
 - 1.3.1.2 मुख—भाग
 - 1.3.1.3 पृष्ठभाग
 - 1.3.2 ताम्र—मुद्रा
- 1.4 अल्मोड़ा भाँति
 - 1.4.1 प्रथम प्रकार
 - 1.4.2 द्वितीय प्रकार
 - 1.4.3 तृतीय प्रकार
 - 1.4.4 चतुर्थ प्रकार
 - 1.4.5 प्रतीक वर्णन
 - 1.4.6 पृष्ठभाग
- 1.5 चत्रेश्वर भाँति
 - 1.5.1 मुख भाग
 - 1.5.2 पृष्ठभाग
- 1.6 कुणिन्द मुद्राओं का तिथिक्रम
- 1.7 सारांश
- 1.8 तकनीकी शब्दावली
- 1.9 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर
- 1.10 संदर्भ ग्रंथ सूची
- 1.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 1.12 निबंधात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

उत्तराखण्ड के विभिन्न भागों से कुणिन्दों द्वारा जारी सिक्के मिलते हैं । इस दृष्टि से अल्मोड़ा जनपद का विशेष स्थान है, यहाँ से न केवल कुणिन्दों के अन्य भाँति के सिक्के प्रकाश में आये हैं वरन् विद्वानों ने कुणिन्द-सिक्कों के एक विशेष प्रकार को “अल्मोड़ा भाँति के सिक्के” नाम से भी अभिहित किया है । कुणिन्दों का उल्लेख अत्यन्त प्राचीन काल से मिलता है, लगभग 6वीं सदी ईस्वी पूर्व के प्रारंभ में रहने वाले पाणिनी ने भी कुणिन्दों का वर्णन किया है, अन्य साहित्यिक साक्ष्यों-महाभारत ; टॉलेमी , महामयूरी ; वायु-पुराण ; ब्रह्माण्ड पुराण ; तथा वारामिहिर (बृहत्संहिता: 4.24(14-30) में भी कुणिन्दों का उल्लेख मिलता है।उपरोक्त तथ्यों से पता चलता है कि मध्य हिमालय के इस क्षेत्र में प्राचीन काल से ही कुणिन्द विद्यमान थे । उन्होंने कब एक राज्य का रूप धारण किया, इस सन्दर्भ में रैप्सन का मानना है कि, मौर्यों और शुंगों के पतन से उत्पन्न परिस्थितियों में उत्तर-पश्चिम भारत में अनेक स्वतंत्र देशी एवं विदेशी सत्ताओं की स्थापना हुई थी, मौर्यों से पूर्व सिकन्दर के काल में भी यह क्षेत्र- आधुनिक पंजाब, हरियाणा, हिमाचल, दिल्ली, राजस्थान के भाग तथा पश्चिमी उत्तर प्रदेश- प्रमुखतः सैन्य जातियों या आयुधजीवी संघ द्वारा शासित थे । इन जातीय राज्यों में- कुलूट, औदुम्बर, कुणिन्द, यौधेय, राजन्य, आर्जुनायन तथा त्रकट गणराज्यों का उल्लेख मिलता है । उपरोक्त गणराज्यों में से- कुलूट, औदुम्बर तथा कुणिन्द गणराज्यों- को कौटिल्य ने ‘राज्य शब्दिन संघ’ या राजा की उपाधि को स्वीकार करने वाले गणराज्य माना है ।

मुद्राशास्त्रीय प्रमाणों से भी हिमालय के इस भू-भाग में कुणिन्दों की उपस्थिति के पुष्ट प्रमाण मिलते हैं । कनिंघम के समय तक जो मुद्राएँ मिली थीं, उनके आधार पर कनिंघम ने यह निष्कर्ष निकाला था कि कुणिन्दों का वर्चस्व यमुना ओर सतलज नदियों के मध्य शिवालिक पहाड़ियों की एक संकीर्ण पट्टी तक सीमित था,लेकिन कुणिन्दों से सम्बन्धित बाद की खोजों ने, न केवल कुणिन्दों के इतिहास में नवीन प्रकाश डाला है, वरन् उत्तराखण्ड को उनके प्रमुख केन्द्र के रूप में भी उद्घाटित किया है ।

प्रतीत होता है कि, पाणिनी के काल से ही कुणिन्द पंजाब, हरियाणा और उत्तराखण्ड के पहाड़ी भू-भागों में छोटे-छोटे समूहों के रूप में विद्यमान थे । कालान्तर में उन्होंने शक्ति अर्जित की और अमोघभूति के नेतृत्व में लगभग द्वितीय सदी ईस्वी पूर्व के अन्त तक एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना कर ली । अमोघभूति एक शासक का नाम था अथवा यह कुणिन्दों की एक पदवी थी इस विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है । जायसवाल ने ‘अमोघभूति’ को व्यक्ति-विशेष न मानकर एक राजकीय पदवी माना है और इसका अर्थ- ‘*कभी न समाप्त होने वाला वैभव*’ -बतलाया है लेकिन अधिकांश विद्वान अमोघभूमि को एक शासक का नाम मानते हैं और यह मत प्रतिपादित करते हैं कि इण्डो-ग्रीक शासकों के पतन के पश्चात् अमोघभूति ने शक्ति अर्जित की और अपने सिक्के जारी किये ।

1.2 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको उत्तराखण्ड से प्राप्त कुणिन्द-सिक्कों की जानकारी देना है ताकि आप यहां की पुरातात्विक संपदा और प्राचीन काल में यहां राज करने वाले शासकों के विषय में विविध स्थानीय पुराविदों के विचारों से अवगत हो सकें और स्थानीय पुरातत्व एवं इतिहास को सही प्रकार समझ सकें। इस

इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप यह जानकारी प्राप्त कर सकेंगे कि -

- किन-किन कुण्डिद शासकों ने यहां अपने सिक्के चलाये थे ?
- अमोघभूति की ताम्र एवं रजत मुद्रा किस प्रकार की है ?
- अमोघभूति की ताम्र एवं रजत मुद्रा में किस प्रकार का अंकन है ?
- अल्मोड़ा भाँति की मुद्रा कैसी है एवं उनमें क्या अंकन है ?
- अल्मोड़ा भाँति की मुद्रा में प्रतीकों का क्या अर्थ है ?
- चत्रेश्वर भाँति की मुद्राएँ किसे समर्पित हैं और इनमें क्या प्रतीक हैं ?

1.3 कुण्डिद मुद्राएँ

द्वितीय सदी ईस्वी पूर्व के अन्तिम चरण से लेकर तृतीय सदी ईस्वी तक के पर्याप्त कुण्डिद सिक्के प्रकाश में आये हैं । यह तथ्य इस अवधि में कुण्डिद शासन-तंत्र की सुदृढ़ता का परिचायक है। विद्वानों ने कुण्डिद सिक्कों को दो वर्गों (1) अमोघभूति भाँति तथा (2) चत्रेश्वर या अनाम भाँति में विभाजित किया है। विद्वानों का एक वर्ग ऐसा भी है जो 'अल्मोड़ा भाँति' के सिक्कों को कुण्डिदों के साथ सम्बद्ध करता है, इन विद्वानों में रैप्सन, पॉवेल प्राइस, एस.के. चक्रवर्ती, के.पी. नौटियाल एवं एम.पी.जोशी प्रमुख हैं। इन सिक्कों में प्राचीनतम सिक्के अमोघभूति भाँति के माने गये हैं और उनके उपरान्त अल्मोड़ा भाँति और फिर चत्रेश्वर या अनाम भाँति का काल निश्चित किया गया है ।

1.3.1 अमोघभूति भाँति

अमोघभूति के विषय में माना जाता है कि, उसने हिन्द-यवन साम्राज्य के ध्वंसावशेष पर एक स्वतंत्र राज्य का निर्माण किया था और अपनी स्वतंत्र मुद्रा जारी की थी । पावेल प्राइस, अमोघभूमि के सिक्कों के विषय में मानते हैं, कि इन सिक्कों का आकार, संरचना और रूपाकृति, बैक्ट्रियन-ग्रीक शासकों के सिक्कों की नकल पर आधारित है। अमोघभूति के सिक्के चाँदी और ताँबे दोनों धातुओं में मिलते हैं, प्रकार की दृष्टि से ये सिक्के भारतीय हैं, इनमें भारतीय भाषा, लिपि और प्रतीक चिह्न प्रयुक्त हैं । लेकिन भारमान की दृष्टि से अमोघभूति के चाँदी के सिक्के बाद के ग्रीक शासकों के अर्द्ध-द्राम प्रकार से मिलते हैं ।

1.3.1.1 अमोघभूति भाँति – रजत मुद्रा

अमोघभूति की रजत-मुद्रा, भार प्रमाण की दृष्टि से 31 से 38 ग्रेन तक की है । इसके मुख-भाग तथा पृष्ठ-भाग में कतिपय प्रतीक चिह्न तथा ब्राह्मी एवं खरोष्ठी लिपि में लेख उत्कीर्ण मिलते हैं। इन सिक्कों का पृष्ठ-भाग कमोबेश एक सा है जबकि मुख-भाग में पायी गयी विभिन्नताओं के आधार पर इन्हें अनेक प्रकारों और उप-प्रकारों में बाँटा गया है । इनके मुख-भाग का वर्णन अग्रांकित है –

1.3.1.2 मुद्रा का मुख-भाग

अमोघभूति की रजत-मुद्रा के मुख-भाग में दो भुजी नारी आकृति खड़ी मुद्रा में अंकित मिलती है। नारी आकृति के ऊपर उठे दाहिने हाथ में कमल और बाँया हाथ मुड़ा हुआ प्रदर्शित मिलता है, कुछ मुद्राओं में नारी के हाथ में अस्पष्ट सी वस्तु दिखती है, जिसे स्मिथ ने फल से समीकृत किया है । एम.पी. जोशी इसे चंवर बतलाते हैं जबकि अन्य विद्वान इसे पुष्प मानते हैं । नारी आकृति की ओर मुँह किये एक हिरण भी

अंकित मिलता है, जिसकी सीगों के मध्य संख्या एक चिह्न मिलता है इसे एलन ने 'नाग' और बनर्जी ने 'श्री वत्स' से समीकृत किया है । हिरण की पीठ के ऊपर भी एक चिह्न है, इसे अधिकांश विद्वान वेदिका के अन्दर वृक्ष मानते हैं। नौटियाल इसे चीड़ के वृक्ष से समीकृत करते हैं और कुणिन्दों का वंश —चिह्न मानते हैं । चक्रवर्ती ने इसे स्तूप के ऊपर छत्र माना है जबकि जोशी इसे वेदिका के अन्दर छत्र मानते हुए शिव के प्रतीक के रूप में पहचानते हैं। हिरण के पैरों के बीच कुछ चिह्न मिलते हैं, और ब्राह्मी लिपि में अग्रांकित लेख उत्कीर्ण मिलता है — "राज्ञः (रज) कुणिंदस (स्य) अमोघभूतिस (स्य) महरजस (स्य)" एलन ने इस लेख का अनुवाद —'कुणिन्द राजा, राजा अमोघभूति का—' किया है । सरकार इसे —'कुणिन्द राजा महाराज अमोघभूति का (सिक्का)' — पढ़ते हैं दासगुप्ता इसका अर्थ —'कुणिन्दों के राजा, महाराज अमोघभूति का (सिक्का) बतलाते हैं । एम. पी. जोशी मुद्रा—लेख का अर्थ —"कुणिन्द राजा अमोघभूति की (मुद्रा) (जो) महाराज (हैं)"— बतलाते हैं ।

अमोघभूति की रजत—मुद्राओं को विद्वानों ने अनेक प्रकारों में वर्गीकृत किया है । इस सम्बन्ध में एलन और एम.पी. जोशी का वर्गीकरण द्रष्टव्य हैं । एलन ने इन मुद्राओं के मुखभाग में पायी गयी विभिन्नताओं के आधार पर इन्हें चार प्रकारों में विभाजित किया है, इनका पृष्ठ—भाग कमोबेश एक—सा है ।

यहाँ पर यह उल्लेख करना प्रासंगिक है कि एलन ने पशु आकृति को हिरण न मानकर बैल से समीकृत किया है । अमोघभूति की रजत मुद्रा के वर्गीकरण की दृष्टि से एम. पी.जोशी का वर्गीकरण भी महत्वपूर्ण है जोशी के अनुसार इनके तीन प्रकार हैं और इन तीन प्रकारों को पुनः नारी आकृति और हिरण के मध्य तथा हिरण के नीचे अंकित विभिन्न प्रतीक/प्रतीकों के परिवर्तन के आधार पर 10 उप—प्रकारों में भी विभाजित किया जा सकता है ।

1.3.1.3 पृष्ठभाग

अमोघभूति की रजत—मुद्राओं का पृष्ठ—भाग कमोबेश एक सा है । इनमें विभिन्न स्थानों में विविध चिह्न और एक आड़ी—तिरछी रेखा मिलती है । सिक्के में गोलाई लिए दायें से बायें खरोष्ठी लिपि में , "रज कुणिंदस अमोघभूतिस" तथा नीचे पृथक् रूप से 'महरजस' लिखा मिलता है ।

1.3.2 ताम्र—मुद्रा

अमोघभूति की ताम्र—मुद्राएँ उसकी रजत—मुद्राओं के समान ही हैं। ये ढलाई ठप्पा (डाइस्ट्रक) द्वारा निर्मित हैं, इनका भार प्रमाण 9.5 ग्रेन से 252 ग्रेन तक मिलता है । इन मुद्राओं के प्रमुख अन्तर एम.पी. जोशी के अनुसार अग्रांकित हैं —

(1) अत्यधिक कम संख्या में प्राप्त परन्तु बहुत ही साफ और उच्चकोटि की ढाली गयी मुद्रा, इन मुद्राओं की ढलाई और उनमें प्रयुक्त सुन्दर लेख से प्रतीत होता है कि ये अमोघभूति की रजत—मुद्राओं के समकालीन हैं ।

(2) इस क्षेत्र में चलन में प्रचलित आम ताम्र—मुद्रा जो खुरदरे और अपूर्ण लेखयुक्त हैं । इनके अपूर्ण लेख और खुरदरी ढलाई से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ये मुद्राएँ बाद में अमोघभूति के उत्तराधिकारियों के समय में भी प्रचलन में रहीं थीं ।

(3) दो पंक्तियों में अव्यवस्थित तरीके से लेखयुक्त मुद्रा जो भदे तरीके से काफी बड़े आकार में बनायी गयी हैं । इन मुद्राओं में प्रयुक्त लिपि-चिह्नों के आकार में अनुपात का कोई ध्यान नहीं रखा गया है ।

एम.पी. जोशी, अमोघभूति की ताम्र-मुद्रा को उन पर अंकित लेख के आधार पर तीन-प्रकारों में विभाजित करते हैं , यथा-

प्रकार 1 ब्राह्मी एवं खरोष्ठी लेख युक्त मुद्रा ।

प्रकार 2 केवल ब्राह्मी लेखयुक्त मुद्रा ।

प्रकार 3 दो पंक्तियों में ब्राह्मी लेखयुक्त मुद्रा ।

जोशी ने इन सिक्कों को हिरण तथा नारी आकृति के मध्य अंकित प्रतीक-चिह्नों के आधार पर पुनः 10 उप-प्रकारों में वर्गीकृत किया है ।

स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. अमोघभूति की रजत-मुद्राओं के मुख भाग का संक्षेप में वर्णन कीजिए ?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2 अमोघभूति की रजत-मुद्राओं के पृष्ठ भाग का संक्षेप में वर्णन कीजिए ?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

19वीं तथा 20वीं सदी में कुछ ऐसे सिक्के प्रकाश में आये जिन्हें 'प्रकार' की दृष्टि से कुणिन्दों के साथ सम्बन्धित किया गया है । एलन ने भी तीन चाँदी के सिक्कों का वर्णन किया है । इन्हें रैप्सन तथा अन्य विद्वानों ने लिपि-चिह्नों एवं ब्राह्मी-लेख के आधार पर 'अल्मोड़ा मुद्रा' के नाम से अभिहित किया है । एलन, डी.सी. सरकार, के.के. दासगुप्ता जैसे विद्वानों ने अल्मोड़ा भांति की मुद्रा को कुणिन्द-मुद्रा मानने से इन्कार किया है । कुछ विद्वानों ने यह मत भी प्रतिपादित किया है कि कुणिन्दों के समकालीन ही उत्तराखण्ड में एक अन्य राजवंश शासन कर रहा था, जिसने अल्मोड़ा भांति के सिक्के जारी किये थे, किन्तु जहाँ तक साहित्यिक साक्ष्यों का प्रश्न है, इस क्षेत्र में कुणिन्दों का राज्य ही बतलाया गया है और किसी भी अन्य वंश/जाति के राज्य का समकालीन साक्ष्यों से पता नहीं चलता है । कुणिन्द मुद्राओं के सम्बन्ध में की गयी नवीनतम शोध में भी इन मुद्राओं को सरलता के साथ कुणिन्दों से सम्बन्धित किया गया है । वर्तमान तक अल्मोड़ा भांति के लगभग 58 सिक्के प्रकाश में आये हैं, इनमें आठ कुणिन्द शासकों— शिवदत्त, हरदत्त, शिवपालित, शिवरक्षित, गोमित्र, विजयभूति, म-ग-भ-त-स एवं आसेक —के नाम मिलते हैं । अत्यधिक मिलावटी चाँदी में निर्मित ये सिक्के दो आकारों में मिलते हैं ।

प्रतीत होता है कि अमोघभूति के उत्तराधिकारी संभवतः कमजोर साबित हुए, कुछ समय तक तो उन्होंने अमोघभूति द्वारा विजित प्रदेशों में अपना अधिकार बनाये रखा किन्तु कालान्तर में कुषाणों के अभ्युदय के साथ ही उन्हें मैदानी क्षेत्रों से पलायन कर केवल पर्वतीय क्षेत्रों तक ही सीमित रह जाना पड़ा, संभवतः यही वह कालान्तराल है जब कुणिन्दों ने अल्मोड़ा भांति के सिक्के चलाये थे । प्रकार की दृष्टि से इन्हें चार-वर्गों में विभाजित किया गया है, इनका वर्णन अग्रांकित है —

1.4.1 प्रथम प्रकार

प्रथम प्रकार के अन्तर्गत, कुणिन्द शासक, शिवदत्त एवं हरदत्त के सिक्के तथा गोमित्र के बड़े आकार के सिक्कों को सम्मिलित किया गया है । इन सिक्कों के मुख भाग के मध्य में एक चिह्न मिलता है, जिसके चारों ओर ब्राह्मी लिपि में लेख उत्कीर्ण किया गया है । लेख में राजा का नाम बिना किसी अपवाद के षष्ठी विभक्ती में लिखा गया है । लेख के प्रारंभ में चिह्न के सामने दाहिनी ओर मुँह किये बैल का अंकन मिलता है । इन सिक्कों के पृष्ठ-भाग में एक अभिप्राय मिलता है । इस अभिप्राय में चार खड़ी रेखाएँ जिनके सिरे बाणाग्र की भांति हैं, इनमें बाहरी रेखाएँ छोटी हैं जबकि बीच की दोनों रेखाएँ बड़ी बनायी गयी हैं । ये चारों रेखाएँ एक क्षैतिज रेखा पर आधारित मिलती हैं, इस क्षैतिज रेखा के समानान्तर एक अन्य क्षैतिज रेखा, मध्य की दो खड़ी रेखाओं के बीच में निर्मित मिलती है । इन दो क्षैतिज रेखाओं और मध्य की ऊर्ध्वाधर रेखाओं द्वारा निर्मित चतुर्भुज के भीतर नन्दीपाद का चिह्न मिलता है जबकि मध्य की क्षैतिज रेखा के ऊपर तथा मध्य की खड़ी रेखाओं के बीच में अन्य चिह्न अंकित मिलता है ।

1.4.2 द्वितीय प्रकार

द्वितीय प्रकार की मुद्रा के अन्तर्गत कुणिन्द शासक शिवपालित का सिक्का सम्मिलित किया गया है । इस सिक्के के मुख-भाग के मध्य में मानवाकृति अंकित मिलती है, इस मानवाकृति के दाहिनी ओर एक चिह्न और चारों ओर ब्राह्मी में 'शिवपालितस' लेख मिलता है । लेख के प्रारंभ में एक चिह्न मिलता है जिसके सामने दाहिनी ओर मुँह किये बैल का अंकन मिलता है । इस भांति के सिक्के का पृष्ठ-भाग प्रथम प्रकार की भांति ही है ।

1.4.3 तृतीय प्रकार

इस वर्गीकरण के अन्तर्गत विजयभूति के सिक्के को रखा गया है । इस प्रकार के सिक्के के मुख-भाग के मध्य में एक चिह्न मिलता है । इन चिह्नों के चारों ओर ब्राह्मी में 'रञ्ज विजयभूतिस' लेख मिलता है । लेख के प्रारंभ में दाहिनी ओर मुँह किये बैल और बैल के पीछे अन्य चिह्न मिलता है । इस सिक्के का पृष्ठभाग भी प्रथम प्रकार के सिक्कों की भांति ही है हांलाकि इसमें कुछ अतिरिक्त चिह्नों का अंकन, नीचे अपेक्षाकृत बड़ा नन्दीपाद चिह्न और मध्य में दोनों ओर छोटे नन्दीपाद चिह्नों का अंकन मिलता है ।

1.4.4 चतुर्थ प्रकार

अल्मोड़ा भांति के चतुर्थ प्रकार के सिक्कों के अन्तर्गत कुणिन्द शासकों— शिवरक्षित का सिक्का और गोमित्र के छोटे आकार के सिक्कों को सम्मिलित किया गया है । इन सिक्कों का मुख-भाग और पृष्ठ-भाग, प्रथम प्रकार के सिक्कों की भांति ही बतलाया गया है यद्यपि पृष्ठ-भाग में खड़ी रेखाओं के मध्य अंकित चिह्न इन सिक्कों में अनुपस्थित बतलाया गया है ।

1.4.5 प्रतीक वर्णन

अल्मोड़ा भांति के सिक्कों में प्रयुक्त प्रतीक चिह्नों के विषय में विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने मत प्रतिपादित किये हैं । इन सिक्कों के मुख-भाग के मध्य में एलन ने वेदिका के अन्दर पेड़, उसके आगे बैल और उसके बाद एक लेख उत्कीर्ण होने का उल्लेख किया है । उल्लेखनीय है कि एलन ने इन्हें कुणिन्द मुद्रा मानने से इन्कार किया है । रैप्सन इन सिक्कों के मुख-भाग में प्रदर्शित पशु को बैल नहीं वरन् हिरण का अंकन मानते हैं और अल्मोड़ा भांति की मुद्राओं को कुणिन्द-मुद्रा स्वीकार करते हैं । पॉवेल प्राइस ने रैप्सन के मत को स्वीकार करते हुए इन्हें कुणिन्द मुद्रा माना है और इस अंकन को हिरण और बोधिवृक्ष से समीकृत किया है । नौटियाल भी इन सिक्कों को कुणिन्दों का मानते हैं और वेदिका के अन्दर वृक्ष के सामने अंकित पशु को कूबडयुक्त बैल से समीकृत करते हैं, वृक्ष के सम्बन्ध में नौटियाल की मान्यता है कि इसकी झुकी हुई शाखाओं के कारण इसे कुणिन्दों के वंश-चिह्न, 'चीड़ के वृक्ष' से समीकृत किया जाना चाहिए । एम.पी. जोशी भी इन सिक्कों को कुणिन्दों से सम्बद्ध करते हैं, इन सिक्कों के मुख-भाग के अंकन को जोशी, वेदिका के अन्दर छत्र मानते हैं और बताते हैं कि यह कुणिन्दों के लिए एक विशेष चिह्न था, जिसका अंकन न केवल इन सिक्कों में वरन् अमोघभूति और चतुर्वेध या अनाम भांति के सिक्कों में भी निरन्तर मिलता है, जोशी इसे शिव का छत्र रूप में प्रतीक मानते हैं ।

इन सिक्कों के मुख-भाग के मध्य में अंकित चिह्न को नौटियाल एक नमूना या फिर एक वृत्ताकार पर्वत और उसे निकलती नदी से समीकृत करते हैं । इस चिह्न को जोशी ने शिव से सम्बन्धित 'पाश' माना है । शिवपालित की मुद्रा में अंकित मानवाकृति को जोशी ने शिव का प्रतीकात्मक अंकन बतलाया है और विजयभूति की मुद्रा में प्रयुक्त चिह्न को पर्वत मानते हुए शिव के निवास-स्थान से समीकृत किया है । अल्मोड़ा भांति के सिक्कों में प्रयुक्त प्रतीकों के उपरोक्त विश्लेषणों में से शिव से संबंधित वस्तुओं के साथ किया गया विश्लेषण पर्याप्त आकर्षक है, क्योंकि हम जानते हैं कि कुणिन्द, शिव के उपासक थे, द्वितीय सदी ईस्वी में तो एक समय उन्होंने अपना राज्य भगवान शिव को अर्पित कर दिया था „उनके शासकों—

शिवदत्त शिवपालित, शिवरक्षित आदि द्वारा शिव से सम्बन्धित नामों को ग्रहण करने से भी शिव के प्रति उनकी भक्ति एवं अनुराग प्रकट होता है ।

1.4.6 पृष्ठभाग

अल्मोड़ा भांति के सिक्कों का पृष्ठ-भाग कमोबेश एक सा है। पृष्ठ-भाग में जो सामान्य अंकन मिलता है, उसे एक वेदिका का प्रतीकात्मक अंकन माना जाता है जिसके ऊपर चिह्न और मुँह पर नन्दीपाद अंकित है। नौटियाल के अनुसार चार छड़ी सदृश लम्बवत् रेखाएँ जिनमें ऊपर पत्तियाँ जैसी आकृति बनी है देवदार वृक्ष की द्योतक हैं, जिनका धार्मिक महत्व है। एम.पी. जोशी इन चार-स्तंभ के ऊपर चार वाणाग्र को ग्रीक पौराणिक गाथाओं के एजियस-पिलर और ग्रीक देवता अपोलो के प्रतीक-चिह्न के ग्रीक-अभिप्राय का भारतीयकरण मानते हैं। यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि कुणिन्द, हिन्द-यवन शासकों से अत्यधिक प्रभावित थे, उन्होंने अन्य दृष्टियों से भी मुद्रा-निर्माण में हिन्द-यवन शासकों से विचार ग्रहण किये थे। अतः इस तथ्य के आलोक में जोशी का साम्य पर्याप्त रोचक और आकर्षक है ।

स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. अल्मोड़ा भांति के सिक्कों के में वर्णित शासकों के नामों का उल्लेख कीजिए ?

.....
.....
.....

2. अल्मोड़ा भांति के सिक्कों को कितने प्रकारों में बांटा गया है ?

.....
.....

1.5 चत्रेश्वर भांति

तृतीय सदी ईस्वी में कुणिन्द, यौधेय, आर्जुनायन आदि ने मिलकर उत्तर-भारत में कुषाणों की सत्ता को समाप्त कर दिया था। प्रतीत होता है कि इस विजय से कुणिन्दों का राज्य भी पुनः आसपास के मैदानी क्षेत्रों तक विस्तृत हो गया। इसी विजय के उपलक्ष्य में संभवतः कुणिन्दों ने चत्रेश्वर भांति के सिक्के निर्गमित किये और अश्वमेध यज्ञ का सम्पादन किया। कुणिन्दों के ये सिक्के कुषाणों की ताम्र-मुद्राओं के समान हैं, इसका कारण तत्कालीन प्रचलित कुषाण सिक्कों के साथ प्रतियोगिता कर कुणिन्दों को अपनी मुद्रा को स्थापित करने की बाध्यता बतलायी जाती है। चत्रेश्वर भांति के सिक्कों को उनके पृष्ठ-भाग में अंकित हिरण, वृक्ष, नदी जैसे चिह्नों के आधार पर कुणिन्दों की पूर्व मुद्राओं से तुलना कर कुणिन्द मुद्रा स्वीकार किया गया है। इन मुद्राओं का भार प्रमाण 131 ग्रेन से 291 ग्रेन तक है।

1.5.1 मुख भाग

चत्रेश्वर भांति के सिक्कों के मुख-भाग में एक द्विभुजी पुरुष आकृति सामने की ओर मुँह किये खड़ी-मुद्रा में प्रदर्शित है। आकृति के दाँये हाथ में परशु-त्रिशूल और बाँया कटिवस्त है जिसमें संभवतः चर्म लटका है, यह व्याघ्र-चर्म प्रतीत होता है। पुरुष आकृति की जटाएँ ठीक उसी प्रकार निर्मित हैं जैसी कि गुडिमल्लम

के शिव-लिंग में प्रदर्शित मिलती हैं । इन सिक्कों में ब्राह्मी लिपि में “भागवत चत्रेश्वर महात्मनः” लेख मिलता है । डी.सी.सरकार इसे “भगवतः चत्रेश्वर महात्मनः” पढ़ते हैं और कहते हैं कि “यह महान् आत्मा जो छत्र का स्वामी है, पवित्र और पूजनीय है का सिक्का है” सरकार के अनुसार कुणिन्दों ने अपना राज्य शिव को अर्पित कर दिया था जबकि इस प्रकार के सिक्के चलाये गये थे । पुसलकर ने भी चत्रेश्वर को शिव से समीकृत किया है और इसके दो अर्थ बतलाये हैं – (1) संभवतः कुणिन्द राजधानी छत्र या चत्र का स्वामी, और (2) अहिछत्रा एवं छत्रावती नाम का संक्षिप्तीकरण । अल्टेकर, चत्रेश्वर को छत्रेश्वर से शुद्ध करते हैं और इसे एक कुणिन्द शासक का नाम मानते हैं । मुनीश चन्द्र जोशी, चत्रेश्वर को चित्रेश्वर पढ़ने का आग्रह करते हैं जिसकी पहचान वह काठगोदाम के समीप स्थित स्वयम्भूलिंग से करते हैं ।

लेकिन एम.पी. जोशी का इस सम्बन्ध में मानना है कि इन सिक्कों में ‘च’ वर्ण बहुत स्पष्ट हैं, अतः इसे ना तो ‘चि’ और ना ही ‘छ’ पढ़ा जा सकता है, जोशी के अनुसार ‘चत्रेश्वर’ वास्तव में कुर्माचलीय अपभ्रंश है जो ‘छत्रेश्वर’ के लिए प्रयुक्त हुआ है। प्रतीत होता है कि चत्रेश्वर भाँति के सिक्के कुणिन्दों ने कुषाणों के ऊपर अपनी विजय के उपरान्त अपने संरक्षक देव, चत्रेश्वर (छत्रेश्वर) के प्रति श्रद्धा व्यक्त करने के लिए जारी किये थे । जहाँ तक चत्रेश्वर नाम का प्रश्न है यह जोशी के मत के अनुरूप ‘छत्रेश्वर’ का कुर्माचलीय अपभ्रंश प्रतीत होता है जो शिव का ही एक नाम है । ‘छत्र’ के रूप में शिव का प्रतीकात्मक अंकन कुणिन्दों की अन्य मुद्राओं में भी समान रूप से मिलता है । चत्रेश्वर भाँति के सिक्कों को उनके मुख-भाग में पायी गयी विभिन्नताओं के आधार पर एम.पी. जोशी ने तीन प्रकारों में विभाजित किया गया है, यथा –

प्रकार 1 पुरुष आकृति, दाँये हाथ में फीतायुक्त परशु-त्रिशूल धारण किये है और कुछ उदाहरणों में पुरुष-आकृति के दाँये कन्धे के ऊपर तारा सदृश चिह्न भी मिलता है ।

प्रकार 2 प्रथम प्रकार की भाँति ही परन्तु परशु-त्रिशूल फीतायुक्त नहीं है

प्रकार 3 पुरुष-आकृति का दाहिना हाथ अभय मुद्रा में प्रदर्शित है ।

उपरोक्त तीन प्रकारों को उनके मुख-भाग और पृष्ठ-भाग में पायी गयी विभिन्नताओं के आधार पर जोशी ने इन्हें पुनः 10 उप-प्रकारों में विभाजित किया है ।

1.5.2 पृष्ठभाग

चत्रेश्वर भाँति के सिक्कों में जोशी के वर्गीकरण के अनुसार एक अपवाद (उप-प्रकार 10) को छोड़कर शेष सभी सिक्कों के पृष्ठ-भाग में हिरण का अंकन बाँयी ओर हुआ है। सभी सिक्कों में हिरण की सींगों के मध्य चिह्न (नाग या श्री वत्स) प्रदर्शित मिलता है, इसके अतिरिक्त हिरण के सामने, ऊपर, पीछे, नीचे अन्य चिह्न मिलते हैं ।

1.6 कुणिन्द मुद्राओं का तिथिक्रम

यद्यपि जाति के रूप में हिमालय के इस भू-भाग में कुणिन्दों का उल्लेख पाणिनी के काल (लगभग 6वीं सदी ई. पू. के प्रारंभ) से निरन्तर साहित्यिक स्रोतों में मिलता है, तथापि प्रतीत होता है कि द्वितीय सदी

ईस्वी पूर्व के अन्तिम चरण में कुणिन्दों ने अमोघभूति के नेतृत्व में शक्ति अर्जित की और एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना कर अपनी मुद्रा जारी की । कुछ विद्वानों का विचार था कि अमोघभूति के उपरान्त इस क्षेत्र में कुणिन्द मुद्रा एक लम्बे अन्तराल तक नहीं मिलती है और फिर एक दीर्घावधि के बाद पुनः चत्रेश्वर भाँति के रूप में यहाँ कुणिन्द मुद्राएँ मिलती हैं । लेकिन अल्मोड़ा भाँति की मुद्राओं को कुणिन्द मुद्रा मानने से यह विचार खण्डित हुआ है । अब यह स्पष्ट हो गया है कि हिमालय के इस भू-भाग में कुणिन्दों की मुद्राएँ द्वितीय सदी ईस्वी पूर्व के अन्त से लेकर तृतीय सदी ईस्वी तक निरन्तर मिलती हैं ।

विद्वानों ने कुणिन्द-मुद्राओं के कालक्रम को निश्चित करने का प्रयास किया है । एलन के अनुसार, शैली और बनावट की दृष्टि से अमोघभूति के सिक्के एक काल के हैं और वह इनको प्रथम सदी ईस्वी पूर्व के उत्तरार्द्ध में रखते हैं, अमोघभूमि के ताम्र-सिक्कों के संबंध में उनका मानना है कि ये संभवतः कुषाण आक्रमणकारियों ने नकल स्वरूप चलाये हैं । स्मिथ के अनुसार जिन सिक्कों में दो लिपियों में लेख हैं वो सबसे प्राचीन हैं । एम.पी. जोशी इस सम्बन्ध में रोपड़ के उत्खनन का हवाला देते हैं जहाँ अमोघभूति का एक सिक्का— प्रथम सदी ईस्वी पूर्व से प्रथम सदी ईस्वी की सतह से प्राप्त हुआ है, जोशी के अनुसार अमोघभूति के सिक्के इस काल के बाद के तो हो ही नहीं सकते हैं । अल्मोड़ा भाँति के सिक्कों की तिथि एलन ने दूसरी सदी ईस्वी पूर्व मानी है, जोशी उन्हें अमोघभूति और चत्रेश्वर भाँति के मध्य अर्थात् प्रथम सदी ईस्वी पूर्व से द्वितीय सदी ईस्वी के मध्य रखते हैं और चत्रेश्वर भाँति के सिक्कों को द्वितीय सदी ईस्वी से तृतीय सदी ईस्वी के मध्य निर्धारित करते हैं ।

स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. चत्रेश्वर भाँति के सिक्कों के मुख-भाग की विशेषताओं का वर्णन कीजिए ?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

1.7 सारांश

मुद्राशास्त्रीय प्रमाणों से उत्तोरखण्डम के इस भू-भाग में कुणिन्दों की उपस्थिति के पुष्ट प्रमाण मिले हैं । अमोघभूति के नेतृत्व में लगभग द्वितीय सदी ईस्वी पूर्व के अन्त तक कुणिन्दों ने एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना कर ली । द्वितीय सदी ईस्वी पूर्व के अन्तिम चरण से लेकर तृतीय सदी ईस्वी तक के पर्याप्त कुणिन्द सिक्के प्रकाश में आये हैं । अमोघभूति की रजत-मुद्राओं को विद्वानों ने अनेक प्रकारों में वर्गीकृत किया है । अमोघभूति की ताम्र-मुद्राएँ उसकी रजत-मुद्राओं के समान ही हैं । ये ढलाई ठप्पा (डाइस्ट्रक) द्वारा निर्मित हैं । 19वीं तथा 20वीं सदी में कुछ ऐसे सिक्के प्रकाश में आये जिन्हें 'प्रकार' की

दृष्टि से कुणिन्दों के साथ सम्बन्धित किया गया है । एलन ने भी तीन चाँदी के सिक्कों का वर्णन किया है । इन्हें रैप्सन तथा अन्य विद्वानों ने लिपि-चिह्नों एवं ब्राह्मी-लेख के आधार पर 'अल्मोड़ा मुद्रा' के नाम से अभिहित किया है । तृतीय सदी ईस्वी में कुणिन्द, यौधेय, आर्जुनायन आदि ने मिलकर उत्तर-भारत में

कुषाणों की सत्ता को समाप्त कर दिया था । प्रतीत होता है कि इस विजय से कुणिन्दों का राज्य भी पुनः आसपास के मैदानी क्षेत्रों तक विस्तृत हो गया । इसी विजय के उपलक्ष्य में संभवतः कुणिन्दों ने चत्रेश्वर भांति के सिक्के निर्गमित किये और अश्वमेघ यज्ञ का सम्पादन किया । इन सिक्कों में अनेक प्रतीक चिह्न अंकित मिलते हैं ।

1.8 तकनीकी शब्दावली

ढलाई ठप्पा : सिक्के निर्माण की एक प्रविधि जिसे अंग्रेजी में डाइस्ट्रक विधि भी कहा जाता है ।
 पृष्ठ भाग : सिक्के का पिछला भाग
 मुख भाग : सिक्के का सामने का भाग
 स्वयंभूलिंग : प्राकृतिक रूप से निर्मित शिव लिंग
 मेरु : पौराणिक आख्यानों में वर्णित पर्वत
 सांभर : पहाड़ी हिरण

1.9 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

इकाई 1.3 के स्वमूल्यांकन प्रश्न 1 के उत्तर के लिए देखिए इकाई 1.3.1.2
 इकाई 1.3 के स्वमूल्यांकन प्रश्न 2 के उत्तर के लिए देखिए इकाई 1.3.1.3
 इकाई 1.4 के स्वमूल्यांकन प्रश्न 1 के उत्तर के लिए देखिए इकाई 1.4
 इकाई 1.4 के स्वमूल्यांकन प्रश्न 2 के उत्तर के लिए देखिए इकाई 1.4.1,1.4.2,1.4.3,1.4.4
 इकाई 1.7 के स्वमूल्यांकन प्रश्न 1 के उत्तर के लिए देखिए इकाई 1.5.1

1.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

Agrawal, V.S. 1955 : India as known to Panini, Varanasi.
 Allan, J. 1936 : Catalogue of the Coins of Ancient India in the British Museum, London.
 Joshi, M.P.1989 : Morphogenesis of Kunindas (circa 200 B.C. -- A.D. 300): A Numismatic Overview. Shree Almora Book Depot, Almora.
 MC Crindle, J.W.1929 : Ancient India as described by Ptolmy.
 Nautiyal, K.P. 1961 : The Numismatic History of Kumaon in the Journal of the Numismatic society of India, XXXIII: 375-86.

1.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

Agrawal, V.S. 1955 : India as known to Panini, Varanasi.
 Allan, J. 1936 : Catalogue of the Coins of Ancient India in the British Museum, London.
 Joshi, M.P.1989 : Morphogenesis of Kunindas (circa 200 B.C. -- A.D. 300): A Numismatic Overview. Shree Almora Book Depot, Almora.

1.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. मुद्राशास्त्रीय एवं साहित्यिक जानकारी का उपयोग करते हुए कुणिंद इतिहास पर प्रकाश डालिये।

इकाई एक

पौरव—वर्मन राजवंश

- 1.1 प्रस्तावना
- 1.2 उद्देश्य
- 1.3 पौरव—वर्मन राजवंश
- 1.4 वंशक्रम
- 1.5 अभिलेखों में वर्णित पदनाम
- 1.6 पौरव—वर्मन शासन की प्रकृति
- 1.7 भूमि—नाम
- 1.8 राजस्व संबंधी पैमाने
 - 1.8.1 द्रोणवाप
 - 1.8.2 कुल्यवाप
 - 1.8.3 खारिवाप
- 1.9 प्रमुख नगर
 - 1.9.1 ब्रह्मपुर
 - 1.9.2 कार्तिकेयपुर
 - 1.9.3 त्रयम्बपुर
 - 1.9.4 दीपपुरी
- 1.10 सारांश
- 1.11 तकनीकी शब्दावली
- 1.12 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर
- 1.13 संदर्भ ग्रंथ सूची
- 1.14 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 1.15 निबंधात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में आपने कुण्डों के बारे में जानकारी प्राप्त की थी। कुण्डों के उपरांत उत्तराखण्ड के इतिहास की जानकारी के लिए हमारे पास अधिक साक्ष्य नहीं हैं, हमें नहीं मालूम कि समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में वर्णित कर्तपुर का शासक कौन था। गुप्त और हर्ष के अभिलेखों में उत्तराखण्ड से संबंधित केवल छिटपुट उल्लेख मिलते हैं।

चौथी सदी ईस्वी के उत्तरार्द्ध से सातवीं सदी ईस्वी तक के उत्तराखण्ड के इतिहास पर कुछ प्रकाश पुरातात्विक उत्खननों से पड़ता है, इस संदर्भ में रणिहाट में के. पी. नौटियाल एवं साथियों द्वारा किया गया उत्खनन महत्वपूर्ण है, लेकिन इस काल की विस्तृत जानकारी हमें अल्मोड़ा जनपद के तालेश्वर नामक स्थान से प्राप्त दो ताम्रपत्र अभिलेखों से मिलती है।

चौथी सदी ईस्वी के उत्तरार्द्ध से सातवीं सदी ईस्वी तक के उत्तराखण्ड के इतिहास की जानकारी के एकमात्र स्रोत द्विजवर्मन का वृषताप शासन और विष्णुवर्मन के ताम्रशासन को है, जैसा कि बताया गया है कि ये ताम्रपत्र अल्मोड़ा जनपद के तालेश्वर नामक स्थान से मिले हैं इसीलिए इन्हें तालेश्वर ताम्रपत्र पुकारा गया है। इन ताम्रपत्रों से हमें न केवल इस काल में शासन करने वाले नये राजवंश एवं शासकों के नामों की जानकारी होती है वरन् ये ताम्रपत्र इस काल से संबंधित अनेकानेक सूचनाएँ भी हमें उपलब्ध कराते हैं।

1.2 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य, चौथी सदी ईस्वी के उत्तरार्द्ध से सातवीं सदी ईस्वी तक के उत्तराखण्ड के इतिहास की जानकारी प्रस्तुत करना है। इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप निम्नांकित जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

- पौरव-वर्मन राजवंश के शासक और उनका राज्य
- पौरव-वर्मन राजवंश की राजधानी तथा इस राज्य के प्रमुख नगर
- पौरव-वर्मन राज्य में पदाधिकारी और शासन का स्वरूप
- पौरव-वर्मन राज्य में भूमि राजस्व के पैमाने
- पौरव-वर्मन राज्य में विद्यमान विभिन्न स्थान-नाम

1.3 पौरव-वर्मन राजवंश

उत्तराखण्ड में प्राप्त ताम्रपत्र अभिलेखों में सर्वाधिक प्राचीन ताम्रपत्र अभिलेख होने का श्रेय तालेश्वर ताम्रपत्रों द्विजवर्मन का वृषताप शासन और विष्णुवर्मन के ताम्रशासन को ही है, ये दोनों ताम्रपत्र अल्मोड़ा जनपद के तालेश्वर नामक स्थान से जारी किये गये हैं, तालेश्वर से प्राप्त दोनों ताम्रपत्रों में एक-एक अण्डाकर मुद्रा जुड़ी है। मुद्रा में एक पसरा हुआ वृषभ, उसके नीचे चार-पंक्तियों का मुद्रा-लेख (जिसमें राजाओं के नाम तथा वंशावली उत्कीर्ण है), वृषभ के सामने एक मछली या कछुआ और नीचे संभवतः एक गरुड़ है, वृषभ के पीछे एक अन्य प्रतीक है, जिसे पहचाना नहीं जा सका है, इन सभी प्रतीकों एवं

मुद्रा-लेख के ऊपर एक नाग का फण प्रदर्शित है मुद्राओं में संस्कृत भाषा और गुप्त ब्राह्मी लिपि में अग्रांकित लेख उत्कीर्ण है,

यथा –

विष्णुवर्मा प्रपा (पौ) त्रस्य पो (पौ) त्रस्य वृषवर्मण (ः)

श्रग्निवर्म सुतस्येह शासन (') द्विजवर्मण (:)

.....नुग्रहात्थाय साधु संरक्षणाय च

सोमवंशोद्भवो राजा जयत्यमितविक्रम (ः)''

गुप्ते के अनुसार इन मुद्राओं में उत्कीर्ण अनेक प्रतीक चिह्नों और मुद्रा लेख को एक सीधी रेखा द्वारा पृथक किया गया है । मुद्राओं में प्रयुक्त लिपि-चिह्नों की अनेक विशेषताएँ गुप्त लिपि से साम्यता रखती हैं, लेकिन ताम्रपत्रों के लिपि-चिह्न पर्याप्त बाद के हैं ।

मुद्रा-लेख के वर्ण-विन्यास का अध्ययन करते हुए गुप्ते ने इस लिपि की अनेक विशेषताएँ गुप्त-लिपि के समान बतलायी हैं, और इन्हीं विशेषताओं के आधार पर मुद्राओं की तिथि चौथी सदी ईस्वी के उत्तरार्द्ध में निश्चित की । सरकार तालेश्वर ताम्रपत्रों की लिपि को छठी सदी ईस्वी की ब्राह्मी-लिपि से समीकृत करते हैं ।

तालेश्वर द्विजवर्मन का वृषताप शासन-पत्र, अभिलेखानुसार राज्य संवत् 5 पौष दिनांक 30 को लिखा गया है, इस अभिलेख का प्रारंभ "स्वस्ति (।।) पुरन्दर-पुरप्रतिमाद् ब्र (ब्र) ह्यपुरात् सकल जगन्मूलोर्वीचक-महाभार तथा अन्त उत्कीर्णान्यराणि सौवर्णकानन्तेनेतिक । – राज्य सं 5 पौष दि. 30" से होता है । तालेश्वर विष्णुवर्मन का ताम्रशासन अभिलेखानुसार राज्य संवत् 20 मार्गशीर्ष दिनांक 5 को उत्कीर्ण किया गया है, इस अभिलेख का प्रारंभ – "स्वास्ति (।।) पुरोत्तमाद् ब्र (ब्र) ह्यपुरात् सकल भुवन-भव-भंग विभाग तथा अन्त दूतकःप्रमातार-वाराहदत्तःलिखितभिन्ददिविरपतिधनदत्तेनउत्ती(त्की)र्णचं सौवर्णिकानन्तकेन – रा सं. 20 मार्ग दि 5 ।।" से होता है ।

वाई. आर. गुप्ते पुरालिपि के आधार पर इन ताम्रपत्रों का अध्ययन करते हुए यह निष्कर्ष निकालते हैं कि इन ताम्रपत्रों की लिपि और ताम्रपत्रों में जुड़ी हुई मुद्राओं में प्रयुक्त लिपि में काफी अन्तर है और यह अन्तर कम से कम दो सौ वर्षों तक का हो सकता है । मुद्राओं में प्रयुक्त अक्षर (चौथी सदी ईस्वी के उत्तरार्द्ध) के गुप्त लिपि के समान हैं और ताम्रपत्रों में जो लिपि प्रयुक्त है वह 6वीं सदी ईस्वी से 7वीं ईस्वी की प्रतीत होती है । गुप्ते के अनुसार जो वंशक्रम मुद्राओं में दिया गया है वह ताम्रपत्रों में दिये गये वंशक्रम से भिन्न है, मुद्राओं में इस राजवंश को सोमवंशी कहा गया है जबकि ताम्रपत्रों में इन्हें सूर्य और चन्द्र दोनों ही वंशों से सम्बन्धित किया गया है । गुप्ते इन तथ्यों के आधार पर यह निष्कर्ष निकालते हैं कि इन ताम्रपत्रों में प्रयुक्त मुद्राएँ किसी मूल शाही मुद्रा की जाली नकल हैं और साथ ही ताम्रपत्र भी छठी से सातवीं सदी के मध्य जाली तौर पर बनाये गये हैं ।

1.4 वंशक्रम

जहाँ तक पौरव-वर्मन शासकों के वंशक्रम का सम्बन्ध है ताम्रपत्रों में जुड़ी मुद्राओं से निम्नलिखित वंशक्रम की जानकारी होती है

विष्णुवर्मन
|
वृषवर्मन
|
श्री अग्निवर्मन
|
द्विजवर्मन

ताम्रपत्रों के पाठ से पता चलता है कि ये क्रमशः (अ) द्युतिवर्मन और (ब) विष्णुवर्मन द्वारा जारी किये गये हैं । इन ताम्रपत्रों और उनमें जुड़ी मुद्राओं के सम्मिलित पाठ से अग्रांकित वंशक्रम निश्चित किया जा सकता है —

अग्निवर्मन
|
द्युतिवर्मन
|
विष्णुवर्मन

इन मुद्राओं और ताम्रपत्रों के आधार पर के.पी. नौटियाल ने अग्रांकित वंशक्रम सुझाया है —

विष्णुवर्मन
|
वृषवर्मन
|
अग्निवर्मन ॥
|
द्विजवर्मन
|
विष्णुवर्मन

तालेश्वर ताम्रपत्रों में जुड़ी मुद्राओं (एक द्युतिवर्मन के ताम्रपत्र में और दूसरी उसके पुत्र विष्णुवर्मन के ताम्रपत्र) में अंकित पाठ के आधार पर के.के. थपलियाल ने पौरव-वर्मन शासकों के अग्रांकित वंशक्रम की जानकारी दी है, यथा— विष्णुवर्मन —वृषवर्मन —अग्निवर्मन —द्विजवर्मन। गुप्ते के अनुसार ताम्रपत्रों में दिया गया वंशक्रम, मुद्राओं में अंकित वंशक्रम से थोड़ा भिन्न है । मुद्राओं में यह विष्णुवर्मन से प्रारंभ होता है जबकि ताम्रपत्रों में यह अग्निवर्मन से प्रारंभ किया गया है, ताम्रपत्रों में इनके प्रदानकर्ता का नाम द्युतिवर्मन मिलता है जबकि मुद्राओं में यह द्विजवर्मन की भाँति पढ़ा जाता है ।

थपलियाल का मानना है कि, प्रथम ताम्रपत्र का प्रदानकर्ता द्युतिवर्मन निःसन्देह द्वितीय ताम्रपत्र में वर्णित विष्णुवर्मन के पिता के नामाक्षर के उच्चारण से समानता रखता है, मुद्राओं के प्रदानकर्ता के पिता का नाम और ताम्रपत्रों में द्युतिवर्मन के पिता का नाम अग्निवर्मन बताया गया है, इस आधार पर मुद्राओं का

निर्माता (द्विजवर्मन ?) और द्युतिवर्मन समरूपी प्रतीत होते हैं। गुप्ते द्वारा मुद्राओं के लिपि चिह्नों को पाँचवी सदी ईस्वी और ताम्रपत्रों के लिपि-चिह्नों को छठी या सातवीं सदी ईस्वी में रखने के संबंध में थपलियाल का मानना है कि यह पुरालिपि संबंधी अन्तर संभवतः इस तथ्य के कारण आया है कि— मूल मुद्रा में अक्षरों को एक सीमित स्थान पर अधिक कलात्मकता एवं सावधानी के साथ लिखा गया था जबकि ताम्रपत्रों में ऐसा नहीं किया गया, इस सूरत में विष्णुवर्मन के ताम्रपत्र में जुड़ी मुद्रा मूलतः उसके पिता के किसी ताम्रपत्र की थी, थपलियाल आगे यह परिकल्पना भी करते हैं कि यदि मुद्रा का प्रदानकर्ता (द्विजवर्मन ?) और द्युतिवर्मन दो भिन्न व्यक्ति थे तो पुरालिपि सम्बन्धी अंतर का कारण समय का पीछे होना हो सकता है और यह ताम्रपत्रों के लेख से जाना जा सकता है जिसमें कहा गया है कि ये दान, द्युतिवर्मन (ताम्र.1) और अग्निवर्मन (ताम्र.2) के पूर्वजों द्वारा दिये गये थे लेकिन ये अभिलेख अग्नि में जल गये और विवेच्य अभिलेखों को राजाओं द्वारा ताम्रपत्रों के कानूनी स्वामियों की प्रार्थना पर पुनः प्रदान किया गया, मुद्राओं से प्रतीत होता है कि यह दान मूल रूप से द्विजवर्मन द्वारा दिया गया था, उसके अभिलेख जल गये किंतु मुद्राएँ सुरक्षित रह गयीं और इन अभिलेखों के अभ्यर्थियों ने इन मुद्राओं (प्रथम द्युतिवर्मन के शासन काल के दौरान और अन्य को विष्णुवर्मन के शासन काल में) को अपने प्रार्थना-पत्र के साथ प्रस्तुत किया, राजकीय अधिकारियों ने शासनकर्ता राजाओं की मुद्राओं के निर्माण के झंझट से बचने के लिए अथवा यह दर्शाने के लिए कि यह दानपत्र मूलतः द्विजवर्मन ने प्रदान किया था, इन मुद्राओं को नवीन ताम्रपत्रों के साथ जोड़ दिया, थपलियाल का मानना है कि यदि उपरोक्त विवेचन को स्वीकार कर लिया जाय तो यह स्वयंसिद्ध होगा कि द्विजवर्मन और द्युतिवर्मन के पिता अग्निवर्मन।। के मध्य कुछ अन्य शासक भी विद्यमान थे ।

इन ताम्रपत्रों में जुड़ी मुद्राओं में केवल अग्निवर्मन जिसके नाम के आगे आदर सूचक “श्री” का प्रयोग किया गया है, के अतिरिक्त शेष राजाओं के नाम के आगे कोई उपाधि नहीं लगायी गयी है । थपलियाल के अनुसार, ताम्रपत्रों में द्युतिवर्मन के पिता अग्निवर्मन को प्रथम ताम्रपत्र में कोई उपाधि नहीं दी गयी है लेकिन ताम्रपत्र में उसे परम भट्टारक महाराज’ कहा गया है । द्युतिवर्मन को ताम्रपत्र में ‘परम भट्टारक महाराजाधिराज’ और ताम्रपत्र में केवल ‘महाराजाधिराज’ कहा गया है । विष्णुवर्मन को उसके ताम्रपत्र में ‘परम भट्टारक महाराजाधिराज’ कहा गया है । ‘महाराजाधिराज’ उपाधि इन शासकों की स्वतन्त्र सत्ता को दर्शाती है गुप्ते और थपलियाल द्वारा किये गये विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि पौरव-वर्मन शासकों द्वारा जारी तालेश्वर ताम्रपत्र स्थानीय इतिहास के एक महत्वपूर्ण दस्तावेज हैं । गुप्ते के कथनानुसार यदि ये ताम्रपत्र कूट हैं और छठी या सातवीं सदी ईस्वी के मध्य निर्मित हैं तो भी इससे उत्तराखण्ड के इतिहास में इनका महत्व कम नहीं होता है क्योंकि ये समकालीन इतिहास का पहली बार विधिवत उल्लेख करते हैं । अतः इस काल की जानकारी के लिए इन्हें अन्य स्रोतों के साथ प्रामाणिक रूप से प्रयुक्त किया जा सकता है। वस्तुतः अन्य तथ्यों के प्रकाश में अब यह स्पष्ट हो गया है कि ये ताम्रपत्र छठी सदी ईस्वी के उत्तरार्द्ध से सातवीं सदी ईस्वी के पूर्वार्द्ध तक के स्थानीय इतिहास की राजनैतिक, धार्मिक, प्रशासनिक तथा अनेक अन्य बातों का सच्चा विवरण प्रस्तुत करते हैं ।

अभिलेखों में पौरव-वर्मन शासकों के राज्य का नाम ‘पर्वताकर राज्य’ बतलाया गया है, जो स्पष्टतः उत्तराखण्ड के पर्वतीय क्षेत्रों का ही परिचायक प्रतीत होता है । इस राज्य की राजधानी ताम्रपत्रों में ब्रह्मपुर बतलायी गयी है जिसे ‘इन्द्र की नगरी’ और ‘नगरों में श्रेष्ठ’ के रूप में उल्लिखित किया गया है । तालेश्वर ताम्रपत्र इसी नगर से जारी किये गये हैं ।

इस ब्रह्मपुर की अवस्थिति के विषय में विद्वानों में अनेक मत हैं । ब्रह्मपुर का उल्लेख वारामिहिर , मार्कण्डेय पुराण एवं चीनी-यात्री ह्वेनसांग के यात्रा-वृत्तान्त में भी मिलता है । कनिंघम, ह्वेनसांग के विवरण को आधार मानकर मो-ती-पु-लो (मतिपुर) को मण्डावर (बिजनौर) से समीकृत करते हैं । मो-ती-पु-लो से ब्रह्मपुर की दूरी ह्वेनसांग ने उत्तर दिशा में 300ली अथवा 50मील बतलायी है, इस विवरण के आधार पर कनिंघम ने ब्रह्मपुर को रामगंगा तटीय बैराट पट्टन लखनपुर माना है तथा बताया है कि ह्वेनसांग ने इसे भ्रमवश उत्तर-पूर्व की जगह उत्तर दिशा में लिख दिया । गुप्ते ने भी कनिंघम के इस मत का समर्थन किया है । फ्युहरर ने ब्रह्मपुर को गढ़वाल स्थित पाण्डुवाला से समीकृत किया है । गूज ने पौरव वंश का सम्बन्ध शूलिक वंश से जोड़ते हुए उनके राज्य ब्रह्मपुर का विस्तार कुमाऊँ से लेकर चम्बा (हिमांचल) तक माना है और तालेश्वर (जनपद अल्मोड़ा) को ब्रह्मपुर की राजधानी बतलाया है । पॉवेल प्राइस ब्रह्मपुर की स्थिति कत्यूर घाटी में ही मानते हैं । नौटियाल एवं सहयोगियों ने इसे रणिहाट से समीकृत किया है । उपरोक्त मतों में से पॉवेल प्राइस का मत अधिक तार्किक प्रतीत होता है, क्योंकि द्विजवर्मन के वृषताप-शासन की 20वीं पंक्ति में ब्रह्मपुर जनपद के अन्तर्गत कार्तिकेयपुर ग्राम का उल्लेख आता है, इससे ब्रह्मपुर की स्थिति कत्यूर घाटी में ही निश्चित होती है । पौरव-वर्मनों से पूर्व भी कत्यूर घाटी क्षेत्र राजनैतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण रहा है, गुप्तों के काल में इसका उल्लेख समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशास्ति में आता है और इससे पूर्व की कुणिन्द काल की अनेक मुद्राएँ भी इस क्षेत्र से प्राप्त हुई हैं । पौरव-वर्मनों के उपरान्त भी कत्यूरी शासकों ने इस क्षेत्र को महत्वपूर्ण समझ कर अपनी राजधानी यहाँ स्थापित की थी । इस क्षेत्र के महत्व और द्विजवर्मन के वृषताप शासन के उल्लेख के आधार पर ब्रह्मपुर की स्थिति कत्यूर घाटी में ही मानी जानी चाहिए ।

स्वमूल्यांकित प्रश्न

1. अभिलेखों में पौरव-वर्मन शासकों के राज्य का क्या नाम आया है ?
2. ब्रह्मपुर की अवस्थिति के विषय में अग्रांकित पंक्तियों में लिखिये—

.....

.....

.....

.....

1.5 अभिलेखों में वर्णित पदनाम

पौरव-वर्मनों का शासन-प्रबन्ध सुसंगठित रहा होगा क्योंकि उनके ताम्रपत्रों में हमें शासन-कार्य का निर्वहन करने वाले पदाधिकारियों/कर्मचारियों की एक विस्तृत सूची मिलती है । यद्यपि अभिलेखों में केवल पदनामों का उल्लेख आया है तथापि अन्य समसामयिक सन्दर्भों के आधार पर उनका कार्य निश्चित किया जा सकता है । तालेश्वर ताम्रपत्रों में अग्रांकित पदाधिकारियों/कर्मचारियों के पदनामों का उल्लेख आया है —

(1) राजा	(19) विषयपति
(2) नृपति	(20) देवद्रोण्याधिकृत
(3) महाराजाधिराज	(21) कारंगिककोट

(4) महाराज	(22) दिविरपति
(5) कुमारामात्य	(23) विनियुक्तक
(6) राजपुत्र	(24) भोगिक
(7) राजामात्य	(25) भागिक
(8) पीलूपति	(26) दाण्डवासिक
(9) अश्वपति	(27) दूतक
(10) गजपति	(28) कटुक
(11) बलाध्यक्ष	(29) गोग्गुलिक
(12) सन्धिविग्रहिक	(30) परिव्राजक
(13) प्रमातार	(31) ब्रह्मचारी
(14) प्रतीहार	(32) अग्निस्वामिन
(15) जयनपति	(33) उत्कीर्णक
(16) महासत्रपति	(34) सेवक
(17) सूपकारपति	(35) कुलचारिक
(18) तगरपति	(36) कारिक

तालेश्वर ताम्रपत्रों में शासक के लिए अनेक नाम— राजा, नृपति, महाराजाधिराज, महाराज— प्रयुक्त हुये हैं । प्राचीन भारतीय साहित्य में 'राजा' पद अनेक अर्थों में प्रयुक्त मिलता है, उत्तराखण्ड से प्राप्त विभिन्न प्राचीन अभिलेखों में भी इसका प्रयोग अनेक तरह से हुआ है, लेकिन यह स्पष्ट है कि यह पद शासकीय शक्ति का प्रतीक था और इससे विभिन्न शासकों की राजनैतिक स्थिति का पता चलता है। तालेश्वर अभिलेखों में 'नृपति', पद भी उत्कीर्ण मिलता है। नृपति का शाब्दिक अर्थ 'मनुष्यों का स्वामी' होता है, अतः इस अर्थ में यह पद शासकीय सत्ता के रूप में राजा का ही समानार्थी है। तालेश्वर पत्रों से पता चलता है कि पौरव-वर्मन शासकों ने 'महाराजाधिराज' उपाधि धारण की थी, यह उपाधि केवल पौरव-वर्मन शासकों के स्वतंत्र और सार्वभौम होने का संकेत देती है। 'महाराज' उपाधि कुणिन्द सिक्कों में भी मिलती है, पौरव-वर्मन शासकों के लिए भी यह उपाधि प्रयुक्त की गई है लेकिन यह द्रष्टव्य है कि 'महाराज' पद केवल पूर्वज राजाओं के लिए ही प्रयुक्त किया गया है।

तालेश्वर ताम्रपत्रों में पौरव-वर्मन शासकों में से अग्निवर्मन के नाम के आगे— श्री —प्रयुक्त मिलता है जबकि अन्य शासकों के नाम के आगे यह अनुपस्थित है। 'श्री' का प्रयोग सम्भवतः इस बात को दर्शाता है कि इस वंश के शासकों में अग्निवर्मन का नाम महत्वपूर्ण है। इस संबंध में यदि तत्कालीन भारतीय इतिहास का विश्लेषण किया जाय तो पता चलता है कि स्कंधगुप्त (गुप्त संवत् 136–155 या 455 ईस्वी— 467 ईस्वी) के पश्चात् गुप्त साम्राज्य पतनोन्मुख हो रहा था । गुप्ते ने तालेश्वर पत्रों में लगी मुद्रा की तिथि चौथी सदी ईस्वी के उत्तरार्द्ध में निश्चित की है इस आधार पर यदि हम इस वंश के दो शासकों, विष्णुवर्मन और वृषवर्मन को स्कंधगुप्त और उसके पूर्वगामी शासकों के काल में रखें तो माना जा सकता है कि समुद्रगुप्त के समय में गुप्त साम्राज्य के करद और आधीनता स्वीकार करने के उपरान्त से अब तक स्थानीय राज्य वैधानिक रूप से परतंत्र ही रहा था, लेकिन बाद में गुप्त साम्राज्य की पतनोन्मुख स्थिति का लाभ उठाकर अग्निवर्मन ने सम्भवतः परतंत्रता का जुआ उतार फेंका और पौरव-वर्मन राज्य की वैधानिक स्वतंत्रता स्थापित की। संभवतः इसी महत्वपूर्ण कार्य को प्रदर्शित करने के लिए उसके नाम के आगे 'श्री' लगाकर उसे पौरव-वर्मन शासकों में अतिरिक्त सम्मान दिया गया। यदि यह साम्य भविष्य में अन्य तथ्यों के प्रकाश में सही साबित ठहरता है तो इससे स्थानीय इतिहास को एक नवीन दिशा मिल सकती है ।

पौरव-वर्मन शासन में सहायता हेतु अनेक मंत्री रहे होंगे, संभवतः तालेश्वर पत्रों में इन्हें ही 'राजामात्य' कहा गया है। 'कुमारामात्य' पद का उल्लेख भी तालेश्वर पत्रों में आया है, यह पद प्रायः सभी कत्यूरी ताम्रपत्रों में भी मिलता है। शाब्दिक अर्थ में यह पद 'राजकुमार के मंत्री या आमात्य' के रूप में एक मंत्री के लिए प्रयुक्त प्रतीत होता है। गुप्त शासन-तंत्र में भी इस पद का उल्लेख मिलता है, गुप्त प्रशासन में अधिकारियों के एक विशेष वर्ग का नाम कुमारामात्य था, वे शान्ति और युद्ध के मंत्री, सेनानायक, सभासद, जागीरदार और जिलाधिकारी समझे जाते थे, उनमें से कुछ राजकुमारों या प्रान्तीय शासकों के अधीन रखे जाते थे, कुमारामात्य के नाम में कुमार शब्द दक्षिण भारत के एलय, पिन, चिक्क या इम्मदि से मिलाया जा सकता है, छोटा (Cadet) शब्द इसका ठीक अर्थ व्यक्त करता है। तालेश्वर अभिलेखों में 'राजपुत्र' पद भी प्रयुक्त हुआ है, यह पद सम्भवतः अपने नाम के अनुरूप 'राजकुमार' के लिए प्रयुक्त प्रतीत होता है।

तालेश्वर द्विजवर्मन के वृषताप शासन में 'सन्धिविग्रहिक' पद का उल्लेख आया है। यह पद प्रथम बार गुप्त अभिलेखों में प्रयुक्त हुआ है। गुप्तकाल और उसके पश्चात् के अभिलेखों में इस पद का अधिकारी विदेश मंत्री था और युद्ध एवं सन्धि जैसे महत्वपूर्ण कार्यों का सम्पादन करता था। पौरव-वर्मन शासन में भी सन्धिविग्रहिक का कार्य इसी प्रकार का रहा होगा। तालेश्वर अभिलेखों में महासत्रपति पद प्रयुक्त हुआ है, इस पद को गुप्ते ने देवपालकी उत्सव यात्रा के प्रधान के अर्थ में लिया है। पौरव-वर्मन काल में शुभ अवसरों पर देवपूजा की व्यवस्था का अधिभार भी इसी अधिकारी पर प्रतीत होता है। तालेश्वर ताम्रपत्रों में महासत्रपति के साथ ही 'देवद्रोण्याधिकृत' पद भी उल्लिखित मिलता है, प्रतीत होता है कि ये दोनों पद एक ही व्यक्ति के पास थे, जो देव पूजा का प्रधान होने के नाते उत्सव, यात्रा-व्यवस्था, मन्दिरों का संरक्षण, अभिषेक, सम्मार्जन, बलि, चरु, सत्र बनाये रखने के लिए राजा से प्रार्थना करता था और सत्रपति होने के नाते मन्दिरों का संरक्षण एवं उनकी भूमि का प्रबंध भी करता था।

तालेश्वर ताम्रपत्रों में प्रयुक्त 'दिविरपति' पद स्पष्टतः लेखक वर्ग का प्रधान था, दिविर आलेख-प्रलेख निर्माण एवं राजाज्ञाओं के लेखन का कार्य करते थे। तालेश्वर द्विजवर्मन के वृषताप शासन पत्र का लेखक 'दिविरपति विष्णुदास' तथा विष्णुवर्मन के ताम्रशासन का लेखक 'दिविरपति धनदत्त' थे। तालेश्वर अभिलेखों में प्रतिहार पद का उल्लेख आता है। प्राचीन काल में प्रतिहार तथा महाप्रतिहार महल में आने वाले दूतों तथा अन्य व्यक्तियों/अतिथियों को प्रवेश दिलाने वाले सहायक के रूप में कार्य करते थे। सम्भवतः पौरव-वर्मन काल में भी इस पद का अधिकारी इसी रूप में कार्य करते रहे होंगे। तालेश्वर ताम्रपत्रों में 'राजदौवारिक' पद का उल्लेख मिलता है, यह पद उत्तराखण्ड के अब तक प्रकाशित किसी भी अन्य अभिलेख में नहीं मिलता है। इस पद का तात्पर्य महल के प्रहरी से सम्बन्धित प्रतीत होता है। 'सूपकारपति' पद भी केवल द्विजवर्मन के वृषताप शासन पत्र में उल्लिखित हुआ है, गुप्ते इसे पाकशाला का प्रधान अधिकारी मानते हैं।

तालेश्वर अभिलेखों में 'दूतक' पद का उल्लेख आया है यह पद अत्यन्त प्राचीन है और पाणिनी ने भी दूतक का उल्लेख किया है। इस पद का अधिकारी राजा का प्रतिनिधित्व करता था और विभिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न अधिकारियों को दूतक बना दिया जाता था। बाल्मीकि रामायण में हनुमान तथा अंगद द्वारा दूतकर्म किये जाने का उल्लेख मिलता है। तालेश्वर द्विजवर्मन के वृषताप शासन में दूतक का कार्य सन्धिविग्रहिक तथा प्रमातार, सूर्यदत्त ने और विष्णुवर्मन के शासन-पत्र में दूतक का कार्य प्रमातार, वाराहदत्त ने किया है। तालेश्वर अभिलेखों में बलाध्यक्ष (बलाधिकृत) पद का उल्लेख आया है। गुप्तोत्तर काल में सेना की व्यवस्था एवं संचालन का कार्य महाबलाधिकृत का होता था। इसका कार्य मुख्यतः सैनिक ढंग का था तथापि

असैनिक और सैनिक अधिकारियों में कोई प्रत्यक्ष विभाजन नहीं था। गुप्तकाल में यह सेना का सर्वोच्च अधिकारी होता था। बलाधिकृत के नेतृत्व में हस्तिसेना, अश्वसेना एवं पदाति होते थे। अतः अनुमान लगाया जा सकता है कि बलाध्यक्ष, अश्वपति एवं गजपति से बड़ा अधिकारी होता था। तालेश्वर पत्रों में 'पीलूपति' पद का उल्लेख आया है। अर्थशास्त्र में हस्तिध्यक्ष का उल्लेख मिलता है। पाल और राष्ट्रकूटों के अभिलेखों में भी इस पद का उल्लेख आया है। तालेश्वर अभिलेखों में इस पद का उल्लेख यह महत्वपूर्ण सूचना देता है कि पौरव-वर्मनों का राज्य न केवल पर्वतीय क्षेत्रों तक सीमित था वरन् यह आस-पास के तराई क्षेत्रों तक भी विस्तृत था क्योंकि हाथी एवं ऊँट की सेना इसी क्षेत्र के लिए उपयुक्त रही होगी। अश्वपति पद का उल्लेख भी तालेश्वर अभिलेखों में हुआ है यह पद निश्चय ही अश्वसेना के प्रधान के लिए व्यवहृत किया गया होगा। तालेश्वर पत्रों में वर्णित 'जयनपति' पद को डबराल पैदल सेना के अधिपति के लिए प्रयुक्त मानते हैं।

तालेश्वर पत्रों में प्रयुक्त 'दण्डोपरिक' पद का उल्लेख अभिलेखों में वर्णित पदाधिकारियों की सूची में सर्वप्रथम हुआ है। राजदण्ड का उपयोग करने वाला यह अधिकारी सम्भवतः न्याय-विभाग का प्रधान रहा होगा। तालेश्वर अभिलेखों में वर्णित 'कटुक' पद हर्षकालीन भारत में फौजदारी न्यायालय के अधिकारी के लिए प्रयुक्त होता था। सम्भवतः पौरव-वर्मन शासन में भी इस पद का उल्लेख इसी सन्दर्भ में हुआ हो। तालेश्वर ताम्रपत्रों में 'विषयपति' पद भी उल्लिखित हुआ है। गुप्तकाल में विषयपति (विषय या जिले का पदाधिकारी) का पद कुमारामात्य नामक राजकीय अधिकारी अथवा आयुक्तक अथवा जागीरदार 'महाराजा' को दिया जाता था, कभी-कभी शासन के काम में श्रेणी-पति, प्रधान लेखक और अन्य स्थानीय मुख्य व्यक्ति विषयपति की सहायता करते थे। तालेश्वर पत्रों में हमें कुमारामात्य एवं विषयपति दोनों पदों का उल्लेख मिलता है सम्भव है कि गुप्त काल की भाँति ही पौरव-वर्मन शासन काल में भी कुमारामात्य का पद विषयपति से सम्बद्ध रहा हो।

'प्रमातार' पद गुप्त कालीन अभिलेखों में 'प्रमातृ' के रूप में मिलता है, इसे भूमि सर्वेक्षण का अधिकारी माना जाता है। तालेश्वर पत्रों में उल्लिखित 'प्रमातार' को भी भूमि लेखा विभाग के अधिकारी से समीकृत किया जा सकता है क्योंकि भूमिदान से सम्बन्धित इन ताम्रपत्रों के लेखन का कार्य 'प्रमातार' ने ही किया है। विनियुक्तक पद प्लीट के अनुसार गुप्त काल तथा उसके बाद के अभिलेखों में मिलता है। यह गुप्त काल में गर्वनर द्वारा नियुक्त एक अधीनस्थ अधिकारी था। तालेश्वर ताम्रपत्रों में 'भोगिक' एवं 'भागिक' नामक पदों का उल्लेख भी मिलता है। भोग एवं भाग नामक कर प्राचीन काल के प्रमुख कर थे। 'भोग' भूमि के उपयोग के एवज में और 'भाग' कृषि उपज में राजा का हिस्सा थे, इन्हें एकत्रित करने वाले अधिकारियों को ही भोगिक एवं भागिक कहा जाता था। 'कारिक' एवं 'कुलचारिक' पदों का उल्लेख भी तालेश्वर ताम्रपत्रों में हुआ है, सम्भवतः इन पदों के अधिकारी भी कर वसूलने से सम्बन्धित थे।

1.6 पौरव-वर्मन शासन की प्रकृति

तालेश्वर अभिलेखों के आधार पर पौरव-वर्मन शासन की प्रकृति जानने का प्रयास भी किया गया है। के.पी. नौटियाल तालेश्वर पत्रों का विश्लेषण करते हुये पौरव-वर्मन शासन का प्रेरणा स्रोत गुप्त शासन का बतलाते हैं। नौटियाल के विश्लेषण का आधार मुख्यतः तालेश्वर पत्रों में आये कुछ ऐसे पदाधिकारियों का उल्लेख है जो गुप्तकालीन अभिलेखों में भी मिलते हैं, वस्तुतः गुप्तोत्तर काल में उत्तर भारत में स्थापित होने वाले अनेक राज्यों द्वारा जारी अभिलेखों में इन पदाधिकारियों का उल्लेख मिल जाता है, इसका तात्पर्य यह नहीं है कि इन सभी राज्यों ने अपने शासन प्रबन्ध में गुप्त-शासन से प्रेरणा ली थी वरन् आवश्यकता और

परिस्थिति के अनुसार इन राज्यों ने विभिन्न पदों का सृजन किया था। इस प्रकार के प्रभाव की व्याख्या एम. पी. जोशी, 'पीअर पौलिटी इण्टरैक्शन' के आधार पर करते हुए बताते हैं कि— प्रत्येक प्रभुत्व सम्पन्न राजनैतिक संगठन अपने स्वतंत्र अस्तित्व को बनाये रखने के लिए समानान्तर राजनीतिक क्रिया—कलाप करते रहते हैं और संगठन/संस्था बनाते रहते हैं। भारतीय इतिहास के विभिन्न चरणों में विभिन्न राज्यों द्वारा बनाये गये संगठन इसी आधार पर मिलते हैं। अतः उत्तराखण्ड के इतिहास के विभिन्न चरणों में विभिन्न राज्यों द्वारा इसी प्रकार के समानान्तर संगठन बनाने की कल्पना की जा सकती है और माना जा सकता है कि चाहे पौरव—वर्मन राज्य हो अथवा कत्यूरी राज्य, सांस्कृतिक परिवर्तन इस प्रकार 'पीअर—पौलिटी संवाद' के जरिये भी हो सकता है।

1.7 भूमि—नाम

तालेश्वर ताम्रपत्र मूलतः भूमिदान सम्बन्धी अभिलेख हैं, अतः इनमें प्रदत्त भूमि को स्पष्ट करने के लिए— क्षेत्र, खण्ड, भूमि, जंगल, तोली, सारी जैसे शब्द भूमि—विशेष को स्पष्ट करने के लिए प्रयोग किये गये हैं। इनमें 'क्षेत्र' पद वैदिक काल से ही निरन्तर मिलता है। वेदों में क्षेत्र पद स्पष्ट रूप से विभिन्न भूमि—विस्तार के अर्थ को स्पष्ट करता है वैदिक काल में जोते हुये खेत, उर्वरा या क्षेत्र भी कहे जाते थे। लेकिन तालेश्वर अभिलेखों में 'क्षेत्र' एक स्थान नाम के प्रत्यय के रूप में प्रयुक्त हुआ है। सामान्यतः प्रत्यय के रूप में यह पद अपने पूर्व पद के क्षेत्र की अभिव्यंजना करता प्रतीत होता है। भगवत्गीता में भी क्षेत्र प्रत्यय युक्त— धर्म क्षेत्र, कुरुक्षेत्र— जैसे शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुये हैं।

तालेश्वर अभिलेखों में आये क्षेत्र प्रत्यय युक्त शब्द ना केवल भौगोलिक स्थिति के परिचायक हैं, वरन् कुछ शब्द— वृक्षों, धार्मिक—स्थलों, खाद्य—पदार्थों आदि के नाम पर भी आधारित मिलते हैं। अभिलेखों में आये बज्रस्थल क्षेत्र, मध्यमारक क्षेत्र, पर्वतार क्षेत्र, मध्यमपुरक क्षेत्र जैसे नाम भौगोलिक संरचना पर आधारित प्रतीत होते हैं। महासाल क्षेत्र, बुंरासिका क्षेत्र, वट क्षेत्र, दन्तवनिका क्षेत्र, सेम्मक क्षेत्र जैसे नाम वृक्षों पर आधारित प्रतीत होते हैं। तालेश्वर पत्रों में देवक्यतोली क्षेत्र, देवक्य क्षेत्र, कपिलेश्वर क्षेत्र, देवक्यानूप क्षेत्र जैसे नाम धार्मिक स्थलों के आधार पर रखे गये प्रतीत होते हैं, अभिलेखों में मधुफलमूलक क्षेत्र, लवणोदक क्षेत्र जैसे खाद्य—पदार्थों पर आधारित स्थान नामों का वर्णन भी मिलता है। उल्लेखनीय है कि पौरव—वर्मन काल के खेत (क्षेत्र) पर आधारित नामों को रखने की परम्परा कुमाऊँ में निरन्तर रही है और इसकी पुष्टि हमें यहाँ पाये जाने वाले—रानीखेत, ताड़ीखेत, बैसखेत, खेती—जैसे वर्तमान स्थलों से होती है।

तालेश्वर अभिलेखों में 'स्थल' प्रत्यय युक्त भूमि नाम भी मिलते हैं, यथा— रजकस्थल, बज्रस्थल इत्यादि। स्थल पद को ऊँचे तल पर स्थित भूमि के लिए प्रयुक्त माना गया है। संभवतः तालेश्वर पत्रों में प्रयुक्त स्थल प्रत्यय युक्त क्षेत्र भी ऊँचे तल पर स्थित स्थानों के लिए ही प्रयुक्त किये गये हैं। तालेश्वर पत्रों में निचले स्थानों में स्थित स्थलों के लिए भी 'गर्त्ता' प्रत्यय युक्त शब्द मिलते हैं, यथा— कपिलगर्त्ता, करवीरगर्त्ता आदि। पाणिनी ने भी भूगर्त्ता, चक्रगर्त्ता जैसे शब्दों का प्रयोग प्राकृतिक खाई के अर्थ में किया है। तालेश्वर अभिलेखों में 'तोली' प्रत्यययुक्त पदों का उल्लेख भी हुआ है, यथा— चम्पकतोली, देवक्यतोली, स्कंभारतोली इत्यादि, इन लेखों में तोली प्रत्यय का प्रयोग खेतों के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है।

तालेश्वर ताम्रपत्रों में अनेक आश्रम प्रत्यययुक्त पद भी उल्लिखित हुये हैं, यथा— वारुणाश्रम, अरिष्टाश्रम आदि। आश्रम का आशय; पर्णशाला, महाविद्यालय या तपोवन से माना जाता है। प्राचीन काल से

ही हिमालय का यह क्षेत्र देवभूमि के रूप में प्रसिद्ध रहा है, मानसखण्ड में भी यहाँ स्थित अनेक आश्रमों का उल्लेख आया है। पौरव-वर्मन काल में भी ये शब्द यहाँ स्थित आश्रमों के परिचायक हैं। 'कोट' या 'कोष्ट' प्रत्यययुक्त शब्द भी तालेश्वर लेखों में वर्णित हुये हैं। यथा— सकिन्नराकोट, करवीरकोष्टा आदि। 'कोष्ट' का तात्पर्य आवृत या घिरे हुये क्षेत्र से होता है। 'कोट' शब्द 'कोष्ट' का तद्भव रूप है। 'कोट' पद किले या चहारदीवारी के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है, यथा—खगमराकोट (अल्मोड़ा)। तालेश्वर पत्रों में प्रयुक्त 'कोष्ट' या 'कोट' प्रत्यययुक्त ये स्थल संभवतः महत्वपूर्ण सामरिक स्थल रहे होंगे।

तालेश्वर अभिलेखों में स्थान-नामों का उल्लेख हुआ है, लेकिन इनमें से अधिकांश नामों का सही-सही तादात्म्य स्थापित करना लगभग असंभव है, क्योंकि अभिलेखों में इनकी स्थिति विस्तार से स्पष्ट नहीं है और न ही पहचाने गये स्थलों से इनका संबंध दिखता है।

1.8 राजस्व संबंधी पैमाने

तालेश्वर ताम्रपत्रों में— द्रोण, कुल्य, खारि— जैसे भूमि माप के विभिन्न पदों का उल्लेख आया है। इससे पता चलता है कि छठी सदी ईस्वी के उत्तरार्द्ध में भी उत्तराखण्ड में भूमि-माप की परंपरा विद्यमान थी। तालेश्वर पत्रों में आयीं इन इकाईयों का विश्लेषण अग्रांकित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है।

1.8.1 द्रोणवाप

संस्कृत में 'वप' का अर्थ बीज बोने से है। प्राचीन अभिलेखों में 'वाप' प्रत्यय लगाकर बीज की मात्रा प्रकट करने की परंपरा मिलती है। तालेश्वर अभिलेखों में द्रोण वाप का उल्लेख मिलता है। एक द्रोण प्रायः 32 सेर का माना जाता है। अन्य मानकों से तुलना करते हुये एक द्रोण वाप 32 सेर या 16 नाली का बताया गया है। कुमाऊँ में द्रोण आज भी 'दुन' के रूप में प्रचलित है। अतः तालेश्वर पत्रों में आये एक द्रोण वाप को हम उतने क्षेत्र से समीकृत करेंगे जितने में 32 सेर बीज छिटक कर बोया जा सके। ब्रिटिश काल में एक नाली को मानकीकृत कर 240 वर्ग गज निश्चित किया गया था जो आज भी कुमाऊँ में व्यवहृत है। इस आधार पर एक द्रोण माप 3840 वर्ग गज क्षेत्र का द्योतक है।

1.8.2 कुल्यवाप

'कुल्यवाप' पद भी प्राचीन अभिलेखों में मिलता है। गुप्तकाल में 'कुल्य' पद बहुतायत से उल्लिखित हुआ है। वर्तमान में इस पद का स्पष्ट अर्थ लगाना कठिन है, इसका अर्थ 'कुलि' बतलाया जाता है और एक कुलि आठ द्रोण के बराबर माना जाता है। इस आधार पर एक कुलि वाप उतना क्षेत्र माना जाना चाहिए जिसमें 256 सेर बीज छिटक कर बोया जा सके। ब्रिटिश मानकों के आधार पर यह 30720 वर्ग गज क्षेत्र का द्योतक है।

1.8.3 खारिवाप

पाणिनी ने खारिवाप को द्रोणवाप से बड़ा बतलाया है। कुमाऊँ में प्रचलित एक खारि 20 द्रोण की मानी जाती है। अतः एक खारिवाप ऐसे भू-क्षेत्र को बतलायेगी जिसमें 20 द्रोण या 640 सेर बीज छिटक कर बोया जा सके। ब्रिटिश मानकों के आधार पर यह क्षेत्र 76800 वर्ग गज क्षेत्र का द्योतक है।

1.9 प्रमुख नगर

तालेश्वर अभिलेखों में— पुर, पुरी— प्रत्यययुक्त स्थलों का उल्लेख मिलता है। संभवतः ये स्थल पौरव-वर्मन काल के प्रमुख नगर रहे होंगे। 'पुर' पद एक प्राचीन संस्कृत शब्द है जो नगर का बोध कराता है। वेदों में नगर शब्द का उल्लेख नहीं है लेकिन यहाँ निःसन्देह पुरों का उल्लेख मिलता है जो कभी-कभी बड़े आकार के होते थे तथा कभी-कभी पत्थर के बने (अश्ममयी) और लोहे (आयसी) होते थे। सौ दिवारों से सुसज्जित (शतभुजी) पुर भी होते थे। आर्यों के विस्तार के समय शत्रुओं के पुरों को नष्ट करने के कारण ही वेदों में इन्द्र को पुरन्दर कहा गया है। तैत्तिरीय आरण्यक में 'पुर' शब्द केवल दस्युओं के सन्दर्भ में किया गया मिलता है। प्राचीन भारत में पुर शब्द उस क्षेत्र के लिए प्रयुक्त किया गया मिलता है, जो वृहत खाई से घिरा कम से कम एक कोस के घेरे में फैला और बड़े-बड़े भवनों से युक्त हो। पुर और पुरी को समानार्थी माना जाता है। तालेश्वर ताम्रपत्रों में आये प्रमुख 'पुर', 'पुरी' प्रत्यययुक्त स्थानों का वर्णन अधोलिखित है —

1.9.1 ब्रह्मपुर

तालेश्वर ताम्रपत्र ब्रह्मपुर से ही निर्गत किये हैं। इसकी स्थिति के सम्बन्ध में इस अध्याय के प्रारम्भ में विस्तार से स्पष्ट किया गया है।

1.9.2 कार्तिकेयपुर

द्विजवर्मन के वृषताप शासन की 23वीं पंक्ति में कार्तिकेयपुर का उल्लेख आता है। तालेश्वर पत्रों में वर्णित इस कार्तिकेयपुर को प्रयाग— प्रशस्ति में वर्णित 'कर्तपुर' से समीकृत किया जा सकता है। तालेश्वर पत्रों में कार्तिकेयपुर की सूचना मिलना महत्वपूर्ण है, क्योंकि अनुश्रुतियों के अनुसार कार्तिकेयपुर की स्थापना एक पुराने शहर 'करवीरपुर' के अवशेषों के ऊपर की गई थी। यह कार्तिकेयपुर आगे चलकर कत्यूरी शासकों की राजधानी के रूप में प्रसिद्ध हुआ था। प्रतीत होता है कि पौरव-वर्मनों के काल में ही कार्तिकेयपुर की स्थापना और विकास प्रारंभ हुआ तथा कत्यूरियों के आगमन के समय यह इतना विकसित हो गया था कि इसने कत्यूरियों का ध्यान आकृष्ट किया और राजधानी के रूप में प्रतिष्ठित हुआ।

1.9.3 त्रयम्बपुर

तालेश्वर द्विजवर्मन के वृषताप शासन पत्र में त्रयम्बपुर का उल्लेख इस प्रकार आता है—“ ब्र (ब्र)ह्मपुरे कार्तिकेयपुरग्रामकस्समज्जाव्यस्ता च भूस्त्रयम्बपुरे”। इससे प्रतीत होता है कि त्रयम्बपुर की स्थिति कार्तिकेयपुर ग्राम के समीप ही थी। कार्तिकेयपुर ग्राम कत्यूर घाटी स्थित वर्तमान बैजनाथ ग्राम या इसके समीपवर्ती कोई और ग्राम रहा होगा जो आगे चलकर विशाल राजधानी नगर के रूप में विकसित हुआ था। इस आधार पर प्रतीत होता है कि त्रयम्बपुर भी बैजनाथ घाटी का कोई ग्राम रहा होगा।

1.9.4 दीपपुरी

इस नगरी का उल्लेख भी द्विजवर्मन के वृषताप शासन पत्र की 21 वीं पंक्ति में आया है यथा— “वि (बि) त्वकेजयभटपल्लिका बचाकरण ग्रामों दीपपुर्या” अभिलेख में इसे बचाकरण ग्राम और क्रोडशूर्य

ग्राम के मध्य स्थित बतलाया गया है, इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि यह संभवतः बागेश्वर तहसील में स्थित कोई नगर रहा होगा।

1.10 सारांश

अल्मोड़ा जनपद के तालेश्वर नामक स्थान से प्राप्त द्विजवर्मन और विष्णुवर्मन के ताम्रपत्र उत्तराखण्ड के प्राचीनतम ताम्रपत्र हैं, ये दोनों ताम्रपत्र हमें चौथी सदी ईस्वी के उत्तरार्द्ध से सातवीं सदी तक उत्तराखण्ड की राजनीतिक अवस्था, धार्मिक स्थिति, भू-राजस्व संबंधी पैमानों के साथ-साथ उत्तराखण्ड में स्थित विभिन्न स्थान नामों का भी परिचय देते हैं। इन ताम्रपत्रों से हमें पौरव-वर्मनों के वंशक्रम का भी पता चलता है। तालेश्वर अभिलेखों में गजसेना के अधिकारी का उल्लेख यह महत्वपूर्ण सूचना देता है कि पौरव-वर्मनों का राज्य न केवल पर्वतीय क्षेत्रों तक सीमित था वरन् यह आस-पास के तराई क्षेत्रों तक भी विस्तृत था क्योंकि हाथी एवं ऊँट की सेना इसी क्षेत्र के लिए उपयुक्त रही होगी। विशाल पदाधिकारियों का उल्लेख भी वृहत् साम्राज्य का परिचायक है। ताम्रपत्रों के अध्ययन से ही जानकारी मिलती है कि पौरव-वर्मनों ने गुप्त शासन से प्रेरणा ली थी।

1.11 तकनीकी शब्दावली

ताम्रपत्र अभिलेख – तांबा धातु के पत्र पर लिखे गये लेख

मुद्रा— इस इकाई में शासकीय मुहर

भूमि-सर्वेक्षण— भूमि की माप-जोख

विरुदावली – उपाधि

1.12 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

इकाई 1.4 के प्रश्न 1 के उत्तर के लिए देखिये 1.4

प्रश्न 2 के उत्तर के लिए देखिये 1.4

1.13 संदर्भ ग्रंथ सूची

Gupte, Y.R. (1915-16) : *Two Taleswar Copper Plates*, Epigraphia Indica, XIII : 109-21.

Joshi, M.P. (1990) : *Uttaranchal (Kumaon-Garhwal) Himalaya: An Essay in Historical Anthropology*. Shree Almora Book Depot, Almora.

Thaplyal, K.K. (1972) : *Studies in Ancient Indian Seals*, Akhila Bhartiya Sanskrit Parishad, Lucknow.

1.14 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

कठोच, यशवन्त सिंह (1981) : 'मध्यहिमालय का पुरातत्त्व' रोहिताश्व प्रिंट्स, लखनऊ।

डबराल, शिवप्रसाद (1965) : 'उत्तराखण्ड का इतिहास', बीरगाथा प्रकाशन, दोगडा।

रतूड़ी, हरिकृष्ण (1980) : 'गढ़वाल का इतिहास', द्वितीय संस्करण, भागीरथी प्रकाशन, टिहरी गढ़वाल।

1.15 निबंधात्मक प्रश्न

1. पौरव-वर्मन शासन का गुप्त शासन से तुलनात्मक अध्ययन कीजिये।

कार्तिकेयपुर राजवंश

- 2.2 प्रस्तावना
- 2.2 उद्देश्य
- 2.3 कार्तिकेयपुर राजवंश एवं पाण्डुकेश्वर ताम्रपत्र
- 2.4 कार्तिकेयपुर राजवंश
 - 2.4.1 वंशक्रम
 - 2.4.2 पदाधिकारी
- 2.5 कत्यूरी प्रशासन
- 2.6 कार्तिकेयपुर राज के प्रमुख स्थल
 - 2.6.1 कार्तिकेयपुर
 - 2.6.2 सुभिक्षपुर
 - 2.6.3 तंगणपुर
 - 2.6.4 हर्षपुर
- 2.7 भूमि माप संबंधी पैमाने
 - 2.7.1 हस्तक
 - 2.7.2 नालिका वाप
 - 2.7.3 द्रोण वाप
 - 2.7.4 खारि वाप
- 2.8 सारांश
- 2.9 तकनीकी शब्दावली
- 2.10 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर
- 2.11 संदर्भ ग्रंथावली
- 2.12 निबंधात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

पौरव-वर्मनों के उपरान्त सातवीं सदी ईस्वी के उत्तरार्द्ध में उत्तराखण्ड में जिन शासकों ने राज्य किया, उन्हें उनके स्थान-नाम के आधार पर कत्यूरी शासकों के नाम से अभिहित किया गया है। कत्यूरी कौन थे ? इस विषय में विवाद है, कत्यूरियों के मूल-पुरुष के विषय में भी पर्याप्त विवाद है, फिर भी अभिलेखीय आधार पर बसंतन देव को कत्यूरियों का प्रथम शासक माना जा सकता है, लेकिन अनुश्रुतियाँ इसका श्रेय वासुदेव नामक व्यक्ति को देती हैं। एटकिंसन इन दोनों ही व्यक्तियों को अलग-अलग न मानकर एक ही व्यक्ति मानते हैं और बताते हैं कि जोशीमठ के वासुदेव मन्दिर में इस राजा का नाम 'श्री वासुदेव-गिरिराज-चक्र-चूडामणि' उत्कीर्ण है ।

वाई0आर0 गुप्ते, वासुदेव नामक नरेश के अस्तित्व को अस्वीकार करते हैं और कहते हैं कि बसंतन और वासुदेव की एकता को मानने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता है। प्रतीत होता है कि हर्ष की मृत्यु के उपरान्त उत्तर-भारत में उत्पन्न राजनैतिक अस्थिरता का लाभ उठाकर कुणिन्दों ने पुनः संगठित होने का प्रयास किया और उन्हें संगठित करने में प्रमुख भूमिका निभाहने वाला संभवतः वासुदेव नामक व्यक्ति था, पर्वतीय क्षेत्रों में फैले सभी कुणिन्दों को एकत्र करने के कारण ही संभवतः उसे 'गिरिराज' की उपाधि भी दी गयी। प्रतीत होता है कि वासुदेव के इस संगठनात्मक कार्य को एक राज्य का रूप देने का कार्य बसंतन ने किया और इसीलिए कत्यूरी अभिलेखों में वह प्रथम कत्यूरी शासक के रूप में वर्णित मिलता है, अतः बसंतन को ही कुणिन्दों को कत्यूर-घाटी (इसीलिए वे कत्यूरी कहे गये) में पुनः सत्तासीन करने का श्रेय दिया जा सकता है ।

कत्यूरी अनेक घरानों में संगठित थे, इसका विवरण आगे दिया जायेगा, परन्तु इतना निश्चित है कि कत्यूरी प्रशासन की उदात्त नीतियों का पालन सभी घरानों ने विभिन्न कालों में समान रूप से किया, जिसके कारण इस काल में चहुंमुखी विकास संभव हो सका। इस काल के अवशेषों से अनुमान लगाया जा सकता है कि तत्कालीन जनता ने विभिन्न संसाधनों का उत्पादन अपनी आवश्यकता से अधिक कर राज्य को सुदृढ़ आर्थिक आधार प्रदान किया होगा। इस काल की भव्य झांकी प्रस्तुत करने वाले अनेक साक्ष्य-ताम्रपत्राभिलेख, प्रस्तर अभिलेख, मन्दिर, मूर्तियाँ/प्रतिमाएँ उत्तराखण्ड के विभिन्न स्थलों से प्रकाश में आये हैं।

2.2 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आप को कत्यूरी राजवंश के बारे में अनेक तथ्यों से अवगत कराना है। इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप निम्नलिखित जानकारी प्राप्ति कर सकेंगे –

- कत्यूरी इतिहास के प्रमुख स्रोत पाण्डुकेश्वर ताम्रपत्रों को जारी करने वाले शासकों के नाम
- इन ताम्रपत्रों की प्रमुख विशेषताएँ
- कत्यूरियों के विभिन्न घराने और उनके शासकों के नाम
- कत्यूरी शासन में शामिल पदाधिकारी
- कत्यूरी प्रशासनिक व्यवस्था की प्राथमिक संरचना
- कार्तिकेयपुर राज्य के प्रमुख स्थल

- कत्यूरियों का भूमि प्रबन्ध

2.3 कार्तिकेयपुर राजवंश एवं पाण्डुकेश्वर ताम्रपत्र

कार्तिकेयपुर राजवंश की सम्यक जानकारी के प्रमुख स्रोत के रूप में पाण्डुकेश्वर ताम्रपत्रों का महत्व सर्वाधिक है। गढ़वाल के ऋषिकेश-बद्रीनाथ मार्ग पर स्थित पाण्डुकेश्वर नामक स्थल स्थानीय इतिहास में धार्मिक एवं ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण रहा है। यहाँ से कत्यूरी शासकों के चार ताम्रपत्राभिलेख प्रकाश में आये हैं। इन ताम्रपत्रों में से ललितशूरदेव का 21वें वर्ष का ताम्रपत्र लगभग 24 इंच चौड़ा और 16 इंच ऊँचा है। इसके दायीं ओर निकले लगभग 5 इंच लम्बाई के हैन्डल-भाँति के प्रक्षेप के मध्य में एक 3 इंच व्यास वाली सीसे की मुद्रा जुड़ी है, जो सामने की ओर $1/2$ इंच तथा पीछे की ओर $1/4$ इंच बाहर निकली है। इस मुद्रा में बायीं ओर मुँह किये एक पसरा हुआ बैल है, जिसके नीचे तीन पंक्तियों का लेख उत्कीर्ण है, इसके अलावा इस प्रक्षेपित भाग में मुद्रा के बायीं ओर एवं बैल के शीर्ष के दूसरी ओर 'श्री' शब्द उत्कीर्ण है, इस अभिलेख में उत्कीर्ण अक्षर $1/4$ इंच से $3/8$ इंच माप के हैं। आशीष और शाप सम्बन्धी 9 पंक्तियाँ जो पद्य में लिखी गई हैं, के अलावा सम्पूर्ण अभिलेख गद्य में है। ललितशूर देव का 22वें वर्ष का ताम्रपत्र लगभग 24.4 इंच×15.6 इंच आकार का है, इसके दाहिनी ओर लगभग 4 इंच लम्बाई का एक प्रक्षेप (वर्गाकार छिद्र सहित) है। सम्भवतः इस प्रक्षेप में मूल रूप से राजकीय मुद्रा थी क्योंकि कीलहॉर्न द्वारा प्रकाशित इसी शासक के 21वें वर्ष के ताम्रपत्र के प्रक्षेपित भाग में एक लगभग 3 इंच व्यास की राजकीय मुद्रा जुड़ी बतलायी गयी है। ललितशूर के 22वें वर्ष के ताम्रपत्र में कुल मिलाकर 28 पंक्तियाँ हैं, जिनमें उत्कीर्ण अक्षर लगभग .4 इंच×.4 इंच माप के हैं। इस ताम्रपत्र का उत्कीर्णन पर्याप्त गहरा और सावधानीपूर्वक किया गया और लेख संरक्षण की दृष्टि से संतोषजनक स्थिति में बतलाया गया है।

सरकार के अनुसार ताम्रपत्र के अक्षर लगभग 9वीं सदी ईस्वी के उत्तर भारतीय अक्षरों के वर्ग के हैं, सरकार ने ललितशूर के इस अभिलेख की लिपि को अन्यत्र सिद्धमातृका लिपि बतलाया है। इस अभिलेख की भाषा संस्कृत है। अन्त में उत्कीर्ण 5 पद्य पंक्तियाँ, जो शाप से सम्बन्धित हैं शेष अभिलेख गद्य में लिखा गया है। वर्ण-विन्यास की दृष्टि से सरकार इस अभिलेख को पूर्व प्रकाशित इसी शासक के अभिलेख और कुछ अन्य समकालीन अभिलेखों से मिलता-जुलता मानते हैं। ललितशूर के इस अभिलेख की 24वीं-25वीं पंक्ति के अनुसार यह अभिलेख कार्तिक मास के कृष्ण पक्ष की 15वीं तिथि को ललितशूर के शासन के 22वें वर्ष में लिखा गया है जबकि 19वीं पंक्ति, विषुव-संक्रान्ति के पावन दिवस का उल्लेख करती है। कीलहार्न ने ललितशूर के 21वें वर्ष के अभिलेख की तिथि उस पर उत्कीर्ण लेख के आधार पर 22 दिसम्बर 853 ईस्वी निश्चित की थी।

पद्मटदेव का 25वें वर्ष का ताम्रपत्र लगभग 23.1 इंच लम्बा और 17.2 इंच चौड़ा है, इसमें दायीं ओर लगभग 4.8 इंच लम्बा एक प्रक्षेप है जिसमें एक वर्गाकार छेद है, जो राजकीय मुद्रा को जड़ने के लिए बनाया गया है। इस अभिलेख में कुल मिलाकर 28 पंक्तियाँ हैं, सरकार के अनुसार, इसके अक्षर ललितशूरदेव के ताम्रपत्रों के अक्षरों के आकार के ही हैं। अभिलेख की 26वीं पंक्ति में 2, 3, 4 और 5 के लिए सामान्य संख्यात्मक चिह्न मिलते हैं। इस अभिलेख की भाषा संस्कृत है और अन्त में लिखे एक आशीष सम्बन्धी पंधाश

के अलावा पूरा अभिलेख अलंकृत गद्य में लिखा गया है। सरकार के अनुसार इस अभिलेख का वर्ण-विन्यास, ललितशूरदेव के अभिलेखों की भाँति ही है, हालांकि इसमें स्थानीय उच्चारण का अत्यधिक प्रभाव प्रदर्शित होता है। सुभिक्षराजदेव के 4वें वर्ष का ताम्रपत्र लगभग 22.2 इंच लंबा और 19.2 इंच ऊँचा है। इसमें 42 पंक्तियाँ मिलती हैं, अभिलेख में अक्षरों का आकार लगभग 0.3 इंच × 0.3 इंच का है। इस अभिलेख के अक्षरों को भी उपरोक्त अभिलेखों के समान बतलाया गया है, विशेषकर पद्मटदेव के अभिलेख की भाँति जिसका कि सुभिक्षराज पुत्र था। अभिलेख की भाषा संस्कृत है, अभिलेख के अन्त में 7 आशीष और शाप सम्बन्धी दोहों को छोड़कर समस्त अभिलेख गद्य में हैं। अभिलेख का वर्ण-विन्यास और भाषा की विलक्षणता पद्मटदेव के अभिलेख की भाँति ही है। ललितशूरदेव का ताम्रपत्र अभिलेखानुसार माघवदि 3 वर्ष 21 विजयराज्य संवत्सर को जारी किया गया है, कीलहार्न इसकी तिथि 853 ईस्वी निर्धारित करते हैं। पद्मटदेव का ताम्र शासन अभिलेखानुसार माघवदि 13 वर्ष 25 प्रवर्द्धमान विजयराज्य संवत्सर को जारी किया गया है। एम.पी.जोशी, पद्मटदेव का शासन काल सन् 920 ईस्वी- 945 ईस्वी निर्धारित करते हैं। जोशी, सुभिक्षराजदेव का शासनकाल सन् 945 ईस्वी- 965 ईस्वी निर्धारित करते हैं। इस आधार पर इस ताम्रपत्र के जारी होने का समय 949 ईस्वी स्वीकार किया जा सकता है।

स्वमूल्यांकित प्रश्न

- 1- पाण्डुकेश्वर मंदिर से ललितशूरदेव के कितने ताम्रपत्र प्रकाश में आये हैं ?
- 2- पाण्डुकेश्वर ताम्रपत्रों की सामान्यतः विशेषताएँ क्या हैं ?

2.4 कार्तिकेयपुर राजवंश

पाण्डुकेश्वर अभिलेख उत्तरांचल के इतिहास की जानकारी के लिए प्रमुख स्रोत के रूप में प्रतिष्ठित हैं। ये अभिलेख कार्तिकेयपुर (ललितशूरदेव और पद्मटदेव के ताम्रपत्र) और सुभिक्षपुर (सुभिक्षराजदेव का ताम्रपत्र) से जारी किये गये हैं। विद्वानों ने कार्तिकेयपुर की निश्चित पहचान बैजनाथ (कत्यूर घाटी) से की है और सुभिक्षपुर को भी विद्वानों ने कार्तिकेयपुर के समीप स्थित या अन्य मत में कार्तिकेयपुर का ही अपर नाम माना है। पाण्डुकेश्वर ताम्रपत्रों में कत्यूरी शासकों के वंशक्रम के अतिरिक्त अनेकानेक स्थानीय स्थलों का उल्लेख, पदाधिकारियों की विस्तृत सूची, भूमि-माप संबंधी पैमाने तथा अनेकानेक महत्वपूर्ण जानकारी मिलती हैं।

2.4.1 वंशक्रम

वर्तमान तक ज्ञात साक्ष्यों के आधार पर सातवीं सदी ईस्वी के उत्तरार्द्ध से ग्यारहवीं सदी ईस्वी के मध्य शासन करने वाले कत्यूरी शासकों के छह घरानों की जानकारी है ; यथा –

बसंतनदेव

|

नाम अपठनीय

(बागेश्वर अभिलेख, प्रिंसेप 1838 : 1056—1060)

- 2- खर्परदेव
|
कल्याणराजदेव
|
त्रिभुवनराज देव

(बागेश्वर अभिलेख , प्रिंसेप 1838 : 1056—1060)

- 3- निम्बरदेव
|
ईष्टगणदेव
|
ललितशूरदेव
|
भूदेव देव

(बागेश्वर अभिलेख, पाण्डुकेश्वर अभिलेख)

- 4- सलोणादित्य
|
इच्छत देव
|
देसत देव
|
पद्मट देव
|
सुभिक्षराज देव
(पाण्डुकेश्वर ताम्रपत्र)

- 5- लखनपाल
|
इन्द्रपाल
|
त्रिभुवन पाल
(बैजनाथ—गणानाथ अभिलेख)

- 6- जतबलदेव
(कुलसारी अभिलेख)

उपरोक्त छह घरानों में से, दो घरानों— निम्बरदेव तथा सलोणादित्य— के घरानों की जानकारी पाण्डुकेश्वर अभिलेखों में मिलती है, निम्बरदेव के घराने का उल्लेख बागेश्वर, भूदेव देव के अभिलेख में भी आया है। कत्यूरियों के उत्थान का प्रश्न विवाद ग्रस्त है, इस संबंध में अनेक मत दिये गये हैं। पॉवेल प्राइस ने यह मत प्रतिपादित किया था कि कत्यूरी, कुणिन्दों के वंशज थे, हालांकि बाद में उन्होंने अपने मत को परिवर्तित कर कत्यूरियों को कुणिन्दों का राजनैतिक उत्तराधिकारी बतलाया। पॉवेल प्राइस के पूर्व मत को— कि, 'कत्यूरी, कुणिन्दों के वंशज थे'— पुनः नवीन साक्ष्यों के प्रकाश में एम.पी.जोशी ने स्थापित किया है। जोशी के अनुसार हर्ष की मृत्यु के उपरान्त, उत्तर—भारत में उत्पन्न राजनैतिक अस्थिरता का लाभ उठाकर

कुणिन्दों ने पहले अपने को जोशीमठ में संगठित किया और कालांतर में वे कत्यूर घाटी, बैजनाथ (जनपद अल्मोड़ा) में स्थापित हो गये। जोशी का मानना है कि कत्यूरियों का सामाजिक— राजनैतिक संगठन कबीलाई/गणतंत्रात्मक था, इनके अनेक मुखियाजन्य राजनैतिक संगठन थे, इसीलिए हमें कत्यूरी अभिलेखों में अनेक घरानों का उल्लेख मिलता है। अभिलेखों के आधार पर वर्तमान तक ज्ञात छह घरानों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। जोशी के अनुसार इनमें सबसे प्राचीन बसंतन देव का घराना था, तत्पश्चात् खर्पर देव और फिर क्रमशः निम्बरदेव, सलोणादित्य, लखनपाल तथा जतबलदेव का घराना था। कत्यूरी साम्राज्य का संस्थापक बसंतनदेव था और संभवतः उसी ने जोशीमठ से अपनी राजधानी कार्तिकेयपुर स्थानान्तरित की थी।

2.4.2 पदाधिकारी

पाण्डुकेश्वर ताम्रपत्रों में कार्तिकेयपुर राजवंश के पदाधिकारियों की विस्तृत सूची, कत्यूरी प्रशासनिक व्यवस्था के व्यापक स्वरूप की द्योतक है। एटकिंसन, कत्यूरी—प्रशासन और पाल—प्रशासन में अनेक समानताओं का उल्लेख करते हैं, लेकिन हमारे पास ऐसे निश्चित साक्ष्य मौजूद नहीं हैं, जिनके आधार पर कत्यूरी प्रशासन का प्रेरणा—स्रोत, पाल—प्रशासन को माना जा सके। वस्तुतः इस प्रकार के प्रभाव की व्याख्या एम.पी.जोशी ने 'पीअर—पौलिटी—इण्टरेक्सन' के आधार पर की है।

कार्तिकेयपुर राजवंश के प्रशासन को एक भारी—भरकम प्रशासन कहा जा सकता है। यह पौरव—वर्मनों की तुलना में कहीं अधिक विस्तृत था। जोशी इसका कारण कत्यूरियों के समय में समाज का अपेक्षाकृत अधिक जटिल और स्तरीकृत होना बतलाते हैं। इसके अलावा कत्यूरियों का पौरव—वर्मनों की तुलना में कहीं अधिक विशाल साम्राज्य भी इसका एक कारण रहा होगा। गुप्तोत्तर काल में समस्त उत्तर भारत में सामन्तवाद तेजी से बढ़ा था, पाण्डुकेश्वर पत्रों में भी ऐसे अनेक पदाधिकारी वर्णित हुये हैं, अतः माना जा सकता है कि कत्यूरी प्रशासन में बढ़ते हुये सामन्तवाद ने भी पदाधिकारियों की संख्या पर्याप्त बढ़ा दी होगी। विभिन्न पदों के अस्तित्व ये यह भी पता चलता है कि कत्यूरी शासकों ने राजनैतिक तथा सार्वजनिक जीवन के प्रायः सभी क्षेत्रों में अपना प्रभाव स्थापित कर रखा था।

कार्तिकेयपुर राजवंश में राजपरिवार से सम्बद्ध पदनामों के अन्तर्गत, महाराजाधिराज, महाराज, राजा, नृपति, नरेन्द्र, क्षितीश, राज्ञी जैसी उद्बोधन मिलते हैं। राजा के लिए परमह्वारक महाराजाधिराज परमेश्वर तथा रानी के लिए 'राज्ञी महादेवी' उपाधियों का प्रयोग मिलता है। इन अभिलेखों में राजाओं के साथ उनकी रानियों के नाम भी मिलते हैं। पाण्डुकेश्वर ताम्रपत्रों में राजाओं के लिए परममाहेश्वर, परमब्रह्मण्य, परमवैष्णव, धराधरेन्द्रकृतयुगधर्मावतार, कलिकलुषमातंगसूदन, समस्तारातिचक्रप्रमर्दन जैसे विरूदों का प्रयोग मिलता है। ये विरूद जहाँ कत्यूरी शासकों की विभिन्न सम्प्रदायों में आस्था के परिचायक हैं, वहीं कत्यूरी शासकों में दैवत्व के गुणों को आरोपित करने की समसामयिक भारतीय परम्परा को भी बतलाते हैं।

पाण्डुकेश्वर अभिलेखों में 'राजपुत्र' और 'राजन्यक' पदों का उल्लेख आया है। राजपुत्र का शाब्दिक अर्थ 'राजा का पुत्र' है। अभिलेखों में संभवतः यह पद राजा के उस पुत्र के लिए प्रयुक्त किया गया है जो शासन—कार्य में राजा का हाथ बंटाता हो, क्योंकि पाण्डुकेश्वर पत्रों में राजा के आज्ञानुवर्ती अधिकारियों में राजपुत्र को भी सम्मिलित किया गया है। प्राचीन भारत में 'राजन्यक' किसी राज्य के क्षत्रिय उत्तराधिकारी थे जबकि सामान्य क्षत्रियों के वंशज 'राजन्' द्वारा उद्बोधित किये जाते थे। 'राजन्यक' को 'राजकुमार' भी माना

जाता है। बेनीप्रसाद बंगाल के पाल अभिलेखों के अनुकरण पर ही पाण्डुकेश्वर पत्रों में 'राजन्यक' को प्रयुक्त मानते हैं। पाण्डुकेश्वर अभिलेखों में राजन्यक का राजपुत्र से पहले उल्लेख आना भी संभवतः उसकी महत्वपूर्ण स्थिति का द्योतक है।

कत्यूरियों के विस्तृत राज्य में राजा को शासन कार्य में सहायता एवं परामर्श देने के लिए अवश्य ही केन्द्रीय मन्त्रिपरिषद् जैसी कोई संस्था रही होगी। संभवतः इस संस्था के सदस्यों को ही 'राजामात्य' कहा गया है। 'राजामात्य' की भांति ही 'कुमारामात्य' पद का उल्लेख भी पाण्डुकेश्वर पत्रों में आया है। हेमचन्द्र रायचौधरी 'कुमारामात्य' के निम्नलिखित अर्थ बतलाते हैं— (1) कुमारामात्य (राजकुमार का मंत्री), राजामात्य (राजा के मंत्री) से भिन्न होता था (2) वैद्य के अनुसार राजकुमारों की निगरानी में मंत्री को कुमारामात्य कहा जाता था, (3) कोई ऐसा सहायक मंत्री जिसका पिता जीवित हो, कुमारामात्य कहलाता था; (4) वह जो अपनी युवावस्था से ही मंत्री रहा हो, कुमारामात्य कहलाता था। परन्तु एपिग्राफिया इण्डिका के अनुसार कुमारामात्य दो भागों में विभक्त थे— अर्थात् (1) युवराजपादीय, वे जो युवराज की सेवा में थे, तथा (2) परम भट्टारकपादीय, वे जो राजा की सेवा में थे। कुमारामात्य में 'कुमार' शब्द दक्षिण के 'पिन' 'चिक्क' 'इम्मदि' 'एलय' आदि का पर्यायवाची तथा 'पेद' का विलोम था और गुप्त काल में कुमारामात्य अधिकतर जिला-अधिकारी के पद पर कार्य करते थे, इस पद पर कार्य करने वाले को नायक, मंत्री तथा विदेश-मंत्री का कार्य भी करना पड़ता था। पाण्डुकेश्वर पत्रों में 'महासन्धिविग्रहाक्षपटलाधिकृत' पद का उल्लेख मिलता है। ललितशूर देव के शासन में, श्री मान् आर्यवतु और पद्मटदेव के शासन में, श्री नारायणदत्त नामक व्यक्ति इन पदों पर कार्यरत थे। महासन्धिविग्रहाक्षपटलाधिकृत, दो पदों— महासन्धिविग्रहिक तथा अक्षपटलाधिकृत को मिलाकर बनाया गया प्रतीत होता है। संभवतः एक ही व्यक्ति को दोनों पद देने के कारण इस नये पद का सृजन हुआ है, क्योंकि सुभिक्षराज के शासन में यह पद नहीं मिलता है, लेकिन महासन्धिविग्रहाधिकृत का उल्लेख सुभिक्षराज के ताम्रपत्र में आया है। महासन्धिविग्रहिक पद, युद्ध और शान्ति के मंत्री (विदेश मंत्री) तथा अक्षपटलाधिकृत पद, गृह-मंत्री आदि के रूप में गुप्त अभिलेखों में व्यवहृत हुआ है। संभवतः कत्यूरी युग में भी इन पदों का यही कर्तव्य रहा होगा। अक्षपटलाधिकृत का उल्लेख हर्ष के अभिलेखों में भी मिलता है; जहाँ महाक्षपटलिक तथा ग्रामस्थपटलिक भूमि-रिकार्ड के कार्य किया करते थे। इस आधार पर अक्षपटलाधिकृत का एक मुख्य कर्तव्य रिकार्ड-अधिकारी के रूप में भी माना जा सकता है।

पाण्डुकेश्वर ताम्रपत्रों में महादानाक्षपटलाधिकृत का उल्लेख आया है। ललितशूरदेव के लेख में श्री पीजक; पद्मटदेव के लेख में श्रीभट्टधण तथा सुभिक्षराज के लेख में श्रीकमला का नाम महादानाक्षपटलाधिकृत के रूप में आया है। सुभिक्षराज के लेख में देसतदेव को भारत की सभी दिशाओं के ब्राह्मणों को प्रभूत दान देने वाला और पद्मटदेव को बलि, दधीचि, चन्द्रगुप्त, कर्ण जैसे प्रसिद्ध दानियों से भी अधिक गौरव अर्जित करने वाला कहा गया है। इससे पता चलता है कि कत्यूरी शासकों ने भी प्रभूत धन दान में दिया था और इसके लिए महादानाक्षपटलाधिकृत के अधीन एक दान-विभाग की व्यवस्था भी की थी। भूमि सम्बन्धी दानादि के कार्यों का लेखा-जोखा रखने का कार्य भी संभवतः इसी विभाग के हाथ में था।

पाण्डुकेश्वर पत्रों में 'महाकर्तात्रिक' पद आया है। गुप्त तथा पाल अभिलेखों में भी इस पद का उल्लेख आया है। इसे राजकीय कार्यों का प्रबन्धकर्ता अधिकारी बताया गया है, संभवतः कत्यूरी शासन में विभिन्न राजकीय कार्यों के प्रबन्ध की जिम्मेदारी इसी अधिकारी की रही होगी। कत्यूरी ताम्रपत्रों में 'अष्टादशप्रकृत्याधिष्ठानीयन' नामक पद का उल्लेख भी आया है, कत्यूरी शासन में यह 18 विभागों का

अधिकारी बतलाया गया है। पाण्डुकेश्वर अभिलेखों में उल्लिखित 'गमागमिक' पद प्राचीन भारत में नगर में प्रवेश एवं निर्गमन का कार्य देखता था और यह संदेशवाहकों की व्यवस्था भी करता था। पाण्डुकेश्वर पत्रों में प्रयुक्त दिविर पद गुप्तकाल में मिलता है। यह क्लर्क का अधीक्षक होता था तालेश्वर और पाण्डुकेश्वर पत्रों में 'दिविर' का उल्लेख लेखक के रूप में ही हुआ है।

पाण्डुकेश्वर पत्रों में महाप्रतिहार पद का उल्लेख आया है। प्राचीन भारत में इस पद का अधिकारी महल में आने वाले आगन्तुकों तथा दूतों को प्रवेश दिलाने वाले सहायक के रूप में कार्य करता था। कत्यूरी शासन में भी यह संभवतः राजदरबार का प्रमुख स्वागत-अधिकारी रहा होगा। कत्यूरी ताम्रपत्रों में आये 'शरभंग' पद को सरकार ने राजकीय चिकित्सक बतलाया है; लेकिन एटकिंसन इसे धनुर्धरों का या धनुष-बाण तैयार करने वाले सरकारी कारखाने का अध्यक्ष मानते हैं, 'खाड्गिक' पद को सरकार, तलवार चलाने वाले या उनके अधीक्षक से समीकृत करते हैं। संभवतः कत्यूरी काल में तलवार चलाने वाले सैनिकों का कोई विशेष दस्ता रहा होगा, जिसके प्रधान के लिए यह पद प्रयुक्त किया गया है। 'किशोरवडवागोमहिष्याधिकृत' पद को सरकार राजसी पशुधन की देखभाल करने वाले विभाग का अधिकारी मानते हैं। 'प्रतिशूरक' पद के विषय में सरकार का मानना है कि ये पुरस्कार हेतु परस्पर युद्ध करते थे।

पाण्डुकेश्वर अभिलेखों में 'दूतक' पद आया है यह पद अत्यन्त प्राचीन है। पाणिनी ने भी इसका उल्लेख किया है। प्राचीन भारत में यह राजा का प्रतिनिधि होता था और विशेष अवसरों पर विभिन्न व्यक्तियों या पदाधिकारियों को राजा का दूतक बनाया जाता था। पाण्डुकेश्वर पत्रों में भूमि संबंधी अनुदान के लिए महादानाक्षपटलाधिकृत को दूतक बनाया गया है, ताकि प्रदत्त भूमि की माप-जोख और सीमा-निर्धारण का कार्य उचित ढंग से कार्यान्वित हो सके। अभिलेखों में दूत-प्रेषणिक पद दूतों को विभिन्न कार्यों के लिए भेजने वाले अधिकारी के रूप में उल्लिखित हुआ है।

पाण्डुकेश्वर के चारों अभिलेखों में सामन्त और महासामन्त पद आये हैं, जबकि पद्मटदेव और सुभिक्षराज के अभिलेखों में महासामन्ताधिपति पद भी आया है। प्राचीन काल से ही छोटे-छोटे राज्यों के प्रशासकों को सामन्त पद दिये जाने का उल्लेख मिलता है और कालान्तर में जब ये पद पैतृक हो गये और इनकी शक्ति बढ़ती गयी तो इन्हें महासामन्त, महाराज-सामन्त आदि पदों से विभूषित किया जाने लगा। कत्यूरी काल में भी यह पद संभवतः ऐसे छोटे-छोटे शासकों के लिए प्रयुक्त किया गया है, जो कत्यूरी राज्य के अधीन होते हुए भी अपने क्षेत्रों में अपेक्षाकृत अधिक स्वतंत्र रहे होंगे।

पाण्डुकेश्वर पत्रों में 'नरपति' और 'महामनुष्य' पदों का वर्णन आया है। नरपति पद को नौटियाल ने तरपति मानते हुए घाट-अधिकारी बतलाया है और महामनुष्य पद को एटकिंसन, ग्राम-प्रमुख मानते हैं। संभवतः कत्यूरी काल में नरपति और अश्वपति पद एक ही व्यक्ति के पास था और यह पद सैनिक महत्व का प्रतीत होता है। महामनुष्य पद पाण्डुकेश्वर के चारों अभिलेखों में 'ठक्कुर-महामनुष्य' की भाँति आया है। जैसा कि हम जानते हैं कि ठक्कुर पद समाज के एक विशेष वर्ग (क्षत्रिय) के सदस्यों के लिए प्रयुक्त किया जाता रहा है। संभवतः कत्यूरी काल के मिश्रित समाज में प्रभावकारी क्षत्रिय नेता को ठक्कुर कहा जाता रहा होगा, इसी प्रकार महामनुष्य पद भी समाज के किसी वर्ग-विशेष के नेता के लिए प्रयुक्त होता होगा क्योंकि ग्राम-प्रमुख के लिए अन्य पद-नाम कत्यूरी युग (समसामयिक भारत) में ज्ञात थे, अतः इस पद-नाम से ग्राम-प्रमुख को संबोधित करना असंगत प्रतीत होता है।

पाण्डुकेश्वर पत्रों में 'कोटपाल' का उल्लेख आया है। मध्यकाल में पहाड़ी-दुर्गों का सामरिक दृष्टि से अत्यधिक महत्व था, कोटपाल संभवतः ऐसे ही 'कोट' या दुर्ग का रक्षक अधिकारी रहा होगा। अभिलेखों में 'वर्त्मपाल' पद भी मिलता है। वर्त्म का शाब्दिक अर्थ 'पथ' या 'सड़क' होता है। वर्तमान की भाँति ही प्राचीन काल में भी सड़कों का अत्यधिक महत्व था। व्यापार-वाणिज्य एवं दूरस्थ क्षेत्रों को जोड़ने के लिए राज्य द्वारा पथों का निर्माण कराया जाता था, इन सड़कों की सुरक्षा एवं देखभाल का दायित्व वर्त्मपाल पर था। पाण्डुकेश्वर अभिलेखों में आये 'खण्डरक्षाधिपति' पद को बेनीप्रसाद ने अंगरक्षक श्रेणी में शामिल किया है जबकि सरकार इसे लघु क्षेत्र का प्रभारी अथवा राजसी अभियन्ता मानते हैं। रायचौधरी, महादण्डनायक पद को मुख्य सेनाध्यक्ष बतलाते हैं, संभवतः इसे न्यायिक अधिकार भी प्राप्त थे और यह राज्य में कानून एवं व्यवस्था का संरक्षण और दण्डविधियों की क्रियान्विति से सम्बद्ध दण्डनायकों का प्रधान रहा होगा। पाण्डुकेश्वर पत्रों में आये दण्डपाशिक, दशापराधिक जैसे पद कानून-व्यवस्था से सम्बद्ध प्रतीत होते हैं। दण्डपाशिक पद अपने नाम के अनुरूप अपराधियों को पकड़ने के लिए पाश् (हथकड़ी) का प्रयोग करता रहा होगा। दशापराधिक पद का अधिकारी दण्डस्वरूप लगाये गये धन को वसूलने का कार्य करता था।

पाण्डुकेश्वर पत्रों में विषयपति पद का उल्लेख मिलता है। गुप्तकाल में विषयपति (विषय या जिले का पदाधिकारी) का पद कुमारामात्य नामक राजकीय अधिकारी अथवा आयुक्तक अथवा जागरीदार 'महाराजा' को दिया जाता था। संभवतः कत्यूरी काल में भी यह पद इसी रूप में रहा होगा। 'प्रमातार' पद भी कत्यूरी अभिलेखों में मिलता है। गुप्तकाल में भूमि-सर्वेक्षण के कार्य को करने वाले अधिकारी को 'प्रमातृ' कहा जाता था प्रतीत होता है कि कत्यूरी काल में भी प्रमातार, भूमि-सर्वेक्षण से सम्बन्धित रहा होगा। विनियुक्तक पद पाण्डुकेश्वर पत्रों में आया है, सरकार के अनुसार यह एक अधीनस्थ अधिकारी था जिसकी नियुक्ति गवर्नर द्वारा की जाती थी। गुप्तकाल में 'शौलिक' का कार्य नगर में प्रवेश करने वालों तथा हाट-बाजारों में विक्रय की वस्तुओं पर शुल्क वसूल करना था, कत्यूरी युग में भी शौलिक का यही कार्य रहा होगा। गौलिक पद को एटकिंसन सैनिक अधिकारी मानते हैं। भोगिक एवं भागिक पद अत्यन्त प्राचीन हैं। भोगकर, भूमि का उपयोग करने के एवज में और भागकर कृषि उपज में राजा का हिस्सा था, इन्हें एकत्र करने वाले कर्मचारियों को ही भोगिक एवं भागिक कहा जाता था।

उपरोक्त महत्वपूर्ण पदनामों के अतिरिक्त ब्रह्मचारी, गौगुलिक, पारिषद जैसे पदनाम भी पाण्डुकेश्वर अभिलेखों में आये हैं, ये पदनाम धर्म से सम्बन्धित प्रतीत होते हैं। इन अभिलेखों में वर्णित पदाधिकारियों की वृहत् सूची कत्यूरियों के व्यापक प्रशासनिक संगठन को बतलाती है साथ ही इस सूची से यह भी पता चलता है कि कत्यूरी सम्राटों ने राजनीतिक एवं सार्वजनिक जीवन से सम्बन्धित प्रायः प्रत्येक क्षेत्र में अपना प्रभाव स्थापित कर रखा था।

स्वमूल्यांकित प्रश्न

- 1- वर्तमान तक प्राप्त अभिलेखों से कत्यूरियों के कितने घरानों की जानकारी मिलती है ?
- 2- सुभिक्षराज के लेख में पद्मटदेव को किन प्रसिद्ध दानियों से भी अधिक गौरव अर्जित करने वाला कहा गया है?

2.5 कत्यूरी प्रशासन

पाण्डुकेश्वर ताम्रपत्रों में वर्णित पदाधिकारियों का पिछले पृष्ठों में विश्लेषण किया जा चुका है । इन पदाधिकारियों के कर्तव्यों को जानने के उपरान्त कत्यूरी प्रशासनिक व्यवस्था की प्राथमिक संरचना निश्चित की जा सकती है ।

कत्यूरी प्रशासन में राजा सर्वोच्च था, उसके द्वारा धारण की गयी बड़ी-बड़ी विरुदावलियाँ, जहाँ राजा के सर्वोच्च सत्ताधारी होने का संकेत करती हैं ,वहीं कुछ राजाओं की शूर-वीरता एवं विजेता होने की परिचायक भी हैं।कत्यूरी शासक सर्वधर्म समभाव पर आस्था रखते थे, हालांकि भूदेव देव ने स्वयं को परम ब्राह्मण भक्त एवं बुद्ध श्रमण शत्रु घोषित किया था।कत्यूरी शासक उदार एवं दानी थे, विभिन्न मन्दिरों को दिये गये दान-पत्र इसके परिचायक हैं।राजा, शासन का केन्द्र बिन्दु होता था।वह न्याय, सेना एवं कार्यकारी शक्तियों का प्रधान था, संभवतः सभी मन्त्रियों, पदाधिकारियों की नियुक्ति एवं विमुक्ति का अधिकार उसी का था। विदेशी राज्यों के साथ सन्धि एवं विग्रह का निर्णय वही करता था।

राजा की सहायतार्थ एवं मंत्रणार्थ, मन्त्री-परिषद रही होगी, जो राजा के प्रति अपने कृत्यों के लिए पूर्णरूपेण उत्तरदायी रही होगी।मन्त्रियों के अधीन एक से अधिक विभागों का उल्लेख भी मिलता है।शासन, अनेक विभागों में विभक्त था, अष्टादशप्रकृत्याधिष्ठानीयन जैसा पद अठारह विभागों के अध्यक्ष की ओर संकेत करता है, विभिन्न मन्त्रियों के कर्तव्य निर्धारित थे इनका उल्लेख पीछे किया जा चुका है।

राज्य की विशालता, यातायात माध्यमों की न्यूनता एवं भौगोलिक वैभिन्नता के कारण प्राचीन काल में एक ही केन्द्र से शासन करना सुगम नहीं था।अतः प्राचीन समय में शासन की सुविधा के लिए राज्य को अनेक इकाइयों में बाँटा जाता था।कत्यूरी अभिलेख भी उपरिक, ठक्कुर, महासामन्त, सामन्त, प्रान्तपाल जैसे पदाधिकारियों का उल्लेख करते हैं, ये पदाधिकारी संभवतः कत्यूरी काल में प्रान्त या भुक्ति जैसी इकाइयों के शासक रहे होंगे । ऐसे सभी शासक राजा के सीधे अधीन रहे होंगे, क्योंकि पाण्डुकेश्वर पत्रों में इन सभी को सम्बोधित और आदेशित किया गया है । केन्द्र की भाँति ही इन इकाइयों में भी विभागाध्यक्ष एवं अन्य कर्मचारी रहे होंगे जो कृषि, आन्तरिक शान्ति, सुरक्षा, न्याय, वन, पशु, कर, अभिलेख आदि से सम्बन्धित कार्यों में शासक को सहायता एवं परामर्श देते होंगे।

कत्यूरी प्रशासन में विषय या जिला जैसी इकाई का उल्लेख भी मिलता है।इसके शासक को विषयपति कहा जाता था,गुप्त-शासन के अनुकरण में हम मान सकते हैं कि, विषयपति का पद कुमारामात्य नामक राजकीय अधिकारी अथवा आयुक्तक अथवा जागीरदार महाराज को दिया जाता था।इनकी सहायता के लिए भी अनेक कर्मचारियों/पदाधिकारियों की व्यवस्था रही होगी।

कत्यूरी अभिलेखों में नगर एवं ग्राम जैसी इकाइयों का उल्लेख हुआ है।नगरों के प्रशासन में श्रेष्ठी तथा गावों के प्रशासन में महत्तम की सहायता ली जाती रही होगी।प्रशासन में इनका भी महत्वपूर्ण योगदान रहा होगा ,क्योंकि अभिलेखों में इन्हें भी आदेशित किया गया है ।

पाण्डुकेश्वर अभिलेखों में पदाधिकारियों के अतिरिक्त विभिन्न निवासियों और जातियों को भी सम्बोधित एवं आदेशित किया गया है।इससे पता चलता है कि कत्यूरी काल में समाज अधिक मिश्रित एवं स्तरीकृत हो गया था।राज्य द्वारा दशापराधिक, चौरौद्धरणिक, दण्डपाशिक जैसे अधिकारियों की नियुक्ति के

पीछे समाजार्थिक-व्यवस्था तथा जनसंख्या की वृद्धि थी जिसके कारण सामाजिक समस्याएँ बढ़ रही थी और सामाजिक सुरक्षा, कानून एवं व्यवस्था को स्थापित रखने के लिए ही इन अधिकारियों की नियुक्ति की गयी थी।

कत्यूरी काल में किसी प्रकार की मुद्रा निर्गमित नहीं की गयी है। सम्भवतः इस काल में वाणिज्यिक क्रियाकलाप मुख्यतः वस्तु-विनिमय के द्वारा होते थे। पद्मटदेव के ताम्रपत्र में नन्दन नामक व्यक्ति द्वारा भूमि को मूल्य देकर खरीदने और बदरिकाश्रम के पुजारी को उसे दान करने का उल्लेख आता है। कत्यूरी काल में भूमि के क्रय में सुवर्ण देने का उल्लेख अभिलेखों में हुआ है। इस सन्दर्भ में जोशी बताते हैं कि कुणिन्द, यौधेय और कुषाण सिक्कों के उपरान्त दसवीं सदी ईसवी तक उत्तरांचल में मुद्राओं के प्रमाण नहीं मिलते हैं इसका कारण बताते हुए वह लिखते हैं कि, उत्तर-कुणिन्दकाल में उत्तराखण्ड में मौद्रिक अर्थव्यवस्था का अत्यन्त सीमित भाग था, जैसा कि हाल तक स्थानीय व्यापार वस्तु-विनिमय द्वारा होता था और अन्य आर्थिक गतिविधियाँ 'जजमानी प्रणाली' द्वारा निर्देशित होती थीं।

कत्यूरी काल आर्थिक समृद्धि का काल था। इस काल के अभिलेखों में प्रचुर दान देने का उल्लेख आता है। कत्यूरी काल में निर्मित विभिन्न भव्य एवं विशाल मन्दिर-समूह, कलात्मक प्रतिमाएँ एवं मूर्तियाँ, नौले, बावड़ियाँ आदि भी इस काल की समृद्धि के परिचायक हैं। कत्यूरी काल की विस्तृत प्रशासनिक एवं सैनिक व्यवस्था भी राज्य की समृद्धि को व्यक्त करती है। कत्यूरी अभिलेखों में किसी प्रकार के कर का उल्लेख नहीं मिलता है लेकिन करों से सम्बन्धित विभिन्न अधिकारियों का उल्लेख आता है। जोशी का मानना है कि, अपने पूर्ववर्ती कुणिन्दों की भाँति ही कत्यूरी भी भारत-तिब्बत व्यापार में मध्यस्थता के द्वारा प्रचुर धन प्राप्त करते थे।

स्वमूल्यांकित प्रश्न

1- कत्यूरी प्रशासन पर एक निबंध लिखिए ?

2.6 कार्तिकेयपुर राज के प्रमुख स्थल

आइये अब पाण्डुकेश्वर ताम्रपत्रों में वर्णित विभिन्न स्थान नामों के विषय में जानकारी प्राप्त करते हैं –

2.6.1 कार्तिकेयपुर

पाण्डुकेश्वर ताम्रपत्रों में कार्तिकेयपुर का उल्लेख आया है। ललितशूर देव और पद्मटदेव के ताम्रशासन कार्तिकेयपुर से ही जारी किये गये हैं। अन्य साक्ष्यों के प्रकाश में कहा जा सकता है कि, यह नगर कत्यूरी नरेश बसंतन देव से लेकर सुभिक्षराजदेव के शासन काल तक कत्यूरी शासकों की राजधानी बना रहा। प्रायः सभी विद्वानों ने कार्तिकेयपुर की पहचान, अल्मोड़ा जनपद में स्थित कत्यूर घाटी क्षेत्र से की है और इसका केन्द्रीय स्थान बैजनाथ को माना है। प्रतीत होता है कि यह क्षेत्र प्राचीन काल से ही धार्मिक एवं राजनीतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण रहा था। देवी भागवत पुराण में अष्टोत्तरशत देवपीठों में करवीरपुर को भी सम्मिलित किया गया है, महाभारत (अनु० पर्व: 25,44) में हिमालय स्थित तीर्थों के अन्तर्गत करवीरपुर का उल्लेख भी आया है। पाणिनी द्वारा उल्लिखित 'कर्त्रि' तथा प्रयाग-प्रशस्ति में आये 'कर्तपुर' को कत्यूर का प्राचीन नाम माना जाता है। कुणिन्द काल में भी यह क्षेत्र महत्वपूर्ण राजनीतिक गतिविधियों का केन्द्र रहा

होगा, कत्यूर घाटी क्षेत्र से कुणिन्द-मुद्राओं की प्राप्ति इस तथ्य को प्रदर्शित करती है। यदि जोशी द्वारा स्थापित मत— 'कत्यूरी, कुणिन्दों के वंशज थे' को स्वीकार कर लिया जाय तो इस क्षेत्र का महत्व अति प्राचीन काल से स्थापित हो जाता है। पौरव-वर्मनों के शासन-काल में भी कार्तिकेयपुर का उल्लेख आता है, किन्तु प्रतीत होता है कि इस काल में यह क्षेत्र संभवतः राजनीतिक दृष्टि से पृष्ठभूमि में चला गया था, और फिर कत्यूरियों के आगमन और उत्थान के साथ ही इसने पुनः राजनीतिक प्रतिष्ठा प्राप्त की और राजधानी के रूप में स्थापित हुआ ।

2.6.2 सुभिक्षपुर

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, इस नगर की स्थापना संभवतः कत्यूरी नरेश सुभिक्षराज देव ने की थी। सुभिक्षराजदेव का ताम्रशासन सुभिक्षपुर से ही जारी किया गया है। जहाँ तक इस नगर की अवस्थिति का संबंध है, सरकार इसे प्राचीन नगर कार्तिकेयपुर के समीप स्थित मानते हैं लेकिन एटकिंसन ने सुभिक्षपुर को कार्तिकेयपुर का अपर नाम माना है नौटियाल भी सुभिक्षपुर को बैजनाथ के समीप मानते हैं। डबराल इसे विष्णुगंगा-धौलीगंगा के संगम के निकट बतलाते हैं। प्राप्त साक्ष्यों के प्रकाश में सुभिक्षपुर को कार्तिकेयपुर के अन्तर्गत मानना ही अधिक उचित प्रतीत होता है। संभवतः सुभिक्षराज देव ने प्राचीन राजधानी कार्तिकेयपुर के किसी भाग में नव-निर्माण कर उसका नाम अपने नाम के आधार पर रख कर उसे अपनी राजधानी घोषित किया था ।

2.6.3 तंगणपुर

पाण्डुकेश्वर ताम्रपत्रों में तंगणपुर का वर्णन आता है। स्थानीय इतिहास में तंगण जाति का पर्याप्त उल्लेख मिलता है। महाभारत के सभा पर्व (55-1-5) में उल्लिखित राजसूय यज्ञ में 'पिपीलिका स्वर्णादि' उपहार लाने वाले राजाओं/जातियों की सूची में तंगण जाति का वर्णन भी आता है। सोहागे को संस्कृत में 'टंग' या 'टंगण' कहा जाता है। जोशी तथा ब्राउन के अनुसार सोहागे के व्यापार का एकाधिकार अति प्राचीन काल से ही उत्तरांचल के सौका-भोटिया जनों का रहा है, चूँकि कृत्रिम सोहागे के निर्माण से पूर्व तिब्बत ही सोहागे का एकमात्र स्रोत था, अतः संस्कृत साहित्य और स्थानीय अभिलेखों में उल्लिखित तंगणों की पहचान 'सौका-भोटिया' जनों से की जानी चाहिए जो 'टंग' या 'टंगण' का व्यापार करते थे, अतः टंगण कहलाते थे। उपरोक्त तथ्य से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि सौका-भोटिया जनों के निवास-स्थल को ही पाण्डुकेश्वर पत्रों में तंगणपुर नाम से अभिहित किया गया है, इस आधार पर तंगणपुर की स्थिति भारत-तिब्बत सीमा पर स्थित मुनस्यारी क्षेत्र में निर्धारित की जानी चाहिए।

2.6.4 हर्षपुर

हर्षपुर का उल्लेख सुभिक्षराज देव के ताम्रपत्र में मिलता है, इस स्थल की निश्चित पहचान अभी तक नहीं की जा सकी है। एटकिंसन इसे गढ़वाल में अलकनन्दा के संगम स्थित देवप्रयाग अथवा इसके समीप स्थित किसी स्थान में बतलाते हैं । हर्षपुर का उल्लेख इस ताम्रपत्र के अतिरिक्त अन्य अभिलेखों में नहीं मिलता है।

स्वमूल्यांकित प्रश्न

1. कार्तिकेयपुर राज के प्रमुख स्थलों का वर्णन कीजिए ?

2.7 भूमि माप संबंधी पैमाने

कत्यूरियों का भूमि प्रबन्ध अपने पूर्ववर्ती पौरव-वर्मनों की तुलना में अधिक विस्तृत प्रतीत होता है। जोशी के अनुसार कत्यूरी काल में; स्थिति, उपयोगिता, और उत्पादन के आधार पर भूमि अनेक प्रकारों में विभाजित थी, यथा—पल्लिका (गाँव की भूमि), वृत्ति (जीविकोपार्जन हेतु व्यक्ति विशेष की भूमि), कर्मान्त (खानों, खनिज इत्यादियुक्त भूमि), शरण (भवन—स्थल) इत्यादि, जोशी कत्यूरी काल में भूमि के व्यक्तिगत—मालिकाना एवं सामुदायिक—मालिकाना के अधिकारों की पुष्टि भी करते हैं। पिछले पृष्ठों में उन अधिकारियों का उल्लेख किया जा चुका है जो कत्यूरी काल में भूमि की माप एवं कर वसूली का कार्य करते थे। कत्यूरी अभिलेख यह भी स्पष्ट करते हैं कि जहाँ भूमि—दान का प्रश्न हो वहाँ शासन के उच्च पदाधिकारियों—महादानाक्षपटलाधिकृत, महासन्धिविग्रहाक्षपटलाधिकृत—को भी इससे सम्बद्ध किया जाता था ताकि भूमि की माप—जोख एवं अन्य अभिलेखीय कार्य सही ढंग से क्रियान्वित हो सकें। कत्यूरी काल में खास महल की कृषि योग्य भूमि की देखभाल के लिए क्षेत्रपाल नामक अधिकारी नियुक्त था। पाण्डुकेश्वर पत्रों में भूमि—माप सम्बन्धी पैमानों के अन्तर्गत—नालिका वाप, द्रोण वाप, खारि वाप तथा हस्तक—का उल्लेख आता है। 'हस्तक' पैमाने के उल्लेख के आधार पर जोशी का मानना है कि कत्यूरी काल में श्रेष्ठ भूमि पर पर्याप्त दबाव बढ़ चुका था, क्योंकि अभिलेखों में 'दो हस्तक' जैसी छोटी इकाई का उल्लेख भी मिलता है। पाण्डुकेश्वर पत्रों में आये पैमानों का विश्लेषण अग्रांकित है —

2.7.1 हस्तक

हस्तक का सामान्य अर्थ हाथ से है, पाण्डुकेश्वर अभिलेखों में भूमि—माप के पैमानों के अन्तर्गत इसका उल्लेख हुआ है। हस्तक संभवतः मुष्टिका या मुठ्ठी के अर्थ में प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है। अर्थात् एक हस्तक या एक मुठ्ठी अनाज जितने क्षेत्र में छिटकाकर बोया जा सके, उस भूमि के क्षेत्रफल को एक हस्तक (मुठ्ठी) कहा गया है, बाद के ब्रिटिश पैमाने के अनुसार एक मुठ्ठी, 15 वर्गगज क्षेत्र को व्यक्त करता है।

2.7.2 नालिका वाप

पाण्डुकेश्वर सुभिक्षराज के ताम्रशासन में नालिका वाप का उल्लेख मिलता है—“भेटसार्या भूखण्डम् अष्टनालिका वापः”— प्राचीन काल में नालिका वाप एक माप था, जो किसी विशेष बरतन के माध्यम से मापा जाता था। वर्तमान में भी कुमाऊँ में नाली माप प्रचलित है, जो काष्ठ निर्मित एक बरतन के आयतन पर आधारित है। प्राचीन समय में यह आयतन अलग—अलग स्थानों में एक किलोग्राम से ढाई किलोग्राम बीज भार तक पाया जाता था, और यह बीज जितने क्षेत्र में छिटककर बोया जाता था, उसे एक नाली माप का क्षेत्र माना जाता था। अंग्रेजी शासन के अन्तर्गत एक नाली को मानकीकृत कर 240 वर्ग गज क्षेत्र के बराबर मान लिया गया।

2.7.3 द्रोण वाप

पाण्डुकेश्वर पत्रों में द्रोण वाप का उल्लेख भी मिलता है, यह मानक इस क्षेत्र में पर्याप्त प्रचलित रहा है क्योंकि तालेश्वर पत्रों में भी इसका उल्लेख आया है।

2.7.4 खारि वाप

पाण्डुकेश्वर पत्रों में आये इस मानक का उल्लेख पौरव-वर्मनों के काल में भी मिलता है।

स्वमूल्यांकित प्रश्न

1. कत्यूरी प्रशासन के भूमि-माप सम्बन्धी पैमानों का उल्लेख कीजिए ?

2.8 सारांश

उत्तराखण्ड के इतिहास में सातवीं सदी ईस्वी के उत्तरार्द्ध से ग्यारहवीं सदी ईस्वी के पूर्वार्द्ध का समय कत्यूरी शासकों के क्रियाकलापों का साक्षी रहा है। विद्वानों ने विभिन्न अभिलेखों के आधार पर कत्यूरियों के छह घराने बतलाये हैं। कत्यूरी प्रशासन की उदात्त नीतियों का पालन सभी घरानों ने विभिन्न कालों में समान रूप से किया, जिसके कारण इस काल में चहुंमुखी विकास संभव हो सका। इस काल के अवशेषों से अनुमान लगाया जा सकता है, कि तत्कालीन जनता ने विभिन्न संसाधनों का उत्पादन अपनी आवश्यकता से अधिक कर राज्य को सुदृढ़ आर्थिक आधार प्रदान किया होगा। इस काल की भव्य झांकी प्रस्तुत करने वाले अनेक साक्ष्य—ताम्रपत्राभिलेख, प्रस्तर अभिलेख, मन्दिर, मूर्तियाँ/प्रतिमाएँ उत्तराखण्ड के विभिन्न स्थलों से प्रकाश में आये हैं।

कत्यूरी शासकों द्वारा जारी अभिलेख हमें इस काल से संबंधित विभिन्ना सूचनाएँ देते हैं। अभिलेखों से हमें कत्यूरी शासकों, उनके पदाधिकारियों, प्रशासन, राज्य के प्रमुख स्थलों इत्यादि की विस्तृत जानकारी मिलती है। इस राजवंश के शासनकाल में चतुर्दिक विकास मिलता है।

2.9 तकनीकी शब्दावली

ताम्रपत्र अभिलेख : तांबा धातु के पत्र पर लिखे गये लेख

गिरिराज : पर्वतों का राजा

मुद्रा: इस इकाई में शासकीय मुहर

भूमि-सर्वेक्षण: भूमि की माप-जोख

विरूदावली : उपाधि

2.10 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

खण्ड 2.3 के स्वमूल्यांकित प्रश्न 1 के उत्तर के लिए देखिए इकाई 2.3

खण्ड 2.3 के स्वमूल्यांकित प्रश्न 2 के उत्तर के लिए देखिए इकाई 2.3
 खण्ड 2.4 के स्वमूल्यांकित प्रश्न 1 के उत्तर के लिए देखिए इकाई 2.4.1
 खण्ड 2.4 के स्वमूल्यांकित प्रश्न 2 के उत्तर के लिए देखिए इकाई 2.4.2
 खण्ड 2.5 के स्वमूल्यांकित प्रश्न 1 के उत्तर के लिए देखिए इकाई 2.5 खण्ड 2.6 के स्वमूल्यांकित प्रश्न 1 के उत्तर के लिए देखिए इकाई 2.6.1, 2.6.2, 2.6.3, 2.6.4
 खण्ड 2.7 के स्वमूल्यांकित प्रश्न 1 के उत्तर के लिए देखिए इकाई 2.7.1, 2.7.2, 2.7.3, 2.7.4

2.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

- 1— डबराल, शिवप्रसाद, 1965: उत्तराखण्ड का इतिहास, बीरगाथा प्रकाशन, दोगड्डा ।
- 2— रतूड़ी, हरिकृष्ण, 1980: गढ़वाल का इतिहास, भागीरथी प्रकाशन, टिहरी गढ़वाल, द्वितीय संस्करण ।
- 3— शंतन सिंह नेगी, 1988: मध्य हिमालय का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, वाणी प्रकाशन दिल्ली ।
- 4- Atkinson, E.T., 1882; 1884; 1886 : Gazetteer of the Himalayan Districts of The North-Western Provinces of India, Vol. I (1882); II (1884) & III (1886), N.W. Provinces and Oudh Press, Allahabad, Reprinted 1973, under the Title, Himalayan Gazetteer, Cosmo, New Delhi.
- 5- Joshi, M.P. 1989 : Morphogenesis of Kunindas (circa 200 B.C. -- A.D. 300): A Numismatic Overview. Shree Almora Book Depot, Almora.
- 6- Joshi, M.P. 1990 : Uttaranchal (Kumaon-Garhwal) Himalaya: An Essay in Historical Anthropology. Shree Almora Book Depot, Almora
- 7- Powell Price, J.C. 1945 : Kunindas and Katyura, Journal of the U.P. Historical Society, XVIII : 213-23.
- 8- Prinsep, James, 1838 : Ancient Inscriptions No.IV, Journal of the Asiatic Society of Bengal VII: 1056-58 (text), 1058-60 (translation by Saroda Prasad).
- 9- Sircar, D.C. 1955-56 : Three Plates from Pandukesvar, Epigraphia Indica, XXX:277-98

2.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

- 1— डबराल, शिवप्रसाद, 1965: उत्तराखण्ड का इतिहास, बीरगाथा प्रकाशन, दोगड्डा ।
- 2— रतूड़ी, हरिकृष्ण, 1980: गढ़वाल का इतिहास, भागीरथी प्रकाशन, टिहरी गढ़वाल, द्वितीय संस्करण ।
- 3— शंतन सिंह नेगी, 1988: मध्य हिमालय का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, वाणी प्रकाशन दिल्ली ।
- 4- Prinsep, James, 1838 : Ancient Inscriptions No.IV, Journal of the Asiatic Society of Bengal VII: 1056-58 (text), 1058-60 (translation by Saroda Prasad).
- 5- Sircar, D.C. 1955-56 : Three Plates from Pandukesvar, Epigraphia Indica, XXX:277-98

2.13 निबंधात्मक प्रश्न

- 1- कत्यूरियों के इतिहास को जानने में पाण्डुकेश्वर ताम्रपत्रों के महत्व को प्रतिपादित कीजिए?

पवारं कालीन गढ़वाल

- 1.1 प्रस्तावना
- 1.2 उद्देश्य
- 1.3 गढ़वाल में पवारं वंश की स्थापना
 - 1.3.1 कनकपाल (संस्थापक)
 - 1.3.2 वैकेट वंशावली
 - 1.3.3 अजयपाल व उसका शासनकाल
 - 1.3.4 अजयपाल का राज्य विस्तार/शासन प्रबन्ध
- 1.4 राजा अजयपाल के उत्तराधिकारी
 - 1.4.1 सहजपाल
 - 1.4.2 बलभद्रशाद
 - 1.4.3 पृथ्वीपाल शाह
 - 1.4.4 प्रद्युम्नशाह
- 1.5 पवारं शासकों की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक सांस्कृतिक व्यवस्था
 - 1.5.1 राजनीतिक व्यवस्था
 - 1.5.2 सामाजिक व्यवस्था
 - 1.5.3 आर्थिक व्यवस्था
 - 1.5.4 धार्मिक एवं सांस्कृतिक व्यवस्था
- 1.6 सारांश
- 1.7 स्व मूल्यांकन प्रश्नों के उत्तर
- 1.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 1.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

कत्यूरी वंश के पतन के पश्चात् यदि पवार कालीन गढ़वाल की बात की जाय तो सर्व प्रमुख यह उभरकर आता है कि वहाँ पवार वंश का विस्तार किस प्रकार हुआ? क्योंकि पवार वंश से पूर्व गढ़वाल सहित समूचे उत्तराखण्ड में राजनीतिक अस्थिरता का माहौल था। क्षेत्र छोटी-छोटी राजनीतिक इकाइयों में बंटा हुआ था। उस बिखराव के मध्य एक महत्वपूर्ण राजनीतिक इकाई चाँदपुर गढ़ी में पवार शासकों की भी थी। जिसने आगे चलकर गढ़वाल में एक संगठित राज्य की स्थापना की थी।

इस इकाई में आप पढ़ेंगे कि किस प्रकार चाँदपुर गढ़ी में पवार वंश का संस्थापक शासक कनकपाल व उसके उत्तराधिकारियों ने अपने राज्य का सीमा विस्तार किया। एक ओर गढ़वाल में लगभग 52 गढ़ियों का बोलबाला था, दूसरी ओर बार-बार कुमाऊँ के शासकों द्वारा चाँदपुर गढ़ी पर आक्रमण किये जा रहे थे। इस अस्थिरता के मध्य पवार शासकों ने दोनों संकट आन्तरिक व वाह्य का सामना करते हुए गढ़वाल की सभी छोटी-छोटी ठकुराईयों को पराजित कर गढ़वाल को एक सूत्र में बाँधा तथा राजधानी चाँदपुर गढ़ी से स्थानान्तरित कर गढ़वाल क्षेत्र के मध्य स्थान अलकनन्दा नदी के किनारे श्रीनगर में स्थापित की थी।

इस इकाई में आप यह भी पढ़ेंगे कि 1804 तक पवार शासकों ने अपनी सत्ता का संचालन किस प्रकार किया था तथा गढ़वाल में स्थिरता स्थापित कर एक स्थायी राजनीतिक, सामाजिक सांस्कृतिक, न्यायिक व आर्थिक ढाँचा भी स्थापित किया था, जो गोरखों के आगमन तक चलता रहा था।

1.2 उद्देश्य

- पवार वंश की ऐतिहासिक व स्थापना का उल्लेख।
- पवार शासकों की क्रमबद्धता व उनके मुख्य कार्यों का वर्णन व पतन।
- पवार शासकों द्वारा स्थापित राजनीतिक, प्रशासनिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक व्यवस्था का उल्लेख।

1.3 गढ़वाल में पवार वंश की स्थापना

कत्यूरी अवसान के पश्चात् जब गढ़वाल में बहुराजकता का काल आरम्भ हुआ तो गढ़वाल क्षेत्र छोटी-छोटी इकाइयों में बंट गया था कहा जाता है तब गढ़वाल में 52 गढ़िया या किले स्थापित थे उनका संचालन छोटे-छोटे राजा कर रहे थे, उन्हीं इकाइयों में से चाँदपुर गढ़ी का पवार राजवंश भी एक था। इस वंश के शासकों ने धीरे-धीरे गढ़वाल के छोटे-छोटे सामंतों व राजाओं को पराजित कर गढ़वाल को एक सूत्र में बाँधकर गढ़ राज्य की स्थापना की थी। अर्थात् सभी गढ़नरेशों को अपने अधीन कर लिया। अतः यहीं से पवार वंश का विस्तार हुआ था। जिसने फिर गढ़वाल में 1804 ई. तक शासन किया था इस प्रकार चाँदपुर गढ़ी में पवार वंश की स्थापना हुई थी।

1.3.1 कनकपाल

चाँदपुर गढ़ी में पवार राजवंश के संस्थापक के सम्बन्ध में इतिहासकारों के अलग-अलग मत हैं जैसे— हार्डविक, विलियम्स, मौलाराम, हरिकृष्ण रतूड़ी, अठकिन्सन, डबराल, वैकेट, अल्मोड़ा सूची व विभिन्न शिलालेख आदि। इन सभी मतों के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्वी गढ़वाल में स्थित चाँदपुर गढ़ी का शासक भानुप्रताप की दो पुत्रिया थी उसने ज्येष्ठ पुत्री का विवाह कुमाऊँ के राजकुमार राजपाल के साथ किया व छोटी पुत्री का विवाह धारानगरी का राजकुमार कनकपाल जो तब हरिद्वार यात्रा पर आया था उसके साथ किया था तथा चाँदपुर गढ़ी कनकपाल को ही सौंपकर अपना बद्रिकाश्रम चले गया था। यहीं से कनकपाल ने पवार वंश को आगे बढ़ाया। दूसरा मत यह भी है कि भिलंगना उपत्यका का राजा सोनपाल की पुत्री का विवाह कांदिल पाल से हुआ और दहेज में चाँदपुर गढ़ी मिलने के साथ ही इस वंश का उत्थान हुआ

था। इन दोनों मतों में आधार स्वरूप साम्यता को देखते हुए ऐसा लगता है कि कनकपाल ही गढ़वाल के पवार वंश का संस्थापक था क्योंकि गढ़वाल की जनश्रुतियों में भी अधिकांश कनकपाल का उल्लेख होता है।

परन्तु कनकपाल से जगतपाल तक के शासकों के सम्बन्ध में किसी प्रकार के प्रमाण या विस्तृत जानकारी नहीं मिलती है अधिकांश श्रोतों के अनुसार गढ़वाल के पवार राजवंश का इतिहास विस्तार के साथ अजयपाल के राज्यकाल से ही आरम्भ होता है। पवार राजवंश के शासकों की अनेक विद्वानों द्वारा अलग-अलग वंशावलियाँ दी गई हैं जैसे— वैकेट, विलिम्स, अल्मोड़ा से प्राप्त वंशावली, मौलाराम सभासार में दी गई वंशावली, हुड़कियों द्वारा दी गई वंशावली, पं० बलीराम व विजयराम द्वारा दी गई वंशावली आदि। इससे ऐसा लगता है कि कनकपाल ही इस वंश का संस्थापक था और अजयपाल के राजा बनने के पश्चात् पवार राज्य का विस्तार हुआ। इसके अतिरिक्त सभी वंशावलियाँ आधार स्वरूप एक ही लगती हैं इनमें से यहाँ आप पढ़ेंगे वैकेट द्वारा दी गई वंशावली—

1.3.2 वैकेट वंशावली

क्र.सं.	राजा का नाम	राज्यकाल	मृत्यु आयु	मृत्यु तिथि स०
1	कनकपाल	11	51	756
2	श्यामपाल	26	60	782
3	पाण्डुपाल	31	45	813
4	अविगत पाल	25	31	838
5	सीगलपाल	20	24	858
6	रतनपाल	49	69	907
7	सालीपाल	08	17	915
8	विधिपाल	20	20	935
9	मदन पाल	17	22	952
10	भक्तिपाल	25	31	977
11	जयचन्द्र पाल	29	36	1006
12	पृथ्वीपाल	24	40	1030
13	मदनपाल II	22	30	1052
14	अगस्तिपाल	20	33	1072
15	सुरतिपाल	22	36	1084
16	जयत सिंह पाल	19	30	1113
17	अनन्तपाल I	16	24	1129
18	आभदपाल I	12	20	1141
19	विभोगपाल	18	22	1159
20	सुमाजनपाल	14	20	1173
21	विक्रमपाल	15	24	1188
22	विचित्रपाल	10	23	1198
23	हंसा पाल	11	20	1209
24	सोन पाल	07	19	1216
25	कांदिलपाल	05	21	1221
26	कामदेवपाल	15	24	1236
27	सालखारी देव	18	30	1254
28	लखन देव	23	32	1277
29	अनन्तपाल II	21	29	1298
30	पूरब देव	19	33	1317
31	अभयदेव	07	21	1324
32	जयरामदेव	23	24	1347
33	असलदेव	09	21	1356
34	जगतपाल	12	19	1368
35	जीतपाल	19	24	1387
36	आन्नदपाल II	28	41	1415

37	अजयपाल	31	59	1446
38	कल्याण शाह	09	40	1455
39	सुन्दर पाल	15	35	1470
40	हंसदेवपाल	13	24	1483
41	विजयपाल	11	21	1494
42	सहजपाल	36	45	1530
43	बलभद्र शाह	25	41	1555
44	मानशाह	20	39	1575
45	स्यामशाह	09	31	1584
46	महिपत शाह	25	65	1609
47	पृथ्वीशाह	62	70	1671
48	मेदिनीशाह	46	62	1717
49	फतेशाह	48	51	1765
50	उपेन्द्रशाह	01	22	1766
51	प्रदीप शाह	63	70	1829
52	ललितशाह	08	30	1837
53	जकरत शाह	06	23	1843
54	प्रद्युम्न शाह	18	29	1861

उक्त वंशावली व अन्य मतों के अनुसार यह कहा जा सकता है कि लगभग 888 ई. में कनकपाल ने ही चाँदपुर गढ़ी में पवार वंश की स्थापना की थी जिसका विस्तार आगे चलकर उसके उत्तराधिकारियों ने किया तथा चाँदपुर गढ़ी से राजधानी देवलगढ़ फिर वर्तमान श्रीनगर गढ़वाल में स्थापित की थी। परन्तु अधिक जानकारी या वर्णन न मिल पाने के कारण कनकपाल व उसके उत्तराधिकारियों के बारे में विस्तारपूर्वक वर्णन करना सम्भव नहीं है अर्थात् कनकपाल के बारे में छुट-पुट जानकारी के अतिरिक्त कुछ भी नहीं मिलता है।

अजयपाल व उसके आगे अन्तिम पवार शासक प्रद्युम्न शाह तक विस्तार से जानकारी उपलब्ध है अजयपाल ने पवार साम्राज्य का जिस प्रकार विस्तार किया उससे यह कहने में अतिसयोक्ति नहीं होगी कि अजयपाल ही पवार वंश का वास्तविक संस्थापक था। अतः अब आप यहाँ अजयपाल व उसके उत्तराधिकारियों के बारे में पढ़ेंगे।

1.3.3 अजयपाल व उसका शासन काल

पवार राजवंश के वास्तविक संस्थापक अजयपाल की राज्यारोहण की तिथि के सम्बन्ध में इतिहासकारों में मतभेद है। सभी ने भिन्न-भिन्न तिथियाँ दी हुई हैं जैसे सी0 मैवलडफ, ओकले/गैरोला, अठकिन्सन, वैकेट, रतूड़ी व डबराल आदि। इन सभी के द्वारा दी गई तिथियों का अध्ययन करने के पश्चात् ऐसा प्रतीत होता है कि अजयपाल का शासनकाल 1500 ई. से 1547 ई. के मध्य रहा होगा, इसी बीच उसने राजधानी परिवर्तन, राज्य विस्तार, शासन प्रबन्ध, वाह्य राज्यों से सम्बन्ध व अनेक निर्माण कार्य करवाये, इन सभी के बारे में आप यहाँ पढ़ेंगे।

राज्यारोहण के पश्चात् जब अजयपाल चाँदपुर गढ़ी के सीमा विस्तार में प्रयासरत था तभी कुमाऊँ का चंद शासक कीर्तिचंद भी अपने राज्य विस्तार में प्रयत्नशील था। डोटी (नेपाल) नरेशों के विरुद्ध सफलता नहीं मिल पाने के कारण उसने गढ़वाल पर आक्रमण कर सफलता हासिल की थी। इस प्रकार कीर्तिचंद का सोर व सीरा छोड़ पूरे कुमाऊँ पर अधिकार के साथ-साथ गढ़वाल राज्य के बड़े हिस्से पर भी अधिकार हो गया था।

कुछ समय पश्चात् कीर्तिचंद ने गढ़ (गढ़वाल) नरेश के साथ संधि कर उसका राज्य उसे लौटा दिया, परन्तु उसके एवज में गढ़ नरेश को कर देने हेतु बाध्य किया था जो कर राजा महिपत शाह से पूर्व तक के राजा कुमाऊँ नरेश को देते आ रहे थे। यद्यपि इस बात पर इतिहासकारों में मतभेद भी है।

1.3.4 अजयपाल का राज्य विस्तार/शासन प्रबन्ध

जैसा कि आप पूर्व में भी पढ़ चुके हैं पवार राज्य की स्थापना से पूर्व गढ़ राज्य छोटी-छोटी इकाईयों में बंटा हुआ था। जिनके खण्डहर गढ़ (किले) वर्तमान में भी वहाँ मौजूद हैं। विविध मतानुसार यह माना जाता है कि अजयपाल ने गढ़वाल के 48 गढ़ियों के 48 राजाओं को परास्त कर गढ़राज्य का विस्तार किया था। तत्पश्चात् उसके उत्तराधिकारियों ने भी देहरादून, उत्तरकाशी वाले क्षेत्र तक गढ़ राज्य का विस्तार किया। परन्तु इस संगठित गढ़ राज्य का वास्तविक संस्थापक का श्रेय अजयपाल को ही दिया जा सकता है क्योंकि उसीने छोटी-छोटी राजनीतिक इकाईयों को जीतकर गढ़राज्य को स्थापित किया था। उन ठकुराईयों (इकाईयों) का संक्षेप में यहाँ वर्णन पढ़ें—

पैनखण्डा के जुमला गढ़पति— यह 42 या 43 स्वतन्त्र राजा थे सभी राज्य तिब्बत के सीमावर्ती क्षेत्र से लगे हुए थे इन्हें पराजित करने का श्रेय अधिकांश इतिहासकारों द्वारा अजयपाल को ही दिया गया है क्योंकि अजयपाल के शासनकाल में ही ये राज्य पवार राजाओं के अधीन आये थे। **मन्दाकिनी उपत्यका—** यहाँ के दुमग राजा नागपुर क्षेत्र में शासन करते थे। राजधानी कंडार गढ़ में थी यह माना जाता है कि अंतिम दुमग राजा नरवीर सिंह को अजयपाल ने ही पराजित किया था। **सलाण के गढ़पति—** यहाँ के राजाओं में मुख्य रूप से लगूरगढ़, गुजड़गढ़, लोहाबगढ़, दीपागढ़, महबगढ़ आदि सम्मिलित थे इन्हें भी अजयपाल ने अपने अधीन कर लिया था। **उपूगढ़ का कपफू चाहमान—** यह कहा जाता है कि जब अजयपाल ने विभिन्न गढ़पतियों को पराजित कर राजधानी श्रीनगर में स्थापित की तब उसने उस मौके पर राज्य उत्सव का आयोजन किया। जिसमें सभी गढ़पति आमन्त्रित थे। परन्तु कपफू चाहमान नहीं आया और साथ में अधीनता स्वीकार करने के स्थान पर युद्ध का सन्देश भेजा था। अन्ततः युद्ध में पराजित कर अजयपाल ने उपूगढ़ भी अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया। **गढ़तांग के गढ़पति—** जाड़ गंगा के तट पर स्थित इस गढ़ की राजधानी तिब्बत मार्ग में थी। अजयपाल ने इस राज्य का विलय भी अपने राज्य में कर लिया था। इस तरह अजयपाल का राज्य दक्षिण में नजीमाबाद उत्तर में तिब्बत पूरब में देघाट (कुमाऊँ) व पश्चिम में यमुना नदी के तट तक फैला था।

राजधानी— अजयपाल से पूर्व पवार शासकों की राजधानी चाँदपुर गढ़ी में थी। कुमाऊँ नरेश कीर्तिचंद से पराजित होने पर पवार शासकों ने अपनी राजधानी देवलगढ़ स्थानान्तरित की। सम्भवतः 1512 या उससे पूर्व में अजयपाल ने राजधानी देवलगढ़ से श्रीनगर परिवर्तित की, जो 1804 ई. तक राजधानी बनी रही। जिसका मूल कारण समतल भूमि व गढ़राज्य का केन्द्र स्थल होना था।

शासन प्रबन्ध के सम्बन्ध में अजयपाल के लिये कहा जाता है कि वह उच्च कोटि का शासन प्रबन्धक था क्योंकि उसने विजित ठकुराईयों के राजाओं को राजनीति व कूटनीति के तहत जागीर, मुआफी, थोकदारी, सैन्य व न्याय आदि विभागों के उच्च पदों पर बैठाकर सामंजस्य स्थापित किया था। राज्य को पट्टी व परगनों में विभाजित किया तथा विभिन्न कर निर्धारण कर राज्य का नाम गढ़वाल रखा था। सीमावर्ती गढ़ों में वाह्य सुरक्षा हेतु सेना रखी गई अर्थात् आन्तरिक व वाह्य सुरक्षा की पूरी व्यवस्था की गई थी। नापतौल हेतु निश्चित नाप का पाथा (दो किलो बराबर) प्रचलित करवाया जिससे अनाज, घी, तेल आदि सभी को नापा जा सकता था इस नाप यंत्र को गढ़वाल में अजैपाल को पाथा कहा जाता था।

वाह्य राज्यों से सम्बन्ध के बारे में अजयपाल के कीर्तिचंद से पराजय फिर मैत्री के बाद किसी युद्ध का उल्लेख नहीं मिलता अर्थात् कुमाऊँ व अन्य सीमान्त प्रदेशों से मैत्री पूर्ण सम्बन्धों के कारण ही राज्य की आन्तरिक दशा में भी सुधार हुआ। दिल्ली राज्य में आन्तरिक संघर्ष के कारण गढ़वाल की ओर उनका ध्यान कम गया जिस कारण गढ़ राज्य में शान्ति बनी रही।

निर्माण कार्य— अजयपाल द्वारा श्रीनगर में विशाल राजप्रासाद का निर्माण गढ़ी के रूप में करवाया था जिसके तीन मुख्य भाग थे। दरवाजे में कलाकृतियाँ संजोयी गई थी। निर्माण में पत्थरों का ही प्रयोग किया गया था। जैसे— खिड़की, दरवाजे आदि। पानी एवं अन्य सुविधाओं हेतु राजप्रासाद से अलकनंदा नदी तक सुरंग निर्माण भी करवाया गया था। चारों ओर उद्यान विकसित किये गये। परन्तु यह विरासत अब असतित्व में नहीं है क्योंकि 1803 के भूकम्प में यह ध्वस्त हो गया था। उसी के बराबर में अजयपाल द्वारा एक सभामण्डल का निर्माण भी करवाया गया था भैरव मंदिर व राजराजेश्वरी के यन्त्र की स्थापना भी की थी। अनेक मूर्तियों का निर्माण भी करवाया गया जिनमें मुख्य शिव व गौरी की मूर्तियाँ थी।

अजयपाल नाथपंथी भी था क्योंकि उसे गढ़वाल के प्राचीन सांवरी ग्रन्थों में आदिनाथ के नाम से सम्बोधित किया गया है। यह सम्बोधन समभवतः नाथपंथ के प्रचार के कारण किया गया होगा, क्योंकि उसने गढ़वाल में नाथ सम्प्रदाय का खूब प्रचार किया था, साथ ही ब्राह्मण धर्म का अनुयायी भी था, उसने गढ़वाल में ब्राह्मण-क्षत्रिय विवाद भी सुलझाये। सरोला (ब्राह्मण जाति) व्यवस्था की स्थापना भी की अर्थात् सभी धर्म व सम्प्रदायों को सम्मान दिया साथ-साथ खण्डित गढ़वाल को एकीकृत कर एक शक्तिशाली राज्य के रूप में स्थापित किया।

स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:
 - क. कनकपाल
 - ख. पवार राजवंश का वास्तविक संस्थापक
2. नीचे लिखे प्रश्नों के उत्तर दीजिए:
 - क. अजयपाल के समय मुख्य राजनीतिक इकाईयों का वर्णन।
 - ख. अजयपाल का शासन प्रबन्ध का उल्लेख।

1.4 राजा अजयपाल के उत्तराधिकारी

1.4.1 सहजपाल

विभिन्न इतिहासकारों के मतानुसार अजयपाल की मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र सहजपाल गढ़वाल का राजा बना था। सहजपाल का कार्यकाल 1548 ई. से 1580 ई. माना जाता है। सहजपाल के अपने पूर्वी राज्य कुमाऊँ के कत्यूरी एवं चंद शासकों से शांतिपूर्ण सम्बन्ध रहे इसका मुख्य कारण वे स्वयं ही अपने आंतरिक व्यवस्था में व्यस्त थे जिसका लाभ सहजपाल को मिला। इसी प्रकार पश्चिमी राज्य टोंस व वस्पा नदी की उपत्यका में स्थापित किन्नर प्रदेश व अन्य पश्चिमी राज्यों से भी सहजपाल के मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध थे।

सहजपाल के समय दक्षिणी भाग में अकबर का साम्राज्य स्थापित था सभी तथ्यों के आधार पर यह माना जाता है कि अकबर के साथ भी सहजपाल के मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध थे दिल्ली दरबार को बिना कोई कर दिये गढ़राज्य स्वतन्त्र इकाई के रूप में स्थापित था। परन्तु अकबर का मनसबदार हुसैन खाँ टुकड़ियाँ ने कुमाऊँ एवं गढ़वाल पर अनेक बार आक्रमण किये परन्तु वह तथा उसके सैनिक यहाँ के भौगोलिक परिवेश में सफल नहीं हो पाये। अनन्ततः इस अभियान के पश्चात् फतेहपुर सीकरी में उसकी मृत्यु हो गई। सहजपाल के बारे में कहा जाता है कि वह कुशल प्रशासक, राजनीतिज्ञ व जन हितैषी था।

1.4.2 बलभद्र

सहजपाल के पश्चात् गढ़राज्य का उत्तराधिकारी बलभद्र शाह था। इसका शासनकाल 1581ई.-1590ई. माना गया है। इस समय दिल्ली में अकबर का शासन था और उसके पड़ोस कुमाऊँ में रुद्रचंद व कत्यूर क्षेत्र में सुखालदेव राज्य कर रहा था। कत्यूरी राजा सुखाल देव गढ़राजा का मददगार था। बलभद्र शाह के समय की मुख्य घटना रुद्रचंद द्वारा गढ़राज्य पर आक्रमण करना था। जिस युद्ध में रुद्रचंद ने अपने सेनापति पुरुषोत्तम पंत को भेजा जिसे बघागागण युद्ध के नाम से जाना जाता है इस युद्ध में पुरुषोत्तम पंत मारे गये। युद्ध तिथि लगभग 1581 के आसपास मानी जाती है। इसमें पंत की मृत्यु के साथ रुद्रचंद की सेना पराजित हुई थी बलभद्रशाह विजयी रहा। इस विजय के पीछे कत्यूरी राजा सुखाल देव की भूमिका महत्वपूर्ण थी परन्तु विजय उपरान्त गढ़राजा सुखालदेव को भूल गया तभी रुद्रचंद ने सुखालदेव पर आक्रमण कर उसे मार डाला तथा कत्यूर राज्य को अपने राज्य में मिला लिया।

मानशाह— बलभद्र शाह की मृत्यु के बाद मानशाह गढ़राजा बना। जिसका राज्यकाल 1591ई.-1611ई. माना जाता है राजा मानशाह कुशल सेनापति था। अपने प्रारम्भिक काल में मानशाह ने तिब्बत से होने वाले युद्धों का सामना ही नहीं किया अपितु दापा के शासक को पराजित कर गढ़ जनता को युद्ध कष्टों से मुक्ति भी दिलाई थी। दक्षिण में मानशाह राज्य के

समय भी युद्ध करते रहते थे तब लक्ष्मीचंद द्वारा गढ़राज्य पर बार-बार युद्धों का क्रम जारी था तथा पराजित भी होते रहता था। कहा जाता है कि 8वीं बार 1605ई. में लक्ष्मीचंद ने पुनः गढ़राज्य पर आक्रमण किया इस युद्ध में विशेष विजय तो नहीं हुई पर लूट-खशोट में लक्ष्मीचंद ने खूब धन एकत्रित किया था। इस खबर को शीघ्र अल्मोड़ा पहुँचाने हेतु पहाड़ की ऊँची चोटी में आग जलायी गई ताकि दूसरी पहाड़ी वाले देखें और वह भी चोटी पर आग जलायें इस तरह यह खबर अल्मोड़ा पहुँचाई गयी थी तब से अश्विन सक्रान्ति को कुमाऊँ में सायंकाल घास से आदमी का बूता बनाकर बच्चे-बूढ़े, ग्रामीणों द्वारा उसमें आग लगाने की परम्परा चल पड़ी। इस अवसर पर गीत की पक्तियाँ भी गयी जाती हैं— मैलो जी मैलो खतड़वा, गैड़ा की जीत खतड़ की हार, आदि, ऐसी मान्यता है कि गैड़ा कुमाऊँनी सेना का सेनापति था व खतड़सिंह गढ़वाली सेना का सेनापति जो युद्ध में मारा गया था। तब से कुमाऊँ में खतड़वा पर्व मनाने की परम्परा चल पड़ी परन्तु इसके ठोस ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलते हैं यह निश्चित था कि कुमु-गढ़ राजाओं के मध्य आये दिन युद्धों से सीमावर्ती क्षेत्र की जनता को कष्ट उठाने पड़ते थे। उक्त खतड़वा पर्व के बारे में यह जन मान्यता भी है कि यह ऋतु परिवर्तन का द्योतक है। दूसरी ओर गढ़नरेशों के जिस प्रकार पूर्व काल से मुगल शासकों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध चले आ रहे थे उसी प्रकार मानशाह के समय भी बने हुए थे।

श्यामशाह— इसका राज्यकाल 1611 ई. से 1631 ई. माना जाता है। जहाँगीर नामा में इसका उल्लेख श्रीनगर गढ़वाल के जमींदार श्याम सिंह के रूप में किया गया है यही मानशाह का उत्तराधिकारी था। श्यामशाह ने राजा बनते ही उत्तरी सीमा के भोट राजा पर आक्रमण किया क्योंकि उसने गढ़राज्य को कर देना बन्द कर दिया था। पूर्व में कुमाऊँ राजा त्रिमलचंद ने कुमाऊँ के शक्तिशाली धड़ों के षड्यन्त्रों से बचने हेतु श्रीनगर में श्यामशाह की शरण ली हुई थी तथा राजा बनने में श्यामशाह की मदद भी हासिल की थी। श्यामशाह के मुगल शासक जहाँगीर से भी मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध थे। इस गढ़राजा के बारे में कहा जाता है कि तब गढ़राज्य की सीमा वृद्धि के साथ-साथ वहाँ शान्ति व समृद्धि भी स्थापित थी।

महिपति शाह के राज्यावधि के सम्बन्ध में मुख्य रूप से दो मत सामने आते हैं पहला 1631ई.-1634ई. दूसरा 1624ई.-1631ई.। फिलहाल इस मतभेद में न पड़कर यह माना जाता है कि महिपति 48 साल की उम्र में श्यामशाह का उत्तराधिकारी बना था।

महिपति शाह ने भोट राज्य के दापा गढ़ पर भी विजय हासिल की थी। परन्तु कालान्तर में गढ़वाली सेना पराजित हो गई। इस शासक ने सीमा विस्तार हेतु अपने सेनानायक माधोसिंह भण्डारी को विशङ्कर आक्रमण हेतु भेजा था जिसकी वहीं मृत्यु हो गई। अर्थात् सतजल तट पर माधोसिंह भण्डारी वीरगति को प्राप्त हो गया। गढ़वाल में इस ऐतिहासिक व्यक्ति को अदम्य साहसी व कुशल सेनापति के रूप में जाना जाता है। इसी व्यक्ति ने तब पहाड़ी के अन्दर सुरंग काटकर जनहित में “मथेला कूल” (नहर) बनाई थी। जिसके निर्माण काल में बेटे की बलि दी इसीलिये आज उसके नाम के गढ़वाल में पवाड़े या वीर गाथायें गयी जाती हैं। साथ ही महिपति शाह ने कुमाऊँ शासक त्रिमलचंद को आश्रय देने के साथ राजा बनने में भी मदद की थी और जवीन पर्यन्त अपनी सीमाओं की रक्षा करते रहा था।

महाराजा महिपति शाह की मृत्यु के समय उसका बेटा पृथ्वीपति शाह नाबालिक था इस कारण राजमाता कर्णावती ने पुत्र संरक्षिका के रूप में 1634ई.-1640ई. राज्यभार संभाला था। दूसरी ओर मुगल शासक शाहजहाँ महिपति शाह को अपने अधीन नहीं कर पाया था, परन्तु उसकी मृत्यु का समाचार सनते ही शाहजहाँ के कहने पर नजावत खाँ ने श्रीनगर गढ़वाल पर आक्रमण कर दिया था जिसका रानी कर्णावती ने वीरता के साथ सामना ही नहीं किया अपितु मुगलों के युद्ध को विफल कर दिया इसका खामियाजा नजावत खाँ ने अपना ‘मनसब’ पद गवाकर भुगता था इसीलिये रानी कर्णावती की तुलना गोण्डावाना रानी दुर्गावती से की जा सकती है। इसके अतिरिक्त कर्णावती ने दून पर भी अधिकार कर लिया था। पड़ोसी राज्य कुमाऊँ, तिब्बत, सिरमौर व वंशरे राज्यों से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखे। युद्ध विजय के साथ कर्णावती ने मवालस्यू महादेव मंदिर का जीर्वाद्धार, देहरादून में तालाब व नहरों का निर्माण, पीने के पानी की व्यवस्था तथा वर्तमान कर्णपुर नगर की स्थापना भी की थी।

1.4.3 पृथ्वीपति शाह

यद्यपि महिपति शाह के मरणोपरान्त पृथ्वीपति शाह राज्याधिकारी बना परन्तु स्वतन्त्र शासक के रूप में राज्यभार 1640ई.-1664ई. में संभाला था। तभी उसका सिरमौर व कुमाऊँ से तनाव चला ही था कि शाहजहाँ ने अपनी पराजय का प्रतिशोध लेने हेतु 1652 ई. से 1655 ई. जम्मू कागंडा के फौजदार ईरजखान व खलीलुल्ला खान को सिरमौर राजा मान्धता प्रकाश की सहायता लेकर गढ़वाल राज्य पर आक्रमण कर दिया परिणाम स्वरूप दून तथा भावर क्षेत्र पर मुगल आधिपत्य स्थापित हो गया। आगे चलकर मुगलों से अधिक शत्रुतापूर्ण सम्बन्ध होने के पीछे एक मुख्य कारण था गढ़ राजा द्वारा दाराशिकोह के पुत्र शहजादा सुलेमान शिकोह को अपने राज्य में शरण देना। जिससे गढ़ राजा व जनता दोनों संकट में पड़ गये। कहा जाता है कि सुलेमान को औरंगजेब के हाथों सौंपने के बजाय वह अपना राज्य दाँव पर लगाने को तैयार था।

परन्तु औरंगजेब ने पृथ्वीपति शाह के पुत्र/उत्तराधिकारी मेदनीशाह से सम्पर्क किया जिसने वृद्ध पिता की इच्छा के विरुद्ध सुलेमान शिकोह को औरंगजेब के सुपुर्द कर दिया जिससे व्यथित होकर पृथ्वीपति शाह ने पुत्र मेदिनी शाह को उत्तराधिकार से वंचित कर दिया। फलतः उसे अपना जीवन मुगल दरबार में बिताते हुए 1661 ई. में वही उसकी मृत्यु हो गई। साथ ही पृथ्वीपति शाह ने अपना उत्तराधिकारी फतेपति शाह को नियुक्त कर दिया।

उक्त के अतिरिक्त सिरमौर शासक मान्धाता व कुमाऊँ शाकस वांज बहादुर चंद द्वारा भी मुगल बादशाह औरंगजेब के कहने पर बंटवारे की नियत से आक्रमण किया पर सफल नहीं हो पाये थे इसी बीच में मेदनी शाह की मृत्यु के पश्चात् पृथ्वीपति शाह ने दून पर पुनः अपना अधिकार कर लिया। तथा वहाँ अपने नाम से पृथ्वीपुर नगर की स्थापना कर एक गढ़ (किला) का निर्माण भी करवाया था।

फतेपतिशाह (1667ई.-1716ई.) के बारे में जानने के अनेकों श्रोत प्राप्त हैं, गुरु गोविन्द सिंह का 'विचित्र नाटक' से लेकर मौलाराम कृत गढ़ राज्य वंश काव्य आदि। फतेशाह के समय कुमाऊँ का शासक उद्योत चंद ने गढ़ राज्य पर आक्रमण कर वधाण गढ़ जीत लिया। पुनः 1679 में आक्रमण कर चौदपुर गढ़ी में लूटपाट मचायी थी। परिणाम स्वरूप गढ़राजा व डोटी (नेपाल) राजा ने सन्धि कर कुमाऊँ पर आक्रमण किया, परन्तु दोनों राजाओं को उद्योत चंद ने पराजित कर दिया था।

दूसरी ओर सिरमौर नरेश को पराजित कर गढ़राजा ने वैराटगढ़ व कालसीगढ़ पर अधिकार कर लिया था तथा पाँवटा पर भी आक्रमण किया था और सिरमौर शासक मेदिनी प्रकाश या रुद्रप्रकाश को रुपया 3000/- वार्षिक कर देने पर रिहा किया गया। जिसमें मध्यस्थता मुगल बादशाह औरंगजेब द्वारा की गई थी।

फतेपति शाह के सिख गुरुओं से भी सम्बन्ध थे। 1675 ई. में औरंगजेब के भय से गुरु रामराय श्रीनगर पहुँचे थे। फिर कालिन्दी नामक स्थान पर रहे। तदपरान्त वे देहरादून के खुड़बुड़ा नामक स्थान पर बस गये। जहाँ गढ़ राजा ने उन्हें खुड़बुड़ा, राजपुर व चामास्तरी तीन गाँव गुरु मंदिर हेतु दे दिये। सभी धर्मों के लोग उनका आदर करते थे गुरुरामराय का दून के खुड़बुड़ा में डेरा पड़ने पर खुड़बुड़ा क्षेत्र डेरा दून कहलाने लगा जो आगे चलकर देहरादून के नाम से प्रसिद्ध हो गया। इसके अतिरिक्त गुरुगोविन्द सिंह के व्यवहार से केहलूर नरेश भीष्मचंद गुरु से नाराज था जिस कारण गुरु सिरमौर शासक मेदिनी प्रकाश के आमन्त्रण पर नहान आ गये। परन्तु सिरमौर शासक व गढ़ राजा के मध्य कटु सम्बन्ध थे इसी बीच केहलूर राजा, गुरु व भीष्मचंद के बीच मतभेद पैदा हो गया जिसकी परिणति अन्ततः युद्धों के रूप में हुई। जैसे 1689 ई. का मंगाड़ी युद्ध, अन्नदपुर का पहला, दूसरा, तीसरा, चौथा व पाँचवा युद्ध आदि। इसके अतिरिक्त फतेपति शाह ने 1692 ई. में मुगल साम्राज्य का भाग सहारनपुर पर आक्रमण किया तथा दून में अपनी राजनीतिक व्यवस्था स्थापित की। दाबा (भोर प्रदेश) पर भी आक्रमण करके कर वसूल किया था।

1699 ई. में ज्ञान चंद ने युद्ध कर वधाण गढ़ की लूटपाट में नन्दा देवी की सोने की मूर्ति उठा लाया। इसी 1701 ई., 1703 ई. व 1707 ई. में भी ज्ञान चंद द्वारा आक्रमण कर लूटपाट की गई थी। 1708 ई. में जगत चंद द्वारा भी युद्ध किये गये। 1709 में जगत चंद ने श्रीनगर जीत कर एक ब्राह्मण को दान दे दिया था परन्तु 1710 में फतेपति शाह ने गढ़ राज्य पुनः अपने अधिकार में ले लिया था। इसका परिणाम यह हुआ कि दोनों क्षेत्रों की सीमावर्ती जनता जन एवं धन दोनों रूपों में आये दिन परेशान रहती थी।

युद्धों के अतिरिक्त फतेपति शाह को दरबार में एक ओर पुरिया नैथानी जैसा मसहूर राज्याधिकारी, कुशल राजनीतिज्ञ, जन हितैषी व युद्ध कुशल थे वहीं संस्कृत व ज्योतिष के महान विद्वान भी थे। कवि रामचंद्र कडियाल, भूषण वृत्, कौमुदी ग्रन्थ के लेखक मतीराम व रतन कवि भी थे। गढ़ राजा चित्रकारों का आश्रयदाता भी था। मुख्यतः केहरदास व श्यामदास राज्य चित्रकार थे जिनकी परम्परा को बाद में मौलाराम ने आगे बढ़ाया था। अपनी मुद्रा भी गढ़राजा ने प्रचलित की थी।

उपेन्द्र शाह (1761 ई. के कुछ महिने) फतेपति शाह की मृत्यु के पश्चात् कुछ समय के लिये उपेन्द्र शाह राजा बना था। तदपरान्त प्रदीप शाह (1717ई.-1772ई.) गढ़ राज्य का राजा बना। तब वह नाबालिक था बालिक होने तक उसकी माँ ने राज्य किया था जिस काल को गढ़वाल में राणीराज के नाम से जाना जाता है अर्थात् संरक्षिका के रूप में सत्ता संभाली थी। तब गढ़देश के राजदरबार में दलबन्दी अपनी चरम पर थी। एक ओर राजपूत दल दूसरी ओर खसिया दल था। राजपूत दल के लोग मुख्यतः हिमाचल के कांगड़ा व मैदानी क्षेत्रों से आकर बसे हुए थे। जिसका कारण कुमुँ-गढ़ के राजा अपनी सेना में वाह्य राजपूतों को रखकर स्थानीय खस राजपूतों को आतंकित करना चाहते थे इस कारण यह लोग राज्य के उच्च पदों पर भी थे ये स्थानीय खसों को निम्न दृष्टि से देखते थे। खसिया दल में खस राजपूत व ब्राह्मण थे जो अपनी योग्यता के बल पर उच्च पदों पर थे। राणी राज के समय इनकी प्रतिद्वन्द्विता उग्र रूप ले चुकी थी। राणी, राजा कांगड़ा की बेटी थी इसलिये राणी दरबार में उसके कठौच भाईयों का मनमाना तंत्र चलता था इच्छानुसार नये-नये कर लगाये जाते थे और रानी को कहा गया कि खसिया दल व दीपशाह आपके विरोधी है आदि।

दूसरी ओर कुमुँ शासक देवीचंद ने 1723 ई. में गढ़वाल पर आक्रमण कर दिया। लोहाब व वधाण गढ़ जीत लिया तथा श्रीनगर पहुँचकर गढ़ राज्य को अपने अधीन करना चाहा पर असफल रहा। 1726 ई. में देवी चंद की विलासिता से परिचित होकर डोटी (नेपाल) के रैका व गढ़ शासक ने संधि कर कुमाऊँ पर आक्रमण किया, परन्तु कुमुँ शासक ने रैका राजा से संधि कर गढ़ शासक को लौटने पर मजबूर किया था।

जैसा कि ऊपर आपने पढ़ा कि गढ़ दरबार में तब कठौतों का मनमाना शासन चल रहा था। उनके विभिन्न कर व अत्याचारों से क्रुद्ध होकर जनता व खसिया दल के लोगों ने रानी के निकटवर्ती पाँचों भाइयों का वध कर डाला परन्तु दलबन्दी फिर भी बन्द नहीं हुई। 1730 ई. में जब प्रदीप शाह ने सत्ता अपने हाथ में ली तब राजदरबार की दल बन्दी कम हुई थी। वशेर के राजा ने अधीनता स्वीकार कर ली। कुमाऊँ से मैत्री हो गई। 1734 ई.-1744ई. में रुहेलों के विरुद्ध गढ़ शासक ने कुमुँ शासक कल्याणचंद की मदद कर रोहिलों को निकाल बाहर करने में अपना योगदान दिया था जिससे कल्याणचंद प्रदीप शाह धर्म भाई बन गये। परन्तु कल्याण चंद की मृत्यु पश्चात् दीप चंद के राजा बनने पर उसने वह धर्म प्रदीप शाह के साथ नहीं निभाया जिस कारण कुमुँ-गढ़ में फिर वैमनस्य पैदा हो गया। वहीं रोहिलों ने 1740ई. में सहारनपुर पर अधिकार कर लिया था और 1757 ई. में पुनः नजीव-उद्दौला की मृत्यु होने के साथ ही प्रदीप शाह ने देहरादून अपने अधिकार में ले लिया।

ललित शाह (1772 ई.-1780 ई.) प्रदीप शाह की मृत्यु के बाद उसका उत्तराधिकारी बना। गढ़नरेश बनते ही ललित शाह ने दून में व्यवस्था बनाये रखने हेतु रौहिला, सिख, गूजर व राजपूतों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित कर तथा जागीरें देकर अपने विजय अभियान को सक्रिय बना रहा था। उसी अभियान के तहत उसने सिरमौर पर आक्रमण किया परन्तु पराजित हुआ यह युद्ध 1777 ई. व 1779 ई. के मध्य लड़ा गया था। तत्पश्चात् उसने अपना कुमाऊँ अभियान शुरू किया था। तब कुमाऊँ में राजा मोहन चंद का खूनी शासन चला हुआ था। दीपचंद व उसके दोनों बेटों की हत्या कर वह कूटनीतिज्ञ हर्षदेव जोशी व उसके सम्बन्धियों को भी मारना चाह रहा था। इस बीच जोशी भाईयों ने ललित शाह से सम्पर्क कर कुमाऊँ पर आक्रमण करने की योजना बनवाई जिसके तहत ललित शाह के बेटे प्रद्युम्न शाह को कुमाऊँ का राजा बनना था। इस योजना के तहत 1779 ई. में कुमुँ-गढ़ सेनाओं के मध्य बगवाली पोखर में युद्ध लड़ा गया जिसमें कुमुँ सेना पराजित हुई पर ललित शाह अपने बेटे प्रद्युम्न शाह को कुमाऊँ का राजा नहीं बना पाया था।

जैकीर्ति शाह (1780ई.-1785ई.) ललित शाह का उत्तराधिकारी बना। तब गढ़ राजदरबार में प्रतिद्वन्द्विता बनी हुई थी। कृपा राम डोभाल, नित्यानंद खण्डूरी दल तथा कुमाऊँ से जयानन्द जोशी के धमकी भरे पत्र जो जैकीर्ति शाह के सौतेले भाई प्रद्युम्न शाह को प्रद्युम्न चंद के रूप में कुमाऊँ का शासक बनाने की बता कह रहे थे। इस प्रकार गढ़राजा द्वारा प्रद्युम्न शाह को अल्मोड़ा भेजा गया, जहाँ उसने प्रद्युम्न चंद के नाम से 1779 ई. से 1786 ई. तक शासन किया था।

परन्तु जैकीर्ति शाह के राज्यकाल में अनतर्कलह अपनी चरम पर था। खण्डूरी, डोभाल दल, नेगी दल, दून का फौजदार घमण्ड सिंह तथा दून पर 1783 ई. में सिखों के छापे, कुमाऊँ से जाकर प्रद्युम्न चंद (शाह) द्वारा जोशियों के साथ मिलकर कपरोली युद्ध, 1785 में श्रीनगर, देवलगढ़ में प्रद्युम्न द्वारा की लूट खसोट, 1786 ई. में दून पर रोहिला आक्रमण व धनीराम के विश्वातघात से दुखी होकर जैकीर्ति ने देवप्रयाग के रघुनाथ मंदिर में प्राण त्याग दिये।

1.4.4 प्रद्युम्न शाह (1785 ई.- 1804 ई.)

1785 ई. में जैकीर्ति शाह की मृत्यु के समय प्रद्युम्न शाह कुमाऊँ में प्रद्युम्न चंद के नाम से राज्य चला रहा था। जैकीर्तिशाह की मृत्यु का समाचार सुनते ही प्रद्युम्न चंद कुमाऊँ राज्य छोड़कर श्रीनगर गढ़वाल आकर वहाँ का राजा बन गया। उसके राजा बनते ही राजदरबार में भयानक दलबन्दी हो गई। एक दल प्रद्युम्न शाह व उसके पक्षधर दूसरा उसका सौतेला भाई पराक्रम शाह व उसके पक्षधर इस बीच प्रद्युम्न शाह, पराक्रम शाह को कुमाऊँ का राजा बनाना चाहता था जो उसे स्वीकार नहीं था। फलतः आपसी वैमनस्यता के कारण कुमाँ राज्य गढ़ राजाओं के हाथों से निकल गया गढ़राज्य में ग्रह युद्ध की स्थिति पैदा हो गई। परिणाम स्वरूप इस आन्तरिक कलह व वाह्य युद्धों के कारण गढ़ राज्य में अशान्ति, अव्यवस्था निरन्तर वाह्य आक्रमणों का संकट बना रहा यही गढ़ राज्य के पतन का कारण बने जिन्हें आप यहाँ पढ़ेंगे।

रोहिला आक्रमण— 1786ई. में दून पर रोहिला गुलाम कादिर द्वारा अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया गया था। जिसमें उसकी मदद हिन्द सलाहकार मुनियार सिंह ने की थी। 1789 में उसकी मृत्यु के पश्चात् ही दून गढ़ शासकों के अधीन हो पाया था। परन्तु अव्यवस्था बनी रही। सिख, गुर्जर व सहारनपुर के राजपूत गुर्जरों द्वारा निरन्तर दून में लूटपाट होते रहती थी। गढ़ नरेश श्रीनगर राजदरबार की अव्यवस्थाओं में उलझे रहने के कारण इस ओर ध्यान नहीं दे पा रहा था। जिस कारण दून का फौजदार उम्मेदसिंह विवश था।

इस अव्यवस्था के मध्य सिरमौर शासक धर्मप्रकाश ने दून पर अपना अधिकार कर लिया। इस अधिपत्य को खत्म करने हेतु प्रद्युम्न शाह ने मराठों से सहायता माँगी थी पर वे सिरमौर शासक से धन-दौलत लेकर वापस चले गये और प्रद्युम्न शाह की योजना असफल हो गई। परन्तु कुछ समय के पश्चात् प्रद्युम्न शाह ने दून पर अपना अधिकार कर लिया तथा स्थायी व्यवस्था हेतु अपनी पुत्री का विवाह दून फौजदार उम्मेद सिंह से किया था। जिसने आगे चलकर सिरमौर शासक के साथ मिलकर गढ़नरेश के साथ विश्वासघात किया था। 1801 ई. में दून पर लूटपाट हेतु मराठों का आक्रमण हुआ था इस लूटपाट में मुख्यतः प्रद्युम्न शाह दामाद हरिसिंह गुलेरिया व रामदयाल सिंह लंठौर थे। अतः 1804 में गोरखा आक्रमण तक दून अव्यवस्थित व आतंकित रहा जिसकी वजह सिख, गुर्जर, राजपूत लुटेरे, मराठे, फौजदार उम्मेद सिंह का विश्वासघात व गोरखा थे।

1790 में गोरखों द्वारा कुमाऊँ पर आधिपत्य के पश्चात् उन्होंने गढ़वाल पर अधिकार की सोची थी ताकि सम्पूर्ण उत्तराखण्ड में गोरखा साम्राज्य स्थापित हो जाय। इसी योजना के तहत 1791 में गोरखों ने गढ़वाल पर पहला आक्रमण किया था। यह आक्रमण गोरखों ने गुजडूगरी (नयार उपत्यका) के रास्ते किया था। लंगूर गढ़ में एक साल तक डेरा डालने के बाद भी वे आगे नहीं बढ़ सके। इसी बीच चीन द्वारा नेपाल पर आक्रमण करने के कारण गोरखा सेनाधिकारी गढ़ शासक से सन्धि कर वापस डोटी (नेपाल) चले गये। गढ़ शासक ने कर सहित गोरखों की सभी शर्तें मान ली थी। 1803 ई. में पहुँचने तक गोरखों ने कर रु. 3000/- से बढ़ाकर रु. 9000/- कर दिया और श्रीनगर दरबार में रह रहे नेपाली प्रतिनिधि व उसके साथियों ने समूचे गढ़वाल में

अवैध वसूली, लूटमार, आगजनी व स्थानीय लोगों को दास-दासियाँ बनाकर बेचना तथा वेश्यावृत्ति आदि अत्याचार शुरू कर दिये थे।

दूसरी ओर दैवीय आपदाओं ने भी इस बीच गढ़ देश की दयनीय स्थिति बना दी थी। 1794 ई. व 1795 ई. का अन्नाकाल व 1803 ई. का भूकम्प व गृह युद्ध आदि। कहा जाता है कि इस भूकम्प में 20 से 25 प्रतिशत लोग ही बच पाये थे। अर्थात् जन-धन दोनों हानि हुई। प्रद्युम्न शाह व उसका मुखिया रामधारणी खण्डूरी, पराक्रम शाह व उसका मुखिया शीशराम, शिवराम सकलानी तथा सुदर्शन शाह के मध्य गृह युद्ध चला हुआ था। पराक्रम शाह ने देशद्रोह कर प्रद्युम्न शाह के मुखिया रामाधारणी की हत्या कर दी थी। इस पर प्रद्युम्न शाह ने बमशाह से रक्षा की गुहार लगाई, इसके स्थान पर बमशाह ने गोरखा सेना के प्रमुख हस्तिबल चौतरिया, काजी रणधीर सिंह, भक्तिवीर थापा व अमर सिंह थापा को गढ़वाल फते के आदेश दे दिये। अतः गढ़वाल की उक्त कमजोरियों का लाभ उठाते हुए गोरखों ने सम्पूर्ण गढ़वाल पर अधिकार कर गढ़राजा प्रद्युम्न शाह को सहारनपुर के राजपूत गुर्जरों की शरण लेने को बाध्य किया था। वहीं गुर्जर सरदार से सहायता लेकर प्रद्युम्न शाह ने 1805 में फिर गोरखों के विरुद्ध अन्तिम प्रयास किया था। इस अन्तिम युद्ध को खुड़बुड़ा का युद्ध के नाम से जाना जाता है खुड़बुड़ा नामक स्थान वर्तमान देहरादून शहर में है इस युद्ध में प्रद्युम्न शाह की मृत्यु हो गई, प्रीतम शाह बन्दी बनाकर नेपाल भेज दिया गया। पराक्रम शाह भागकर कांगड़ा नरेश की शरण में चला गया तथा सुदर्शन शाह ब्रिटिश राज्य अर्थात् हरियाणा चला गया। इसी सुदर्शन शाह द्वारा 1815 ई. में ब्रिटिश सहायता से गोरखों को पराजित कर वापस नेपाल जाने को बाध्य किया था तथा अंग्रेजों के साथ संधि कर अंग्रेजों के ही अधीन टिहरी रियासत की स्थाना की थी। जिसमें उत्तरकाशी भी सम्मिलित था। शेष गढ़वाल ब्रिटिश साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया गया। अर्थात् समूचे भारत की तरह टिहरी व उत्तरकाशी को छोड़कर गढ़वाल भी ब्रिटिश साम्राज्य का अंग बन गया।

अतः आपने देखा कि लगभग 300 वर्ष पूर्व 1500 ई. में जिस पवार शासक अजयपाल ने सम्पूर्ण गढ़ क्षेत्र को एक सूत्र में बाँधकर इस राज्य को गढ़वाल राज्य की संज्ञा प्रदान की थी उस राज्य के संस्थापक शासक अजयपाल के उत्तराधिकारियों ने राज्य को सुव्यवस्थित कर विस्तारित करते हुए उसके सपनों को आगे बढ़ाया था। उसी राज्य को 1805 में प्रद्युम्न शाह, पराक्रम शाह और सुदर्शन शाह के सत्ता संघर्ष के कारण गोरखों ने नष्ट कर दिया साथ ही गढ़राज्य को गोरखों के अमानवीय अत्याचार सहने को विवश किया था तथा 1815 ई. में एकीकृत गढ़वाल राज्य ब्रिटिश व टिहरी रियासत दो भागों में बंट गया इस दुखद बँटवारे का पवार शासकों का सत्ता संघर्ष ही मुख्य कारण था।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:
 - क. मानशाह
 - ख. महिपति शाह
2. नीचे लिखे प्रश्नों के उत्तर दीजिए:
 - क. पृथ्वीपति शाह
 - ख. प्रद्युम्न शाह

1.5 पवार शासकों की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक व सांस्कृतिक व्यवस्था

आप देखेंगे कि जिस प्रकार देश के जिन क्षेत्रों में समय-समय पर जो भी राजवंशों की सत्ता रही उन्होंने उसे चलाने हेतु समसामयिक परिस्थितियों के अनुसार या अपनी सुविधानुसार एक व्यवस्था स्थापित की। उसी प्रकार कत्यूरी साम्राज्य के पतन के पश्चात् 1500 ई. में अजयपाल द्वारा गढ़ राज्य को संगठित कर पवार सत्ता स्थापित करने के साथ उसे सुचारु रूप से चलाने हेतु एक निश्चित राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक व्यवस्था स्थापित की थी जिसमें उसके उत्तराधिकारी समयानुसार परिवर्तन भी करते रहे थे। उसी व्यवस्था के बारे में आप यहाँ पढ़ेंगे।

1.5.1 राजनीतिक व्यवस्था

पवार सत्ता की पूर्ण शक्तियाँ राजा के हाथों में थी। इसीलिये उसे “वोलन्दा बदरीनाथ” की संज्ञा दी गई थी अर्थात् बदरीनाथ के समान राजा, उसका विरोध नमक हरामी की श्रेणी में था। ऐसा माना जाता है कि मैदानी क्षेत्रों से आने वाले श्रद्धालु कतिपय कारणों से यदि बदरीकेदार के दर्शन नहीं कर पाये तो वे राजा के शुभ दर्शन करके ही लौट जाते थे। राजा की सुरक्षा हेतु जागीरदार, नक्कारवाद, उपाधि देना, मुहर लगान, अंग-भंग की सजा आदि का अधिकार मुगल शासकों की तरह था। प्रशासनिक व्यवस्था के अन्तर्गत राजा द्वारा ही स्थानीय सामंतों को अधिकार दिये जाते थे।

राजा के मुख्य पादधिकारियों में **वजीर** या **मुख्तार** थे राजा के बाद यही उच्च पद था, इसलिये इसे मुख्यमंत्री भी कह सकते हैं। **दफ्तरी** मुख्यतः राजस्व विभाग का प्रमुख होता था साथ ही राजाज्ञा से फरमान जारी करना, पुरस्कार एवं दण्ड देना तथा सभी प्रशासनिक कार्य यही करता था। **दीवान** पवार शासकों के आय-व्यय का प्रमुख अधिकारी होता था। **वरखी** सेना का वेतन अधिकारी होता था। **राजगुरु** के द्वारा ही राजदरबार के सभी धार्मिक कार्य सम्पन्न किये जाते थे। पवार काल में **वकील** का पद महत्वपूर्ण माना जाता था अन्य राज्यों से वार्ता का कार्य इसी का होता था। गढ़राजाओं के अनेक वकील रहे परन्तु मशहूर पुरिया नैथानी माना जाता है। राजाज्ञा व ताम्रपत्र लिखने हेतु **लेखवारों** की नियुक्ति भी की जाती थी।

गढ़वाल राज्य तब विभिन्न परगनों में बंटा हुआ था। प्रत्येक परगने में राजा द्वारा एक **फौजदार** नियुक्त था जो सम्बन्धित परगने का प्रमुख अधिकारी होने के साथ-साथ उसे न्याय व दण्ड देने का अधिकार भी था। हर फौजदार के अधीन सेना होती थी उसके वेतन आदि का खर्चा अधीनस्थ परगने के राजस्व से चुकाया जाता था। राजदरबार में **गोलदार** भी होते थे। जिसका मुख्य कार्य राजधानी की सुरक्षा करना होता था इसलिये राजदरबार की राजनीति में इनकी निर्णायक भूमिका रहती थी। जिसके अनेक उदाहरण हैं। गढ़राजाओं ने **नेगीचारी** भी शुरू की थी जिस अनुसार नेगीयों को राजस्व का कुछ भाग दिया जाता था, मन्त्रीमण्डल में भी इनका प्रतिनिधित्व के साथ राजनीतिक उलटफेर में भी भागीदारी रहती थी। यह पद परम्परागत होता था। इन राज्याधिकारियों के अतिरिक्त **थोकदार** या **जागीरदार** भी नियुक्त किये जाते थे जिन्हें सयाणा, कमीण व गुढेरे भी कहते थे। इसका मुख्य काम अपने क्षेत्र से राजस्व वसूली करना होता था। इन्हें ग्रामीणों द्वारा विभिन्न अवसरों पर नजराने भी दिये जाते थे धीरे-धीरे यह पद वंश परम्परागत हो गया। थोकदारों के द्वारा ही प्रत्येक गाँव में प्रभावशाली व्यक्ति को **प्रधान** नियुक्त किया जाता था इसका कार्य ग्रामीणों से राजस्व वसूली कर थोकदार को सौंपना होता था। उक्त राज्याधिकारियों एवं कर्मचारियों के अतिरिक्त **चण्ड** (सन्देशवाहक) राजपरिवार के सेवक सेविकायें, अथितियों के स्वगती, भण्डाराध्यक्ष व राज कलाकार भी होते थे।

आप यहाँ पढ़ें कि पवार शासकों की सैन्य व्यवस्था दो प्रकार की थी। स्थायी सेना जो राजप्रासाद में शांति व्यवस्था हेतु रखी जाती थी तथा थोकदार व गोलदरों की सेना। युद्ध के समय अस्थायी सेना भी संगठित की जाती थी। अस्त्र-शस्त्रों के नाम पर सैनिकों को बन्दूक व तोपों के अतिरिक्त धनुष-बाण, ढाल-तलवार व पत्थर कला (पत्थरों से युद्ध) का प्रशिक्षण भी दिया जाता था। ताम्र पत्रों के माध्यम से राजा द्वारा सैनिकों को **‘रौत’** (जागीर) दी जाती थी जिस पर राजस्व नहीं लिया जाता था।

गढ़वाल राज्य के पूर्व में कुमाऊँ, पश्चिमी में सिरमौर, बसेर, नहान उत्तर में तिब्बत तथा दक्षिण में मुगल, रोहिला, गुर्जर आदि राज्य थे। देशकाल परिस्थितियों के अनुसार पवार शासकों की बाह्य नीतियाँ भी बदलती रहती थी। कभी मैत्रीपूर्ण, कभी शत्रुतापूर्ण सम्बन्ध बनते बिगड़ते रहते थे। गुप्तचर व्यवस्था शिथिल थी।

न्याय व्यवस्था के अन्तर्गत पंचायत ही सर्वमान्य संस्था थी जिसमें स्थानीय परम्पराओं के ज्ञानी होते थे। यह तरीके से विवादों का निर्णय करती थी। जो सभी को मान्य होता था। गम्भीर विवाद या असन्तुष्ट होने पर ही मामला उच्च अधिकारी जैसे थोकदार, फौजदार या राजदरबार पहुँचते थे जो अपवाद स्वरूप था। दण्ड व्यवस्था में अपराध के अनुसार अर्थदंड, सम्पत्ति छीन लेना, राज्य निकाला, मृत्यु दंड, नाक या हाथ काटना, गरम लोहे की छड़ हाथ में रखना व गरम तेल में हाथ डलवाना आदि था।

1.5.2 सामाजिक व्यवस्था

गढ़वाल राज्य में पितृसत्तात्मक व्यवस्था की प्राथमिक इकाई परिवार था। परिवार का मुखिया पिता की मृत्यु पश्चात् ज्येष्ठ पुत्र मुखिया होता था। भाईयों के अलग होन पर बड़े भाई को जेतुली अर्थात् कुछ अतिरिक्त हिस्सा देने की प्रथा थी। संयुक्त परिवार व्यवस्था भी थी। आवश्यकता पड़ने पर परिवार विभाजन के साथ सम्पत्ति का बँटवारा भी होता था। परिवार के बाद दूसरी इकाई ग्राम थे, जो विभिन्न परिवारों के समूह से बनता था। विभिन्न अवसरों पर हाट या बाजार भी लगती थी। जहाँ से लोग आवश्यकतानुसार सामान की अदला बदली करते थे या आवश्यक वस्तुएँ खरीदते थे। हाट मुख्यतः लालढांग, बाड़ाहाट, कोटद्वार, जोशीमठ, मांगा, नीति व देवप्रयाग आदि में लगती थी नगर के रूप में श्रीनगर ही मुख्य था।

जाति व्यवस्था के अन्दर प्रमुख रूप से ब्राह्मण-सरोला (उच्च), गंगाड़ी (खसिया), वाह्यगत ब्राह्मण, राजपूत, खसिया राजपूत, वाह्यगत राजपूत (मैदानी क्षेत्रों से आये) भोटिया और हरिजन थे। हरिजन वर्ग के लोगों के गाँव सवर्णों से अलग होते थे इन लोगों में भी सवर्णों की भाँति उपजातियाँ थी जो एक-दूसरे से अपने को बड़ा मानती थी। आपस में सम्बन्ध भी नहीं होते थे इनके एक वर्ग में वादक, नर्तक, हुड़क्या, औजी, भाट, भांड आदि होते थे दूसरे वर्ग में शिल्पी आते थे जो लोहा, ताँबा व चमड़े का काम करते थे तथा इसी वर्ग के लोग मिस्तरी, बढई, लोहार, टम्टा, मोची आदि थे। हरिजनों में कोली जाति को उच्च माना जाता है इनके बारे में कहा जाता है कोली जाति की माँ और राजपूत जाति के पिता से इनकी उत्पत्ति हुई थी आदि। यह वर्णन भी मिलता है कि हरिजन वर्ग के लोग सवर्णों की मृत्यु पर सिर मुड़वाते थे और हरिजन की मृत्यु पर सवर्ण दाह संस्कार में जाते थे पर सिर नहीं मुड़वाते थे। अन्य जातियों में बैरागी, जोगी, गुसाई, नाथ, गिरी व पुरी आदि थे। इन जातियों के अतिरिक्त इसाई व मुसलमान भी पवार शासनकाल में थे।

रहन-सहन के सन्दर्भ में अंधिकाशतः नदी घाटियों में वसासत थी। पत्थरों से निर्मित मकान एक या दो मंजिले, वेशभूषा ठंडे इलाकों में ऊनी व गर्म इलाकों में सूती वस्त्र पहनते थे। वस्त्रों में मुख्यतः लंगोट, गाती (उपरी बदन का कपड़ा), पगड़ी, चूड़ीदार, पैजामा तथा स्त्री पुरुष दोनों आभूषण पहनते थे। खाद्य व्यवस्था में मुख्यतः चावल, गेहूँ, जौ, महुवा, कौंणी, झूगर, दूध, दही, घी या भेड़ भकरियों का मांस खाते थे। यात्रा के समय भोटिया समुदाय सत्तू भी खाता था। ब्राह्मण व राजपूतों में ब्रह्म विवाह प्रचलन में था यद्यपि आसुरी विवाह भी होते थे, जिसमें कन्या शुल्क देकर विवाह होता था। बाल विवाह, बहुविवाह प्रथा भी थी। हरिजनों में विधवा विवाह भी होते थे। नृत्य व संगीत मुख्य मनोरंजन के साधन थे जो वर्ष में होने वाले अनेक तीज त्योहारों के अवसर पर महीनों चलते थे।

पवार राज्य में महिलाओं की स्थिति बहुत अच्छी नहीं थी। उनके साथ निजी सम्पत्ति का सा व्यवहार होता था। बाल विवाह, बहुविवाह के साथ सती प्रथा भी चलन में थी।

मृत्यु उपरान्त दाह संस्कार के एक माह पश्चात् उसी तिथि को संस्कार कर्ता द्वारा एक पत्थर ले जाकर एक स्थान पर जहाँ उसी जाति का घर बना होता है वहाँ रख देता है। जिसे पितर कुड़ी (पितृ घर) कहा जाता है।

शिक्षा की कोई निश्चित व्यवस्था नहीं थी, कोई राजकीय शिक्षा केन्द्र नहीं थे। राजपरिवार व उच्च वर्ग के लोग परम्परागत शिक्षा ले लेते थे परन्तु जनसामान्य हेतु कोई व्यवस्था नहीं थी।

1.5.3 आर्थिक व्यवस्था

पवार शासकों के आय के साधन मुख्यतः भूमिकर, वन कर, खान कर, आयात निर्यात कर, औताली (थात या पट्टियों में बसे लोगों से प्राप्त होने वाला राजस्व) नजराना (भेंट) आदि थे।

समूचे देश की भाँति गढ़वाल राज्य का भी कृषि व पशुपालन मुख्य व्यवसाय था। कृषि उपज का 1/3 भाग राज्य को जाता था। पशुपालन में मुख्यतः गाय, भैंस, बकरी, भेड़, घोड़ा थे जिनका दूध, घी बेचा व घोड़ा, भेड़ बकरियों से सामान ढोना होता था। जिन्हें परिवार का पशुधन

कहा जाता था। गढ़देश की जनता तांबा, लोहा, शीशा व वोरक्स की खानों में कार्य कर भी आजीविका चलाते थे ये खानें प्रमुखतः अलकनंदा, पिण्डर रामगंगा आदि नदियों की रेत से सोने के कणों की धुलाई भी आय का साधन था। चट्टानों से औषधियुक्त शिलाजीत, सीसा, अभ्रक या अन्य खनिज भी आजीविका के साधन थे।

यदि उद्योग की बात की जाय तो गढ़ राज्य में स्थानीय उत्पादों पर आधारित वस्त्र उद्योग, बर्तन उद्योग (लकड़ी, धातु, मिट्टी), कागज उद्योग (पहाड़ी कागज) भी आय के साधन थे। आजीविका के साधनों में स्थानीय कलाकारों द्वारा मिट्टी की मूर्तिया बनाकर उनमें बज्र लेप लगाकर तैयार की जाती थी जिन्हें राजश्रय प्राप्त था। नृत्य व संगीत से भी कुछ लोग आजीविका चलाते थे। राजदरबार में चित्रकार व कवियों को भी राजश्रय प्राप्त था। श्यामदास, केहरदास पुत्र मंगत राम पौत्र मौलाराम ने गढ़वाली कलम व शैली को नये रूप में स्थापित किया। गढ़राजाओं की अर्थव्यवस्था के साथ व्यापार भी जुड़ा हुआ था। उनका व्यापार तिब्बत, कुमाऊँ व मैदानी क्षेत्रों से होता था। स्थानीय उत्पादों का निर्यात व आवश्यकतानुसार आयात भी होता था।

पवार शासन काल में टका व तिमासियों का प्रचलन भी था। श्रीनगर टकसाल में चाँदी के रुपये व तिमासी ढाली जाती थी। इस प्रकार तब विनिमय प्रणाली के साथ तिमासी व रुपयों से भी व्यापार होता था। वहाँ तौल व्यवस्था भी थी एक छोटा सा तराजू जिसे तुला या तूल कहा जाता था जिसके अनुसार 1 पल = 5 तोले = 11 ग्राम आदि। इस प्रकार गढ़राज्य की आर्थिक व्यवस्था सुसमृद्ध थी। क्योंकि काफी हद तक अर्थव्यवस्था स्थानीय श्रोतों पर ही आधारित थी।

1.5.4 धार्मिक एवं सांस्कृतिक व्यवस्था

आप यहाँ पढ़ेंगे कि पवार शासनकाल में गढ़वाल में मुख्यतः हिन्दू-मुस्लिम समुदाय के अतिरिक्त गुरुरामराय के साथ आये कुछ सिख भी देहरादून में बस गये थे। ईसाई भी यहाँ यात्री के रूप में आते रहे। हिन्दु के विभिन्न सम्प्रदाय शैव, वैष्णव, शाक्य व नाथ सम्प्रदाय के लोग मुख्य थे। सीमान्त क्षेत्र तिब्बत सीमा पर बौद्ध धर्म का प्रभाव था। इन सम्प्रदायों के साथ-साथ विभिन्न देवी-देवताओं की पूजा का प्रचलन भी था जैसे प्रकृति पूजा, गंगा, पीपल, कैलाश पर्वत, भूमि देवता आदि स्थानीय देवी-देवताओं की पूजा।

सांस्कृतिक व्यवस्था के बारे में प्रायः देखा जाता है कि पवार राजवंश की स्थापना के पश्चात् ही एक तरह से गढ़वाल में सांस्कृतिक विकास सुचारु रूप से हुआ। पवारों से पूर्व व पश्चात् सम्पूर्ण उत्तराखण्ड सहित गढ़वाल में भी देश के विभिन्न क्षेत्रों से भिन्न-भिन्न जाति, धर्म समुदायों का अलग-अलग उद्देश्यों से आना हुआ और फिर वे यहीं के होकर रह गये। उनका भी गढ़वाल की संस्कृति में महत्वपूर्ण योगदान है। दूसरी ओर 1500 ई. में अजयपाल के राज्यारोहण के साथ गढ़वाल राज्य में राजनीतिक स्थिरता के साथ वहाँ समाज, संस्कृति भाषा साहित्य, कला मूर्तिकला आदि का समुचित विकास हुआ था।

स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:
 - क. पवार कालीन धार्मिक दशा का वर्णन।
 - ख. पवार कालीन सांस्कृतिक दशा का उल्लेख।
2. नीचे लिखे प्रश्नों के उत्तर दीजिए:
 - क. पवार शासन काल में राजनीतिक व्यवस्था का वर्णन।
 - ख. पवारों के समय सामाजिक व्यवस्था का उल्लेख।

1.6. सारांश

यदि पवार कालीन गढ़वाल का अध्ययन किया जाय तो हम पाते हैं कि कत्यूरी साम्राज्य के पतन के पश्चात् संगठित उत्तराखण्ड खण्डित हो चुका था एक तरह से यहाँ अराजकता या बहुराजकता का माहौल व्याप्त हो चुका था आर्थात् राजनीतिक अस्थिरता अपनी चरम पर थी उस राजनीतिक अस्थिरतापूर्ण परिवेश के मध्य गढ़वाल क्षेत्र में स्थापित दर्जनों गढ़ियों या

छोटी-छोटी राजनीतिक इकाईयों में चौदपुर गढ़ी का पवार राजवंश भी एक था जिसका प्रारम्भिक शासक कनकपाल को माना जाता है परन्तु पवार राजवंश का वास्तविक संस्थापक अजयपाल को माना गया है क्योंकि उसने 1500 ई. में राजा बनते ही राजधानी चौदपुर गढ़ी से देवलगढ़ फिर श्रीनगर स्थापित करने के साथ पवार राज्य का विस्तार ही नहीं किया अपितु दर्जनों स्थानीय गढ़ियों के सामंतों, राजाओं को अपने अधीन कर गढ़वाल को एक सूत्र में बाँधा था। आन्तरिक व्यवस्था में सुधार के साथ वाह्य सम्बन्ध भी सुदृढ़ किये थे।

इसके अतिरिक्त उसने एक सुनिश्चित राजनीति, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक व्यवस्था आदि स्थापित की। जिस व्यवस्था का अनुसरण उसके उत्तराधिकारी करते गये तभी लगभग 300 वर्षों तक सम्पूर्ण गढ़वाल पर पवार शासकों ने शासन किया था। परन्तु पवार शासनकाल के अन्तिम चरण में पहुँचने तक अजयपाल के उत्तराधिकारियों में सत्ता को लेकर जो मतभेद सामने आये उससे वहाँ सत्ता संघर्ष आरम्भ हो गया। दूसरी ओर गोरखों द्वारा कुमाऊँ पर अधिकार करने के पश्चात् वे गढ़वाल पर भी अधिकार करने के उद्देश्य से आक्रमण कर रहे थे साथ ही समूचे देश की भाँति अंग्रेज गढ़वाल को भी ब्रिटिश उपनिवेश का हिस्सा बनाना चाहते थे।

अन्ततः उक्त राजनीतिक परिस्थितियों के मध्य 1805 ई. में पवार शासक प्रद्युम्न शाह व गोरखों के बीच देहरादून के खुड़बुड़ा नामक स्थान पर युद्ध लड़ा गया जिसमें प्रद्युम्न शाह के मारे जाने के साथ गढ़वाल में गोरखा साम्राज्य स्थापित हो गया अन्य उत्तराधिकारी प्रीतम शाह बन्दी बना लिया गया तथा पराक्रम शाह व सुदर्शन शाह को पड़ोसी राज्यों में शरण लेनी पड़ी। इन गोरखों के अमानवीय अत्याचार गढ़ जनमानस ने 1815 ई. तक सहन किये थे तत्पश्चात् गोरखा अंग्रेजों से पराजित होकर वापस डोटी (नेपाल) चले गये तथा सुदर्शन शाह ने अंग्रेजों से संधि कर टिहरी रियासत की स्थापना की थी और शेष गढ़वाल सहित पूरा उत्तराखण्ड ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन चला गया। इस प्रकार अंग्रेजों के आगमन के साथ ही पवार कालीन गढ़राज्य समाप्त हो गया।

1.7 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

इकाई 1.3 के स्व मूल्यांकित प्रश्न

1. (क) देखिए 1.3.1 कनकपाल
(ख) देखिए 1.3.3 अजयपाल
2. (क) देखिए 1.3.4 अजयपाल का राज्य विस्तार
(ख) देखिए 1.3.4 अजयपाल का शासन प्रबन्ध

इकाई 1.4 के स्व मूल्यांकित प्रश्न

1. (क) देखिए 1.4.2 में मानशाह
(ख) देखिए 1.4.2 में महिपति शाह
2. (क) देखिए 1.4.3 पृथ्वीपति शाह
(ख) देखिए 1.4.4 प्रद्युम्न शाह

इकाई 4.1 के स्व मूल्यांकित प्रश्न

1. (क) देखिए 4.1.4 धार्मिक व्यवस्था
(ख) देखिए 4.1.4 सांस्कृतिक व्यवस्था
2. (क) देखिए 4.1.1 राजनीतिक व्यवस्था
(ख) देखिए 4.1.2 सामाजिक व्यवस्था

1.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- 1 अडकिन्सन, ई.टी.: हिमालयन गजेटियर, भाग-2 का भाग-1, 2 लो प्राईस पब्लिकेशन, दिल्ली 2002।
- 2 पाण्डे, बदरी दत्त: कुमाऊँ का इतिहास, अल्मोड़ा बुक डिपो अल्मोड़ा, 1990-1997।
- 3 डबराल, शिवप्रसाद: उत्तराखण्ड का इतिहास, भाग- 1-4, वीरगाथा प्रकाशन, दोगड़डा,

1967–71।

- 4 डबराल, शिवप्रसाद: उत्तराखण्ड का इतिहास (गढ़वाल नवीन इतिहास), 1000–1804 ई., भाग– 12, वीरगाथा प्रकाशन, दोगड्डा, श्री कूर्म द्वादशी, 2044।
- 5 कठोच, यशवन्त सिंह: उत्तराखण्ड का नवीन इतिहास, बिनसर पब्लिशिंग कम्पनी– देहरादून, 2010।
- 6 जोशी, एम.पी.: उत्तरांचल, कुमाऊँ–गढ़वाल, अल्मोड़ा बुक डिपो, अल्मोड़ा, 1990।
- 7 नेगी, एस.एस.: मध्य हिमालय का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1988।
- 8 हान्डा, ओ.सी.: हिस्ट्री आफ उत्तरांचल, इण्डस पब्लिशिंग कम्पनी, दिल्ली, 2002।
- 9 भक्तदर्शन: गढ़वाल की दिवंगत विभूतियाँ, अमर भारत प्रेस, दिल्ली, 1952।
- 10 परमार, पातीराम:, गढ़वाल एनशिएन्ट एण्ड मौडर्न आर्मी प्रेस, शिमला, 1916।

1.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1. पवार कलीन गढ़राज्य पर एक समीक्षात्मक लेख लिखिए।
2. पवार वंश की स्थापना का वर्णन कीजिए।
3. अजयपाल के शासन काल का उल्लेख कीजिए।
4. प्रद्युम्न शाह के शासनकाल में दैवी आपदा का वाह्य युद्धों का उल्लेख कीजिए।
5. पवार कालीन सामाजिक व आर्थिक व्यवस्था का वर्णन कीजिए।

चंद कालीन कुमाऊँ	
1.1	प्रस्तावना
1.2	उद्देश्य
1.3	कुमाऊँ में चंद वंश की स्थापना
1.3.1	सोमचंद व उसके मुख्य उत्तराधिकारी
1.3.2	ज्ञानचंद
1.3.3	भारतीचंद
1.3.4	कीर्तिचंद
1.3.5	वालो कल्याणचंद
1.3.6	रुद्रचंद
1.3.7	लक्ष्मी चंद
1.4	राजा लक्ष्मी चंद के उत्तराधिकारी
1.4.1	त्रिमल चंद
1.4.2	बाजबहादुर चंद
1.4.3	उद्योय चंद
1.4.4	कल्याण चंद
1.4.5	दीप चंद
1.4.6	मोहन चंद
1.5	चंद शासकों की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक व्यवस्था
1.5.1	राजनीतिक व्यवस्था
1.5.2	सामाजिक व्यवस्था
1.5.3	आर्थिक व्यवस्था
1.5.4	धार्मिक एवं सांस्कृतिक व्यवस्था
1.6	सारांश
1.7	स्व मूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर
1.8	सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
1.9	निबन्धात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

जिस कत्यूरी राजवंश ने सम्पूर्ण उत्तराखण्ड को एक सूत्र में बांधा था उसके अवसान के उपरान्त उत्तराखण्ड राजनैतिक रूप से छिन्न-भिन्न हो चुका था। उस अस्थिर राजनैतिक परिवेश ने यहाँ भिन्न-भिन्न राजनैतिक शक्तियों का उभरना संभव बनाया। मुख्य रूप से एक ओर गढ़वाल में पंवार वंश का उत्थान हुआ वहीं कुमाऊँ के चम्पावत नामक स्थान से चंद राजवंश का उद्भव हुआ, जिसके शासकों ने बहुराजकता को समाप्त करते हुए कुमाऊँ में चंद राजवंश की स्थापना की थी।

इस प्रकार प्रस्तुत इकई में आप पढ़ेंगे कि चम्पावत में राजा सोमचंद व उसके उत्तराधिकारियों ने किस प्रकार चंद वंश की स्थापना कर उसका विस्तार किया। एक ओर पंवार शासकों के साथ बार-बार युद्ध दूसरी ओर डोटी राजा द्वारा आक्रमण तथा खश, शेष कत्यूरी, मल्ल, मणकोटी और रावत राजाओं आदि को पराजित कर चम्पावत में राजधानी स्थापित की, आगे चलकर सम्पूर्ण कुमाऊँ पर आधिपत्य स्थापित करने के पश्चात् राजधानी चम्पावत से वर्तमान अल्मोड़ा में स्थानान्तरित की थी। वहीं से चंद शासकों ने दीर्घ काल तक कुमाऊँ में अपनी सत्ता बनाये रखी।

आप यह भी पढ़ेंगे कि गोरखों के आक्रमण से पूर्व तक चंदों ने अपनी सत्ता तराई भावर से पर्वतीय क्षेत्र तक कैसे बनाये रखी तथा कुमाऊँ में उन्होंने स्थायी राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, न्यायिक व धार्मिक व्यवस्था को स्थापित किया था, जो व्यवस्था 1790 ई० में गोरखा आगमन तक चलते रही थी।

1.2 इकाई के प्राप्ति उद्देश्य

- चंद वंश की ऐतिहासिकता तथा स्थापना वर्णन
- चंद राजाओं की क्रमबद्धता तथा मुख्य कार्यो आदि का उल्लेख व पतन
- चंद शासकों द्वारा स्थापित राजनैतिक, प्रशासनिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक व धार्मिक व्यवस्था का वर्णन के साथ मूल्यांकन

1.3 कुमाऊँ में चंद वंश की स्थापना

कुमाऊँ में चंद वंश की स्थापना व प्रारम्भिक शासक के सम्बन्ध में इतिहासकारों के विभिन्न मत हैं। 1813 ई० में विलियम फ्रेजर, हर्षदेव जोशी, 1818 ई० में फरूखाबाद में कुमाऊँ निवासी कनकनिधि, प्रेमनिधि तिवाड़ी व हरिबल्लभ पाण्डे ने हैमिल्टन को जो बताया उसके आधार पर झूसी (इलाहाबाद) का राजकुमार थोरचंद चंद वंश का संस्थापक था, परन्तु स्थापना वर्ष में मतभेद के कारण थोरचंद को चंद वंश का संस्थापक शासक नहीं माना जा सकता है, क्योंकि अठकिन्सन या उक्त सन्दर्भों को मान भी लिया जाय तो चंद वंश की स्थापना लगभग 1216 ई० के आसपास हुई जो सत्य नहीं मानी गई है। क्योंकि राजा ज्ञानचंद 1374 ई० में गद्दी पर बैठा था।

इसलिए अधिक मान्यता ऐतिहासिक सन्दर्भों के आधार पर इलाहाबाद के निकट झूसी का राजकुमार सोमचंद 685 ई० या 700 ई० में कुमाऊँ में लाया गया या वह स्वयं यहाँ आया और उसी ने कुमाऊँ में चंद वंश की स्थापना की थी। थोरचंद तो सोमचंद की 23वीं पीढ़ी में आया था इस आधार पर अधिकांश इतिहासकारों का मत है कि चंद वंश का वास्तविक संस्थापक सोमचंद था जिसने चंद वंश की स्थापना वर्तमान चम्पावत में कर वहीं से उसने व उसके उत्तराधिकारियों के द्वारा राज्य विस्तार कर पूरे कुमाऊँ में अपनी सत्ता स्थापित की थी।

1.3.1 सोमचंद व उसके मुख्य उत्तराधिकारी

कुमाऊँ के चम्पावत नामक स्थान में चंद वंश के संस्थापक सोमचंद के सम्बन्ध में इतिहासकारों के भिन्न-भिन्न मत हैं, यह सर्वमान्य है कि 700 ई० के आसपास उत्तराखण्ड में

कत्यूरी साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो चुका था उस राजनैतिक परिवेश में जहाँ गढ़वाल में कनकपाल ने पंवार वंश की स्थापना की व उसके उत्तराधिकारियों ने सम्पूर्ण गढ़वाल को संगठित किया था उसी प्रकार कुमाऊँ में भी कत्यूरी अवसान के पश्चात् राजनैतिक अस्थिरता का दौर चला हुआ था उस परिवेश में सोमचंद ने चंद वंश की स्थापना की थी।

सोमचंद के कुमाऊँ आगमन के सम्बन्ध में अनेकों मत हैं अठकिन्सन, बदरी दत्त पाण्डे व शिवप्रसाद डबराल आदि व लोक मतों को देखते हुए एक मत यह है कि सोमचंद मणकोटी राजा के भान्जे थे उनसे मिलने वे यहाँ आये हुए थे। यह भी मत है कि बोहरा या बोरा लोगों को कत्यूरियों द्वारा अधिकार विहीन कर दिये जाने पर वे लोग प्रयाग जाकर सोमचंद को लाये थे यह भी मत है कि कत्यूरी पतन के बाद कुमाऊँ खस राजा व अन्य छोटी-छोटी ठकुराईयों में बँटने के कारण यहाँ अराजकता व लूटपाट का माहौल व्याप्त था तब यहाँ के प्रजावर्ग ने सर्वसम्मति से एक प्रतिनिधि मंडल राजा कन्नौज के पास भेजा जिसने सोमचंद को यहाँ भेजा था।

बहुमान्यता यह है कि सोमचंद इलाहाबाद के निकट झूसी या प्रतिष्ठानपुर का राजकुमार था जो अपने 27 साथियों के साथ बदरीनाथ यात्रा पर यहाँ आया, तब काली कुमाऊँ में कत्यूरी राजा ब्रह्म देव का शासन था उसने अपनी बेटी का विवाह सोमचंद के साथ किया तथा साथ में चम्पावत में लगभग 300 नाली जमीन के साथ भाबर का कुछ हिस्सा भी सोमचंद को दिया था यहीं से सोमचंद ने चंद राजवंश की स्थापना की थी। सर्वप्रथम सोमचंद ने चम्पावत में एक राजबुंगा नाम का किला बनवाकर स्वयं को माण्डलिक राजा के रूप में स्थापित किया था, राज्य को चलाने में सोमचंद के मुख्य सहायक कार्की, बोरा, तड़ागी व चौधरी थे। इनके भी राजबुंगा के चारों ओर किले थे, इन्हीं की सहायता से सोमचंद ने चम्पावत के स्थानीय खस राजा या रावत राजा को पराजित किया, साथ ही काली कुमाऊँ चम्पावत के दो शक्तिशाली दल महर व फड़त्यालों को भी अपने अधीन कर उन्हीं को राज्य प्रशासन की जिम्मेदारी सौंपी तथा पूरे राज्य को भी दो दलों में बांटा गया। फड़त्याल दल में स्वयं राजा व महर दल में राजकुमार शामिल हुए अर्थात् दोनों को समान दर्जा दिया गया, जिनके लिये राज्य में दो अलग-अलग किले भी बनवाये गये। दूसरी ओर इस राज्य स्थापना के बावजूद भी सोमचंद डोटी (नेपाल) को कर देता था।

विधिवत राज्य स्थापना के पश्चात् सोमचंद ने एक तरह से “पंचायती राज्य” व्यवस्था स्थापित की थी जिसके संचालन हेतु उसने इन्हीं दलों में से मंत्री, सिविल प्रशासन, सलाहकार, सेनाअधीक्षक व ग्रामीण व्यवस्था हेतु प्राचीन बूढ़ा व सयाणा परम्परा लागू की, जिन्हें ग्रामीण पुलिस व राजस्व व्यवस्था की जिम्मेदारी दी गई, तथा कुछ को अपना राज्याधिकारी नियुक्त किया जैसे जोशी, बिष्ट, पाण्डे आदि को प्रमुख सभासद, सिविल व सैन्य प्रशासन, पुरोहित, वैद्य आदि पदों पर नियुक्त किया गया उक्त सभी राज्याधिकारियों ने सोमचंद को राज्य विस्तार/स्थापना में काफी मदद की इस प्रकार 21 वर्ष तक सुव्यवस्थित राज्य स्थापित कर, 721 ई0 में सोमचंद की मृत्यु हो गई।

आप देखेंगे कि 721 ई0 में सोमचंद की मृत्यु के पश्चात् आत्मचंद, पूर्णचंद, इन्द्रचंद, संसारचंद, सुधाचंद, हमीर चंद और वीणा चंद तक सात चंद राजाओं ने चम्पावत में राज्य किया परन्तु इस बीच की कोई महत्वपूर्ण घटना या जानकारी उपलब्ध नहीं होती है। 869 ई0 में राजा वीणाचंद की निःसन्तान मृत्यु होने पर काली कुमाऊँ (चम्पावत) में पुनः अराजकता फैल गई, उस अस्थिरतापूर्ण माहौल का लाभ वहाँ के खस राजा व उसकी प्रजा ने उठाया था। सोमचंद से पूर्व की भाँति उन्होंने अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर चंदों की अधीनता समाप्त कर दी। बाहर से आये चंद राजा, ब्रह्मण, राजपूत, अधिकारियों व कर्मचारियों को उनका कोपभाजन बनना पड़ा, चम्पावत छोड़ उन्हें तराई भाबर से लेकर कुछ बचे कत्यूरी शासकों तक की शरण लेनी पड़ी। कुछों की लूटपाट कर हत्या कर दी गई। इस प्रकार चम्पावत में चंद राजसत्ता पूर्ण रूप से समाप्त कर लगभग 200 वर्षों तक वहाँ खस या रावत राजाओं ने राज्य किया था। कुमाऊँ के अतिरिक्त इनका राज्य विस्तार नेपाल, कश्मीर, कांगड़ा (हिमांचल प्रदेश) आदि स्थानों तक रहा था। परन्तु इनके शासन काल की विस्तृत जानकारी उपलब्ध नहीं है।

वीरचंद 1065ई0 – 1080ई0

उक्त 200 वर्षों के खश राजाओं के शासन से प्रजा तंग आ चुकी थी। वह खश सत्ता को उखाड़ फेंकने को तैयार बैठी थी। इस बीच प्रजा ने मंत्रणा कर किसी नये राजा को लाने का निर्णय किया। पता चला कि संसारचंद का वंशज वीरचंद नेपाल की तराई में शरण लिये है उसको लाने हेतु श्री सौन खड़ायत के नेतृत्व में एक दल गया जिसने उसे लाकर चम्पावत का राजा बना दिया। उसने चंदो के समय भगाये राजपूतों, ब्राह्मण आदि को संगठित कर खस या रावत राजा को परास्त कर दिया तथा महर व फड़त्याल घड़ों (दल) से सम्बन्ध स्थापित कर पूर्व की भाँति अन्य दलों के लोगों को उनके पदों पर पूर्ववत् बहाल कर दिया इस प्रकार वीरचंद ने अपने खोये राज्य को चम्पावत में पुनर्स्थापित किया था और 15 वर्षों तक राज्य करने के बाद 1080 ई0 में उसकी मृत्यु हो गई, परन्तु राजा वीरचंद की मृत्यु के बाद 1303 ई0 में राजा त्रिलोकचंद की मृत्यु तक राजाओं के नाम तो ज्ञात हैं पर कोई उल्लेखनीय घटनाओं की जानकारी उपलब्ध नहीं है। उनके नाम इस प्रकार हैं— रूपचंद, भीष्मचंद, मेघचंद, ध्यानचंद, परवतचंद, थोरचंद और कल्याण चंद (1275 ई0 – 1296 ई0)। यद्यपि शिवप्रसाद डबराल अपने उत्तराखण्ड का इतिहास भाग— 10 में इन चंद राजाओं का ऐतिहासिक आधार नहीं मानते हैं।

त्रिलोकचंद

बदरी दत्त पाण्डे के अनुसार कल्याणचंद (1275 ई0 – 1296 ई0) की मृत्यु के पश्चात् त्रिलोक चंद (1296 ई0 – 1303 ई0) राजा हुआ इसके बारे में कहा जाता है कि उसने पश्चिमी सुरक्षा हेतु भीमताल में एक किले का निर्माण करवाया तथा बारामण्डल, पाली व छखाता तक राज्य विस्तार किया। 1303 ई0 में त्रिलोक चंद की मृत्यु पश्चात् डमरूचंद, धर्मचंद व अभयचंद ने 1374 ई0 तक राज्य किया परन्तु इस अवधि की जानकारी भी उपलब्ध नहीं है।

1.3.2 ज्ञानचंद

1374 ई0 में अभयचंद के बाद ज्ञानचंद राजा बना जिसने 1419 ई0 तक राज्य किया था। प्रारम्भिक वर्षों में राजा ने राज्य विस्तार किया। सोर राजा विजय ब्रह्म ने भी ज्ञानचंद की अधीनता स्वीकार कर ली। राज्य विस्तारके साथ उस समय चंद राजा के लिये माल (तराई—भाबर) का क्षेत्र सामरिक दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण था। एक ओर माल पृथ्वीराज के पतन के पश्चात् राजपूतों की शरण स्थली बन रहा था जिस कारण क्षेत्र पर दिल्ली सुल्तान की शाही सेना के आक्रमण होते रहते थे तब ज्ञानचंद दिल्ली बादशाह मुहम्मद तुगलक के दरबार में गया जहाँ उसने कत्यूरी शासकों के समय से माल पर कुमाऊँनी शासकों का अधिकार होने की बात रखी थी। इसलिये आज भी माल पर हमारा ही अधिकार होना चाहिये। इस वार्ता के मध्य कहा जाता है कि ज्ञानचंद ने बादशाह के सामने एक उड़ते हुए गरुड़ को मार गिराया था जिस तीरअंदाजी से प्रसन्न होकर बादशाह ने फरमान जारी किया कि आज से माल कुमाऊँ राजा के अधीन रहेगा साथ ही गरुड़ की उपाधि भी प्रदान की। वापस आकर गरुड़ ज्ञानचंद ने माल पर अपना अधिकार कर लिया पर कुछ समय पश्चात् संभल के नवाब ने अपना अधिकार कर लिया।

तत्पश्चात् ज्ञानचंद ने अपने सेनापति नीलू कठायत को सेना के साथ माल भेजा जहाँ उसने तराई भाबर को नवाब के अधिपत्य से मुक्त कराया था जिससे प्रसन्न होकर राजा ने नीलू कठायत को विशेष बहादुरी हेतु 3 गाँव 'रौत' पुरस्कार स्वरूप जागीर व "कुमय्या खिल्लत" की उपाधि देकर सम्मानित किया था, परन्तु कुछ ही समय बाद राजा का चापलूस दरबारी जस्सा कमलेखी जो नीलू से ईर्ष्या रखता था उसने राजा व नीलू के मध्य मतभेद पैदाकर तथा नीलू के दो बेटों को अंधा करवा दिया था क्रोध में नीलू ने जस्सा कमलेखी की हत्या कर उसके गाँव में बना कमलेख किला आग के हवाले कर ग्रामीणों पर भी अत्याचार किये थे तब राजा ने स्वीकार किया कि जस्सा कमलेखी के बहकावे में आकर मैंने यह सब करवाया था तब नीलू को राजा ने पुनः सेनापति नियुक्त किया पर राजा नीलू के व्यवहार से स्वयं को अपमानित व खतरा महसूस कर रहा था अन्ततः राजा ज्ञानचंद ने नीलू कठायत की हत्या करवा दी थी।

राजा ज्ञान के बारे में धारणा है कि वह जन विरोधी राजा था क्योंकि उसने प्रजा को एक तरह से 'रौत' या जागीरदारों के हाथों सौंप था क्योंकि प्रजा इन्हीं को रवायकर (भूमि के असली मालिक नहीं) थी। जिनके द्वारा उन पर आये दिन तरह-तरह के अत्याचार होते थे। इसकी शिकायत जब 'रवायकर' व उनके नेता कुंजीपाल ने राजा से की तो राजा ने न्याय की जगह उन पर अनेकों जुल्म ढाये तथा कुंजीपाल की उसी के भाई कीर्तिपाल से हत्या करवा दी फिर कीर्तिपाल की हत्या करवा दी। डबराल के अनुसार भविष्य में कुंजीपाल के पुत्र क्षेत्रपाल के नेतृत्व में 'रवायकरों' ने संगठित होकर राजदरबार पर आक्रमण कर राजा की हत्या कर दी थी।

1419 ई० में राजा ज्ञानचंद की मृत्यु के बाद डबराल व अठकिंसन के अनुसार उसका पुत्र ध्यानचंद (1420 ई० – 1422 ई०) 2 वर्ष राजा रहा फिर उसके पुत्र हरीश चंद (1422 ई० – 1423 ई०) ने एक वर्ष राज्य किया था।

आप देखेंगे कि डबराल व अठकिंसन के अनुसार 1419 ई० में ज्ञान चंद के मरणोपरांत व भारतीचंद (1437 ई० – 1450 ई०) से पूर्व ध्यान चंद (1420 ई० – 1422 ई०), हरीशचंद (1422 ई० – 1423 ई०), विक्रमचंद (1423 ई० – 1434 या 37 ई०) व कलि कल्याणचंद (1434 ई० – 1468 ई० या 1442 ई० – 1451 ई०) ने कुमाऊँ में राज्य किया। इन राजाओं के शासनकाल की विशेष घटनाओं का उल्लेख नहीं मिलता सिर्फ विक्रम चंद के समय कुमाऊँ के माल क्षेत्र पर सुल्तान मुबारक शाह की सेना ने आक्रमण किया था या स्वयं विक्रमचंद ने कत्यूरी शासक ब्रह्म देव के राज्य पर आक्रमण किया तथा कलि कल्याण चंद के समय भारती चंद द्वारा विद्रोह कर राज्य के कुछ हिस्से पर अपना अधिकार कर लिया था।

बदरीदत्त पाण्डे के अनुसार 1419 ई० में ज्ञानचंद की मृत्यु पश्चात् उत्तराधिकारी हरिहर चंद या हरीचंद (1419 ई० – 1420 ई०) ने एक वर्ष राज्य किया तदुपरान्त उसके पुत्र उद्यान चंद (1420 ई० – 1421 ई०) ने राज्य भार संभाला था। इसने भी एक ही वर्ष राज किया उस अवधि में उसने ज्ञानचंद द्वारा किये गये अत्याचारों का प्रायश्चित्त करने के उद्देश्य से अनेक धार्मिक कार्य, बालेश्वर मंदिर का जीर्णोद्धार, प्रजा को राजस्व से मुक्त करना आदि कार्य किये थे। इन कार्यों के अतिरिक्त उसने राज्य विस्तार का कार्य भी किया। मांडलिक, चौगर्खा व महरूड़ी आदि राजाओं को पराजित कर उनके राज्यों का अपने राज्य में विलय किया आदि। उद्यान चंद के बाद आत्म चंद (1421 ई० – 1422 ई०) ने भी एक वर्ष राज्य किया फिर राजा हरिचंद (1422 ई० – 1423 ई०) ने राज्य किया, राजा हरिचंद के बाद विक्रम चंद (1423 ई० – 1437 ई०) गद्दी पर बैठा, विक्रम चंद ने ज्ञानचंद के समय से आक्रोशित प्रजा को शांत व प्रायश्चित्त के उद्देश्य से कुछ सार्वजनिक कार्य किये थे, जैसे मंदिर, नौले (पानी की बावड़ी) धर्मशालाओं आदि का निर्माण, लोगों को जागीरें देना या राजस्व माफ करना आदि, परन्तु शासन के अन्तिम दिनों में राज्य हित के कार्य छोड़कर भोग-विलास के रास्ते पर चल पड़ा जिसका परिणाम हुआ कि काली कुमाऊँ की जनता ने श्री शौड़ करायत के नेतृत्व में विद्रोह कर दिया जिसका लाभ राजा विक्रम चंद के भतीजे भारतीचंद ने उठाया और विद्रोहियों का साथ देकर स्वयं राजा बन गया।

1.3.3 भारतीचंद (1437 ई० – 1450 ई०)

जैसा कि ऊपर आपने पढ़ा राजा विक्रमचंद के शासन काल में जनता द्वारा जब विद्रोह किया गया तो उसका लाभ भारतीचंद ने उठाया, विद्रोहियों को साथ लेकर उसके राज्य पर अपना अधिकार कर लिया और विक्रमचंद को भागने के लिये मजबूर होना पड़ा।

बारह वर्षीय युद्ध व नायकों की उत्पत्ति

1437 ई० में भारतीचंद के राजा बनने तक भी डोटी का रैका राजा ही काली कुमाऊँ का महाराजा माना जाता था साथ में चंद राजा उसे कर भी देते थे, परन्तु भारतीचंद को यह बात पसंद नहीं थी उसने कर देना बंद कर डोटी के साथ युद्ध घोषित कर दिया, माना जाता है कि यह युद्ध 12 वर्षों तक चलता रहा। इस बीच भारतीचंद के बेटे रतनचंद ने कटेहर के राजा व सोनकोट के वीर मैद सौन की मदद से सेना संगठित कर भारतीचंद की मदद को पहुँच गया और डोटी के महाराजा नागमल्ल को पराजित कर दिया तब से डोटी के राजा का काली कुमाऊँ

पर सार्वभौमिक अधिकार समाप्त हो गया तथा सोर सीरा आदि क्षेत्र भी भारतीचंद के अधीन हो गया।

इस 12 वर्षीय युद्ध के दौरान कहा जाता है कि भारतीचंद के सैनिकों के स्थानीय महिलाओं के साथ अवैध सम्बन्ध स्थापित हो गये थे इस कारण जो सन्तान पैदा हुई उन्हें नायक जाति की श्रेणी में मान लिया गया जिनमें वेश्यावृत्ति का प्रचलन था इस सन्तान को कटकवाली (युद्ध) भी कहा जाता है।

उक्त विजय प्राप्ति में बेटे रतनचंद की भूमिका से प्रसन्न होकर भारतीचंद ने 1450 ई० में अपने जीवन काल में ही राजसत्ता रतन चंद को सौंप दी थी और 1461 ई० में भारतीचंद की मृत्यु हो गई।

रतनचंद 1450 ई० – 1488 ई०

जैसा कि आपने देखा भारतीचंद ने अपने जीवन काल में ही राज्य की बागडोर रतनचंद को सौंप दी थी। इस प्रकार डोटी विजय के पश्चात् एक ओर चंद राजा डोटी के राजा की अधीनता से मुक्त हो गया दूसरी ओर रतन चंद की लोकप्रियता बढ़ गई।

1461 ई० में भारतीचंद की मृत्यु के पश्चात् पराजित डोटी राजा नागमल्ल ने पुनः कुमाऊँ के राजा को अपने अधीन कर पूर्व सत्ता स्थापित करने के उद्देश्य से रतन चंद के साथ युद्ध की घोषणा कर दी, जिसमें नागमल्ल बुरी तरह पराजित हुआ, साथ ही रतन चंद ने जुमला, बजांग और थल के राजाओं को भी कर देने को बाध्य किया था। इसके अतिरिक्त रतन चंद ने सीरा के मल्ल राजा से सोर (पिथौरागढ़) परगने को जीतकर अपने राज्य में मिला लिया। इस राज्य विस्तार के अतिरिक्त रतनचंद ने ग्रामीणों को सम्पर्क में लेकर भू-बन्दोबस्त भी करवाया था जो उत्तराखण्ड में प्रथम प्रयास माना जाता है। इस बन्दोबस्त को करने का श्रेय रतनचंद का राज्यकर्मचारी श्रीजैदा किराल को जाता है।

अठकिन्सन व बदरी दत्त पाण्डे के अनुसार 1450 ई० में भारतीचंद द्वारा अपने जीवन काल में ही रतनचंद को सत्ता सौंप दी थी। 1461 ई० में भारतीचंद की मृत्यु हो गई जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है। परन्तु डबराल “उत्तराखण्ड का इतिहास भाग- 10” में कुछ ताम्रपत्रों के आधार पर भिन्न मत प्रस्तुत करते हैं उनके अनुसार 1468 ई० में रतनचंद द्वारा सोर को चंद राज्य में मिलाने के बाद उसकी मृत्यु हो गई थी। तत्पश्चात् 1468 ई० – 1499 ई० तक पुनः भारतीचंद ने सत्ता संभाली और उसकी मदद पौत्र किराती चंद कर रहा था। 1499 ई० में भारतीचंद की मृत्यु पश्चात् किरातीचंद राजा बना पर यहाँ अठकिन्सन व बदरीदत्त पाण्डे के अनुसार उल्लेख प्रस्तुत किया जा रहा है। अर्थात् रतनचंद (1450 ई० – 1488 ई०) के उपरान्त कीर्तिचंद या किराती चंद ने सत्ता संभाली थी।

1.3.4 कीर्तिचंद

कीर्तिचंद ने 1488 ई० से 1503 ई० तक सत्ता संभाली, इस बारे में कहा जाता है कि यह नाथ सम्प्रदाय का अनुयायी था। कोई भी कार्य आरम्भ करने से पूर्व वह बाबा नागनाथ से मशविरा करता था। बाबा नागनाथ चम्पावत में चंदों का किला राजबुंगा के निकट ही रहता था। कीर्ति चंद को वीर योद्धा व युद्ध कला में प्रवीण माना जाता है इसलिये सत्ता संभालते ही वह राज्य विस्तार की मुहिम में सफल भी हुआ था।

कीर्तिचंद के समय चंद राज्य मुख्यतः काली कुमाऊँ व सोर के कुछ हिस्से तक ही सीमित था। शेष कुमाऊँ कत्यूरी अवसान के पश्चात् छोटे-छोटे स्थानीय राजाओं में बंटा हुआ था। दूसरी ओर गढ़वाल में अजयपाल पंवार राज्य स्थापित कर चुका था।

उक्त राजनैतिक बिखराव के मध्य कीर्तिचंद ने बारामंडल में बानड़ी देवी के पूर्व स्थित विसौत कोट, अल्मोड़ा के निकट खगमराकोट व स्यूनरा कोट पर अपना अधिकार कर लिया। इस प्रकार पूरा बारामण्डल कीर्तिचंद के अधीन हो गया।

इस बारामंडल विजय के पश्चात् कीर्तिचंद की सेना ने गगास व कोसी नदी के मध्य व उससे लगा क्षेत्र कैड़ाई व बौराई पर आक्रमण कर अपने अधीन कर लिया कहा जाता है कि इस विजय अभियान में चंद सेना ने कत्लेआम किया था जिससे घबराकर पाली (चौखुटिया,

भिकियासैण क्षेत्र) रामगंगा, विनौ व गगास नदी क्षेत्र के राजा ने कीर्तिचंद के सामने आत्मसमर्पण कर दिया था। इस प्रकार बिना युद्ध के पाली पर भी कीर्तिचंद का अधिकार हो गया। पाली के बाद कीर्तिचंद ने फल्दाकोट व कोस्या कुटौली को भी जीत लिया इस विजय श्रृंखला में कीर्तिचंद अपने राज्यकर्मचारियों व अधिकारियों की नियुक्ति भी इन क्षेत्रों में करते गया था ताकि वह उसके प्रतिनिधि के रूप में सत्ता संचालन करते रहें जैसा कमीण व संयाणे आदि। यह माना जाता है कि उक्त विजयों के बाद कीर्तिचंद ने कत्यूर, दानपुर, अस्कोट, सीरा व कुछ हिस्सा सोर का छोड़कर शेष कुमाऊँ को संगठित कर लिया था।

1500 ई० में गढ़वाल का पंवार शासक अजयपाल के सत्ता संभालते ही कीर्तिचंद ने गढ़वाल पर आक्रमण किया जिसमें अजयपाल पराजित हो गया। यह युद्ध चौखुटिया व लोभागढ़ी के रास्ते लड़ा गया भविष्य में भी चंद राजाओं द्वारा गढ़वाल पर आक्रमण होते रहे थे जिस कारण अजयपाल ने अपनी राजधानी चाँदपुर गढ़ी से देवलगढ़ फिर श्रीनगर गढ़वाल स्थापित की थी। परन्तु कीर्तिचंद ने गढ़राज्य का जो हिस्सा जीता वह समझौते के बाद अजयपाल को लौटा दिया परन्तु कर के रूप में सोना देने को बाध्य किया था और देघाट को कुँमुँ-गढ़ की सीमा रेखा माना गया।

कीर्तिचंद ने अपने 15 वर्षों के शासन काल में कुमाऊँ का 3/4 हिस्सा जीतकर चंद राज्य का विस्तार किया था, पर इस राज्य विस्तार में उसने विजित क्षेत्रों की जनता के ऊपर अपार अत्याचार भी किये थे। कीर्तिचंद की तरह गढ़शासक अजयपाल भी नाथ सम्प्रदाय से प्रभावित था।

1503 ई० में कीर्तिचंद की मृत्यु पश्चात् अठकिन्सन व बदरी दत्त पाण्डे के अनुसार क्रमशः प्रतापचंद, ताराचंद, मानिकचंद, कल्याणचंद व पूर्णचंद राजा हुए परन्तु इनकी विशेष उपलब्धियाँ नहीं पायी जाती हैं परन्तु डबराल ताराचंद, मानिक चंद व पूर्णचंद ने भी राज्य किया नहीं मानते हैं।

भीष्मचंद

भीष्मचंद की राज्यावधि 1555 ई० – 1560 ई० मानी गई है। 1556 ई० में डोटी (नेपाल) में चंद राजा के विरोध में पुनः षड्यंत्र हो रहे थे उसे दबाने भीष्मचंद ने अपने बेटे वालो कल्याण चंद को भेजा, परन्तु दूसरी ओर पाली व स्यूनरा जो कीर्तिचंद ने चंदराज्य में शामिल कर लिये थे वहाँ भी विद्रोह हो चुका था उस विद्रोह को दबाने के पश्चात् राजा ने महसूस किया कि राजधानी किनारे पर नहीं केन्द्र में होनी चाहिए। इसलिये चंपावत के स्थान पर खगमरा कोट को राजधानी चुना गया वहीं भीष्म चंद ने शिविर डालकर कार्य आरम्भ किया था। इस अवसर का लाभ उठाते हुए रामगढ़ के स्थानीय गढ़पति गजुवाठिंगा ने खगमरा कोट पर धावा बोलकर भीष्मचंद की हत्या कर बारामण्डल पर अधिकार कर लिया, परन्तु उसकी यह आजादी अधिक दिनों तक नहीं रह पायी यह सूचना वालो कल्याण चंद के पास पहुँचते ही उसने डोटी से संधि कर ली तथा वारामण्डल में गजुवाठिंगा पर आक्रमण कर उसकी व उसके सैनिकों की हत्या करवा दी और वारामण्डल पर पुनः अधिकार स्थापित कर लिया। इसके अतिरिक्त भीष्मचंद ने अपने शासनकाल में शेरशाह सूरी के बेटे इस्लाम शाह का विरोधी सरदार खवासख़ाँ को कुछ समय हेतु कुमाऊँ की तलहटी में मदद के साथ शरण दी थी। इस पर इस्लाम शाह ने भीष्मचंद के पास सन्देश भिजवाया कि उसे बन्दी बनाकर हमें सौंपे पर भीष्मचंद ने मुगल सम्राट की आज्ञा मानने से इंकार कर दिया था।

1.3.5 बालो कल्याण चंद

भीष्मचंद की मृत्यु के पश्चात् वालो कल्याण चंद (1560 ई० – 1568 ई०) राजा बना, उसका पहला कार्य पिता की इच्छा पूर्ति करना था, उसने राजधानी चम्पावत से अल्मोड़ा स्थानान्तरित की थी; जो राज्य का केन्द्र बिन्दु था जिसकी स्थापना आलमनगर के नाम से की गई परन्तु वहाँ अल्मोड़ा या किल्मोड़ा घास की बहुतायत के कारण आलमनगर की जगह अल्मोड़ा नाम ही चल पड़ा। जिसका स्थापना वर्ष 1563 ई० माना जाता है। अल्मोड़ा में ही उसने काली कुमाऊँ चम्पावत के राजपूत एवं ब्राह्मण कर्मचारियों को भी बसाया था। राजधानी क्षेत्र की यह

भूमि श्रीचंद की थी जो कत्यूरी शासकों द्वारा दान में दी गई थी उसे चंद राजा ने मुआवजे में छाखाता परगने के नदी गाँव में भूमि दी थी।

इस अवधि में गंगोली (गंगावली) में मणकोटी राजा नारायण चंद राज्य कर रहा था। इनके दीवान पंत व उप्रेती थे। नारायण चंद के समय गंगोली में अव्यवस्था फैली हुई थी उसका लाभ बालोकल्याण चंद ने उठाया, आक्रमण कर उसने गंगोली को अपने राज्य में मिला लिया। उक्त की तरह उसने सोर व सीरा पर भी अधिकार कर लिया ये दोनों क्षेत्र डोटी के रैका राजा हरिमल्ल के अधीन थे उसकी बहिन राजा की रानी थी। राजा वालो कल्याणचंद ने रानी के माध्यम से रैका राजा से सीरा दहेज में देने को कहा परन्तु उसने सीरा मेरा सिर है कहकर मना कर दिया उसके स्थान पर उसने सोर दे दिया सोर पर अधिकार के बाद उसने सीरा पर भी आक्रमण किया पर पराजित हुआ।

गंगोली व सोर पर अधिकार के शीघ्र बाद राजा ने दानपुर विजय हासिल की थी। सम्पूर्ण उत्तराखण्ड की भाँति दानपुर क्षेत्र में भी कत्यूरी अवसान के बाद छोटे-छोटे राजाओं का उदय हुआ। उन्हें पराजित कर अपने राज्य में मिला लिया तथा भूमि रौतेला लोगों में बाँट दी गई, रौतेला तब चंदो के स्तम्भ माने जाते थे।

1.3.6 रुद्रचंद

वालो कल्याण चंद के बाद रुद्रचंद (1568 ई0 – 1597 ई0) राजा बना। उम्र में छोटा होने के कारण माँ व पुरोहित वर्ग से परामर्श कर राज्यभार चलाया। माना जाता है कि रामदत्त साधु के कहने पर रुद्रचंद ने वालेश्वर में खुदाई की जहाँ से विशाल शिवलिंग प्राप्त हुआ था जिसे वालेश्वर मंदिर में स्थापित करने के साथ रामदत्त को ही पूजा आदि का भार सौंपा गया तथा निकटवर्ती ग्रामीणों को आदेश दिया गया कि सभी एक-एक नाली अन्न मंदिर व्यवस्था हेतु देंगे।

रुद्रचंद के सत्ता संभालते ही सूचना आई कि तराई पर काँठ व गोला (शाहजहाँपुर) के नवाब हुस्सैनखाँ टुकड़िया ने अधिकार कर लिया है यह वही नवाब था जिसने लाहौर में एक हिन्दू सैन्य अधिकारी को मुसलमान समझकर सलाम कर दिया तब उसने हुक्म दिया कि सभी हिन्दु अपने कंधे पर कपड़े का टुकड़ा लगाकर निकलें जिससे पता चले कि वह हिन्दु है तभी से उसका नाम टुकड़िया पड़ा था अति कट्टर व धर्मान्ध मुस्लिम था। 1569 ई0 में काँठ गोला का नवाब बनते ही धन प्राप्ति के उद्देश्य से तराई पर कब्जा कर कुमाऊँ के पर्वतीय भाग में खूब लूटपाट करते हुए मंदिरों का विध्वंस किया था। पर्वतीय निवासियों ने ऊँची चोटियों में चढ़कर पत्थर व तीरों से जवाब दिया। इस क्रम में बरसात का मौसम आने पर हुस्सैन खाँ लौट गया। परन्तु 1575 ई0 में उसने कुमाऊँ पर दूसरा आक्रमण किया अपार धन दौलत लूट, मंदिर विध्वंस कर लौट गया। डबराल के अनुसार टुकड़िया ने कुमाऊँ के अतिरिक्त डोटी, गढ़वाल व सिरमौर की तराई में भी लूटपाट की थी, इन अत्याचारों की सूचना जब अकबर के पास पहुँची तो उसे दिल्ली बुलवाया तब वह गोली लगने से घायल था दिल्ली पहुँचते ही उसकी मृत्यु हो गई।

टुकड़िया की मृत्यु पश्चात् रुद्रचंद ने शीघ्र तराई पर अधिकार कर लिया। यह खबर दिल्ली पहुँचते ही नवाब कटहर ने तराई पर आक्रमण कर दिया। कहा जाता है कि रुद्रचंद ने नवाब के सामने 'इकफा' युद्ध का प्रस्ताव रखा था अर्थात् रुद्रचंद व नवाब के मध्य व्यक्तिगत युद्ध हुआ जिसमें रुद्रचंद विजयी हुआ यह खबर जब लाहौर अकबर के पास पहुँची तो उसने प्रश्न होकर रुद्रचंद को वहीं बुला लिया। वहाँ रुद्रचंद व कुमाऊँनी सेना ने नागौर की लड़ाई में अकबर की सेना का बहादुरी से साथ दिया था। प्रश्न होकर अकबर ने रुद्रचंद को चौरासी माल (तराई भावर) का फरमान व खिल्लत दे दी तथा दरबार में आने से भी मुक्त कर दिया तभी मंत्री बीरबल को रुद्रचंद ने अपना पुरोहित भी बनाया था इस तरह रुद्रचंद अकबर को पर्वतीय राज्य कुमाऊँ की ओर से तोहफे भेंट कर लौट आया।

कुमाऊँ लौटने के बाद रुद्रचंद ने तराई भावर की स्थायी व्यवस्था की। क्योंकि वहाँ आये दिन उपद्रव होते रहते थे। इस स्थायी व्यवस्था के अन्तर्गत रुद्रचंद ने वर्तमान रुद्रपुर नगर की स्थापना की तथा एक महल के साथ किले का निर्माण करवाया। जगह-जगह देखभाल हेतु

विभिन्न अधिकारी नियुक्त किये जिनमें मुख्यतः काशीनाथ अधिकारी का नाम आता है। इस ऐतिहासिक कार्य के बाद रुद्रचंद ने अल्मोड़ा में एक किला व महल बनवाया जिसे मल्ला महल के नाम से जाना गया। वर्तमान में वहाँ कोर्ट व ट्रेजरी है। पिता द्वारा निर्मित महल में देवी व भैरव के मंदिर बनवाये। रुद्रचंद के समय ही 'धर्मनिर्णय' नामक पुस्तक तैयार की गई जिसमें धार्मिक व सामाजिक व्यवस्था का वर्णन है। ब्राह्मण, गुरु, पुरोहित, धर्माधिकारी, पौराणिक वैद्य व रसोईया आदि पद निश्चित किये गये। मासिक वेतन के रूप में नकद रुपयों के स्थान पर दस्तूर या गाँव दिये जाते थे, फौज की व्यवस्था भी की गई आदि।

रुद्रचंद के दोनों पुत्र शक्ति सिंह गुसाई व लक्ष्मीचंद कुशाग्र बुद्धि के माने जाते हैं कहते हैं कि कुमाऊँ में भू बन्दोबस्त व्यवस्था गुसाई ने ही की थी जैसे— बेल्का, नाली, काछ, रत्ती, मासा, पैसा, दुगाड़ी, वीसी, आली, ज्यूला आदि सब उसी के द्वारा चलाई गई। साथ में परगनों का सीमा निर्धारण भी करवाया था इस तरह हम पाते हैं कि रुद्रचंद के काल में काली कुमाऊँ से आरम्भ चंद सत्ता कुमाऊँ राज्य का आकार ले चुकी थी। एक तरह से चंदों की शक्ति चरम पर पहुँच गई। एक ओर चंद दूसरी ओर पड़ोसी गढ़ राज्य व डोटी राज्य थे इस प्रकार कुमाऊँ एक संगठित राज्य के रूप में स्थापित हो चुका था।

उक्त सफलता व व्यवस्था के पश्चात् रुद्रचंद ने अपनी माँ व पिता की इच्छानुसार सीरा विजय अभियान शुरू किया। रुद्रचंद की माँ सीरा के राजा हरिमल्ल की बहिन थी। तभी हरिमल्ल के समय रुद्रचंद ने सीरा पर आक्रमण किया और पराजित होकर अल्मोड़ा लौट आया। अल्मोड़ा में राज्यकर्मचारियों से बातचीत में तय हुआ कि मणकोटी राजाओं के अनुभवी सेनापति व दीवान पुरुष पंत के सेनापतित्व में यह युद्ध जीता जा सकता है। राजा का बुलावा जाने पर पुरुष पंत नहीं आया तो राजा ने एक लाख जुर्माने के साथ पंत को दरबार में उपस्थित होने का सख्त आदेश दिया तब पंत दरबार में हाजिर हुआ और सीरागढ़ व बघाण गढ़ पर विजय प्राप्ति को तैयार हुआ। रुद्रचंद ने पुरुष पंत को सेनापति बनाकर सीरा पर तीन बार आक्रमण किया और पराजित हो गये। चौथी बार युद्ध करने से पूर्व पुरुष पंत को स्थानीय ब्राह्मण महिला द्वारा सीरा गढ़ की कमजोरी बताई गई थी उसी आधार पर पंत ने सीरागढ़ में जिस रास्ते पानी जाता था व जोहार के जिस रास्ते से खाद्य सामग्री पहुँचती थी उन दोनों मार्गों पर अधिकार कर जल व खाद्य सामग्री का पहुँचना बन्द करवा दिया, जिससे मजबूर होकर हरिमल्ल को सीरागढ़ छोड़ना पड़ा। सीरागढ़ के साथ ही जोहार, दारमा व अस्कोट क्षेत्र भी रुद्रचंद के अधीन हो गये। हरिमल्ल डोटी वापस चला गया। इनमें से अस्कोट के स्थानीय राजा अर्थात् अस्कोट के रजवारों को उनका राज्य बहाल कर दिया गया शेष विजित क्षेत्र में पुरुष पंत द्वारा विभिन्न कर्मचारी, अधिकारी नियुक्त कर व्यवस्था स्थापित की गई।

उक्त विजय के पश्चात् पुरुष पंत ने बघाण गढ़ी (निकट ग्वालदम) पर आक्रमण किया था तब कत्यूर (गरुड़, बैजनाथ) क्षेत्र में कत्यूरी शासक सुखाल देव का राज्य था। जिसके साथ पंवार शासक बलभद्र शाह के मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध थे। जब पुरुष पंत व पंवार सैनिकों के मध्य युद्ध चल रहा था तब सुखाल देव ने पंत सेना की खाद्य सामग्री रोक दी थी पुरुष पंत मारा गया यह सूचना अल्मोड़ा रुद्रचंद के पास पहुँचते ही सुखाल देव पर आक्रमण कर गिरफ्तार कर लिया इस अवसर पर गढ़शासक ने सुखाल देव की मदद नहीं कर उसके साथ विश्वासघात किया था। इस बीच सुखालदेव का मित्र रातू बोरा ने रुद्रचंद से निवेदन किया था कि सुखालदेव को गिरफ्तार या उसकी हत्या कर आपका उद्देश्य पूरा नहीं होगा कुछ शर्तों के साथ उसे छोड़ दे शर्तें पूरी न होने पर मैं 6 माह के अन्दर सुखाल देव को अल्मोड़ा प्रस्तुत करूँगा। 6 माह में शर्तें पूरी न होने पर जब रुद्रचंद ने रातू से सुखाल देव को अल्मोड़ा प्रस्तुत करने को कहा तो उसने असमर्थता प्रकट की। इस पर रुद्रचंद ने कत्यूर पर आक्रमण कर सुखालदेव व रातू दोनों को मार कर उसके राज्य पर अपना अधिकार कर लिया।

रुद्रचंद ने युद्ध व विजयों के साथ-साथ संस्कृत को बढ़ावा देने में भी योगदान दिया था। बहुत से नवयुवकों को संस्कृत के अध्ययन हेतु बनारस भेजा था। अध्ययन पश्चात् उन्हीं से स्थानीय लोगों ने संस्कृत भाषा सीखी थी, तब रुद्रचंद के दरबार में संस्कृत के ऐसे प्रकाण्ड थे कि वे बनारस व कश्मीर के विद्वानों से शाश्वतार्थ करते थे साथ ही रुद्रचंद भी स्वयं एक विद्वान था उसके द्वारा चार संस्कृत ग्रन्थों की रचना की गई। उषारागोदया (नाटिका), श्यैनिकशास्त्रम्,

ययातिचरित्रम व त्रैवर्णिक धर्म निर्णय आदि। इसके अतिरिक्त उसने केदारेश्वर (विनौ- रामगंगा मध्य) व जागेश्वर में मंदिरों का जीर्णोद्धार के साथ नये मंदिरों का निर्माण भी करवाया इसीलिये शिवप्रसाद डबराल अपने उत्तराखण्ड का इतिहास भाग- 10 में कहते हैं कि रुद्रचंद जैसा प्रतापी विजयी, विद्वान व धार्मिक राजा अन्य कोई नहीं मिलता। इसलिये उसे “हर्ष-शिलादित्य” कह सकते हैं।

रुद्रचंद के विशाल एवं समृद्ध राज्य की चर्चा नील के यूरोपियन व्यापारी विलियम फिचवफरिस्ता ने भी वर्णन किया है।

1.3.7 लक्ष्मी चंद

रुद्रचंद के बाद लक्ष्मीचंद (1597 ई0 – 1621 ई0) ने सत्ता संभाली, यद्यपि बड़ा भाई शक्ति गुसाई उत्तराधिकारी था। परन्तु जन्मान्ध होने के कारण लक्ष्मीचंद राजा बना। कहा जाता है कि अपने पिता रुद्रचंद की भाँति लक्ष्मी चंद ने भी गढ़वाल पर बार-बार आक्रमण किये पराजित होते रहा, सातवीं बार लक्ष्मीचंद ने गढ़वाल के पैनोगढ़ पर आक्रमण किया और गढ़ शासक मानशाह के हाथों पुनः पराजित हुआ। बार-बार की पराजय के कारण लक्ष्मीचंद के उस सीमान्त दुर्ग जहाँ से वह युद्ध करता था उसका नाम ‘स्याल बुंगा’ (गीदड़गढ़) रख दिया था। सातवीं पराजय के बाद लक्ष्मीचंद को रिंगाल के डोके में छिपा कर अल्मोड़ा लाया गया उस डोके को ढोने वाले लोगों ने तब उसका नाम लखुली विराली अर्थात् छिपने वाली बिल्ली रख दिया था। डबराल मानोदय व मौखिक श्रोतों के आधार पर कहते हैं कि मानशाह ने इस क्रम में कुमाऊँ पर दो दिशाओं से युद्ध किया था एक स्वयं चम्पावत पर दूसरा माल (भाबर) पर सेना द्वारा, अन्ततः चम्पावत में लक्ष्मीचंद ने पराजय के बाद सुरजु डंगवाल (मानशाह का गढ़पति) जो गुप्त रूप से मानशाह से बगावत कर लक्ष्मी चंद से मिलकर उसके दरबार में छिपा था मानशाह को सौंपना पड़ा।

8वीं बार 1602 ई0 में पुनः लक्ष्मीचंद ने गढ़वाल पर आक्रमण किया सम्भवतः छुट-पुट युद्ध के साथ सीमावर्ती क्षेत्रों में लूटपाट कर अल्मोड़ा लौट आया इस जीत की खबर शीघ्र अल्मोड़ा भेजने हेतु पहाड़ियों की चोटी में सूखी घास के ढेरों में आग लगाई उस आग को देखकर आगे पहाड़ियों में बसे ग्रामीणों ने भी आग लगाई इस तरह जीत की सूचना लक्ष्मीचंद के अल्मोड़ा पहुँचने से पूर्व पहुँच गई थी। इस जीत के दिन आश्विन की सक्रांति को कुमाऊँ में ‘खतड़वा’ नाम से विजय उत्सव मनाया गया। वर्तमान में भी मनाया जाता है। जिसमें सूखी घास-फूस से पुतला बनाकर उसमें आग लगाई जाती है और युवा बच्चें नाचते गाते हैं—

मैल्लो जी मैल्लो खतड़वा, गैड़ा की जीत खतड़ की हार, आदि।

परन्तु गढ़वाल के सेनापति खतड़सिंह या कुमाऊँ के सेनापति गैड़ा का कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता है। गाय को चंद राजाओं का राजचिन्ह माना गया है इसलिये गाय की जीत का अर्थ राजा की जीत से हो सकता है इसलिये अधिक संभावना गौ पूजा इनका मुख्य उद्देश्य हो सकता है।

उक्त विजय के पश्चात् 1620 ई0 में लक्ष्मीचंद से सोर (पिथौरागढ़) में अपना प्रत्यक्ष शासन स्थापित किया। तभी उसके दरबार में सोर के षड्यन्त्रकारी संग्राम कार्की, पीरू गोसाई व विनायक भट्ट भी अपना स्थान बना चुके थे।

आन्तरिक व्यवस्थाओं के अतिरिक्त लक्ष्मीचंद अपने पिता रुद्रचंद की तरह दो बार मुगल दरबार में जहाँगीर के पास उपस्थित होकर पर्वतीय क्षेत्र की विभिन्न वस्तुएँ प्रस्तुत की थी। सर्वप्रथम 1612 ई0 में, पुनः 1620 ई0 में जिसका उल्लेख जहाँगीर नामा में भी मिलता है। जिसमें पर्वतीय क्षेत्र में सोने की खानों का वर्णन भी है। इसी तरह गढ़शासक श्यामशाह भी 1621 ई0 में ही जहाँगीर के दरबार में उपस्थित हुआ था और इसी वर्ष जहाँगीर हरिद्वार भी आया था।

चंदों की प्रशासनिक व्यवस्था को स्थापित करने का श्रेय लक्ष्मीचंद के बड़े भाई जनमान्ध गुसाई को जाता है। सरदार, फौजदार, नेगी, नेग (दस्तूर) विभिन्न कर्मचारियों के वेतन भुगतान हेतु वित्तकर में कुछ गाँव रखे गये, न्यौवाली (न्यायवाली) सैनिकों से सम्बन्धित बिष्टावली, भूमि (बीसी), भूमि नाम, कर-ज्यूला, सिरती, वैकर, रद्दया, कूत, भात, छींकर, गल्ला, भेंट आदि। बीसी

व्यवस्था बाद में ब्रिटिश शासन ने भी अपनाई थी। इस कर व्यवस्था पर कुछ असन्तोष का उल्लेख सत्राली के ब्राह्मणों द्वारा व्यक्त किया गया था जिसे दूर कर दिया गया।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. निम्नलिखित पर सक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:
 - क. सोमचंद
 - ख. त्रिलोकचंद
2. नीचे लिखे प्रश्नों के उत्तर दीजिए:
 - क. ज्ञान चंद और उसका शासन काल
 - ख. रुद्रचंद व उसकी विजयें

1.4 राजा लक्ष्मी चंद के उत्तराधिकारी

1.4.1 त्रिमलचंद

लक्ष्मीचंद की मृत्यु के बाद उसका बेटा दिलीप चंद (1621 ई० – 1624 ई०) राजा बना। जिसने केवल तीन साल ही राज्य किया। इन तीन वर्षों में कोई विशेष उपलब्धि नहीं मिलती। सिर्फ गंगोली के पंत व उप्रेतियों के आपसी द्वन्द को सुलझाने में रहा, जो निरन्तर एक दूसरे के प्रति चालें चलते रहते थे अंत में दिलीप चंद ने घोषणा की कि पंत या उप्रेती दोनों को दंड दिया जायेगा, तभी उप्रेतियों द्वारा एक कहावत प्रचलित की गई थी कि 'बिना पंत को चालें नै' तभी राजा ने वासुदेव पंत को मंत्रीपद से हटा दिया था तथा 1624 ई० में राजा की क्षय रोग से मृत्यु हो गई थी। तत्पश्चात् विजयचंद (1624 ई० – 1625 ई०) राजा बना परन्तु राजा के विलासी होने के कारण असली सत्ता तीन षडयन्त्रकारी संग्राम कार्की, पीरू गुसाई व विनायक भट्ट के हाथ में थी वे अपनी मनमर्जी से राज्य चला रहे थे। नजदीकी व उत्तराधिकारी राजकुमारों को मारा जाने लगा घबराकर त्रिमलचंद ने गढ़वाल शासक महिपतिशाह के श्रीनगर में शरण ली तथा नारायण चंद ने डोटी (नेपाल) में तीसरा भाई नीलू गुसाई जिसे इन षडयन्त्रकारियों ने अन्धा कर दिया था उसकी मृत्यु हो गई। इसी बीच इन त्रिमूर्ति ने एक राज चेली के साथ मिलकर राजा विजयचंद की हत्या कर दी खबर स्वाभाविक मौत की फैलाई गई। सच पता चलने पर फड़त्याल घड़ा नारायण चंद को लेने नेपाल गया तथा महर घड़ा त्रिमलचंद को लेने श्रीनगर गढ़वाल गया, परन्तु महर दल पहले त्रिमल चंद को लेकर अल्मोड़ा पहुँच गया और उसे राजा घोषित कर दिया तब नारायण चंद भी पहुँच गया था पर सूचना सुनकर पुनः नेपाल चला गया इस प्रकार 1625 ई० में त्रिमलचंद कुमाऊँ का राजा बना।

त्रिमलचंद (1625 ई० – 1638 ई०) के राजा बनते ही संग्राम कार्की, विनायक भट्ट व पीरू गुसाई विजयचंद की हत्या से अनभिज्ञ बने रहे, पर त्रिमलचंद ने संग्राम कार्की को मरवाकर विनायक भट्ट को अन्धा करवा दिया और पीरू गुसाई को आत्महत्या हेतु प्रयाग निर्वासित करवा दिया जहाँ उसने आत्महत्या कर ली थी। बदरी दत्त पाण्डे के अनुसार ये तीनों राजा विजयचंद की हत्या में शामिल तो थे साथ में गुप्त रूप से त्रिमलचंद के सम्मिलित होने की बात कहीं है। इसलिये उसने लोक मान्यता प्राप्त करने, स्वयं को निर्दोष तथा भविष्य में ऐसे विश्वासघाती राज्यकर्मचारी ऐसी घटनाओं की पुनरावृत्ति न कर पाय सोचकर उन्हें मरवा डाला। श्रीनगर प्रवास के समय झिझाड़ के जोशियों का सहयोग मिलने के कारण नरोत्तम जोशी को वजीर, गल्ली के जोशी को चौधरी व विठ्ठल गुसाई को अपना दीवान बनाया था। इसके अतिरिक्त उसने रसोई दरोगा हेतु 16 सख्त नियम बनवाये ताकि रसोईया तथा राजचेलियों के साथ मिलकर राजा विजयचंद जैसी हत्या की पुनरावृत्ति न हो। इसी बीच त्रिमल ने पट्टी छब्बीस के पीरा सम्भल के विद्रोह का भी दमन किया था।

शिव प्रसाद डबराल के अनुसार त्रिमल चंद व गढ़ शासक महिपति शाह के मध्य एक मैत्रीपूर्ण युद्ध हुआ जिसमें महिपति ने युद्ध आदि पापों का प्रायश्चित्त करने के उद्देश्य से युद्ध में लड़ते हुए मृत्यु हेतु त्रिमलचंद से रण भिक्षा माँगी थी। सम्भवतः 1635 ई० में अल्मोड़ा के निकट

कोसी तट पर हुए इस युद्ध में महिपतिशाह ने अपने प्राण दिये थे और शव श्रीनगर पहुँचाया गया। इस युद्ध में कुमुँ-गढ़ के सैकड़ों जिन सैनिकों की मृत्यु हुई वह सिर्फ महिपतिशाह की सनक का परिणाम था।

वाजा से वाजबहादुर चंद बनने के पीछे त्रिमल चंद का निःसन्तान होना था। यद्यपि भाई नारायण चंद था पर उसके सहायक फड़त्याल होने के कारण वह उसे उत्तराधिकारी नहीं बनाना चाह रहा था। जब संग्राम कार्की व उसके साथियों द्वारा जो हत्याएँ हुई व नीलू गुसाई की आँख फोड़ दी गई थी तब उसके बेटे वाज गुसाई को चौसर की एक तिवाड़ी महिला ने अपना बच्चा कहकर बचाया व पाल लिया था। यह सूचना त्रिमल चंद को मिलते ही उसने तिवाड़ी महिला/परिवार को समझाकर वाजगुसाई को राजदरबार में लाकर उसे अपना धर्मपुत्र व उत्तराधिकारी वाजबहादुर चंद के नाम से घोषित किया था।

1.4.2 बाजबहादुर चंद

त्रिमलचंद की मृत्यु के पश्चात् बाजबहादुर (1638 ई0 – 1678 ई0) ने सत्ता संभाली। तब तराई से चंद राजाओं को लाखों की आय होती थी। परन्तु लक्ष्मी चंद की मृत्यु के बाद चंदो की आपसी प्रतिद्वन्द्विता के कारण वे तराई की ओर ध्यान नहीं दे पाये। जिस कारण कठेर के हिन्दुओं ने तराई-भाबर के बड़े हिस्से पर अधिकार कर लिया था तब बाजबहादुर चंद काफी तोहफों के साथ फरियाद लेकर शाहजहाँ के दरबार पहुँचा था उस बीच बादशाह गढ़वाल पर आक्रमण में व्यस्त था। उसने कहा कि वह भी इस युद्ध में सम्मिलित हों, जीत पश्चात् तराई भाबर उनको दे दिया जायेगा। 1654 ई0 – 1655 ई0 में वाजबहादुर ने वघाण गढ़ व लोहबा दो जगहों से साथ युद्ध कर इन क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया, जो राजधानी श्रीनगर के लिए खतरा हो गया था। पश्चिम में भाबर पर शाही सेना कब्जा कर चुकी थी इस बहादुरी से खुश होकर बादशाह ने बाजबहादुर को बहादुरी की पदवी देते हुए फरमान जारी कर उसे तराई का जमीनदार घोषित किया था। इस प्रकार तराई भाबर वाजबहादुर के अधीन हो गया तभी उसने तराई में वर्तमान बाजपुर नगर की स्थापना कर वहाँ स्थायी कर्मचारी नियुक्त किये थे।

उक्त गढ़वाल अभियान में वघाणगढ़ व लोहबा के अतिरिक्त जूनागढ़ पर भी अधिकार कर वहाँ से नन्दादेवी की मूर्ति को राजचेलियों सहित ले आया था जिसे अल्मोड़ा के मल्लामहल में स्थापित किया, जिसे बाद में कमिश्नर कुमाऊँ ट्रेल ने वर्तमान स्थान पर स्थापित किया था।

उस अवधि में शाही दरबार में मारकाट चल रही थी, तब सुलेमान शिकोह जान बचाते कुमाऊँ आया तथा बाजबहादुर से शरण माँगी यह खबर औरंगजेब तक पहुँचने से पहले ही उसने सुलेमान शिकोह को गढ़वाल भेज दिया और दो राजदूतों को विस्तृत जानाकारी के साथ औरंगजेब के दरबार में भेजा जिससे खुश होकर औरंगजेब ने तराई भाबर के सम्बन्ध में फरमान जारी किया था।

1663 ई0 में जब गढ़शासक पृथ्वीपति शाह ने अवयस्क फतेपतिशाह को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया उसी अवधि में बाजबहादुर ने गढ़वाल पर आक्रमण कर दिया यह सूचना गढ़शासक ने फरियाद के रूप में औरंगजेब के पास भेजी साथ में यह भी लिखा कि कुमाऊँ राजा के पास अपार स्वर्ण भण्डार है फलतः शाही सेना ने कुमाऊँ पर आक्रमण कर तराई पर अधिकार कर लिया तब कुमुँ शासक ने भी शाही दरबार में फरियाद कर कहा था कि गढ़ शासक ने मेरी झूठी शिकायत की है साथ ही यह गलती में स्वीकार करता हूँ कि आपकी आज्ञा के बिना श्रीनगर पर आक्रमण किया उस हेतु में आर्थिक दंड देने को तैयार हूँ तब शाही दरबार ने माफ किया था।

1670 ई0 में बाजबहादुर ने तिब्बत पर आक्रमण कर ताकला खाल किले पर अधिकार कर लिया फिर इस शर्त के साथ छोड़ा था कि वे लोग किसी भोटिया व्यापारी या तीर्थयात्रियों से कोई कर नहीं लेंगे तथा पाँच गाँवों की मालगुजारी से तीर्थयात्रियों के रहने खाने की व्यवस्था भी करवायी थी इस अवधि में कुछ लोगों द्वारा अल्मोड़ा में उत्तराधिकारी उद्योतचंद को बगावत हेतु भड़काया था पर सफल नहीं हो पाये बाज ने साँवली के बिष्ट व बंगारस्यू के बंगारी रावतों को भी अपने पक्ष में कर लिया था इसलिये 1654 ई0 में इन्होंने गढ़ शासक के विरुद्ध बाजबहादुर

का साथ दिया था। 1672 ई० में राजा ने नगीना तक युद्ध कर लूटखसोट करने वालों को खूब लूटा था।

राज्य शांति व विस्तार अभियान में राजा पूर्व की ओर सोर व डोटी राजा से मिला। ब्रह्मदेव मंडी के पास पता चला कि चितौन के राजा ने काला घाट में किला बनाकर स्वयं को स्वतन्त्र घोषित किया है। बाज ने शीघ्र किला छीनकर उसे फांसी दे दी। 1674 ई० में व्यांस घाटी को भी अपने राज्य में मिला लिया तथा भोटियों व हुणियों को सिरती देने का आदेश दिया।

बाजबहादुर धार्मिक प्रवृत्ति का भी था। दान पुन्य, पिनाथ (कौसानी), भीमेश्वर (भीमताल) मंदिरों का निर्माण करवाया, इनके अतिरिक्त कटारमल, पाली, महारुद्र देवालय व करगेत गाँव का बदरीनाथ मंदिर आदि। अतः कहा जाता है कि राज्य विस्तार, शासन प्रबन्ध, निर्माण कार्य व विभिन्न विजयों के साथ तीन पुत्र होने के बाद भी बाज का अन्तिम समय मुसीबतों में बीता। इसके समय के दर्जनों ताम्रपत्र जैसे— लखनपुर, बदरीनाथ, पिनाथ, सोमेश्वर, नारायण तेवाड़ी देवाल, वालेश्वर, वृद्धकेदार, जागेश्वर व बागेश्वर आदि उपलब्ध हैं।

1.4.3 उद्योत चंद

बाजबहादुर चंद के बाद उद्योत चंद (1678 ई० — 1698 ई०) राजा बना। 1678 ई० में बदरीदत्त पाण्डे के अनुसार वघाण गढ़ किले पर कब्जा कर लिया। डबराल के अनुसार उद्योतचंद पराजित होकर लौटा था। फिलहाल इस युद्ध में उद्योत चंद का सेनापति मैसी साहू मारा गया। 1679 ई० में पुनः गनाई के रास्ते युद्ध किया तथा लोहाबा व चाँदपुरगढ़ी में लूट मचाई थी। 1680 ई० में गढ़वाल व डोटी शासक के मध्य संधि हो गई। पूर्व में डोटी राजा ने चम्पावत पर व पश्चिम में गढ़राजा ने दूनागिरी व द्वाराहाट पर अधिकार कर लिया। अतन्तः दो साल के इस युद्ध में कुमुँ राजा ने गढ़ एवं डोटी दोनों राजाओं को पराजित किया था।

उक्त सफलताओं के बाद उद्योत चंद गंगा स्नान हेतु प्रयाग राज गया वहाँ से लौटते हुए रास्ते में सूचना मिली की डोटी के रैका राजा ने कुमाऊँ पर पुनः आक्रमण कर दिया है। 1685 ई० में कुमाऊँनी सेना ने डोटी सैनिकों को काली पार ही नहीं किया अपितु अजमेर किले पर भी कब्जा कर लिया। जहाँ से भागकर वे खैरीगढ़ किले में पहुँचे। 1688 ई० में खैरीगढ़ पर भी अधिकार कर लिया तब संधि में यह निश्चित हुआ कि डोटी राजा कुमाऊँ को सालाना कर देगा इसकी खुशी अल्मोड़ा में भी मनाई गई, परन्तु 1696 ई० में संधि का उल्लंघन कर डोटी शासक ने कर देना बंद कर दिया जिस कारण डोटी पर पुनः युद्ध किया गया पर इस बार उद्योत चंद की सेना हार गई, और युद्ध का नेतृत्व कर रहे शिरोमणि जोशी को मार दिया गया।

ऊपर आपने पढ़ा युद्धों के अतिरिक्त राजा ने तराई भाबर की व्यवस्था में भी विशेष ध्यान दिया था। काशीपुर, कोटा आदि स्थानों पर आम के बाग लगवाना आदि कार्य करवाये, दरबार में विद्वानों का सत्कार किया जाता था, अनेक मंदिरों का निर्माण, जीर्णोद्धार करवाया इस प्रकार 1698 ई० में उद्योत चंद की मृत्यु हो गई।

उद्योत चंद की मृत्यु के पश्चात् ज्ञानचंद (1698 ई० — 1708 ई०) जगत चंद (1708 ई० — 1720 ई०) देवी चंद (1720 ई० — 1726 ई०) अजीत चंद (1726 ई० — 1729 ई०) राजा बने परन्तु इनके शासनकाल में विशेष घटनाओं का उल्लेख नहीं मिलता है सिर्फ गढ़वाल राज्यके सीमावर्ती क्षेत्रों में युद्ध व लूटपाट, मंदिर निर्माण, जीर्णोद्धार या फिर डोटी पर युद्ध करने का उल्लेख मिलता है। जगत चंद के बार में कहा जाता है कि उसने श्रीनगर गढ़वाल जीतकर गढ़राज्य के ही किसी ब्राह्मण को दान कर दिया था। कुछ सनकीपन के कार्यों के उदाहरण राजा देवी चंद के भी मिलते हैं इसी कारण निःसन्तान देवी चंद की उसके मंत्री माणिक बिष्ट व पुत्र पूरनमल बिष्ट (गैड़ा) ने कोटा (जहाँ चंद शासक शीतकाल में रहते थे) में देवीपुर इलाके के महल में हत्या कर दी थी। अब वह चंद वंश के किसी कुवंर को ढूँढकर अपने कटपुतली के रूप में राजा बनाना चाह रहे थे। पंचों की रायनुसार कटेड़ (रुहेलखण्ड) में ज्ञान चंद की लड़की पीपली के राजा को ब्याही गई थी उसका बेटा अजीत चंद चंदों का भान्जा होने के नाते उसे लाकर राजा बनाया गया। वास्तविक अधिकार बाप बेटे गैड़ा के हाथों रहे अर्थात् अतीत चंद उनका कटपुतली बन गया गैड़ा बिष्ट के मनमाने अत्याचार आरम्भ हो गये जिनके अत्याचारों को कुमाऊँ

में गैड़ा गर्दी के नाम से जाना जाता है। ब्राह्मणों या अन्य लोगों को दी गयी सनदें वापस ले ली गई। सभी का धन व जेवरात आदि सम्पत्ति जब्त कर पदों से हटाया गया, अन्ततः इन लोगों ने राजा अजीत चंद की स्वयं ही हत्या कर दी थी। बदरी दत्त पाण्डे के अनुसार यह घटना 1728 ई० और डबराल के अनुसार 1729 ई० की है और अपने 18 दिन के नाजायज सन्तान को वालो कल्याण चंद के नाम से गद्दी पर बैठाया। जिसे दरबार में किसी ने स्वीकार नहीं किया था। फलतः महर व फड़त्याल धड़ों के लोगों ने डोटी जाकर उद्योत चंद के बेटे कंवर कल्याण सिंह को लाकर उसे राजा बनाया था।

1.4.4 कल्याण चंद

आपने पढ़ा कि उपरोक्त राजनैतिक हत्याओं के पश्चात् कुंवर कल्याण सिंह कल्याण चंद के नाम से राजा बना जिसका शासन काल पाण्डे के अनुसार 1729 ई० – 1747 ई० व डबराल के अनुसार 1730 ई० – 1748 ई० माना गया है। राजा बनते ही सर्वप्रथम उसने उपरोक्त दोनों बाप बेटों को मरवाकर राज्य में गैड़ा गर्दी समाप्त की थी। तत्पश्चात् राजदरबार के कुछ चापलूसों ने राजा को सशंकित कर दिया कि कभी भी कोई आपका तखता पलट कर सकता है इस भय से उसने चंद वंश से जुड़े व सभी रौतेला, गुसाईं लोगों को ढूंढकर मरवाने के आदेश दे दिये साथ में झिझाड़ के जोशी व पंतों की आँखें निकलावा दी। आप पढ़ रहे हैं कि अपनी सत्ता बचाने हेतु कल्याण चंद के द्वारा किये गये अत्याचारों से राज्य में आतंक का महौल व्याप्त हो गया था।

उक्त घटनाक्रम के बाद कल्याण चंद ने मुगल बादशाह दिल्ली सहित अन्य राजाओं से अपने सम्बन्ध स्थापित किये। जैसे 1745 ई० में दिल्ली बादशाह मुहम्मद शाह, 1731 ई० में फरीदनगर के राजा तेजसिंह करोड़िया के साथ बेटी का विवाह कर व 1739 ई० में दूसरी बेटी का विवाह सिरमौर शासक विजय प्रकाश के साथ, 1739 ई० में गढ़शासक प्रदीप शाह, 1741 ई० में उदयपुर के राणा जगत सिंह तथा चित्तौड़गढ़ के राजा जगत सिंह आदि। आगे चलकर राजा ने अपने अत्याचारों का पश्चाताप करना आरम्भ किया। दरबार में बुलाकर नकद धन व जागीरें दी गयी या दरबार में नौकरी दी गई। जिनमें मुख्य झिझाड़ के शिवदत्त जोशी को माल में सरवना का कानूनगो बनाया गया जिसके बहादुरी के कार्य देख राजा ने माल के सरदार लटौला जोशी को निकालकर शिवदत्त जोशी को नियुक्त किया था। कोटा माल का अधिकारी रामदत्त को नियुक्त किया व हरिराम जोशी को सर्वेसर्वा बनाया गया।

इस बीच अवध नवाब मंसूर अली ख़ाँ ने बिलारी व सरवना पर कब्जा कर लिया तथा डोटी राजा भी कल्याण चंद से चिढ़ा हुआ था।

रोहिला आक्रमण

तीसरी ओर से 1743 ई० में रुहेला सरदार अलीमुहम्मद ख़ाँ ने हाफिज रहमत ख़ाँ को कुमाऊँ में आक्रमण हेतु भेज दिया, यह सूचना रामदत्त अधिकारी ने जब कल्याण चंद को दी थी व शिव दत्त जोशी द्वारा धन की माँग की गई परन्तु दरबारी चापलूसों के कहने पर राजा ने मदद नहीं पहुँचाई, परिणाम स्वरूप रुहेलों ने शिवदत्त को रुद्रपुर में पराजित कर दिया, जोशी बटोखरी, बड़ाखोरी (काठगोदाम) आये वहाँ से छ खाता परगना भीमताल के निकट विजयपुर आये वहाँ पुनः युद्ध हुआ वहाँ भी रुहेलों ने विजयपुर पर अधिकार कर प्यूड़ा, सुयाल नदी होते हुए अल्मोड़ा को प्रस्थान किया। अल्मोड़ा में कल्याणचंद ने रुहेलों से लड़े बिना भागकर गढ़राज्य के लोहबा में शरण ली थी। अल्मोड़ा पर अधिकार के बाद रुहेलों ने अल्मोड़ा के आसपास के क्षेत्रों में मूर्तियाँ, मंदिर तोड़े, सोने, चाँदी आदि की खूब लूटपाट की। तत्पश्चात् गढ़राज्य में शरणागत कल्याण चंद शिवदत्त जोशी व गढ़ शासक प्रदीपशाह ने मिलकर रुहेलों से दूनागिरी, कैडारौ, बोरारौ आदि क्षेत्रों में युद्ध लड़ा परन्तु पराजित हुए यह पहला मौका था जब उत्तराखण्ड के दो राजाओं ने मिलकर वाह्य आक्रमण का सामना किया था। तत्पश्चात् रुहेलों की श्रीनगर गढ़वाल पर आक्रमण की योजना का पता चलने पर उनके साथ संधि की गई जिसमें तीन लाख रुपये कल्याणचंद ने प्रदीप शाह से लेकर रुहेलों को दिये साथ में रुहेलों द्वारा शर्त रखी गई कि कुमुँ शासक सालाना साठ हजार रुपया कर देगा व गढ़ शासक कुमुँ शासक को मदद नहीं देगा

आदि, तब सात महिने रुहेले अल्मोड़ा में रहकर वापस गये थे तथा एक टुकड़ी सेना बाड़ाखोड़ी में छोड़ गये और गढ़शासक प्रदीप शाह कल्याण चंद को अल्मोड़ा छोड़कर श्रीनगर वापस गया था।

परन्तु 1745 ई0 में रुहेला सरदार अलीमुहम्मद खाँ ने कुमाऊँ पर पुनः आक्रमण कर दिया पर इस बार शिवदत्त जोशी बाड़ाखोड़ी व हरिराम जोशी ने कोटा में रुहेलों का सामना कर नजीवर खाँ को बुरी तरह पराजित किया था। रुहेलों ने कुमाऊँ के अतिरिक्त कठेर में आतंक किया हुआ था यह सूचना जब दिल्ली सम्राट मुहम्मदशाह के पास शिवदत्त द्वारा भेजी गई तो बादशाह द्वारा सेना भेजकर उन्हें पराजित किया और देश छोड़कर जाने का हुक्म दिया था। तब बादशाह स्वयं संभल पहुँचा हुआ था वहीं कल्याण चंद ने भी काशीपुर मुरादाबाद होते हुए पहुँचकर नजराने सहित बादशाह से मुलाकात की थी। वहीं से कुँ राजा के नाम तराई भाबर बहाली का फरमान जारी हुआ था वापसी में कल्याण चंद माल की व्यवस्था शिवदत्त जोशी को सौंपकर अल्मोड़ा आ गया, इसी बीच शिवदत्त ने रुद्रपुर व काशीपुर में किलों का निर्माण करवाया था तब अल्मोड़ा में मरहट शासक, सरदार पहुँचे हुए थे कि बादशाह के विरुद्ध अभियान में वे कुँ राजा को भी शामिल करना चाह रहे थे पर राजा ने अस्वीकार कर दिया तथा माल की रक्षा हेतु कल्याणचंद ने हेड़ियों व मेवातियों को जागीरें देकर यह जिम्मेदारी उन्हें सौंपी थी। इस प्रकार 1747 ई0 में कल्याण चंद ने शिवदत्त जोशी के सामने अपना उत्तारधिकारी नाबालिग दीप चंद को राज्यभार सौंप दिया तथा अपने अत्याचारों का प्रायश्चित के उद्देश्य से दर्जनों ताम्रपत्र व गूँठ मंदिरों के नाम की थी।

1.4.5 दीप चंद

1748 ई0 में कल्याण चंद की मृत्यु के पश्चात् नाबालिग दीप चंद (1748 ई0 – 1777 ई0) राजा बना। जिस कारण राज्य की वास्तविक सत्ता मंत्री शिवदत्त जोशी के हाथों में थी। शिवदत्त ने अपने बेटे जय कृष्ण जोशी को अल्मोड़ा का प्रतिनिधि तथा चचेरे भाई हरिराम जोशी को काशीपुर का हाकिम फिर कुछ मतभेद के कारण बाजपुर के शिरोमणि दास को काशीपुर का हाकिम बनाया, स्वयं पूरे राज्य का नेतृत्व किया।

पानीपत युद्ध— 1761 ई0 में मराठों व अहमदशाह अब्दाली के मध्य पानीपत का युद्ध हुआ उसमें रुहेलों के साथ कुमाऊँनी सेना भी हरिराम जोशी व वीरवल नेगी के नेतृत्व में लड़ी थी। जिसमें कुँ सेना ने 'बान' (एक तरह का राकेट) इस्तेमाल कर मराठा सेना को तितर बितर कर दिया था जिससे बादशाह अति प्रसन्न हुआ। युद्ध विजय के बाद बादशाह ने कुमाऊँनी सेना से मिलने की इच्छा प्रकट की थी परन्तु रोहिला सरदार हाफिज रहमत खाँ नहीं चाहता था कि मुलाकात हो इसलिये उसने पहले ही कुँ सेना को कुछ उपहार सामग्री, पगड़ी आदि देकर कहा कि यह बादशाह ने राजा दीप चंद हेतु दी है बादशाह को सूचित किया गया कि कुँ सेना गर्मी से परेशान होकर वापस चली गई है। दूसरी ओर सहारनपुर, नजीमाबाद का नवाब नजीबुद्दौला भी पानीपत के युद्ध में लड़ने गया था तब शिवदत्त जोशी ने अपने बेटे हर्ष देव जोशी को पत्थर गढ़ दुर्ग में सेना के साथ नवाब के कोष व परिवार की रक्षा करने भेजा था युद्ध समाप्ति पर जब नवाब नजीमाबाद पहुँचा तब हर्ष देव जोशी अल्मोड़ा लौटा था इस युद्ध में शिवदत्त ने रोहिला व बादशाह दोनों के साथ अच्छे सम्बन्ध स्थापित कर लिये थे।

उपर्युक्त घटनाक्रम के बाद कुमाऊँ में शांति स्थापित हो गई, काशीपुर, बाजपुर, रुद्रपुर में किलों का निर्माण कर सेना स्थाई रूप से यहाँ रहने लग गई। बादशाह, नवाब रामपुर, नजीमाबाद व मुरादाबाद से भी मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध हो गये। एक तरह से बार-बार वाह्य युद्धों से मुक्ति मिल गई। इस बीच बाहरी राज्यों के लोग भी माल आकर बसे थे शिवदत्त जोशी अधिकांश काशीपुर में ही रहता था।

उक्त क्रम में पानीपत से लौटने के बाद हरिराम जोशी को पूर्व पद मिल गया था। परन्तु शिवदेव जोशी के पुत्र जयकृष्ण व हरिराम के पुत्र जयराम में मतभेद हो गये जिसमें दोनों के पिताओं के मतभेद भी शामिल थे जिस कारण दोनों के मध्य बाँसुरी सेरा नामक स्थान पर युद्ध हुआ और सैनिकों के साथ जयराम जोशी मारा गया तब रोहिला सरदार हाफिज रहमत खाँ की

मध्यस्थता में निर्णय हुआ हरिराम ने लिखित दिया कि वह भविष्य में ईमानदारी से शिवदेव की आज्ञाओं का पालन करेंगे। पुनः शिवदेव चंद राज्य के सर्वोसर्वा बन गये, पर इस बीच दुश्मनों का संकट बढ़ता ही गया था। कालीकुमाऊँ के फड़त्यालों ने रायमल्ल बोरा के नेतृत्व में काशीपुर के कुछ लोगों के साथ मिलकर शिवदेव के विरुद्ध षड्यन्त्र शुरू कर दिया, जिसमें दन्या के जोशी भी शामिल थे शिवदेव ने सभी को चिन्हित कर उन्हें जिन्दा बोरों में बन्द करके बागेश्वर के निकट बालीघाट पर सरयू में बहा दिया था फिर पश्चाताप कर कुछ को रिहा कर उन्हें उनकी सम्पत्ति लौटाकर तरह-तरह की सद्भावनायें व्यक्त की थी। रायमल्ल व साथी डोटी भाग गये परन्तु विद्रोह की संभावनायें बरकार थी। 1764 ई0 में फड़त्यालों के भड़काने पर तराई भाबर के सैनिकों ने वेतन वृद्धि को लेकर विद्रोह कर दिया जिन्होंने शिवदत्त जोशी व उसके दो पुत्र जयदेव तथा हरिनिधि की हत्या कर दी, तीसरा बेटा हर्षदेव जोशी जान बचाकर भाग गया विद्रोही सैनिकों ने दुर्ग सहित पूरी सम्पत्ति व दस्तावेज लूट लिये या नष्ट कर दिये थे।

इस प्रकार शिवदेव जोशी ने 12-13 वर्ष कल्याण चंद व 16 वर्ष दीपचंद के साथ चंद प्रशासन को सफल राजनीतिज्ञ व कूटनीतिज्ञ की तरह चलाया। उस अवधि में उसने राज्य को व्यवस्थित चलाने हेतु जनता पर अनेक क्रूर अत्याचार भी किये परन्तु चंद राज्य को तराई भाबर सहित एकीकृत राज्य के रूप में स्थापित करने में भी सफल रहा पर शिवदेव की मृत्यु पश्चात् चंदों का तराई-भाबर पर से नियन्त्रण खत्म हो गया और पर्वतीय क्षेत्र में भी अव्यवस्था फैल गई। इस बीच दीप चंद ने रानी दिलीप मजरी व अपनी 4 फुट ऊँची अष्टधातु की मूर्ति जागेश्वर में स्थापित की थी।

शिवदेव की मृत्यु के बाद दीप चंद ने उसके पुत्र जयकृष्ण के लम्बे राजनैतिक अनुभवों को देखते हुए उसे राज्य का दीवान व मुख्तार नियुक्त किया था परन्तु दीप चंद की दूसरी रानी श्रंगार मजरी राजकाज में अति हस्तक्षेप करने लग गई थी जिस कारण जयकृष्ण जोशी ने त्यागपत्र दे दिया। तत्पश्चात् रानी ने अपनी इच्छानुसार नियुक्तियाँ की— मोहन सिंह (बख्सी), किसन सिंह (दीवान), परमानन्द बिष्ट (मुख्तार), जोध सिंह कटेहरी (माल हाकिम) आदि। कुछ समय पश्चात् मोहन सिंह को भागकर रुहेलखण्ड शरण लेनी पड़ी वहाँ से उसने डुन्डी खाँ रोहिला और कुमाऊँनी सेना लेकर अल्मोड़ा पर अधिकार कर राजा रानी को बन्दी बना लिया फिर परमानन्द बिष्ट व रानी की हत्या कर दी। उस बीच हाफिज रहमत खाँ ने जोशी व किशन सिंह को साथ लेकर कुमाऊँ पर आक्रमण कर दिया, मोहन सिंह भाग गया, राजा दीपचंद ने प्रशन्न होकर किशन सिंह, हर्ष देव जोशी, लक्ष्मीपति जोशी, शिरोमणि दास (काशीपुर) व हरिराम जोशी पुत्र मनोरथ जोशी (रुद्रपुर) को विशेष पदों पर नियुक्त किया। कुछ समय पश्चात् मुख्तार किशन सिंह से कुछ प्रभावशाली नाराज हो गये इस बीच मोहन सिंह ने नवाब अवध द्वारा जोशी बन्धु से उसे अल्मोड़ा आने को कहलवाकर स्वयं भी माफी मांगी और हर्षदेव के न चाहने के बावजूद भी जय कृष्ण द्वारा अनुमति दे दी गई।

अपने लिये कुमाऊँ व नन्दराम हेतु तराई भावर की स्थायी जागीर को लेकर अल्मोड़ा पहुँचते ही मोहन सिंह ने काशीपुर के नन्दराम के साथ मिलकर षड्यन्त्र शुरू कर दिया। बाहरी तौर पर जयकृष्ण व हर्षदेव जोशी के अनुसार कार्य करने का नाटक करते रहा। इस बीच जोशी बन्धु व मोहन सिंह के मध्य तय हुआ कि तराई भाबर को कुमाऊँ में पुनः मिलाया जाय, इस निर्णय के तहत जय कृष्ण व किशन सिंह सेना लेकर तराई भाबर को रवाना हुए दूसरी ओर मोहन सिंह ने यह सूचना नन्दराम को भेज दी साथ में सहायता का वचन दिया जयकृष्ण की सेना जैसे ही तराई पहुँची वहाँ हल्दुआ में नन्दराम की सेना पहले से ही मौजूद थी, हल्दुआ के इस युद्ध में जयकृष्ण की पराजय के साथ दीपचंद का भाई किशन सिंह मारा गया, तत्पश्चात् मोहन सिंह ने अल्मोड़ा में सत्ता हासिल कर हर्षदेव जोशी को भागकर पाली में शरण लेने को बाध्य किया था, असहाय दीप चंद व उसके दो बेटों को बन्दी बनाकर सीराकोट रखा गया जहाँ 1777 ई0 में तीनों की हत्या करवा दी गई जो एक सरल सवभाव व जनहितैषी राजा के वंश का अंत था।

उपर आपने पढ़ा कि तब कुमाऊँ में नृशंश हत्याओं व घटनाओं का क्रम जारी था इस बीच मोहन सिंह ने अपने को मोहन चंद (1777 ई0 – 1779 ई0) के नाम से कुमाऊँ शासक घोषित कर लिया। राज्याभिषेक के साथ ही उसने जय कृष्ण जोशी की हत्या करवा दी तथा हर्षदेव जोशी को आजीवन बन्दी बना लिया। अपने भाई लाल सिंह को बख्सी व मधुसूदन पाण्डे को दीवान नियुक्त किया। तराई के नन्दराम ने लखनऊ में अवध के नवाब से मिलकर अपने को तराई का मालिक घोषित करवाकर रुद्रपुर के सरदार मनोरथ जोशी की हत्या करवाकर रुद्रपुर पर भी अधिकार कर लिया। कुँ राजा के पास अब तराई भाबर में किलपुरी ही शेष रहा गया था। इस प्रकार एक तरह से 1802 तक तराई पर नवाब का आधिपत्य रहा। फिर ईष्ट इण्डिया कम्पनी के अधीन चला गया इस बीच नन्दराम के शासनकाल में तराई को सुव्यवस्थित करने हेतु पुल आदि का निर्माण करवाकर सिंचाई की सुविधा विकसित की गई। पर्वतीय क्षेत्र में मोहन चंद ने अपने पापों का प्रायश्चित्त करने हेतु दान पुण्य व मंदिरों को भूमि देने सम्बन्धी नाटक कर जनता की सहानुभूति प्राप्त करना शुरू किया।

उस अवधि में मोहन चंद के भय से कैद से भागकर हर्षदेव जोशी व जयानन्द जोशी बरेली में रह रहे थे। उन्होंने गढ़ शासक ललितशाह से सम्पर्क किया कि यदि आप चाहें तो हम आपको नाहण (सिरमौर) के साथ कुमाऊँ राज्य भी जिता सकते हैं क्योंकि कुमाऊँ में मोहन चंद द्वारा हत्याओं के बल पर अपना राज्य स्थापित किया है जिसमें जनता व अधिकारी सभी नाराज हैं इस जीत के बाद आप अपने तीनों पुत्रों को राजा बना सकते हैं। गढ़ शासक ने पूर्व धोखे व षड्यन्त्रों को भुलाकर हाँ कर दी। तथा बरेली धन भेजकर उन्हें श्रीनगर गढ़वाल बुला लिया। जानबूझकर गढ़शासक जोशियों की राजनीति व कूटनीति में फँस गया। जब जयानंद बरेली से श्रीनगर राजदरबार पहुँचा तो उसका भव्य स्वागत के साथ पुत्र प्रद्युम्न को उसे सौंपा गया। जयानंद द्वारा कहा गया कि वह मोहन चंद को पराजित कर कुंवर प्रद्युम्न शाह को प्रद्युम्न चंद के नाम से कुमाऊँ का राजा घोषित करेंगे। बदरी दत्त पाण्डे के अनुसार हर्ष देव जोशी बरेली न होकर अल्मोड़ा कारागार में था। डबराल के अनुसार 1779 ई0 में द्वाराहाट के निकट बगवाली पोखर में कुँ व गढ़ सैनिकों के मध्य युद्ध हुआ जिसमें कुँ सेना पराजित हुई साथ ही कुँ सेना गढ़ सैनिकों से मिल गई थी। इस प्रकार मोहन चंद व लाल सिंह भागकर नवाब रामपुर फैजउल्लखों की शरण में चले गये। हर्ष देव जोशी गढ़ सैनिकों से मिल गया। इस प्रकार 1779 ई0 से 1786 ई0 तक प्रद्युम्न शाह ने प्रद्युम्न चंद के नाम से जोशियों के कठपुतली के रूप में कुमाऊँ में शासन किया था। क्योंकि वास्तविक सत्ता जयानंद जोशी व हर्ष देव जोशी के हाथों में थी। अर्थात् 1780 ई0 तक जोशी बन्धु प्रद्युम्न चंद के नाम से शासन करते रहे। 1780 ई0 में प्रद्युम्न कुमाऊँ पहुँचा तथा हर्ष देव ने शीघ्र उसका विवाह मनराल परिवार की लड़की से करवाया जिससे राजा सुदर्शन शाह का जन्म हुआ था। उधर गढ़वाल में ललितशाह की मृत्यु के बाद जयकीर्ति शाह गढ़ राजा बन गया था।

उक्त घटनाक्रम के पश्चात् अठकिन्सन, बदरीदत्त पाण्डे, वाल्टन आदि के अलग-अलग मत हैं परन्तु डबराल के अनुसार जयकीर्ति के गढ़ राजा बनते ही उसके मंत्री व अन्य राजदरबारियों ने उसके मन में यह बात डाली कि बड़े भाई होने के नाते आप को कुँ-गढ़ दोनों का राजा होना चाहिए। इस बात को लेकर दोनों राजदरबारों में षड्यन्त्र आरम्भ हो गये दोनों राजदरबारों के षड्यन्त्रकारी चाह रहे थे कि दोनों राज्यों का प्रद्युम्न चंद को राजा बनाकर उसे कठपुतली बनाया जाय। श्रीनगर में अजब राम व घमण्ड सिंह आदि ने जयकीर्ति शाह को कठपुतली बनाया था कुमाऊँ में हर्षदेव जोशी व जयानन्द जोशी ने प्रद्युम्न को बनाया था उन्होंने आपस में मन्त्रणा कर प्रद्युम्न को गढ़वाल पर आक्रमण करने हेतु तैयार किया। जब राजा कीर्तिशाह देवलगढ़ ईष्ट देवी की पूजा हेतु पहुँचा तब कुमाऊँनी सेना ने जोशी बन्धुओं के नेतृत्व में गढ़वाल पर आक्रमण किया इस अकस्मात् आक्रमण को गढ़वाली सेना नहीं रोक पायी, जयकीर्ति को भागना पड़ा और प्रद्युम्न सेना सहित श्रीनगर पहुँच गया तथा गढ़मंत्री भी उसके साथ मिल गये, मिलकर उन्होंने श्रीनगर में आगजनी, लूटपाट, हत्या आदि कर अत्याचार किये, माना जाता है कि इस घटना से घबराकर 1786 ई0 में जयकीर्ति शाह की मृत्यु हो गई। इन

अत्याचारों को गढ़वाल में आज भी जोश्याणी के नाम से जाना जाता है इस घटनाचक्र हेतु हर्षदेव जोशी को जिम्मेदार माना जाता है तत्पश्चात् गढ़ राजदरबारियों ने हर्ष देव जोशी को गढ़वाल के लिये खतरा मानते हुए उसे कुमाऊँ भगा दिया और 1786 ई० में प्रद्युम्न चंद, प्रद्युम्न शाह के नाम से गढ़शासक बन गया।

दूसरी ओर कुमाऊँ राज्य को पाने हेतु मोहन चंद सक्रिय हो गया। मोहनचंद और लाल सिंह ने मिलकर काशीपुर के नंदराम और पराक्रम शाह को साथ लेकर कुमाऊँ पर आक्रमण कर दिया। पाली पट्टी में नैथाणगढ़ के पास हर्षदेव की सेना को बुरी तरह से पराजित कर दिया जोशी भाग निकला इस प्रकार मोहन चंद पुनः 1786 ई० से 1788 ई० तक कुमाऊँ का राजा बन गया। तब राज्य की आर्थिक स्थिति दयनीय हो चुकी थी उसे सुधारने के उद्देश्य से जनता पर 'मोंगा' आदि कर लगाकर उसका उत्पीड़न किया था। इस बीच हर्ष देव ने नैथाणगढ़ पराजय के बाद रोहिला, कुमाऊँनी व बड़ापुरी ठाकुरों की सेना एकत्रित कर अल्मोड़ा पर आक्रमण किया रैकाकोट व सितौली में युद्ध हुआ मोहनचंद पराजित हो गया उसे बंदी बनाकर लाल सिंह को छोड़ दिया जो रामपुर चला गया। इस विजय के बाद हर्ष देव पुनः राज्य का सर्वोसर्वा तो बना पर उसे पता था कि मैं राजगद्दी पर नहीं बैठ सकता उसने गढ़वाल में प्रद्युम्न व पराक्रम शाह से आने को कहा पर दोनों ने अल्मोड़ा आने से मना कर दिया।

तब हर्ष देव ने राजा उद्योतचंद का वंशज शिवसिंह रौतेला को शिवचंद के नाम से राजगद्दी पर अपने कठपुतली के तौर पर बैठाया था इस बीच लाल सिंह ने नवाब रामपुर फैज उल्ला खाँ व पराक्रम शाह की मदद से कुमाऊँ पर आक्रमण किया कोसी नदी के तट चुकम नामक स्थान में हर्षदेव को पराजित किया परिणामतः हर्ष देव ने शिवचंद को साथ लेकर प्रद्युम्न के दरबार में शरण ली थी।

महेन्द्र चंद— (1788 ई – 1790 ई०) उक्त चुकम विजय के बाद लाल सिंह ने मोहन चंद के बेटे महेन्द्र चंद को गद्दी पर बैठाया तथा शेष सभी पद अपने पास रखकर जोशियों का उत्पीड़न आरम्भ कर दिया। लूट, हत्या, फांसी तथा सम्पत्ति जब्त करना आदि मात्र दो साल शासन करने के पश्चात् 1790 ई० में नेपाल शासक रण बहादुर शाह ने आक्रमण कर कुमाऊँ में गोरखा शासन स्थापित कर लिया। इस गोरखा विजय के पीछे हर्ष देव जोशी व अन्य उत्पीड़ित जोशियों का सहयोग भी माना जाता है। इस प्रकार 1790 ई० में आपसी ईर्ष्या द्वेष व मतभेदों के कारण स्वशासन के स्थान पर कुमाऊँ में विदेशी गोरखा सत्ता स्थापित हो गई जो 1815 ई० में अंग्रजों के आगमन तक बनी रही।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

- निम्नलिखित पर सक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:
 - त्रिमल चंद
 - उद्योत चंद
- नीचे लिखे प्रश्नों के उत्तर दीजिए:
 - वाजबहादुर चंद की विजयें व राज्य विस्तार अभियान का वर्णन।
 - दीपचंद की राजनैतिक व्यवस्था का उल्लेख कीजिए।

1.5 चंद शासकों की राजनीतिक, न्यायिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक व्यवस्था

1.5.1 राजनीतिक व्यवस्था

उपरोक्त अध्याय में आपने चंद वंश की स्थापना व प्रथम शासक सोमचंद से लेकर अन्तिम शासक महेन्द्र चंद तक के शासन काल का वर्णन पढ़ा, अब आप यहाँ पढ़ेंगे चंदों की राजनीतिक व्यवस्था के बारे में। तब राजा ही सर्वोपरि था व राज्य की सम्पूर्ण सम्पदा का स्वामी भी राजा ही होता था। राज्य संचालन हेतु अपने मंत्रीमण्डल में राजा द्वारा विभिन्न पद निर्धारित किये जाते थे जैसे बख्शी, सेना, अर्थव्यवस्था, वजीर प्रशासनिक व्यवस्था, लेखिया राज्य स्तर पर

और सहायक लेखिया, परगनो में कार्य देखत थे। कलमदान—राजाज्ञा प्रसारित करना, फौजदार अर्थात् किलेदार जो सैन्य व्यवस्था देखता था, पुरोहित एवं धर्माधिकारी हेतु ब्राह्मण नियुक्त होते थे जिन्हें उच्च श्रेणी का ब्राह्मण माना जाता था, जो तान्त्रिक, ज्योतिष व धार्मिक कर्मकाण्डों की जिम्मेदारी निभाते थे। राजस्व वसूली हेतु सयाणा, बूढ़ा व थोकदार नियुक्त थे इसके अतिरिक्त ये सैन्य सहयोग भी करते थे। कर्मचारियों के वेतन हेतु गाँव या गाँवों के अन्दर कुछ भूमि व कभी-कभी नकद धनराशि 'रोजीना' भी देय थी। उक्त सभी पद राजा के अधीन होते थे।

भू व्यवस्था के अन्तर्गत 'थातमान' होते थे अर्थात् जो जिस भूमि पर कृषि कार्य करता था उसे उस भूमि का थातवान कहा जाता था जो राज्य को राजस्व भुगतान करते थे, सभी कृषि भूमि का विवरण 'लेखिया' रखते थे आदि।

न्याय व्यवस्था में देखा जाता है कि ग्रामीण क्षेत्रों के सामान्य विवाद पंचायतों द्वारा ही देखे जाते थे। जिन विवादों में सामाजिक, धार्मिक, दीवानी, फौजदारी व मारपीट आदि सभी आते थे। वादी महिला या पुरुष पंचायत के समक्ष अपना पक्ष रख सकता था और उन्हीं के सामने निर्णय दे दिया जाता था। पंचायत सदस्य सभी स्थानीय परम्पराओं से परिचित होते थे। पंचायत का निर्णय ही सर्वमान्य होता था। अपील की आवश्यकता नहीं होती थी अपवाद स्वरूप ही कोई मामलें राजदरबार पहुँचते थे। राज्य विधि संहिता न होने के कारण निर्णय स्व विवेक व परम्परा आधारित होते थे सामान्य अपराध में अर्थदंड व गंभीर में सम्पत्ति या जागीर छीनने का विधान था, हत्या के अपराध में राजपूत व ब्राह्मण दोनों के लिए अलग-अलग आर्थिक दंड था। ब्राह्मण को राज्य निकाला जाता था, राजद्रोह व गोहत्या में प्राणदण्ड था, चोरी करने पर चोर के हाथ व नाक काटने के उदाहरण मिलते हैं। पत्नी व सन्तान नीजी सम्पत्ति थी। कारागार में बन्दी अपनी जगह पर अपने ही किसी परिजन को रखकर घर जा सकता था। इतनी सरल न्यायव्यवस्था के बावजूद राजा व उत्तराधिकारियों के द्वारा अमानवीय, निरंकुशता आदि के अनेकों उदाहरण मिलते हैं जिन्हें आप पूर्व में पढ़ चुके हैं।

1.5.2 सामाजिक व्यवस्था

इस व्यवस्था के अन्तर्गत यह माना जाता है कि लगभग 80 ब्राह्मण जातियाँ व 100 राजपूत जातियाँ विभिन्न समय काल व क्षेत्र से कुमाऊँ में आकर बसी थी। इसी तरह गढ़वाल से भी कुछ राजपूत व ब्राह्मण जातियाँ यहाँ आकर बसी थी। हिन्दुओं को मुख्यतः तीन वर्गों में देख सकते हैं— हरिजन, भोटिया व राजि (वन रावत) आदि जन जातियाँ व ब्राह्मण, क्षत्रीय, खशिया इन्हीं की विभिन्न पर जातियाँ थी उसी प्रकार उनके व्यवसाय भी भिन्न-भिन्न थे। तराई-भाबर में थारू व बोक्सा जनजातियों का अलग संसार था।

लगभग 12वीं व 13 वीं शताब्दी में बौद्ध विशेषक महायान शाखा के लोग भी यहाँ आकर बसने प्रारम्भ हो गये थे इसी तरह लगभग 8वीं शदी से जैन भी बसने शुरू हो गये थे। चंद शासन के आरम्भ से ही यहाँ मुसलमानों का आगमन भी हो चुका था। वाजबहादुर चंद ने तो अपने दरबार में कई मुस्लिमों को नियुक्त किया था। बीच-बीच में रोहिलों के साथ चंदों के मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध भी रहे थे। इसके अतिरिक्त चंद शासनकाल में मैदानी क्षेत्रों से कुछ वैश्य जातियाँ भी कुमाऊँ में बसी थी। वेशभूषा में मुख्यतः टोपी, जूता, सोने के आभूषण साथ ही निम्न श्रेणी के राजपूत, ब्राह्मण व हरिजन, उच्च ब्राह्मण व राजपूतों की बराबरी नहीं कर सकते थे। उच्च पर्वतीय क्षेत्र या भोटान्तिक भागों में ऊनी व तराई में हल्के कपड़े पहने जाते थे कपड़े ऊनी या सूती दोनों होते थे मुख्य कपड़े, लगौट, गौंती, पैजामा, टोपी व चूड़ीदार पैजामा आदि होते थे। आजिविका के मुख्य साधनों में कृषि, पशुपालन व प्रवास में रहकर रोजगार करना था कृषि उत्पादन में मुख्यतः स्थानीय अनाज ही थे जैसे— गेहूँ, चावल, महुवा, कौंणी, झूंगर, जौ, मानिरा के अतिरिक्त वन उत्पाद व मांस भी खाते थे।

सामाजिक मान्यताओं में मुख्य संस्कार—जन्म, व्रतवन्ध, विवाह व मृत्यु संस्कार थे। विवाह अपने ही जाति, धर्म व वर्ग में ही होते थे। सम्पन्न परिवारों में कन्यादान व सामान्य परिवारों में वर पक्ष से कुछ धन लेकर विवाह होता था जिसे 'टके का विवाह' कहा जाता था। यदा कदा

बहुपति या बहुपत्नी प्रथा भी प्रचलन में थी जो आर्थिक स्थिति पर निर्भर था इसके अतिरिक्त विधवा विवाह व नियोग प्रथा के भी छुटपुट उदाहरण मिलते हैं।

मनोरंजन के साधनों में एकल व सामूहिक गीत गाये जाते थे या कृषि कार्य के अवसर पर हुड़किया बौल आदि में विभिन्न गीतों का प्रस्तुतीकरण होता था समय-समय पर स्थानीय पर्वों पर मेलों का आयोजन में जागर, गाथायें, ऋतुरैण, झोड़ा, चांचरी आदि गाये जाते थे जो स्थानीय या धार्मिक विषयक तथा समसामयिक होते थे।

शिक्षा के क्षेत्र में राज्य की ओर से प्रोत्साहन मिलता था, काशी जाने वाले छात्रों को राज्य की ओर से छात्रवृत्ति दी जाती थी, सार्वजनिक विद्यालयों की व्यवस्था नहीं के बराबर थी व्यक्तिगत रूप से घरों में ही शिक्षा की व्यवस्था थी। शिक्षा प्राप्ति पर जातीय बन्धन नहीं था क्योंकि हर जाति, समुदाय के घरों में आज भी हस्तलिखित पोथियाँ मिलती हैं।

परन्तु आप पढ़ेंगे उक्त के अतिरिक्त स्थानीय जन की समस्याएँ भी कम नहीं थी जैसे- राज्य द्वारा मंदिरों को कृषि भूमि दान की जाती थी पर वे जनहित में कोई भी कार्य नहीं करते थे या राज्य द्वारा समुचित यातायात, चिकित्सा, शिक्षा आदि मूलभूत सुविधाओं का अभाव था कठिन भौगोलिक परिस्थितियों के कारण समय-समय पर लोग अनेक रोगों से ग्रस्त रहते थे तब उपचार हेतु औषधीय सुविधा से अधिक झाड़-फूक अर्थात् अन्धविश्वास व्याप्त था। वन्य जीवों का आतंक व कृषि एक तरह से प्रकृति पर निर्भर थी इन विषम परिस्थितियों के मध्य अकाल व भुखमरी के कारण जन काल ग्रस्त हो जाता था या राज्य छोड़कर भागने को मजबूर होते थे। यही नहीं पूर्वी सीमा में डोटी, पश्चिम में गढ़ राजा तथा दक्षिण में कटेहर, मुगल, रोहिला व डाकुओं के छापे पड़ते रहते थे। चंद शासकों द्वारा राज्य को कमीण, संयाणे, थोकदार व पधान आदि को प्रत्येक अधिकार देने के कारण ये स्थानीय क्षत्रप या सामन्त जनता पर तरह-तरह के अत्याचार व शोषण करते रहते थे।

1.5.3 आर्थिक व्यवस्था

ऊपर आपने पढ़ा चंदों की राजनैतिक व सामाजिक व्यवस्था के बारे में अब आप यहाँ उनकी आर्थिक व्यवस्था के बारे में पढ़ेंगे। चंदों की अर्थव्यवस्था मुख्यतः कृषि आधारित थी इसलिये थातवानों से राजस्व के नाम पर विभिन्न कर वसूले जाते थे। जन मान्यता है कि तब 36 रकम 32 कलम की वसूली होती थी जैसे भूमिकर, सेना के वेतन हेतु 'कटक', नदियों पर 'सागा', कुली बेगार, माँगा कर (आकस्मिक), कमीणचारी, संयाणचारी, साहू, रतगली तथा राजपरिवारों या राज कुमारों हेतु अलग कर थे। आर्थिकी का अन्य पक्ष यहाँ की खनिज सम्पदा भी मुख्य थी जैसे- लोहा, तौबा, सीसा, ग्रेफाईट, शिलाजीत, फिटकरी, गन्धक, जिप्सम आदि परन्तु दोहन के अवैज्ञानिक तरीकों के कारण उत्पादन अति कम होता था, खनिज सम्पदा की तरह यहाँ उपलब्ध वानस्पतिक सम्पदा भी थी तराई भाबर से उच्च हिमालयी क्षेत्रों तक तरह-तरह की लकड़ी, घास, औषधीय जड़ी बूटियाँ, ईंधन, कोयला, बांस, रिंगाल आदि इस सम्पदा का भरपूर दोहन 1815 के पश्चात् अंग्रेजों द्वारा किया गया था। प्राकृतिक जल संसाधन व उस पर आधारित उद्योग मछली, बिजली आदि भोटान्तिकों के भेड़, ऊन व उससे बने वस्त्र, कालीन आदि, काष्ठ कला, ललित कला निर्माण व कर, राज्य का व्यापार एक तरह से मैदानी लोगों के हाथ था वे लोग यहाँ व्यापार हेतु वर्षा ऋतु से पूर्व आ जाते थे और समाप्ति पूर्व चले जाते थे। मैदानी उत्पाद यहाँ बेचकर यहाँ की स्थानीय उत्पादों को मैदानी क्षेत्रों में ले जाते थे। तौबे के 'टका' यहाँ की मुद्रा थी इसके अतिरिक्त मुगल बादशाहों के सिक्के भी यहाँ प्रचलन में थे।

अतः चंदों की अर्थव्यवस्था के उक्त पक्षों के साथ मुख्यतः उनकी अर्थव्यवस्था खान कर, वन कर, अयात-निर्यात कर, नजराना, औताली अर्थात् 'औत' पुत्र हीन मृत्यु होने पर राजा द्वारा उसकी चल अचल सम्पत्ति राज्य की घोषित कर दी जाती थी फिर राजा द्वारा उस सम्पत्ति को नजराना लेकर दूसरे को दे दिया जाता था। आर्थिक दंड भी तब आय का श्रोत था आय के इन साधनों के साथ-साथ घींकर, टांडकर (करचा), मझारी कर (हरिजनों पर), त्योहार कर, तौबा-टकसाल कर, वन उत्पाद कर, कांड बांस कर (लकड़ी) आदि भी चंदों की आय के श्रोत थे।

1.5.4 धार्मिक एवं सांस्कृतिक व्यवस्था

अब आप यहाँ चंदो की धार्मिक एवं सांस्कृतिक व्यवस्था के बारे में पढ़ेंगे। इस व्यवस्था के सम्बन्ध में यहाँ के मंदिर एवं देव प्रतिमाओं के अध्ययन से भी पता चलता है यहाँ प्राचीन प्रतिमायें लकुलीश सम्प्रदाय के शिव लिंग हैं जो लगभग दूसरी-तीसरी ई० से 12वीं ई० तक के पाये जाते हैं। उत्तराखण्ड में सैकड़ों ऐसे शिवलिंग हैं बूँटधारी सूर्य प्रतिमायें भी समूचे उत्तराखण्ड में अलग-अलग नामों से पायी जाती हैं जैसे— बड़ादित्य, गुणादित्य, सूर्यनारायण आदि। इसी तरह 7वीं सदी से लगभग गौरा, महिषा मर्दिनी, गणेश, कार्तिकेय, दुर्गा आदि। विष्णु, नृसिंह प्रतिमायें जिनमें कुषाण व गुप्त शैली का प्रभाव मिलता है शिव पार्वती की प्रतिमायें भी सर्वाधिक पाई जाती हैं।

कुमाऊँ में लगभग कत्यूरी शासन काल से ऐपण (अल्पना) की परम्परा भी अति लोकप्रिय रही है। जिन्हें मुख्यतः स्थानीय महिलाओं द्वारा चावल के विश्वार (आटा) से निर्मित किया जाता है जिनमें विभिन्न पट्ट, भित्तिचित्र, त्यौहार, धार्मिक अनुष्ठान व विवाह आदि के अवसरों पर बनाया जाता है। पृष्ठभूमि लाल मिट्टी या गेरूवे से तैयार की जाती है जिसके विषय दुर्गा रूप, स्वास्तिक, गणेश ऋद्धि-सिद्धि, कल्प वृक्ष, सूर्य, चन्द्रमा, विवाह पट्टा, जनमाष्टमी पट्टा आदि होते हैं कुल मिलाकर जन्म दिन, नामकरण, जनेऊ, विवाह आदि अवसरों पर अलग-अलग अल्पनाये बनाई जाती हैं इसी तरह काष्ठकला के विषय फूल, पत्ती, फल, नवग्रह, देवी-देवताओं का चित्रण कलाकारों द्वारा घर के चौखट व दरवाजों पर किया जाता था जिनका सर्वोत्तम उदाहरण कटारमल सूर्यमंदिर के दरवाजे पर देखने को मिलता है इसी तरह चित्रकला की परम्परा भी यहाँ मौजूद थी।

मानसखण्ड में कुमाऊँ के विभिन्न तीर्थ, कुण्ड, सरोवर व नदियों का माहात्म्य है जैसे— शैव, शाक्त, वैष्णव अन्य में सूर्य, गणेश आदि। इसीलिये यहाँ विभिन्न स्थानों पर मंदिर पुंज श्रृंखला पाई जाती है जैसे जागेश्वर, बागेश्वर, वैद्यनाथ, द्वाराहाट, चम्पावत, अल्मोड़ा कटारमल आदि इन सार्वभौमिक देवी देवताओं के अतिरिक्त स्थानीय देवी देवताओं के मंदिर मूर्तियाँ भी अनेकों स्थानों पर स्थापित हैं जैसे— गोल्ल, हर, सैम, कलसिंण, लाटू, गंगनाथ, नन्दा देवी आदि।

उक्त के साथ आप पढ़ेंगे हिन्दुओं के अतिरिक्त लगभग 12वीं 13वीं सदी में महायान सम्प्रदाय के बौद्ध भी यहाँ बस चुके थे विशेषकर भोटान्तिक क्षेत्रों में। लगभग 8वीं सदी से यहाँ जैनों का आगमन भी हो चुका था तथा चंद शासनकाल में छुटपुट मुसलमान भी आने शुरू हो चुके थे जिन्हें चंदों द्वारा अपनी सेना में भर्ती भी किया जाता था। उक्त धर्म के लोगों की धार्मिक मान्यताओं का वर्णन भी चंद शासन काल में मिलता है परन्तु ईसाई अभी तक नहीं पहुँचे थे यदाकदा जो आये भी वह एक यायावर/यात्री के रूप में अध्ययन हेतु आये और वापस चले गये।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. निम्नलिखित पर सक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:
 - क. चंद कालीन न्याय व्यवस्था
 - ख. चंद कालीन सामाजिक व्यवस्था
2. नीचे लिखे प्रश्नों के उत्तर दीजिए:
 - क. चंद कालीन आर्थिक व्यवस्था का वर्णन
 - ख. चंद कालीन राजनैतिक व्यवस्था का वर्णन

1.6 सारांश

आपने पढ़ा कि कत्यूरी अवसान के बाद किस प्रकार राजनैतिक रूप से उत्तराखण्ड बिखर चुका था तब पंवार शासकों ने गढ़वाल को संगठित कर एक सूत्र में बांधा था उसी प्रकार की राजनीतिक अराजकता व बिखराव कुमाऊँ में भी व्याप्त था। उस अस्थिरता के माहौल में लगभग 700 ई० में तत्कालीन चम्पावत में राजा सोमचंद ने एक माण्डलिक राजा के रूप में चंद

राज्य की स्थापना की थी। तमाम राजनीतिक उठापटक के मध्य सोमचंद व उसके उत्तराधिकारियों ने चंद राज्य का विस्तार करने के साथ-साथ कुमाऊँ को एकीकृत किया था। आन्तरिक प्रतिद्वन्द्विता की समाप्ति के साथ डोटी या माल के संकटों से भी कुमाऊँ की रक्षा की, अर्थात् छोटी राजनैतिक इकाईयों को समाप्त कर एक संगठित राज्य स्थापित किया। राज्य विस्तार के बाद उन्हें अपनी प्रारम्भिक राजधानी चम्पावत से शासन प्रबन्ध चलाने में असुविधा महसूस हुई तब केन्द्र में राजधानी बनाने की जरूरत समझी गई तब वालो कल्याण चंद द्वारा लगभग 1563 ई० में चम्पावत से अल्मोड़ा राजधानी परिवर्तित की गई, साथ ही आन्तरिक सुधार व बाह्य सम्बन्ध भी स्थापित किये गये।

उक्त अवधि में सोमचंद व उसके उत्तराधिकारियों ने राज्य विस्तार, राजधानी परिवर्तन तथा एकीकृत कुमाऊँ की स्थापना कर एक व्यवस्थित राजनैतिक, सामाजिक, न्यायिक, आर्थिक कर नीति, धार्मिक एवं सांस्कृतिक व्यवस्था स्थापित की। इस बीच उन्होंने जनहित के कार्य भी किये और जनशोषण व अत्याचार भी कम नहीं किये। जिसके अनेकों उदाहरण आप पूर्व में पढ़ चुके हैं। इनके शासन काल में कभी-कभी यह भी देखने को मिलता है कि राजा से अधिक उनके राज्याधिकारी व मंत्री अधिक प्रभावशाली रहते थे, वे राजा को धोखे में रखकर अपनी स्वार्थ सिद्धि हेतु पड़ोसी राज्यों से निरन्तर युद्ध को उकसाते रहते थे, अपने सगे सम्बन्धियों को महत्वपूर्ण पदों पर बैठाने की होड़ भी थी। माल से रोहिलों को राज्य के अन्दर आने से रोकने में असफल रहे जिससे उन्होंने कुमाऊँ की अमूल्य सांस्कृतिक निधि को खूब नुकसान पहुँचाया व लूटपाट, हत्यायें की, तब भी शासन तंत्र ने स्थानीय सैनिकों से अधिक नागरिकों या रोहिलों पर विश्वास किया था, बाद के वर्षों में शिवदेव जोशी व हर्षदेव जोशी आदि के कठपुतली मात्र रह गये थे। इन लोगों ने अपने आपसी मतभेदों के तहत राज्य हित से अधिक अपने स्वार्थ सिद्धि हेतु कार्य किये थे। समय-समय पर राजाओं की हत्या तथा सीरा कोट को एक तरह से हत्यागृह बना दिया था।

उक्त के अतिरिक्त व राजनैतिक उथल पुथल के बावजूद चंद शासकों ने तराई भाबर से लेकर सम्पूर्ण पर्वतीय क्षेत्र को 1790 ई० तक कुमाऊँ को सुसंगठित बनाये रखा। लगभग 11 सौ वर्षों तक राज्य करने तथा 61 राजाओं द्वारा शासन करने के पश्चात् अंतिम चंद शासक महेन्द्र चंद को 1790 ई० में डोटी (नेपाल) के गोरखा शासक रण बहादुर शाह के सैनिकों ने पराजित कर कुमाऊँ पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार आपसी द्वन्द के कारण कुमाऊँ में स्वशासन के स्थान पर गोरखा शासन स्थापित हो गया, फिर जिसकी समाप्ति 1815 ई० में अंग्रेजों के आगमन के साथ हुई थी।

1.7 स्व मूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

इकाई 1.3 के स्व मूल्यांकित प्रश्न

1. (क) देखिए 1.3.1 सोमचंद व उसके उत्तराधिकारी
(ख) देखिए उपरोक्त
2. (क) देखिए 1.3.2 ज्ञान चंद
(ख) देखिए 1.3.6 रुद्रचंद

इकाई 1.7 के स्व मूल्यांकित प्रश्न

1. (क) देखिए 1.4.1 बिमल चंद
(ख) देखिए 1.4.3 उद्योत चंद
2. (क) देखिए 1.4.2 वाजबहादुर चंद
(ख) देखिए 1.4.5 दीप चंद

इकाई 6.1 के स्व मूल्यांकित प्रश्न

1. (क) देखिए 6.1.1 राजनैतिक व्यवस्था
(ख) देखिए 6.1.2 सामाजिक व्यवस्था
2. (क) देखिए 6.1.3 आर्थिक व्यवस्था
(ख) देखिए 6.1.1 राजनैतिक व्यवस्था

1.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- 1 अठकिन्सन, ई.टी.: हिमालयन गजेटियर, भाग-2 का भाग, 2 लो प्राईस पब्लिकेशन, दिल्ली 2002 ।
- 2 पाण्डे, बदरी दत्त: कुमाऊँ का इतिहास, अल्मोड़ा बुक डिपो संस्करण, 1990-1997 ।
- 3 डबराल, शिवप्रसाद: उत्तराखण्ड का इतिहास, भाग- 1-4, वीरगाथा प्रकाशन, दोगड़डा, 1967-71 ।
- 4 उपरोक्त: उत्तराखण्ड का इतिहास, भाग- 12, 13
- 5 कठोच, यशवन्त सिंह: उत्तराखण्ड का नवीन इतिहास, बिनसर पब्लिशिंग कम्पनी- देहरादून, 2010 ।
- 6 जोशी, एस.पी.: उत्तरांचल, कुमाऊँ-गढ़वाल, अल्मोड़ा बुक डिपो, अल्मोड़ा, 1990 ।
- 7 नेगी, एस.एस.: मध्य हिमालय का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1988 ।
- 8 हान्डा, ओ.सी.: हिस्ट्री आफ उत्तरांचल, इण्डस पब्लिशिंग कम्पनी, दिल्ली, 2002 ।
- 9 भक्तदर्शन: गढ़वाल की दिवंगत विभूतियाँ, अमर भारत प्रेस, दिल्ली, 1952 ।
- 10 परमार, पातीराम:, गढ़वाल एनशिएन्ट एण्ड मौडर्न आर्मी प्रेस, शिमला, 1916 ।

1.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1. चंद कालीन कुमाऊँ पर एक लेख लिखिए ।
2. सोमचंद व उसके उत्तराधिकारियों का वर्णन कीजिए ।
3. भारतीचंद के शासन काल का वर्णन कीजिए ।
4. चंद कालीन राजनैतिक एवं न्यायिक व्यवस्था पर लेख लिखिए ।
5. चंदों की अर्थव्यवस्था का समीक्षात्मक वर्णन कीजिए ।

गोरखाकालीन उत्तराखण्ड

- 2.1 प्रस्तावना
- 2.2 उद्देश्य
- 2.3 गोरखा राज्य विस्तार से पूर्व उत्तराखण्ड का राजनीतिक परिदृश्य
 - 2.3.1 कुमाऊँ पर गोरखा अधिकार
 - 2.3.2 गोरखा वन्दोवस्त, नरशाही मंगल व कमीणों का हत्याकाण्ड
 - 2.3.3 ब्रह्मणों पर नया टैक्स
- 2.4 गढ़वाल में गोरखा राज्य विस्तार
 - 2.4.1 गोरखों द्वारा गढ़वाल पर आक्रमण एवं संधि
 - 2.4.2 गृहयुद्ध अर्थसंकट एवं भूकम्प
 - 2.4.3 खुडबुड़ा युद्ध व गढ़वाल पर अधिकार
 - 2.4.4 गढ़वाल व्यवस्था
- 2.5 गोरखा शासन प्रबन्ध
 - 2.5.1 शासन – व्यवस्था
 - 2.5.2 न्याय व्यवस्था
 - 2.5.3 कर प्रणाली
- 2.6. सारांश
- 2.7 स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्नों के उत्तर
- 2.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 2.9 निबन्धात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

समूचे देश की भाँति उत्तराखण्ड में भी समय-समय पर विभिन्न राजवंशों का शासन काल रहा, जैसे – कुणिन्द, पौरव वर्मन, कत्यूरी, चंद, पंवार आदि, चंद व पंवार शासनकाल में उत्तराखण्ड पर विदेशी शासक गोरखाओं ने आक्रमण कर अपना अधिकार कर लिया। मूलतः गोरखा नेपाली मूल के थे जिन्हें गोरखा के नाम से भी जाना जाता था, इनकी सत्ता सैनिक शासन पर आधारित थी।

सर्वप्रथम 1790 ई0 में गोरखों ने जब कुमाऊँ पर आक्रमण कर अपना आधिपत्य स्थापित किया था तब कुमाऊँ में चंद शासकों में आपसी प्रतिबन्धिता के कारण फूट पड़ी हुई थी उसी का लाभ गोरखों को मिला इसी तरह की फूट गढ़ शासक पंवारों में भी थी। वहाँ भी 1790 ई0 के शीघ्र बाद गोरखों ने आक्रमण किया परन्तु चीन द्वारा नेपाल पर आक्रमण करने के कारण गोरखों ने गढ़वाल अभियान कुछ समय के लिये स्थगित कर सन्धि कर ली। परन्तु चीन से समझौता होने के बाद गोरखों ने गढ़वाल पर पुनः 1804 में आक्रमण कर अपने अधीन कर लिया।

अतः यही आप इस इकाई में पढ़ेंगे कि कैसे गोरखों ने स्थानीय राजवंशों की आपसी फूट का लाभ उठाकर तथा अपना सैनिक शासन स्थापित कर उत्तराखण्ड में नई व्यवस्था स्थापित की थी। तथा जनता पर कितने आमानवीय अत्याचार किये अन्ततः 1815 ई0 में अंग्रेजों से पराजित होने के पश्चात् वापस नेपाल को जाना पड़ा था अंग्रेजों की इस विजय में उत्तराखण्ड का सहयोग भी सम्मिलित था।

2.2 उद्देश्य

1. गोरखों का उत्तराखण्ड में राज्य विस्तार का वर्णन।
2. कुमाऊँ व गढ़वाल पर गोरखों के आधिपत्य का उल्लेख व उसका स्वरूप।
3. गोरखों की प्रशासनिक, आर्थिक न्याय व कर नीति आदि।

2.3 गोरखा राज्य विस्तार से पूर्व उत्तराखण्ड का राजनीतिक परिदृश्य

17 वीं 18 वीं शताब्दी में नेपाल दर्जनों छोटे-छोटे राज्यों में बंटा था, उन राज्यों के सभी राजा अपने-अपने को स्वतन्त्र समझते थे। इस बीच पृथ्वीनारायण व बहादुर शाह ने इन दर्जनों राज्यों को 1779 ई0 में पराजित कर नेपाल राज्य की स्थापना की थी। गोरखा सेना की वर्वरता, अत्याचार, भय, आतंक व वीरता की चर्चा नेपाल सहित उत्तराखण्ड में भी थी। इनकी साम, दाम, दंड भेद पर आधारित षड्यन्त्रकारी नीतियों से सभी छोटे बड़े आन्तरिक व वाह्य राज्य व जनता भयभीत थे।

गोरखाओं द्वारा नेपाल को एकीकृत व संगठित करने के उक्त दौर में उत्तराखण्ड में भी अराजकता व अव्यवस्थाओं का दौर जारी था। 1786 ई0 के पाली गाँव युद्ध में कुमाऊँ नरेश प्रधुम्न चंद (शाह) व हर्ष देव जोशी को पराजित कर कुमाऊँ पर मोहन चंद का अधिकार हो गया परन्तु उसे फिर भी हर्ष देव जोशी से डर बना हुआ था कि व कभी भी षड्यन्त्र कर सकता है। दूसरी ओर श्रीनगर गढ़वाल में भी अव्यवस्था व्याप्त थी क्योंकि पाली गाँव के युद्ध व पराजय के बाद प्रधुम्न चंद के भाई पराक्रम शाह ने गढ़वाल का राजा अपने को घोषित कर दिया जिस कारण वहाँ गृहयुद्ध की स्थिति बनी हुई थी इससे कुमाऊँ शासक निश्चिन्त हो गया कि अब

गढ़वाल शासक की ओर से कुमाऊँ पर आक्रमण नहीं होगा। तत्पश्चात् मोहन चंद्र ने धन वसूली के उद्देश्य से प्रजा पर 'माँगा' कर लगाकर तरह-तरह का उत्पीड़न आरम्भ किया था जिससे प्रजा में असन्तोष फैल गया। कुमाऊँ की राजनीति में दखल रखने वाले महर और फड़त्याल धड़ों को भी नहीं छोड़ा गया और स्वयं निश्चिंत हो गया।

उक्त अवधि में हर्षदेव जोशी ने स्वयं सेना संगठित कर (जिनमें मोहन चंद्र से असंतुष्ट लोग भी थे) कुमाऊँ पर आक्रमण कर दिया जिस युद्ध में मोहन चंद्र को पराजित कर प्राण दण्ड दिया गया तथा भाई लाल सिंह को स्वतन्त्र कर दिया तथा हर्षदेव ने कुमाऊँ का पूर्व राजा उद्योत चंद्र के रिश्तेदार शिव सिंह को शिवचंद्र के नाम से कुमाऊँ का राजा घोषित कर दिया। तब राजकोष खाली था बार-बार राजा बदलने से सामान्य जन में असन्तोष था इसलिये वह किसी के पक्ष में बात करना भी पसंद नहीं कर रही थी।

इसी बीच 1789 ई० में लालसिंह व मोहन चंद्र के बेटे महेन्द्र सिंह ने रामपुर नवाब फैजउल्ला खाँ की मदद से सेना एकत्रित कर कुमाऊँ पर आक्रमण किया और सरलता के साथ राजधानी अल्मोड़ा सहित कुमाऊँ पर महेन्द्र सिंह का अधिकार हो गया तथा गढ़ राजा पराक्रम शाह की मदद से लालसिंह की सेना ने हर्ष देव जोशी व उसकी सेना को उल्कागढ़ में पराजित कर दिया। तत्पश्चात् महेन्द्र सिंह महेन्द्र चंद्र के नाम से कुमाऊँ का राजा व चाचा लालसिंह दीवान बना था इन्होंने जोशीयों पर तरह-तरह के अत्याचार किये ताकि भविष्य में हर्ष देव जोशी पुनः विद्रोह न कर पाय।

2.3.1 कुमाऊँ पर गोरखा अधिकार

अभी तक आपने कुमाऊँ का राजनीतिक परिदृश्य पढ़ा अब कुमाऊँ पर गोरखों ने कैसे अधिकार किया वह यहाँ पढ़ेंगे। जैसा कि उक्त राजनीतिक घटनाक्रम में हर्ष देव शांत नहीं बैठा था। जब उसे नवाब अवध से सहायता नहीं मिली तो उसने 1790 ई० में गोरखा शासक बहादुर शाह को कुमाऊँ पर आक्रमण करने हेतु आमन्त्रित किया था तब तक बहादुर शाह गोरखा राज्य की सीमा काली नदी तक विस्तारित कर चुका था अब वह स्वयं भी कुमाऊँ को गोरखा राज्य में मिलाना चाह रहा था। बहादुर शाह ने काजी जगजीत पाण्डे के मार्फत हर्षदेव जोशी को पत्र लिखा कि यदि वह कुमाऊँ पर आक्रमण के समय गोरखों की मदद करेगा तो उसे कुमाऊँ में राज्याधिकार दिये जायेंगे। हर्षदेव जोशी ने गोरखा शासक को विश्वास दिलाते हुए कुमाऊँ की सभी राजनैतिक कमजोरियों से गोरखों को परिचित करवाकर स्वयं की एक सेना भी संगठित कर ली। इस अवसर पर बहादुर शाह ने पूर्व कुमाऊँ शासक मोहन चंद्र से हुई संधि को भुला दिया।

जनवरी 1790 ई० में बहादुर शाह ने काजी जगजीत पाण्डे, अमरसिंह थापा, सुब्बा जोगनारायण मल्ल आदि के नेतृत्व में गोरखा सेना को कुमाऊँ पर अधिकार करने भेज दिया, खबर अल्मोड़ा पहुँचते ही महेन्द्र चंद्र गंगोली और लाल सिंह काली कुमाऊँ को सेना लेकर गोरखा सैनिकों का सामना करने निकले, गंगोली में महेन्द्र चंद्र ने गोरखा सेना को पराजित कर दिया था उसके बाद जब वह चाचा लालसिंह की मदद को काली कुमाऊँ की ओर निकला उससे पहले ही वह गोरखों से पराजित होकर तराई को निकल चुका था। इस सूचना से घबराकर महेन्द्र चंद्र भी तराई कोटा को निकल गया इस प्रकार फरवरी 1790 ई० में हर्षदेव जोशी की मदद से गोरखों ने कुमाऊँ पर बड़ी सरलता से अपनी सत्ता स्थापित कर ली थी, और चंद्र राजवंश सदैव के लिये सम्प्राप्त हो गया पिछले दशकों से निस्तर राज्याधिकारियों के स्वार्थपरक

षडयन्त्रों से पिड़ित स्थानीय जनता ने स्वदेशी सत्ता की सम्माप्ति पर दुखी होने के बावजूद विदेशी सत्ता का सक्रिय विरोध भी नहीं किया था।

इस प्रकार महत्वाकांशी व स्वार्थी हर्षदेव जोशी की सहायता मिलने के कारण गोरखों को अपनी राज्य सत्ता स्थापित करने में कोई कठिनाई नहीं हुई इसके एवज में गोरखों ने सभी जोशी विरादरी को अपनी राज्यव्यवस्था में विभिन्न पदों पर नियुक्त किया था, इनके अतिरिक्त अन्य ब्राह्मण समुदाय व जाति के लोगों को भी अलग-अलग जिम्मेदारियाँ सौंपी गयी। मोहनचंद का राज्य सम्माप्त कर यह अवसर हर्षदेव के लिये सुखद था। यही नहीं गोरखा उससे विभिन्न विषयों पर सलाह लेते रहते थे, साथ में हर्षदेव ने गोरखों को गढ़वाल राज्य पर भी अधिकार करने हेतु प्रोत्साहित किया था। तभी उन्होंने गढ़वाल पर भी आक्रमण किया था।

इस बीच 1791 ई0 में चीन ने नेपाल पर आक्रमण कर दिया। जिस पर नेपाल से काजी जगजीत पाण्डे के नाम पत्र आया कि गढ़वाल गढ़वाली राजा को कुमाऊँ हर्षदेव जोशी को सौंप कर वापस नेपाल आये उस समय गढ़शासक पराक्रम शाह ने सेनापति अमर सिंह थापा को बताया कि वे कुमाऊँ हर्षदेव जोशी को न दें क्योंकि वह बहुत बड़ा धोखेबाज व्यक्ति है इस पर थापा ने जोशी को कैद कर लिया बाद में वह किसी प्रकार गोरखों के कैद से मुक्त हो पाया था।

2.3.2 गोरखा वन्दोवस्त, नरशाही मंगल व कमीणों का हत्याकाण्ड

नेपाल सरकार द्वारा 1791-1792 ई0 में कुमाऊँ की शासन व्यवस्था सुब्बा जोगाभल को सौंपी गई। सुब्बा द्वारा राज्य में जो भूव्यवस्था की गई उस में राज्य के समस्त गाँवों हेतु राजस्व निर्धारण किया गया। इस भूव्यवस्था व राजस्व वसूली में जोशीयों ने गोरखों का विश्वास पात्र बनने हेतु उनकी खूब मदद की जो निम्न प्रकार था जैसे – प्रत्येक वयस्क, परिवार व ग्राम से लिया जाने वाला कर, इन करों की दर जोगा मल्ल ने निर्धारित की थी, वयस्क से 'माँगा' कर एक रुपया, परिवार से घरही पिछही कर दो रुपया, गाँव कर बीस नाली पर एक रुपया, सुबंगी दस्तूर एक रुपया मेजबानी दस्तूर ढाई आना आदि। प्रत्येक ग्राम पर निर्धारित कर राशि को गाँव का 'कमीण' परिवारों में बाँटता था तथा उसे वसूल कर उसे राज्याधिकारी के पास जमा करता था। इन करों के अतिरिक्त 'सूबेदार जी की तिमासी', दोनियाँ, धिउकर, रनकर, मझारो, खानी खपीनी आदि कर भी लिये जाते थे।

नरशाही मंगल/कमीणों का हत्याकाण्ड :

1793 ई0 में काजी नरशाह और नायक रामदत्त शाही शासक नियुक्त हुए और सेनापति कालू पाण्डे नियुक्त हुआ। कहा जाता है कि तब नगरकोट तथा पश्चिम के पहाड़ों से गोरखा कुछ सैनिक पाली, वारामडल व सोर में वस गये थे तथा वहीं विवाह भी कर लिया इस पर काजी नरशाह को उनकी राजमुक्ति पर सन्देह हुआ उसने नगरकोटिया सिपाहियों की जाँच के बहाने एक रात्रि एक जगह पर इकट्ठा करवाया तथा सभी की हत्या करवा दी शेष जहाँ मिले वहाँ मार दिये गये उस दिन मंगल का दिन था इसलिये इस घटना को 'नरशाही का मंगल' के नाम से जाना गया।

दूसरी तरफ कर वसूली के सन्दर्भ में कर वसूल करने वाले अधिकारी कमीण, थोकदार, प्रधान आदि को असीम अधिकार प्राप्त थे। एक बार गोरखों द्वारा नया कर लगाया गया जिसके भुगतान में ग्रामीणों व कमीणों ने असमर्थता व्यक्त की त्रिस पर गोरखा नाराज हो गये। डबराल

के अनुसार 1500 गाँवों के कमीनों को नये कर वसूलने सम्बन्धी नियम समझने के बहाने एक जगह एकत्र कर मरवा डाला ताकि भविष्य में कोई कर भुगतान में आनाकानी करने का साहस न कर सके।

2.3.3 ब्राह्मणों पर नया टैक्स

गोरखा शासन से पूर्व ब्राह्मणों से कर नहीं लिया जाता था परन्तु 1797 ई० में जब बमशाह व रुद्रवीर शाह को कुमाऊँ की सत्ता सौंपी गई तो उन्होंने ब्राह्मण काश्तकारों पर 'कुशही' नामक नया भूमि कर लगाया था, यह कर प्रति ज्यूला (6 से 13 एकड़) पाँच रुपये के हिसाब से दिया जाता था कहा जाता है कि यह कर राजनीति में भाग लेने वाले या गोरखों के विरुद्ध गतिविधियों में हिस्सेदारी करने वाले ब्राह्मणों को आतंकित करने के उद्देश्य से लगाया गया था, जिसे मय बकाये के वसूला जाता था जो ब्राह्मण शान्त जीवन बिताते थे उनसे यह कर नहीं लिया जाता था।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए –
 - (क) भूवन्दोवस्त
 - (ख) कुशही कर
2. नीचे लिखे प्रश्नों के उत्तर दीजिए –
 - (क) कुमाऊँ में गोरखा राज्य विस्तार
 - (ख) कुमाऊँ पर गोरखा आक्रमण

2.4 गढ़वाल में गोरखा राज्य विस्तार

कुमाऊँ पर गोरखा आधिपत्य हो जाने के पश्चात् गढ़वाल राज्य का अस्तित्व भी संकट में था, हर्षदेव जोशी गोरखा सैन्य अधिकारियों को गढ़वाल पर आधिकार हेतु प्रोत्साहित ही नहीं बल्कि हर तरह की मदद भी कर रहा था परन्तु हर्षदेव की तरह गढ़वाल में कोई ऐसा नहीं था जो अपने राजा से असन्तुष्ट था न ही अवसरवादी था। इसलिये कुमाऊँ की अपेक्षा गढ़वाल में गोरखा सैनिकों को विरोध की संभावना अधिक थी इसलिये गोरखों को गढ़ राज्य पर आक्रमण हेतु विशेष तैयारियां करनी पड़ी इन सभी परिस्थितियों को देखते हुए गढ़ शासक प्रधुम्न शाह ने गढ़वाल की सीमाओं में स्थित गढ़ों (किले) में सेना को सतर्क कर दिया था।

2.4.1 गोरखों द्वारा गढ़वाल पर आक्रमण एवं सन्धि

गढ़वाल शासक प्रधुम्न शाह व उसकी सेना की तैयारी व प्रतिरोध को देखते हुए गोरखा सैन्य अधिकारियों ने अपनी सेना को विभिन्न टुकड़ियों में बाँटकर अनेक रास्तों से गढ़वाल पर आक्रमण किया। गोरखाली सरदार गंगाराम ने अल्मोड़ा द्वाराहाट के रास्ते चाँदपुर गढ़ों की ओर से आक्रमण किया जिसका सामना लोहाबगढ़ी की गढ़ सेना ने आगे बढ़कर वेणीताल में किया था जहाँ गढ़वाली सेना ने गोरखा सेना को पराजित किया तथा सरदार गंगाराम मारा गया और गोरखा सैनिक कुमाऊँ की ओर भाग आई थी।

गोरखा सैनिकों की एक अन्य टुकड़ी ने कोटद्वार के रास्ते लंगूरगढ़ व कौड़िया पट्टी पर आक्रमण किया जहाँ गढ़सेना ने गोरखा सेना को पराजित किया था माना जाता है कि यह युद्ध लगभग एक साल तक चला था इस बीच गोरखा सैनिकों ने लंगूरगढ़ के पास ही डेरा डाल लिया और पड़ोस के गाँवों में लूटमार मचायी शुरू कर दी। सलांण पट्टी में गोरखों ने इतना आतंक मचाया कि लोग घर छोड़ जानवरों को लेकर जंगलों को भाग निकले थे जो लोग गोरखों के हाथ पड़े उन्हें गोरखों ने अपना दास दासी बना लिया था या रोहिलों के हाथों बेच दिया था इस तरह पूरी सलांण पट्टी वीरान हो गई थी।

परन्तु गोरखा सैनिक लंगूरगढ़ से आगे नहीं बढ़ पा रहे थे इसी मध्य 1792 में चीन ने नेपाल पर आक्रमण कर दिया जिस कारण गोरखा सैनिकों को अतिरिक्त सहायता मिलने के स्थान पर काठमांडू से उन्हें सन्देश आया कि वह शीघ्र नेपाल वापस आ जाय क्यों की गोरखा शासक बहादुर शाह दो जगह गढ़वाल व चीन से युद्ध करने की स्थिति में नहीं था इस बीच किसी तरह लंगूरगढ़ से असफल होकर लौटना गोरखों के आत्म सम्मान के विरुद्ध था। किसी तरह कप्तान कालू पाण्डे और अमर सिंह थापा ने साहस जुटाया और कुछ सैनिकों को लेकर श्रीनगर पहुँच गये यह सूचना पाकर गढ़शासक प्रधुम्न शाह परिवार सहित श्रीनगर छोड़कर राणीहाट चला गया और धरणीरधर खण्डूरी सन्धि हेतु गोरखा शिविर में भेजा गया जहाँ गढ़शासक द्वारा नेपाल सरकार को तीन सहस्त्र रूपया प्रतिवर्ष कर दिये जाने की शर्त पर सन्धि हुई यद्यपि इस धनराशि में मतभेद भी है साथ ही गोरखों द्वारा बन्दी गढ़वाली जनता को गोरखा दासता से मुक्ति पर भी सहमति हुई थी परन्तु रोहिलों के हाथ बेचे गये लोगों को छुड़ाना असम्भव था। अतः उक्त सन्धि के पश्चात् गोरखा सैन्य अधिकारी वापस नेपाल चले गये थे।

2.4.2 गृहयुद्ध, अर्थसंकट एवं भूकम्प

गृहयुद्ध

1803 ई० में दूसरे गोरखा आक्रमण से पूर्व गढ़वाल में अति अव्यवस्था थी। सम्पूर्ण राज्य में गृहयुद्ध की स्थिति थी। जिसका वर्णन गौलाराम ने अपना 'गणिका' नाटक में किया हुआ है प्रधुम्न शाह के भाई पराक्रम शाह द्वारा प्रधुम्न को गद्दी से हटाने हेतु राज्य में गृह युद्ध की स्थिति पैदा कर रखी थी सभी सैनिक व राज्यकर्मचारियों से राजा के आदेश नहीं मानने को कहा गया था हर तरह के अत्याचार चरम पर थे तथा राजप्रासाद पर अधिकार कर प्रधुम्न को कैद कर लिया गया। तब फौजदार रमापति (रामा) खण्डूरी की मदद से प्रधुम्न के बेटे सुदर्श शाह ने सेना एकत्रित कर अपने चाचा पराक्रम को पराजित किया था तथा पिता प्रधुम्न शाह को मुक्त करवाया, जिस कारण बाद में रामा की पराक्रम ने हत्या करवा दी थी।

अर्थसंकट

चीन द्वारा नेपाल पर आक्रमण के कारण विवश होकर गोरखों ने गढ़वाल से सन्धि तो की परन्तु ज्यों ही चीन नेपाल के मध्य सन्धि हुई गोरखों ने गढ़वाल संधि की अवहेलना करनी शुरू कर दी थी। तीन सहस्त्र रूपये सालाना कर को बढ़कर नौ सहस्त्र कर दिया गया, नेपाली वकील, कर्मचारियों आदि का खर्च भी गढ़शासक को ही उठाना होता था यही नहीं उत्तराखण्ड की तीर्थयात्रा पर आने वाले नेपाली राज्याधिकारी भी भेंट प्राप्त करने हेतु श्रीनगर पहुँच जाते थे जिस पर नौ सहस्त्र की तिगुनी राशि खर्च करनी पड़ती थी जिस कारण गढ़राज्य की आर्थिक स्थिति दयनीय हो गई थी दूसरी ओर राज्य में अन्न अकाल पड़ गया। भुखमरी व रोग आदि से

कितनों की मृत्यु हो गई। जनता भीख माँगने, मजदूरी या दास दासी बनने को मजबूर हो गये जिस कारण कर भुगतान में विलम्ब के अतिरिक्त मूलभूत कार्यों हेतु भी धन जुटाना मुश्किल हो गया। बार-बार राजा को बदरीनाथ के कोष या मारछा जाति के सेठों से उधार लेना पड़ता था।

भूकम्प

उक्त गृह एवं अर्थ संकट के पश्चात् 8 सितम्बर 1803 की रात्री उत्तराखण्ड में भूकम्प आया जिसका प्रभाव कुमाऊँ की अपेक्षा गढ़वाल में अधिक पड़ा श्रीनगर में भारी क्षति हुई यह माना जाता है कि 80 प्रतिशत मक्कान ध्वस्त हो गये थे अर्थात् मक्कान सहित जन, धन व पशुओं की अति क्षति हुई थी।

इस मध्य गोरखों के आक्रमण की सूचना पर प्रधुम्न शाह परिवार व सैनिकों सहित श्रीनगर से दून चला गया और देहरादून में नालापानी (खलंगा)र में आश्रय लिया था।

2.4.3 खुशबुड़ा युद्ध व गढ़वाल पर अधिकार

ऊपर आपने पढ़ा कि गढ़राज्य मानवीय व प्राकृतिक आपदाओं से ग्रस्त था उन परिस्थितियों का गोरखों ने पूर्णलाभ उठाया, सितम्बर 1803 में अमर सिंह थापा, हस्तिदल चौतरिया आदि सैनिकों सहित श्रीनगर पहुँच गये, उससे पहले ही प्रधुम्न व पराक्रम शाह देहरादून पहुँच चुके थे यह खबर गोरखों को मिलते ही उन्होंने भी दून की ओर प्रस्थान किया, मार्ग में गढ़प्रजा पर तरह-तरह के अत्याचार किये अक्टूबर 1803 ई० में गोरखों ने दून पर भी अधिकार कर लिया, उसी समय कम्पनी सरकार ने सहारनपुर पर अधिकार कर लिया था। दून पर गोरखा अधिकार की खबर पाते ही प्रधुम्न शाह ने कनखल में शरण ली थी।

अर्थात् इस बीच अमर सिंह थापा व अन्य सैन्य अधिकारी श्रीनगर अपनी राज्य व्यवस्था स्थापित नहीं कर पाये थे की सूचना आई दून में प्रधुम्न शाह सेना लेकर पहुँच गया है। प्रधुम्न ने अपने परिवार को कनखल में छोड़कर सहारनपुर से किसी तरह धन एकत्रित कर व लंढौर के गुजर सरदार राम दयाल सिंह की सहायता से सेना एकत्रित कर दून के कुछ भाग पर अधिकार कर लिया तभी श्रीनगर से अमर सिंह थापा, भक्तिवीर थापा व रणजीत कुवर के नेतृत्व में गोरखा सेना दून पहुँच गई जनवरी 1804 ई० को खुड़बड़ा के मैदान में भीषण युद्ध हुआ जिस युद्ध में प्रधुम्न शाह के साथ भाई पराक्रम शाह प्रीतम शाह तथा तीनों पुत्र सुदर्शन शाह व देवी सिंह भी थे, युद्ध स्थल में अचानक रणजीत कुवर की गोली से प्रधुम्नशाह वीरगति को प्राप्त हो गया। फलतः पराक्रमशाह नालागढ़ को व सुदर्शनशाह, देवासिंह कनखल पहुँच गये। इस प्रकार प्रधुम्न शाह की मृत्यु के साथ सम्पूर्ण गढ़वाल पर स्वदेशी सत्ता के स्थान पर गोरखा सत्ता स्थापित हो गई। यह खबर सुनते ही दून सहित पूरे गढ़वाल क्षेत्र में खलबली व आतंक फैल गया लोग घरों को छोड़कर जंगलों की ओर भाग निकले।

उक्त विजय के पश्चात् गोरखों ने सामान्य जन, मौलाराम, सकलानियों, खण्डूरियों आदि गढ़ राज्याधिकारियों को विश्वास में लेकर तथा उन्हें जागीरें देकर अपने पक्ष में कर श्रीनगर में अपनी राज्य सत्ता स्थापित की थी। अर्थात् अब सम्पूर्ण उत्तराखण्ड में गोरखा साम्राज्य स्थापित हो गया। और उत्तराखण्ड की विवश जनता को विदेशी अधीनता स्वीकार करनी पड़ी थी।

2.4.4 गढ़वाल व्यवस्था

गोरखा शासनकाल में (हस्तिदत्त चौतरिया) गढ़वाल पूर्ववत् तीन तहसीलों व 84 पट्टियों में विभाजित रहा उसके अधीनस्थ प्रमुखों में अष्टदत्त थापा, काजी रण बहादुर और परशुराम थापा थे, गढ़वाल में जो व्यक्ति निर्धारित राजस्व राशि या अपराध राशि चुकाने में असमर्थ होता था उन्हें हरिद्वार हर की पौड़ी में भीमगोड़ा के पास दास-दासी के रूप में बेच दिया जाता था जिनकी आयु लगभग तीन वर्ष से तीस वर्ष तक होती थी तब वहाँ पंजाबी ऊँट 75 रुपये सामान्य घोड़ा 250-300 रूपयों में बिकते थे परन्तु अभागे गढ़वाली स्त्री, पुरुष, बच्चे 10 रुपये से 150 रुपये तक में बिकते थे बहुत से गढ़वाली महिला व बच्चों को गोरखा सैनिक रखैल या दास के रूप में भी अपने पास रखते थे जो उनका सामान ढोने का काम भी करते थे।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए –
 - (क) अर्थ संकट
 - (ख) गृह युद्ध
2. नीचे लिखे प्रश्नों के उत्तर दीजिए –
 - (क) गोरखों द्वारा गढ़वाल पर आक्रमण
 - (ख) गढ़वाल पर अधिकार

2.5 गोरखा शासन प्रबन्ध

ऊपर आपने पढ़ा कि गोरखों ने कैसे कुमाऊँ और गढ़वाल सहित सम्पूर्ण उत्तराखण्ड पर अपनी राजसत्ता स्थापित की जिसे सैनिक शासन के नाम से जाना जाता है। गोरखों के आगमन से पूर्व कुमाऊँ गढ़वाल एक स्वतन्त्र राज्य थे जहाँ राजा के नेतृत्व में मंत्री मंडल स्थापित होता था जैसे – दीवान, दफ्तरी वजीर, फौजदार, व राजगुरु आदि जो सामूहिक रूप से राजा को सलाह मशवरा देते रहते थे बहुत सारे महत्वपूर्ण मामलों में राजा बिना मंत्री मंडल की स्वीकृति के निर्णय नहीं ले सकता था, भाषा बोली, समाज, धर्म आदि परम्पराओं में एकता व अपनत्व था यह सब गोरखा शासनकाल में सम्माप्त हो गया तथा उत्तराखण्ड एक विजित प्रदेश मात्र रहा गया, अब उत्तराखण्ड का शासन प्रशासन नेपाल से संचालित हो रहा था। कुमाऊँ गढ़वाल के जिन व्यक्तियों को अनुभव के आधार पर कुछ पदों पर बैठाया भी था वो सभी उनके कृपापात्र थे। क्योंकि उच्च पदों पर गोरखों की ही नियुक्ति होती थी।

2.5.1 शासन व्यवस्था

गोरखों ने अपनी शासन व्यवस्था चलाने हेतु योग्यता को मानक नहीं रखा बल्कि राज्य में जितने भी महत्वपूर्ण पद थे उन पर सिर्फ गोरखों को ही नियुक्त किया गया। सभ्रान्त परिवारों का उत्पीड़न हुआ, उनकी जागीरें सम्माप्त कर दी गई, दीवान, वजीर, राजगुरु आदि पद सम्माप्त कर सिर्फ दफ्तरी का पद रखा गया फौजदारी, या न्यायालय स्थापित रखे, कमीण व संयाणे नियुक्त किये गये जिनका मुख्य कार्य राजस्व वसूली कर राजकोष में जमा करना था। एक तरह से ये लोग गोरखा राज्य के आर्थिक ढाँचे के आधार स्तम्भ थे जो ब्रिटिश शासनकाल में भी बने रहे, यह लोग राजस्व वसूली के साथ निश्चित अंश अपने पास भी रखते थे, कमीण व संयाणों को अपने निर्वाह हेतु कुछ भूमि भी दी जाती थी जो राजस्व मुक्त होती थी।

सैनिक, कमीन, सयांगे व ग्राम प्रधान आदि सभी का भार ग्रामीण कृषकों पर ही था इस लूटखसोट तथा निरन्तर उत्पीड़न से परेशान होकर कृषक वर्ग अपने-अपने गाँव छोड़कर दूसरी जगह बस जाते थे या मैदानी क्षेत्रों में बस जाते थे प्रवास में जाने की यह प्रक्रिया पूरे गोरखा शासन काल में बनी रही।

गोरखों ने कुमाऊँ में पहला वन्दोवस्त 1791-92 ई० में किया था जो मुख्यतः मालगुजारी के सम्बन्ध में था जिसमें प्रत्येक 20 नाली जमीन पर एक रुपया टैक्स, प्रत्येक वयस्क पुरुष से भी एक रुपया टैक्स (माँगा या Pall Tax) लिया जाता था, 'घुरही पिछही' नाम से टैक्स सालाना प्रत्येक परिवार से 2 रुपया टैक्स लिया जाता था, इसी तरह गढ़वाल में 1804 ई० में वन्दोवस्त किया गया प्रारम्भ में पूर्व से चली आई भूव्यवस्था के आधार पर प्राप्त राजस्व ही बरकरार रखा गया, आगे अनेक गाँवों को भी जोड़कर वहाँ सैनिक ठिकाने स्थापित किये गये। प्रत्येक क्षेत्र में सैन्य अधिकारी नियुक्त किये गये जो वहाँ राजस्व वसूली कर अपने वेतन आदि की व्यवस्था करते थे, भू-राजस्व निश्चित करते समय भू उत्पादकता का ध्यान न रखकर सैन्य वेतन निश्चित किया गया। गढ़वाल में दूसरी भूव्यवस्था 1811-1812 ई० में की गई इसमें कुछ हद तक भू-उत्पादन ध्यान में रखा तथा प्रत्येक गखा (क्षेत्र) का सीमा निर्धारण किया गया था।

मंदिरों के रख रखाव व पूजा हेतु स्थानीय शासकों ने गूँठ व्यवस्था बनाई हुई थी उसमें गोरखों ने हस्तक्षेप नहीं किया, जिसके अन्तर्गत कुछ ग्रामों की भूमि मंदिरों को अर्पित की जाती थी आदि इसके अतिरिक्त गोरखों ने खनिज सम्पदा का भी पूरा दोहन किया, कलाकारों तथा कुटीर उद्योगों की अवहेलना की गई, शिक्षा, चिकित्सा की ओर ध्यान नहीं दिया गया, छुटपुट मंदिर व धर्मशालाओं का निर्माण करवाया गया।

2.5.2 न्याय व्यवस्था

गोरखों की कोई निश्चित न्याय व्यवस्था नहीं थी हर अधिकारी अपने पदानुसार फैसला ले लिया करते थे फिर भी गढ़वाल में उन्होंने तीन तहसील श्रीनगर, लगूर और चौदपुर में तीन न्यायालय स्थापित किये थे। जिनमें न्यायाधीशों की मदद को कारदार, जमादार व अमलदार तीन सैन्य अधिकारी होते थे। कुमाऊँ में दीवानी व फौजदारी के छोटे मामले फौजी अधिकारी देखते थे बड़े मामले दैशिक शासक फौजी अधिकारियों की मदद से करते थे इनकी अनुपस्थिति पर 'विचारी' सुनवाई करते थे। वादी प्रतिवादी के मौखिक बयान होते थे 'हरिवंश' उठाने को कहा जाता था, प्रत्यक्षदर्शी साक्षी न होना या सरहद का मामला आदि में अग्नि परीक्षा होती थी जिसे दिव्य कहते थे जिसके अलग-अलग तरीके थे —

1. गोलादीप (दिव्य) गरम लोहे की छड़ हाथ में रखकर कुछ दूर चलना।
2. तराजू दीप (दिव्य) पत्थरों से तोलना अर्थात् संभावित अपराधियों को एक दिन पत्थरों से तोलकर सुरक्षित स्थान पर रखकर दूसरे दिन फिर तोला जाता था भारी होने पर निर्दोष व हल्का होने पर दोषी माना जाता था।
3. कढ़ाई दीप गरम तेल में हाथ डालकर न जलने पर निर्दोष माना जाता था ऐसे ही और अन्य न्याय के तरीके थे जैसे— तीर का दीप, नहीं तैरना आने वालों को पानी के कुंड में डुबोना, जहर देना, धन के मुकदमे में रुपये, जमीन के मुकदमें में उस जमीन का मिट्टी मंदिर में रखी जाती थी यदि छह महिने के अन्दर सम्बन्धित परिवार में मृत्यु होने पर

दैवी प्रकोप समझकर सम्बन्धित व्यक्ति को दण्डित किया जाता था। मृत्यु दंड के अतिरिक्त गोरखों द्वारा अंग-भंग की सजा भी दी जाती थी।

डबराल के अनुसार गोरखों ने लौह दण्ड से कठोर शासन किया था। विभिन्न व्यक्तियों से विभिन्न प्रकार का व्यवहार उनकी मनमर्जी पर निर्भर था, जो रिश्वत, खुशामद, चुगली तथा स्वार्थ से प्रभावित होते रहती थी अर्थात् गोरखों की न्याय एवं दण्ड व्यवस्था को अमानवीय कहा जा सकता है।

2.5.3 कर प्रणाली

गोरखों ने अपने शासन प्रबन्ध एवं सैन्य व्यवस्था को चलाने हेतु तथा अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य से अनेक कर निर्धारित किये थे जिनकी वसूली कमीषन, सयांगे व गोरखा सैन्य अधिकारी कठोरता के साथ करते थे। करों में किसी प्रकार की छूट किसी भी दशा में नहीं दी जाती थी जिनमें मुख्य कर निम्न थे –

1. पुगांडी या पुगंडी (भूमिकर) – जिसे पहले से चली आ रही कर व्यवस्था को काफी गुना बढ़ा दिया था सबसे अधिक आमदनी इसी कर से थी।
2. सलामी – इसे नजराना के रूप में लिया जाता था जो मुख्यतः अधिकारियों को नजराना या भेंट के रूप में दिया जाता था।
3. मौकर – यह कर कुमाऊँ में 'घरही पिछही' (प्रत्येक घर से कर) तथा गढ़वाल में मौकर (प्रत्येक मवासे पर) के नाम से विदित था प्रायः एक मक्कान में एक ही मौ (परिवार) रहता था। बदरी दत्त पाण्डे के अनुसार मौकर सिर्फ आवश्यकता पढ़ने पर ही लिया जाता था।
4. घीकर – यह कर दुधारु पशुओं के नाम से लिया जाता था, दूध देने वाले पशुओं की संख्या प्रतिवर्ष घटते बढ़ते रहती थी 1805 ई० में निर्धारित कर राशि 1851 ई० तक बनी रही।
5. मिझारी यह कर चर्मकार व शिल्पकारों के विभिन्न शिल्पों (कुटीर उद्योग) पर लगाया कर था जो उनके शिल्पों की उन्नति में बाधक था।
6. टाडंकर – यह शिल्प आय पर लगाया गया दूसरा कर था। यह कर केवल कोलियों से ही नहीं हर प्रकार के वस्त्र बुनने वालों से भी लिया जाता था।
7. सोन्याफागुन – यह कर गोरखा शासकों द्वारा मनाये जाने वाले उत्सवों के व्यय पूर्ति हेतु लिया जाता था साथ में इन उत्सवों हेतु भैंस व बकरे भी देने होते थे।

उक्त करों के अतिरिक्त अघन्नी दफ्तरी, सापर या आयात-निर्यात कर वन कर , खान कर आदि भी वसूले जाते थे।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए –
(क) गोरखा शासन व्यवस्था
(ख) मुख्य कर
2. नीचे लिखे प्रश्नों के उत्तर दीजिए –
(क) गोरखा न्याय व्यवस्था का स्वरूप

2.6. सारांश

उत्तराखण्ड में गोरखा शासन जिसे सैन्य शासन भी कहा जाता है कुल 25 वर्ष रहा था। जिसमें से 25 वर्ष कुमाऊँ व 11 वर्ष गढ़वाल में शासन किया था, कुमाऊँ में गोरखों को चंद शासकों के अन्तर्कलह का और गढ़वाल में पवार शासकों के आपसी मतभेद का लाभ मिला था जिस कारण उन्होंने सम्पूर्ण उत्तराखण्ड में अपने सैनिक शासन को मनमाने और अत्याचारपूर्ण तरीके से चलाया था। उत्तराखण्ड में गोरखों को स्थापित करने में हर्षदेव जोशी की महत्वाकांक्षा व षडयंत्र भी शामिल थे उसने गोरखों को हर संभव सहायता की, इसी तरह 1815 ई0 में भी जोशी ने उत्तराखण्ड में ब्रिटिश सत्ता स्थापित करने में अंग्रेजों की मदद की थी।

गोरखों ने स्थानीय जनता के हितों को नजरअंदाज कर तथा अपने हितों को मध्य नजर रखते हुए शासन, न्याय व कर व्यवस्था आदि स्थापित की, उनकी कोई निश्चित शासन व्यवस्था नहीं थी, समय-समय पर इच्छानुसार वह अलग-अलग प्रयोग करते रहते थे समय पर कर नहीं चुका पाने पर सम्बन्धित व्यक्ति या उसके परिवार को दास-दासी बनकार बेच दिया जाता था। गढ़वाल के कई क्षेत्रों में महिलाओं को उन्होंने अपनी रखैल बनाया या हवश का शिकार बनाते रहते थे। जब गोरखा कुमाऊँ में आये तो उनका स्थानीय जनता द्वारा विरोध नहीं हुआ क्यों कि जनता लम्बे समय तक स्थानीय शासकों के उठापटक की राजनीति से ऊब चुकी थी परन्तु गढ़वाल में खूब विरोध हुआ इसीलिये गोरखों ने कुमाऊँ की अपेक्षा गढ़वाल में अधिक अत्याचार किये थे। लूटखसोट आम बात थी आदमी की हत्या करना उनके लिये सामान्य था, इसलिये गोरखा शासन को उत्तराखण्ड में गोरख्योल या गोरखाशाही के नाम से जाना जाता है।

अन्ततः 1815 ई0 में जब अंग्रेजों का उत्तराखण्ड में आगमन हुआ तो यहाँ की जनता ने उसका स्वागत किया था क्योंकि उत्तराखण्ड की जनता गोरखा अत्याचारों से इतने कष्ट भुगत चुकी थी कि उन्होंने अंग्रेजों का स्वागत के साथ उनका साथ भी दिया था और 1815 ई0 में गोरखा अंग्रेजों से पराजित होकर वापस नेपाल चले गये तथा उत्तराखण्ड सम्पूर्ण देश की भाँति ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन हो गया।

2.7. स्व मूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

इकाई 2.3 के स्व मूल्यांकित प्रश्न

1. (क) देखिए 2.3.2
(ख) देखिए 2.3.3

इकाई 2.4 के स्वमूल्यांकित प्रश्न

1. (क) देखिए 2.4.2
(ख) देखिए 2.4.3
2. (क) देखिए 2.4.1
(ख) देखिए 2.4.3

इकाई 2.5 के स्वमूल्यांकित प्रश्न

1. (क) देखिए 2.5.1
(ख) देखिए 2.5.3
2. (क) देखिए 2.5.1
(ख) देखिए 2.5

2.8. सन्दर्भ ग्रन्थ

1. पाण्डे : बदरी दत्त : कुमाऊँ का इतिहास, अल्मोड़ा बुक डिपो; अल्मोड़ा, 1990।
2. डबराल : शिव प्रसाद : गोरख्याणी : वीरगाथा प्रकाशन दोगड़ा; 2056 वि.
3. अठकिन्सन : ई.टी. हिमालयन गजेटियर, — लो प्राईस पब्लिकेशन, दिल्ली, 2002
4. कटोच : यशवंत सिंह : उत्तराखण्ड का नवीन इतिहास, बिनसर पब्लिकेशन, देहरादून, 2010

2.9. निबन्धात्मक प्रश्न

1. गोरखों के आगमन के समय उत्तराखण्ड की राजनैतिक व्यवस्था पर प्रकाश डालिए।
2. कुमाऊँ में गोरखा शासन के विस्तार का उल्लेख कीजिए।
3. गढ़वाल में गोरखा शासन के स्वरूप का वर्णन कीजिए।
4. गोरखों की शासन व्यवस्था पर एक लेख कीजिए।
5. गोरखा-दास व्यवस्था का वर्णन कीजिए।

ब्रिटिश कालीन उत्तराखण्ड

- 1.1 प्रस्तावना
- 1.2 उद्देश्य
- 1.3 उत्तराखण्ड में ब्रिटिश आगमन के उद्देश्य एवं पृष्ठभूमि
 - 1.3.1 प्रशासनिक पुनर्गठन
 - 1.3.2 ब्रिटिश कुमाऊँ गढ़वाल
 - 1.3.3 टिहरी राज्य
- 1.4 न्यायिक प्रशासन, पुलिस तथा सेना
 - 1.4.1 ब्रिटिश कुमाऊँ में न्यायिक प्रशासन
 - 1.4.2 टिहरी रियासत में न्यायिक प्रशासन
 - 1.4.3 पुलिस
 - 1.4.4 सेना— कुमाऊँ तथा गढ़वाल रायफल्स(बटालियन)
 - 1.4.5 टिहरी रियासत में सेना
- 1.5 भूमि बन्दोबस्त तथा वन नीति
 - 1.5.1 भूमि बन्दोबस्त— ब्रिटिश कुमाऊँ
 - 1.5.2 भूमि बन्दोबस्त —टिहरी राज्य
 - 1.5.3 वन नीति— ब्रिटिश कुमाऊँ
 - 1.5.4 वन नीति— टिहरी राज्य
- 1.6 अर्थ व्यवस्था
 - 1.6.1 अर्थव्यवस्था और राज्य की आय के साधन
 - 1.6.2 व्यापार वाणिज्य
 - 1.6.3 खनन तथा गृह उद्योगों की स्थिति
 - 1.6.4 जनसंख्या
 - 1.6.5 यातायात एवं परिवहन
- 1.7 समाज, स्त्रियाँ व शिक्षा
 - 1.7.1 सामाजिक दशा
 - 1.7.2 स्त्रियों की दशा
 - 1.7.3 शिक्षा

- 1.8 1857 और उत्तराखण्ड
 - 1.8.1 उत्तराखण्ड और राष्ट्रीय आन्दोलन
 - 1.8.1.1 कुमाऊँ परिषद
 - 1.8.1.2 कुली बेगार आंदोलन
 - 1.8.2 वन आंदोलन
 - 1.8.3 असहयोग आंदोलन और उत्तराखण्ड
 - 1.8.4 सविनय अवज्ञा आंदोलन और उत्तराखण्ड
 - 1.8.5 अछूतोद्धार तथा शिल्पकार आंदोलन
 - 1.8.6 नायक सुधार आन्दोलन
 - 1.8.7 किसान आंदोलन
 - 1.8.8 व्यक्तिगत सत्याग्रह और भारत छोड़ो आंदोलन
- 1.9 टिहरी रियासत और विभिन्न प्रतिरोध आंदोलन
 - 1.9.1 टिहरी राज्य प्रजामण्डल और श्रीदेव सुमन
 - 1.9.2 श्रीदेव सुमन के बाद
- 1.10 सारांश
- 1.11 तकनीकी शब्दावली
- 1.12 स्व मूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर
- 1.13 संदर्भ ग्रन्थ सूची
- 1.14 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 1.15 निबंधात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

प्रारंभिक इकाइयों में आपने पढ़ा था कि उत्तराखण्ड में पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी में किस प्रकार छोटी-छोटी सामंतशाहियों का एकीकरण कर चंद-परमार शक्तियों ने अपना प्रभुत्व स्थापित किया और कुमाऊँ तथा गढ़वाल के दो पृथक राज्यों की स्थापना की। राज्यों के बीच निरन्तर होने वाले युद्धों, बाह्य आक्रमणों आदि के कारण कला और संस्कृति के क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रगति नहीं हो पाई। किन्तु अन्य कई क्षेत्रों में युगान्तरकारी परिवर्तन हुए। इस काल में स्थायी शान्ति व्यवस्था न होने के बावजूद भी गोरखा युगीन अराजकता के दर्शन नहीं होते। इस इकाई में आपको यह बताया जाएगा कि 1815 के उपरान्त उत्तराखण्ड में औपनिवेशिक शासन के प्रवेश के साथ ही किस प्रकार इस अंचल के राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक स्वरूप में बदलाव आया। राष्ट्रीय आंदोलन के समानान्तर चल रहे स्थानीय आंदोलनों तथा उससे इतर स्थानीय प्रतिरोधों की भी चर्चा की जाएगी। इसके अलावा टिहरी रियासत के शासन तथा

उसमें मौजूद शोषक प्रथाओं की समाप्ति एवं उत्तरदायी शासन की स्थापना हेतु जनता द्वारा किए गए संघर्षों से भी आप इस इकाई में परिचित होंगे।

1.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप

- उत्तराखण्ड में ब्रिटिश आगमन के उद्देश्यों के बारे में समुचित जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- औपनिवेशिक शासन के स्वरूप तथा उसके द्वारा किए गए विभिन्न परिवर्तनों से परिचित होंगे। साथ ही आप इस योग्य भी हो सकेंगे कि शेष भारत के साथ उसका तुलनात्मक विश्लेषण कर सकें।
- औपनिवेशिक हितों की पूर्ति के लिए किए गए विकास एवं संसाधनों के दोहन से हुई हानि के बारे में भी व्याख्या कर सकेंगे।
- आप इस तथ्य से भी अवगत होंगे कि राष्ट्रवाद की लहर ने किस प्रकार उत्तराखण्ड को प्रभावित किया और साथ ही राष्ट्रीय तथा स्थानीय आन्दोलन में क्षेत्र के निवासियों के महत्वपूर्ण योगदान की व्याख्या भी करने में सक्षम होंगे।

1.3. उत्तराखण्ड में ब्रिटिश आगमन के उद्देश्य एवं पृष्ठभूमि

उत्तराखण्ड में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के आगमन को उसके औपनिवेशिक और अन्वेषी नजरिये के आधार पर व्यापक परिदृश्य में देखने के प्रयास किए गए हैं। विभिन्न यूरोपीय यात्रियों जैसे देसीदेरी, मूरक्राफ्ट, कैप्टन हियरसे, फ्रेजर आदि के विवरणों तथा अन्य उपलब्ध साक्ष्यों के आधार शेखर पाठक ने 18 वीं-19 वीं शताब्दी को हिमालय के संदर्भ में युगान्तरकारी बताते हुए कम्पनी के हिमालय आकर्षण तथा उत्तराखण्ड में घुसपैठ के प्रमुख उद्देश्यों को इस प्रकार चिह्नित किया है— 1. ईसाई धर्म का प्रसार 2. कम्पनी तथा इंग्लैंड की औद्योगिक जरूरतों हेतु कच्ची सामग्री तथा बाजार ढूँढना 3. नेपाल युद्ध के बाद सैन्य जातियों की खोज 4. हिमालय में छोटा इंग्लैंड बनाने का स्वप्न 5. नेपोलियन के कारण संभावित खतरे का क्षेत्र पश्चिमी हिमालय और काराकोरम होना 6. गोरखों के प्रति कुमाऊँ गढ़वाल तथा हिमाचल में मौजूद असन्तोष और गोरखों द्वारा बार बार कम्पनी क्षेत्र में घुसपैठ 7. उत्तराखण्ड की वन संपदा जिसमें कम्पनी को पर्याप्त लाभ प्राप्त होने की संभावना थी।

1.3.1 प्रशासनिक पुनर्गठन—(ब्रिटिश कुमाऊँ/गढ़वाल/टिहरी राज्य/ देहरादून)

1815 में गोरखों को पराजित करने के उपरान्त कम्पनी ने सिगौली की संधि से कुमाऊँ तथा गढ़वाल को ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा शासित क्षेत्र के अन्तर्गत ले लिया गया और एक पृथक प्रशासनिक इकाई के रूप में कुमाऊँ कमिश्नरी का गठन हुआ। वर्तमान देहरादून जिले का भूभाग मेरठ कमिश्नरी के अन्तर्गत सहारनपुर जिले से संयुक्त किया गया। मन्दाकिनी और

अलकनन्दा का पश्चिमी भाग (वर्तमान उत्तरकाशी और टिहरी जिले) राजा सुदर्शनशाह को दिया गया। राजा ने भागीरथी और भिलंगना नदियों के बायें तट पर स्थित टिहरी नामक एक छोटे से गाँव को अपनी राजधानी बनाया। 1824 में रवाई परगने का कुछ भाग भी टिहरी में शामिल किया गया। 1825 में देहरादून तथा जौनसार को सहारनपुर से लेकर कुमाऊँ कमिश्नरी में सम्मिलित कर लिया गया,पर 1829 में पुनः कुमाऊँ से पृथक कर दिया गया।

इस प्रकार 1815 में देहरादून के मेरठ कमिश्नरी से संयुक्त किए जाने के उपरान्त उत्तराखण्ड दो भिन्न सामाजिक-राजनीतिक इकाइयों में विभक्त दिखाई देता है— ब्रिटिश कुमाऊँ और टिहरी रियासत । इनमें से ब्रिटिश कुमाऊँ के अन्तर्गत कुमाऊँ तथा गढ़वाल दोनों सम्मिलित थे। काफी समय तक कुमाऊँ गैर आइनी प्रदेश (Non Regulation Province) रहा।

1.3.2 ब्रिटिश कुमाऊँ.(गढ़वाल)

उत्तर में तिब्बत से लेकर दक्षिण में रुहेलखण्ड तक तथा पश्चिम में टिहरी राज्य से पूर्व में नेपाल तक विस्तृत लगभग 9600 वर्ग किमी.(6000 वर्ग मील) का भू-भाग इसके अन्तर्गत था। इस क्षेत्र पर औपनिवेशिक शासन के तेरह दशकों (1815-1947) में से जॉर्ज विलियम ट्रेल(1815-35), जे.एच. बैटन(1848-1856), तथा हेनरी रैमजे(1856-1884) का युग व्यापक निर्माण एवं परिवर्तनों का युग रहा। इस अवधि में विभिन्न बन्दोबस्तों के माध्यम से कुमाऊँ की प्रशासनिक इकाइयों और उनकी सीमाओं के पुनर्गठन के साथ-साथ भू-व्यवस्था को भी एक नया स्वरूप प्रदान किया गया। अगले छः दशकों में 17 कमिश्नर और हुए।

1815 में एडवर्ड गार्डनर को कुमाऊँ का प्रथम कमिश्नर नियुक्त किया गया,किन्तु छः माह बाद ही ट्रेल को कमिश्नर बनाया गया। ब्रिटिश कुमाऊँ के प्रशासनिक पदानुक्रम में कमिश्नर सर्वोच्च पदाधिकारी था। इसके बाद जिले के अधिकारी डि०कमिश्नर या कलेक्टर, परगने या सब-डिवीजन में डि०कलेक्टर , तहसील में क्रमशः तहसीलदार, नायब तहसीलदार (या पेशकार. कुमाऊँ में),कानूनगो या सुपरिंटेंडेंट का स्थान था। इनके नीचे पट्टी के पटवारी थे। थोकदार एवं प्रधान ग्राम शासन में पटवारी के सहायक थे।

1839 में कुमाऊँ कमिश्नरी को दो जिलों— कुमाऊँ तथा गढ़वाल में विभाजित किया गया। 1858 के भारत सरकार अधिनियम द्वारा भारतीय प्रशासन का नियंत्रण ईस्ट इण्डिया कम्पनी से ब्रिटिश क्राउन को सौंपे जाने के बाद प्रशासनिक दृष्टि से पहला परिवर्तन 1862 में तराई जिले के गठन के रूप में हुआ।1871 में देहरादून को सहारनपुर जिले से अलग करके एक स्वतंत्र जिला घोषित किया गया। 1891 में कुमाऊँ के छः तथा तराई के सात परगनों को मिलाकर नैनीताल जिले का और कुमाऊँ जिले के शेष भाग से अल्मोड़ा जिले का गठन किया गया।

जिले से छोटी इकाई तहसील थी। 1815 में प्रथम कमिश्नर एडवर्ड गार्डनर के समय यहाँ नौ तहसीलें —अल्मोड़ा, काली कुमाऊँ, पाली पछाऊँ, कोटा , सोर, फलदाकोट,रामगढ़, श्रीनगर और चाँदपुर थीं।1816 में द्वितीय कमिश्नर ट्रेल ने इन तहसीलों को अल्मोड़ा में मिलाकर

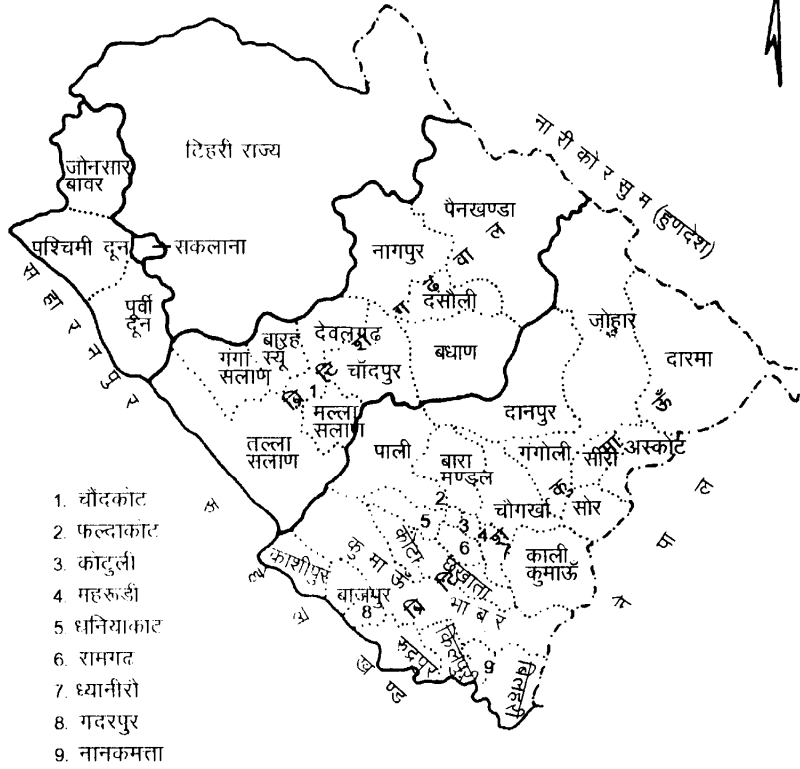
इस नयी तहसील को हजूर तहसील नाम दिया। 1821 में सोर तहसील को समाप्त करके गंगोली को हजूर तहसील(अल्मोड़ा) में तथा सोर,सीरा और अस्कोट परगनों को काली कुमाऊँ से संयुक्त किया गया। 1823 ई. में साल अस्सी(संवत् 1880) के बन्दोबस्त के माध्यम से ट्रेल ने प्रशासनिक व्यवस्था में व्यापक परिवर्तन किए। इस समय तक तहसीलों की संख्या घटकर चार(हजूर, काली कुमाऊँ, श्रीनगर और चाँदपुर) रह गई। 1834 में ट्रेल ने श्रीनगर और चाँदपुर को एक तहसील में संयुक्त करके कैन्नूर को नई तहसील का मुख्यालय बनाया। 1839 में पृथक जिला बनने के बाद गढ़वाल में एक ही तहसील थी,जिसका मुख्यालय पौड़ी में था।1840 के बाद कुमाऊँ जिले में एक तीसरी तहसील भाबर का गठन हुआ,जो संभवतः 19वीं शताब्दी के पाँचवें दशक तक बनी रही। कुछ समय के लिए इस तहसील को विघटित कर दिया गया और 1860 के बाद किसी वर्ष में पुनः भाबर तहसील का गठन करके हल्द्वानी में इसका मुख्यालय बनाया गया। 1891 में नैनीताल तहसील बनी। 1891 में तराई क्षेत्र में भी तीन तहसीलें –काशीपुर,रुद्रपुर तथा किलपुरी थीं।

तहसील से छोटी इकाई परगना थी। प्रारंभ में ब्रिटिश कुमाऊँ के पूर्वी क्षेत्र(कुमाऊँ) में कुल चौदह तथा पश्चिमी क्षेत्र(गढ़वाल)में कुल सत्रह परगने थे। 1821 में इनकी संख्या बढ़ाकर उन्नीस कर दी गई। गढ़वाल में कुछ परगनों को विघटित करके अन्य परगनों में सम्मिलित किया गया और सत्रह के स्थान पर कुल ग्यारह परगनों का सृजन हुआ।1838-46 में बैटन के बन्दोबस्त में भी इनकी संख्या और स्थिति यथावत रही।

प्रत्येक परगने में अनेक पट्टियाँ थीं। ट्रेल के समय में कुमाऊँ के परगनों में कुल अस्सी तथा गढ़वाल में कुल अड़तालीस पट्टियाँ थीं। परंतु पट्टियों का निर्धारण भौगोलिक सीमाओं को ध्यान में रखकर नहीं किया गया था। हेनरी रैमजे के काल में बैकेट ने 1861-64(गढ़वाल) तथा 1863-73(कुमाऊँ)में अपने तीस वर्षीय बन्दोबस्त(दसवें)के द्वारा इस क्षेत्र के परगनों में स्थित पट्टियों तथा उनके गाँवों की सीमाओं का पुनर्निर्धारण और विभाजन इनकी भौगोलिक विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए किया। बैकेट ने इनके पुनर्गठन के अनेक कारण देते हुए एक पट्टी से दूसरी पट्टी में स्थानान्तरित गाँवों की विस्तृत सूची दी है। 1892-93 में पुनः पट्टियों की सीमाओं में कुछ परिवर्तन किए गए। इस परिवर्तन के बाद अल्मोड़ा जिले में 101,नैनीताल में 25 तथा गढ़वाल जिले में 77 पट्टियाँ विद्यमान थीं। बैकेट के बन्दोबस्त की अवधि 1902 ई. तक ही होने के कारण 1899 में गूज ने पुनरीक्षण कार्य किया परन्तु कुछ परगनों में कृषि भूमि की माप और कर संबंधी सुधारों को छोड़कर बैकेट द्वारा किए गए कार्यों में किसी भी प्रकार के परिवर्तन का प्रयास नहीं किया।

प्रशासनिक क्षेत्र (ब्रिटिश युगीन)

उ.



स्रोत: किरन त्रिपाठी, उत्तराखण्ड का ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक भूगोल

1.3.3 टिहरी रियासत

तेरह दशकों तक टिहरी सुदर्शनशाह, भवानीशाह, प्रतापशाह, कीर्तिशाह, नरेन्द्रशाह और मानवेन्द्रशाह के अधीन एक स्वतंत्र रियासत रही। ब्रिटिश कुमाऊँ-गढ़वाल में अपनाई गई शासन व्यवस्था से प्रभावित होने पर भी टिहरी राज्य की शासन प्रणाली के परंपरागत स्वरूप में विशेष अंतर नहीं आया। राज्य का कार्य विभिन्न विभागाध्यक्षों की सहायता से होता था, जिनकी सम्मिलित बैठक को कौंसिल कहा जाता था। नरेन्द्रशाह के शासनकाल में विभिन्न विभागों के अध्यक्षों को पहले उस विभाग का मेंबर और फिर मंत्री कहा जाने लगा। इसके अलावा राज्य में दीवान और वजीर दो उच्च पद थे। इनके अधिकारों और कर्तव्यों का अंतर स्पष्ट नहीं है। राजा का आदेश सर्वोपरि होने पर भी राज्य की आंतरिक व्यवस्था और नीतियों का निर्धारण दीवान और वजीर द्वारा होता था। टिहरी के पश्चिम में 70 वर्ग मील के क्षेत्र में विस्तृत सकलाना की जागीर थी, जिससे राजा को कुल दो हजार पाँच सौ रु. की वार्षिक आय होती थी।

सुदर्शनशाह (1815-1859) के काल में राज्य को चार ठाणों (संभवतः परगने) में विभक्त किया गया, जिनमें अनेक पट्टियाँ थीं। परगने का हाकिम ठाणादार (थानेदार) कहलाता था। कीर्तिशाह के

राज्यकाल में ठाणों को सबडिवीजन और उनके मुख्य अधिकारी को सब डिवीजनल ऑफीसर कहा जाने लगा। प्रतापशाह के शासन काल(1871-1886) तक यही स्थिति बनी रही।

1920 के भू-प्रबंध से पूर्व टिहरी में 6 परगने और 91 पट्टियाँ थीं। 1920 के बन्दोबस्त के बाद राज्य में कुल 11 परगनों और 80 पट्टियों का सृजन किया गया। जो गाँव किसी पट्टी के अंतर्गत नहीं गिने जाते थे, उन्हें फुटकर गाँव कहा जाता था। इसके अलावा कुछ परगनों और पट्टियों का क्षेत्रफल बहुत अधिक तथा कुछ का बहुत कम था। नरेन्द्रशाह के राज्यकाल में भू-व्यवस्था की इन विषमताओं को दूर किया गया। 1948 के बाद सकलाना को भी नरेन्द्रनगर परगने के अधीन एक पट्टी बना दिया गया। 1964 में पुनर्गठन किए जाने से पूर्व टिहरी की पट्टियों का विवरण उपलब्ध नहीं होता। प्रत्येक परगना अनेक प्रान्त पंचायतों(पट्टियों) में विभक्त था और प्रत्येक पंचायत में अनेक गाँव समाहित किए गए थे। परगने का व्यवस्था करने वाला अधिकारी सुपरवाइजर(ब्रिटिश गढ़वाल के कानूनगो के समान) था, जिसके विभिन्न कर्तव्यों में से एक अपने परगने के पटवारियों के कार्यों की जाँच और देख-रेख करना था। गाँवों में राजस्व वसूली का कार्य पहले कामदारों को और फिर पधानों को सौंपा गया। इस संपूर्ण अवधि में राज्य के प्रशासन तथा भू-व्यवस्था में बहुत अधिक परिवर्तन नहीं हुए। अधिकांशतः बृहत गढ़वाल में प्रचलित परंपराओं को ही अपनाया गया। ब्रिटिश शासन के प्रभाव से ठाणों को सब डिवीजन कहा जाने लगा। परगने का अधिकारी फौजदार के स्थान पर सुपरवाइजर हो गया। राज्य में पटवारी की स्थिति ब्रिटिश गढ़वाल के पटवारी के समान ही थी। गाँव के प्रमुख जो कमीण-सयाणे कहलाते थे, पधान और थोकदार के नाम से संबोधित किए जाने लगे।

स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न—

निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—

1.(क) ब्रिटिश कुमाऊँ में प्रशासनिक पुनर्गठन

(ख) टिहरी रियासत के अधीन प्रशासनिक इकाइयों के संगठन का स्वरूप

2. नीचे लिखे प्रश्नों के उत्तर दीजिए

(क) कम्पनी शासन के अधीन कुमाऊँ तथा गढ़वाल में परगनों की संख्या क्या थी?

(ख) भू-व्यवस्था का वह प्रशासनिक पद जो ब्रिटिश शासन में अस्तित्व में आया और टिहरी रियासत में भी अपनाया गया।

1.4 न्यायिक प्रशासन, पुलिस तथा सेना

1.4.1 ब्रिटिश कुमाऊँ

गढ़वाल में न्यायिक प्रशासन— इस इकाई का न्यायिक प्रशासन कमिश्नर के अधीन किया गया। उसकी सहायता के लिए तीन असिस्टेंट थे। 1820 में ट्रेल ने विवादों के आवेदन पत्र पर आठ आने का टिकट लगाने की परंपरा प्रारंभ की। 1829 में प्रथम मुंसिफ की नियुक्ति हुई। इसके बाद सात कानूनगो को मुंसिफ के अधिकार मिले। 1838 के एक्ट 10 के तहत गढ़वाल और कुमाऊँ जिलों में एक-एक सीनियर असिस्टेंट कमिश्नर तथा सदर अमीन (कोर्ट पंडित) नियुक्त हुए। तहसीलदारों को भी मुंसिफ के अधिकार दिए गए। इनके अलावा सात जिला मुंसिफ (कानूनगो) और कोर्ट पंडित (सदर अमीन) की नियुक्ति की गई। 1838 से 1864 तक ब्रिटिश कुमाऊँ को पश्चिमोत्तर प्रान्त के सदर दीवानी, सदर निजामत और सदर बोर्ड माल के अधीन किया गया। 1894 से 1914 तक कुमाऊँ कमिश्नर को यहाँ के सेशन जज के रूप में मान्यता मिली। 1914 में अलग-अलग न्यायालय खुलने पर हाई कोर्ट से सीधा संबंध स्थापित हो गया। गैर आइनी प्रदेश (Non Regulation Province) होने के कारण 1817 के अधिनियम 10 को मान्यता मिली।

1.4.2 टिहरी रियासत में न्यायिक प्रशासन

आरंभ में यहाँ प्रायः परंपराओं के आधार पर ही निर्णय किया जाता था। कीर्तिशाह के शासन काल में मुल्की रिवाज और ताजिरात-हिन्द पर आधारित विधि संहिता का निर्माण किया गया। 1917 में हरिकृष्ण रतूड़ी द्वारा संपादित नरेन्द्र हिन्दू लॉ को राज्य के न्यायालयों में प्रयुक्त करने का आदेश दिया गया, पर ब्रिटिश न्यायालयों में प्रयुक्त विधि संहिता का साथ-साथ उल्लेख न होने के कारण नरेन्द्रशाह के समय में राज्य प्रतिनिधि सभा द्वारा टिहरी गढ़वाल दण्ड संग्रह का प्रकाशन किया गया। सुदर्शनशाह ने छोटी दीवानी, बड़ी दीवानी, सरसरी और कलक्टरी नामक न्यायालयों की स्थापना की। जागीरदार और मुआफीदार अपने क्षेत्र के गाँवों में दीवानी तथा फौजदारी विवादों का निर्णय स्वयं कर सकते थे, किंतु हत्या के विवादों का निर्णय राजा द्वारा होता था। 1920 में प्रतापशाह द्वारा बनवाए गए चीफ कोर्ट और हजूर कोर्ट को पृथक किया गया। राज्य को छः सरकलों में बाँटा गया, जिनके डिपुटी कलेक्टर अपन-अपने क्षेत्रों के मजिस्ट्रेट भी थे। 1838 में नरेन्द्रशाह ने चीफ कोर्ट को समाप्त करके हाई कोर्ट की स्थापना की, जिसमें एक चीफ जस्टिस तथा एक या अधिक जजों की नियुक्ति का प्रावधान राजा की इच्छानुसार 5 वर्ष या 65 वर्ष की आयु के लिए था। राजा को न्याय संबंधी सलाह देने के लिए एक जुडीशियल कमेटी की स्थापना की गई। फौजदारी विवादों के लिए सेशन कोर्ट था, जिसका उच्च अधिकारी सेशन जज था। 1945 में टिहरी गढ़वाल कोर्ट्स एक्ट के अनुसार समस्त मजिस्ट्रेटों और सेशन जज को हाई कोर्ट के अधीन किया गया। दीवानी तथा फौजदारी न्यायालयों द्वारा दिए गए निर्णयों के विरुद्ध अपील हजूर कोर्ट में हो सकती थी।

1.4.3 पुलिस

1816 में ट्रेल ने लिखा था “कुमाऊँ प्रान्त में अपराधों की संख्या कम होने से फौजदारी पुलिस की आवश्यकता नहीं है।” पर्वतों की तलहटी वाले इलाकों में अपराध कम होने से पुलिस चौकियों का निर्माण हुआ। पर्वतीय क्षेत्रों में पटवारी व पेशकार थोकदार तथा पधानों की सहायता

से पुलिस का कार्य करते थे। यह सरकार के लिए भी सस्ता था। कुमाऊँ डिवीजन के लिए एक पुलिस सुपरिंटेंडेंट था, जिसका मुख्यालय 1916 में नैनीताल में था। विभिन्न थानों में थानेदार या हेड कांस्टेबल के साथ पुलिस के कुछ सिपाही रहते थे। आंतरिक भागों में पुलिस का कार्य तहसीलदार के अधीन था। इसके लिए अल्मोड़ा, श्रीनगर में थाने तथा मैदानी इलाकों में पाँच प्रमुख घाट थे। ग्रामीण इलाकों में पटवारियों को राजस्व के साथ-साथ पुलिस के भी अधिकार थे और पट्टी में होने वाले अपराधों की रिपोर्ट पटवारी को करने के लिए उत्तरदायी थे। गाँवों में यह उत्तरदायित्व प्रधान का था। 1923 में अल्मोड़ा कोतवाली को विघटित कर दिया गया और उसके कर्तव्य हज़ूर तहसील के पेशकार को स्थानान्तरित कर दिए गए। इसके अलावा कुमाऊँ की स्थानीय बटालियन भी पुलिस के कार्यों के लिए उपलब्ध थी।

टिहरी रियासत में भी ग्रामीण क्षेत्र में पटवारियों को पुलिस के अधिकार प्राप्त थे। प्रधान, थोकदार, जागीरदार और ठाकुरों को भी पुलिस के समान ही कुछ अधिकार प्राप्त थे। टिहरी के कारागार में 100 से अधिक व्यक्तियों के लिए स्थान था। पुलिस प्रधान का कार्यालय भी नगर में था।

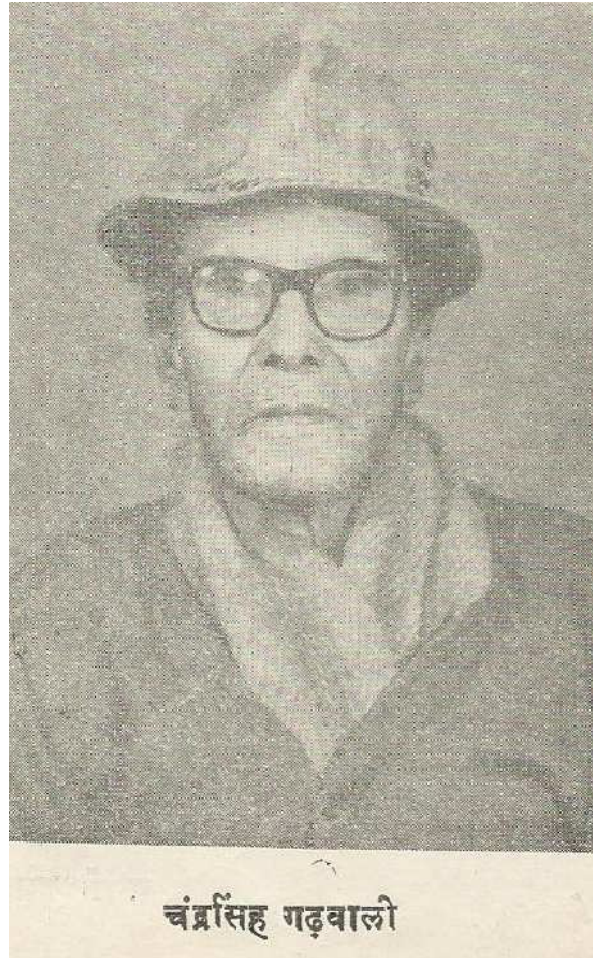
1.4.4 सेना— कुमाऊँ तथा गढ़वाल रायफल्स

1815 में कुमाऊँ बटालियन बनाई गई, जिसे 1816 में कुमाऊँ प्रोविंसियल बटालियन तथा 1829 में कुमाऊँ लोकल बटालियन कहा गया। 1861 में इसे थर्ड गोरखा रायफल बना दिया गया और 1891 में गढ़वाल रायफल्स के रूप में लैंसडाउन में स्थापित किया गया। चम्पावत, लोहाघाट, हवालबाग, रानीखेत, लैंसडाउन आदि में छावनियों का निर्माण हुआ। 1858 में कमिश्नर रैमजे ने भविष्य में होने वाले किसी भी विद्रोह से आसानी से निपटने के लिए एक हिल रेजीमेंट की स्थापना की। बीसवीं सदी के प्रारंभ तक रानीखेत को सैन्य मुख्यालय का रूप दे दिया गया। प्रथम विश्व युद्ध के बाद अस्थायी सेनाओं को विघटित करके 1/50 वीं कुमाऊँ रायफल्स को पहले जाट रेजीमेंट में तत्पश्चात् 1923 में हैदराबाद रेजीमेंट में मिला दिया गया। 5 मई 1887 को गठित गढ़वाली बटालियन 1891 में गोरखों की दोनों कम्पनियों के अलग होने के बाद गढ़वाली रेजीमेंट ऑफ द बंगाल इन्फैंट्री कहा जाने लगा। विभिन्न मोर्चों पर सफलता प्रदर्शित करने के बाद रायफल की उपाधि मिली। 1901 में 39 वीं गढ़वाल रायफल्स ऑफ द बंगाल इन्फैंट्री के नाम से दूसरी बटालियन गठित करके दोनों को इसकी प्रथम तथा द्वितीय बटालियन के रूप में स्थापित किया गया। प्रथम विश्व युद्ध के दौरान अद्भुत पराक्रम का प्रदर्शन करने पर इसकी तीसरी और चौथी बटालियन भी बनीं। 23 अप्रैल 1930 को 2/18 रायफल के सैनिकों द्वारा चन्द्रसिंह गढ़वाली के नेतृत्व में पेशावर में शांतिपूर्ण तरीके से आंदोलनरत जनता पर गोली चलाने से इन्कार करना गढ़वाली सेना के इतिहास में एक युगान्तरकारी घटना थी। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान इसकी पाँच नई बटालियनें गठित की गईं।

1.4.5 टिहरी राज्य में सेना

टिहरी में भवानीशाह के समय में 600 जवानों की एक पलटन बनाई गई। 1907 में कीर्तिशाह द्वारा गठित इंपीरियल सफरमैन ने विश्व युद्ध में ब्रिटिश सरकार को अपनी सैन्य सेवाएँ

दीं। 1930 में इसे रवाई के आंदोलनकारियों का दमन करने के लिए भेजा गया। इस गोलीकाण्ड पर लेख लिखने तथा इसका आरोप रियासत के दीवान चक्रधर जुयाल पर लगाने पर गढ़वाली समाचार पत्र के संपादक विश्वंभरदत्त चंदोला पर मानहानि का मुकद्मा भी किया गया। 1946 में राज्य में कृषक आंदोलन, आजाद पंचायत तथा प्रजामण्डल आंदोलन के दमन के लिए बार-बार राज्य की सेना का प्रयोग किया गया।



स्रोत: शेखर पाठक, उत्तराखण्ड में कुली बेगार प्रथा

स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न—

निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—

(क) न्यायिक प्रशासन

(ख) गढ़वाल रेजीमेंट

2. नीचे लिखे प्रश्नों के उत्तर दीजिए

(क) हरिकृष्ण रतूड़ी द्वारा संपादित पुस्तक का नाम क्या था?

(ख) 23 अप्रैल 1930 को पेशावर में शांतिपूर्ण तरीके से आंदोलनरत जनता पर गोली चलाने से इन्कार करने वाली गढ़वाल रायफल्स का नेतृत्व किसने किया?

1.5 भूमि बन्दोबस्त तथा वन नीति

1.5.1 भूमि बन्दोबस्त

प्रारंभ में ब्रिटिश अधिकारियों का उद्देश्य कृषि भूमि प्रबंध को व्यवस्थित करके ब्रिटिश अधिकार को स्थायित्व देना था। इस क्रम में ट्रेल के अस्सी साला बन्दोबस्त से लेकर बैटन, बैकेट, पौ, गूज, इबेट्सन तक सभी भूमि बन्दोबस्तों में कृषि भूमि पर निजी स्वामित्व को बढ़ावा देने की नीति अपनाई गई। टिहरी रियासत तथा अस्कोट की जमींदारी को छोड़कर शेष भाग में रैयतवाड़ी बन्दोबस्त प्रचलित था। प्रारंभ में बन्दोबस्तों की अवधि एक वर्ष थी। 1818 में भोटिया परगनों को छोड़कर सभी स्थानों पर गाँव के भू-स्वामियों के साथ त्रिवर्षीय बन्दोबस्त किया गया।

1.5.2 ब्रिटिश कुमाऊँ

कुमाऊँ गैर आइनी प्रदेश था और 1862 का आगरा लगान कानून तराई-भाबर में तो लागू था, परंतु कुमाऊँ के अल्मोड़ा, नैनीताल और गढ़वाल के पहाड़ी इलाकों में स्टोवेल के पुराने नियमों के आधार पर लगान लिया जाता था। 1893 में नाप भूमि के अतिरिक्त समस्त भूमि के सरकारी होने से संबंधित राजाज्ञा जारी की गई। औपनिवेशिक सत्ता की स्थापना (1815) से पूर्व राज्य की अर्थ-व्यवस्था का मुख्य आधार कृषि थी और गाँव इस व्यवस्था की धुरी थे। गाँव तथा उसके अन्तर्गत आने वाली भूमि का स्वामित्व राजा में निहित था किन्तु उस स्थान पर रहने वाले कृषकों को राजस्व देने की शर्त पर उस भूमि पर कृषि करने का परम्परागत अधिकार प्राप्त था। वे इस भूमि का विक्रय नहीं कर सकते थे। 1815 के बाद औपनिवेशिक शासन में भूमि संबंधों के पूर्व स्वरूप में कुछ परिवर्तन किए गए। भूमि हस्तांतरण के व्यक्तिगत अधिकार की शुरुआत हुई। भू-अधिकारों के आधार पर इनको निम्नवत वर्गीकृत किया जा सकता है—

1. हिस्सेदारी अधिकार

इसके अन्तर्गत परम्परागत थातवानी के स्थान पर हिस्सेदारी प्रथा का प्रारंभ किया गया और कुछ वर्गों को हिस्सेदारी अधिकार प्रदान किए गए। इस वर्ग को गाँव की कृषि भूमि में विक्रय अथवा अन्य माध्यम से हस्तांतरण का अधिकार दिया गया। यह अधिकार केवल कृषि भूमि तक प्रभावी था। गैर आबाद (बेनाप) भूमि को हिस्सेदारी अधिकारों से मुक्त रखते हुए राज्य के स्वामित्व में ले लिया गया। पौ के अनुसार 'कृषि भूमि पर निजी स्वामित्व का हस्तांतरण ब्रिटिश शासन की ही देन है।'

2. खायकरी अधिकार

1815 के बाद खायकरी अधिकारों को भी दो श्रेणियों में बाँटा गया—1. पक्का खायकर—वास्तविक खुदकाशत भू-स्वामी थे और पिछले शासन में अनुदानों या प्रधानों, थोकदारों के अनधिकृत कब्जे के कारण अपने खायकरी सत्त्व से वंचित हो गए थे। इनके क्षेत्र में हिस्सेदारों की खुदकाशत जमीन नहीं थी और सभी आसामी उसके तथा अन्य हिस्सेदारों के खायकर होते थे। स्टोवेल ने इन्हें अधीनस्थ भू-स्वामी कहा है। 2. कच्चा खायकर—जिन गाँवों में हिस्सेदार भूमि प्राप्त कर लेता था और इस प्रकार के सभी मामलों में वास्तविक अधिकार वाले खायकर अपना

पक्का खायकरी अधिकार खो देते थे, उन्हें कच्चा खायकर कहा जाने लगा। अपने खायकरी अधिकारों के आधार पर ये अनेक उपवर्गों में बँटे थे। खायकर का कृषि भूमि पर वंशानुगत अहस्तांतरणीय अधिकार था और पिता की मृत्यु पर प्रायः पुत्रों में भूमि का उपविभाजन होने से जोतें छोटी होती चली जाती थीं और कभी-कभी खायकरों को सिरतान या पायकाशत के रूप में कार्य करने के लिए विवश होना पड़ता था।

3. खुर्नी या कैनी

औपनिवेशिक शासन में खुर्नी या कैनी को भी खायकर के नाम से वैध अधिकार प्रदान किया गया। संभवतः उनमें और कच्चे खायकर में अंतर प्रायः समाप्त हो चुका था, क्योंकि सबसे पुराने बन्दोबस्ती अभिलेखों में भी खुर्नी या कैनी का कोई उल्लेख नहीं मिलता और खायकर की तरह ही उससे व्यवहार होता था।

4.. सिरतान,पायकाशत,हलिया तथा साझी

पूर्व की भाँति ही अस्थायी काशतकार और कृषि श्रमिक बने रहे।

5. पटवारी व्यवस्था

ट्रेल के प्रारंभिक बन्दोबस्त सयाणे,कमीण तथा थोकदारों के साथ तथा बाद के बन्दोबस्त पधानों के साथ भी हुए। ब्रिटिश शासन की भू-राजस्व संरचना में पटवारी नामक नये पदाधिकारी की शुरुआत की गई(1837 में ट्रेल द्वारा)। राज्य द्वारा नियुक्त इस अधिकारी के अधीन पट्टी के गाँवों में भू-राजस्व वसूली, ग्रामीण भूमि का मापन,भूमि संबंधी झगड़ों को निपटाना,कुली बेगार की व्यवस्था करना तथा पुलिस संबंधी कार्य थे। फेहरिस्त मजामीन के अनुसार "उसकी नियुक्ति तथा स्थानान्तरण कलेक्टर द्वारा किया जाता था। इसके अलावा अमीन गाँवों की भूमि का मापन करते थे तथा कानूनगो जागीरों का लेखा.जोखा रखते थे। थोकदार तथा पधान का महत्व सीमित होता चला गया।

पिछले शासन के अन्तर्गत कृषि भूमि के अधिकांश भाग के गूँठ तथा माफी के रूप में दिए गए अनुदानों से होने वाली सरकार की हानि का आकलन करते हुए ट्रेल ने अनेक गाँवों को खालसा में परिवर्तित कर दिया। इस प्रकार गाँवों की कुछ स्थानीय व्यवस्थाओं को बनाए रखते हुए भी उनके स्वरूप में परिवर्तन किए गए। गैर आबाद क्षेत्रों में कृषिगत विस्तार की परंपरा को बढ़ाया गया। फी सिंपिल इस युग का एक नया प्रयोग था। डोरी पैमाइश व्यवस्था के अन्तर्गत भू-मापन के लिए बैकेट ने 20 गज की एक जंजीर तैयार की,जिसमें प्रति दो गज पर उपविभाग किए गए। जरीब के दस उपविभागों में से छः छोटे सिरे का निर्माण करते थे तथा जंजीर नाली(ऐसी भूमि जिसमें दो सेर बीज बोया जाता हो), पर आधारित होती थी।

1.5.3 टिहरी राज्य

राज्य की समस्त भूमि का सत्त्व राजा में निहित था। केवल सकलाना के मुआफीदारों को टिहरी नरेश की छत्रछाया और अधीनता में अपनी मुआफी के अंदर 'हक हिस्सेदारी' मिला हुआ था। टिहरी राज्य के हिस्सेदार की स्थिति ब्रिटिश गढ़वाल के हिस्सेदार से भिन्न थी। वह अपनी हिस्सेदारी की भूमि को टिहरी नरेश की आज्ञा के बिना बेच नहीं सकता था। राज्य के गाँवों में राजा की आज्ञा से तथा मुआफी के गाँवों में हिस्सेदार की आज्ञा से जो व्यक्ति किसी कृषि भूमि पर कृषि करता था वह आसामी कहलाता था। आसामी तीन प्रकार के थे—1. मौरुसीदार—टिहरी नरेश या हिस्सेदार की आज्ञा से उसकी भूमि को बिना किसी अन्य की अधीनता के कमाता था और रकम (राजस्व देता था)। 2. खायकर—उस आसामी को कहते थे जो किसी मौरुसीदार के अधीन उस भूमि को कमाता था और बदले में निर्धारित रकम देता था। 3. सिरतान—किसी मौरुसीदार या खायकर के अधीन उसकी भूमि को सिरती या नकद रकम पर किसी पट्टा या कबूलियत (लिखित स्वीकृति) अथवा अलिखित स्वीकृति के द्वारा कुछ अवधि के लिए कमाता था।

मौरुसीदार को खायकर से अधिक सम्मानित समझा जाता था। 1930 में राज्य के मौरुसीदारों को अधिकार दिया गया कि वे दरबार से विशेष अनुमति लेकर अपने उन खायकरों को, जो उनकी भूमि पर 22 वर्ष से अधिक समय से कार्य कर रहे हों, कुछ धनराशि लेकर उन्हें मौरुसीदार बना सकते हैं। यदि किसी मौरुसीदार की निस्संतान मृत्यु हो जाती थी तो उसकी भूमि पर औताली के रूप में राजा का स्वामित्व हो जाता था। यहाँ तक कि उसकी अविवाहित पुत्रियों और विधवा पत्नी पर भी राजा का स्वामित्व समझा जाता था। 1860 में मोंटेनियर के यात्रा वृत्तांत में इस प्रथा के उल्लेख के बाद आलोचना होने पर भवानीशाह ने अपने राज्यकाल में इस प्रथा को बन्द कर दिया। इसके अलावा मौरुसीदार द्वारा अपनी भूमि छोड़कर अन्यत्र बस जाने पर उसकी भूमि पर राजा का स्वामित्व हो जाने से संबंधित प्रथा गयाली एवं मौरुसीदार के बिना उत्तराधिकारी के मृत्यु हो जाने और अपने जीवनकाल में किसी को विधिवत वारिस न बना जाने की स्थिति में मुयाली के रूप में उसकी सम्पत्ति पर राजा का स्वामित्व हो जाने से संबंधित नियम बने रहे। यही स्थिति खायकर और मौरुसीदार के संबंध में भी थी। पक्के खायकरों के गाँवों में औताली, मुयाली या गयाली होने पर खायकर के जोत की भूमि गाँव संजायत हो जाती थी और गाँव के पंच खायकरों की संपत्ति समझी जाती थी। नरेन्द्रशाह के राज्यकाल में यह प्रावधान किया गया कि मौरुसीदार की भूमि पर बारह वर्ष से अधिक की अवधि तक नियमित रूप से लगान देने वाला सिरतान खायकर बन सकता था। नरेन्द्रशाह के शासन काल में मौरुसीदारों को राजा की विशेष अनुमति से कमीशन देकर भूमि विक्रय का अधिकार दिया गया।

1.5.4 वन नीति

ब्रिटिश वन व्यवस्था के अभ्युदय से पूर्व वन व्यवस्था पारंपरिक प्रबंध के अन्तर्गत ग्रामीण समुदायों के हाथ में रही। यद्यपि गाँव के लिखित क्षेत्रफल में इस सामुदायिक अधिकार की गणना नहीं की जाती थी। ग्रामीणों द्वारा अपने उपभोग के लिए वनों के दोहन के साथ-साथ स्थानीय लोगों द्वारा उनका संरक्षण भी किया जाता था। गाँवों के आस-पास के वन गाँव की सीमाएँ भी निर्धारित करते थे और ये सीमाएँ 1823 के बन्दोबस्त में भी मानी गई थीं। इन सीमाओं के भीतर से प्रत्येक गाँव का निवासी ईंधन, चारा, कृषि उपकरण, परंपरागत कुटीर उद्योगों, गृह निर्माण आदि

के लिए वनों लकड़ी, सूखी बिछावन पत्ती आदि वनाधिकारों का प्रयोग करता था। आवश्यकता पड़ने पर चारा,पत्ती,कृषि यंत्र आदि के लिए हरी लकड़ी काटने का प्रावधान था।

उत्तराखण्ड में रेलवे के स्लीपर्स के निर्माण के साथ ही वनों के दोहन की प्रक्रिया आरंभ हुई। औपनिवेशिक शासन के आरंभिक पच्चीस वर्षों तक वनों में कर वसूली के लिए ठेके की प्रथा जारी रही। ठेकेदार को ठेका देते समय ठेके की राशि का तो ध्यान रखा जाता था,पर वृक्षों के अनियमित एवं अंधाधुंध कटान को रोकने के लिए कोई व्यवस्था नहीं थी। 1855 में वन विभाग की स्थापना हो जाने पर भी वनों की नियमित सुरक्षा की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया। 1858 में रैमजे ने कुछ जंगलों में ठेका प्रथा बन्द कर दी। 1863 में तत्कालीन कुमाऊँ की समस्त ऐसी भूमि ,जो कृषि योग्य नाप भूमि के अन्तर्गत नहीं थी,को संरक्षित घोषित करने के बाद राजस्व विभाग के स्वामित्व में दिया गया और उनका प्रबंध कुमाऊँ कमिश्नर के अधीन कर दिया गया। 1865 में व्यापारिक वन व्यवस्था के उद्भव के बाद वनों पर राज्य को आधिकारिक नियंत्रण प्राप्त हुआ और वनों के प्रबंध में राज्य का नियंत्रण बढ़ता गया। 1890 के बाद चीड़ के पेड़ों से लीसा तथा तारपीन के तेल का उत्पादन किये जाने के बाद वनों के वाणिज्यीकरण में वृद्धि हुई। 1874 में ग्रामीणों के परंपरागत वन अधिकारों को समाप्त किया गया और 1878 के वन अधिनियम के द्वारा वनों को आरक्षित घोषित किया गया 1893 में नाप भूमि के अतिरिक्त समस्त भूमि को सरकारी घोषित करते हुए वनों को तीन वर्गों में विभक्त कर दिया गया। 1911 से 1917 तक राज्य द्वारा वनों का अधिग्रहण कर लिया गया। गैर कृषि क्षेत्रों को राज्य के स्वामित्व के अन्तर्गत ले लिए जाने की प्रक्रिया से भी धीरे-धीरे वनों और गाँव के समीपवर्ती चारागाहों पर सरकार के अधिकार का विस्तार होता गया और यहाँ से इस क्षेत्र के समाज और संसाधनों पर दबाव और भी बढ़ता चला गया। आरक्षित वनों का विस्तार हुआ और वनों पर स्थानीय जनता के परंपरागत अधिकार कम होते चले गए। 1921 में तत्कालीन कुमाऊँ कमिश्नर पी. विंडम की अध्यक्षता में गठित कमेटी के सुझावों के आधार पर 1931 में औपचारिक वन पंचायतों के गठन के लिए नियम बनाए गए।

1.5.5 टिहरी राज्य

में भी वन व्यवस्था औपनिवेशिक नीति का ही प्रतिरूप थी। रेलवे के स्लीपर्स की मांग की पूर्ति के लिए विल्सन को तो वनों के ठेके से ही प्रति वर्ष लाखों रुपए की आय हुई। नरेन्द्रशाह के शासन काल में 1855 में ब्रिटिश कुमाऊँ- गढ़वाल के अनुरूप ही वन विभाग का गठन किया गया और ग्रामीणों के हकों और कर्तव्यों के संबंध में विस्तृत नियमावली प्रकाशित की गई। विभाग ने करों की वसूली पर ही अपना ध्यान रखा। राज्य की आय में वृद्धि हुई, पर प्रजा के अधिकार सीमित होते चले गए।

स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न—

निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—

(क) हिस्सेदारी तथा अधिकारों का स्वरूप

(ख) वनों पर जनता के परंपरागत अधिकार तथा उनका हनन

2. नीचे लिखे प्रश्नों के उत्तर दीजिए

- (क) ब्रिटिश कालीन उत्तराखण्ड में भूमि हस्तांतरण के व्यक्तिगत अधिकार की शुरुआत हुई।
(ख) 1864 के बाद रेलवे के स्लीपरों के निर्माण के लिए वनों का अत्यधिक दोहन हुआ।

1.6. अर्थव्यवस्था

उत्तराखण्ड की अर्थव्यवस्था का मूल आधार कृषि और पशुपालन और व्यापार रहा है। भौगोलिक विषमता के कारण कृषि उत्पादन अधिक न होने से सैन्य कर्म भी आजीविका का एक प्रमुख साधन रहा। औपनिवेशिक शासन के प्रारंभ में ट्रेल के भूमि उपयोग अनुमानों में 20 प्रतिशत क्षेत्र को कृषि क्षेत्र माना गया था। कृषि उत्पादन स्थानीय जरूरतों के हिसाब से अपर्याप्त था। जनता की भाबर-तराई और मैदानी इलाकों पर निर्भरता का विवरण तत्कालीन समाचार पत्र शक्ति ने भी दिया है। भौगोलिक विषमता एवं प्राकृतिक आपदाओं के अलावा औपनिवेशिक सरकार की आर्थिक नीतियों का भी दुष्प्रभाव स्थानीय जन जीवन पर पड़ा। उत्तराखण्ड में औपनिवेशिक हित हिमालय के संसाधनों, वन्य जीव, लकड़ी, जड़ी-बूटी, ऊन, धातुओं आदि के दोहन तथा भारत-तिब्बत व्यापार से जुड़ा था। जंगल एक महत्वपूर्ण आर्थिक संसाधन के रूप में परिवर्तित हुए। लीसे के लाभ को देखते हुए चीड़ के जंगल बहुतायत में लगाए गए। मिट्टी की गुणवत्ता प्रभावित हुई और कृषि पर भी इसका दुष्प्रभाव दिखाई दिया। इसके अलावा प्रथम विश्व युद्ध के दौरान सूखा एवं अकाल पड़ने से भी जनता की स्थिति काफी खराब हुई।

1.6.1 राज्य की आय के साधन

ब्रिटिश सरकार ने प्रारंभ में गोरखा युगीन सभी करों को हटाकर दो प्रकार के कर निर्धारित किए—1. माल (भूमिकर), 2. सायर (गैर कृषि राजस्व)। बाद में सायर में आंतरिक शुल्क को भी शामिल करते हुए इसमें सीमा शुल्क, आबकारी, नमक कर तथा डाक कर भी सम्मिलित किए गए। भूमि कर की वसूली पधानों के माध्यम से की जाती थी। धीरे-धीरे भू-राजस्व की दर में भी वृद्धि की गई। चौथे बन्दोबस्त में भू-मापन का मानक बीसी को निर्धारित किया गया। कुल राजस्व का औसत निकलने पर भू-राजस्व की कुल दर उपज की एक तिहाई ठहरती थी, जबकि शासक वर्ग को 1/2 राजस्व देने की परंपरा थी। ब्रिटिश शासन में काश्तकारों द्वारा थातवानों को दिए जाने वाले देयों को भी राजस्व का 25 प्रतिशत मालिकाना अदायगी के रूप में निर्धारित किया गया।

टिहरी रियासत में राज्य की आय के प्रमुख स्रोत भूमिकर, वनों से संबंधित ठेके, न्यायालय, यातायात, आयात-निर्यात कर, उत्पादन तथा विक्रय कर, मादक द्रव्य, जुआ आदि के ठेके, उत्पादन तथा विक्रय कर, आयकर, नजराना आदि थे। इसमें भी वन विभाग से सर्वाधिक आय होती थी। भूमिकर या लगान का चौदह आना भर अर्थात् 7/8 नकद रूप में 'मामला' के नाम से लिया जाता था। लगान का दो आना भर अर्थात् 1/8 अन्न के रूप में 'विसाही' या 'बरा' के नाम से लिया जाता था। बरा में खाद्य पदार्थों के अतिरिक्त ईंधन और लकड़ी के बोझ भी लिए जाते थे। यह वर्ष में दो बार दोनों फसलों पर वसूल होता था। लगान के एक भाग के रूप में बरा वसूल करने की प्रथा मानवेन्द्रशाह के राज्यकाल तक बनी रही।

1.6.2 व्यापार-वाणिज्य

इस युग में भी व्यापार की तीन श्रेणियाँ थीं— भोटान्तिक व्यापार ग्रीष्मकाल में अल्मोड़ा, श्रीनगर, रानीखेत, बागेश्वर आदि और शीतकाल में भाबर तथा जुलाई, अगस्त एवं सितंबर में तिब्बत के साथ होता था। तिब्बत एवं भारत के बीच उत्तराखण्ड से नीती, माणा, जोहार, दारमा तथा ब्यांस के मार्गों से व्यापार होता था। नवंबर के मध्य से वर्षाकाल के आरंभ तक अल्मोड़ा, टनकपुर और नेपाल के बीच व्यापारिक गतिविधियाँ तेज रहती थीं। तिब्बत से आयात की जाने वाली प्रमुख वस्तुओं में सुहागा, नमक, ऊन तथा ऊनी वस्त्र, रेशम, बकरे, भेड़ें, याक आदि पशु प्रमुख थे। बेटन की रिपोर्ट से ज्ञात होता है कि अक्टूबर 1840 और मई 1843 के बीच जोहार, दारमा तथा ब्यांस के मार्गों से भोटान्तिकों द्वारा 1,55,700 रु. का आयात तथा 79,375 रु. का निर्यात हुआ। टिहरी राज्य से भी विभिन्न प्रकार की सामग्री का अन्य पर्वतीय क्षेत्रों तथा मैदानी भागों से आयात-निर्यात होता था। चाय ब्रिटिश युगीन व्यापार की एक अन्य प्रमुख वस्तु थी। परवर्ती वर्षों में मैदानी क्षेत्रों से संपर्क अधिक बढ़ते जाने और व्यापारिक मार्गों की सुगमता के कारण औद्योगिक उत्पादन और व्यापार में परिवर्तन हुआ। ब्रिटिश कारखानों में निर्मित वस्तुएँ भारतीय हस्तशिल्प की अपेक्षा कहीं अधिक सस्ती थीं, फिर भी 1907 में जोहार, दारमा तथा ब्यांस के मार्गों से दो लाख रु. की ऊन तथा इतने ही मूल्य के सुहागे का आयात किया गया था। नीती से ऊन के आयात में एक-तिहाई की कमी हुई और माणा से होने वाला आयात बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक तक काफी कम हो गया। तिब्बती सामग्री में मूल्य वृद्धि होने तथा समुद्री नमक का प्रयोग बढ़ने से तिब्बत से आने वाले नमक की मात्रा में भी कमी आई। 1904 की ल्हासा संधि तथा कमिश्नर शेरिंग की तिब्बत यात्रा के फलस्वरूप भारत-तिब्बत व्यापार पर काफी अच्छा प्रभाव पड़ा, पर 1914 के बाद प्रथम विश्व युद्ध प्रारंभ होने तथा 1929-30 में विश्वव्यापी आर्थिक मंदी के कारण उत्तराखण्ड के व्यापार में भी ह्रास हुआ।

1.6.3 खनन तथा गृह उद्योगों की स्थिति

उत्तराखण्ड में ताँबा, लोहा आदि खनिज तथा अन्य प्राकृतिक संसाधन पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध थे। लेकिन व्यावसायिक ज्ञान के अभाव, अच्छे बाजारों से खानों की दूरी, अनाज के मूल्य में वृद्धि तथा चाय बागानों में श्रम की मांग के चलते उत्पादन केवल स्थानीय उपभोग के लिए किया जाता था। यद्यपि सरकार ने लोहे और तारपीन के कुछ कारखाने भी लगाए, पर यह प्रयोग एक सीमा से अधिक सफल नहीं हो पाया। गिरीश मिश्र ने 'आधुनिक भारत का आर्थिक इतिहास' में इससे संबंधित औपनिवेशिक नीतियों की विस्तृत समीक्षा की है। गृह उद्योगों का ह्रास होने और जनसंख्या में वृद्धि से भी कृषि पर दबाव बढ़ा। स्थानीय समाचार पत्रों में विभिन्न लेखों के माध्यम से क्षेत्र में बेरोजगारी दूर करने तथा स्थानीय जनता का पलायन कम करने के लिए विभिन्न कुटीर उद्योगों से संबंधित कारखाने लगाने तथा घरेलू व्यवसाय को उन्नत किए जाने की आवश्यकता पर बल दिया।

1.6.4 जनसंख्या

ब्रिटिश कुमाऊँ -गढ़वाल के विभिन्न परगनों के 1841 से 1891 के बीच के जनसंख्या संबंधी पचास वर्षों के आंकड़ों (स्रोत— बैटन की बन्दोबस्ती आख्या तथा 1891 की जनगणना रिपोर्ट)को देखें तो इसमें निरंतर वृद्धि दिखाई देती है। 1841 में कुमाऊँ की कुल आबादी 376409 थी ,जो 1891 में बढ़कर 482889 हो गई। इसी तरह गढ़वाल में 1841 की 131916 की आबादी 1891 में 407818 हो गई। इसमें उत्तराखण्ड के मैदानी इलाके शामिल नहीं हैं। टिहरी की जनसंख्या(स्रोत— शिवप्रसाद डबराल,टिहरी गढ़वाल राज्य का इतिहास-भाग.2) में भी 1881 से 1891 के बीच के वर्षों में 1,99,836 से 2,41,242 (20.72प्रतिशत वृद्धि) तथा 1901 में 2,68,888(11.5 प्रतिशत) की वृद्धि हुई। शीतकाल तथा ग्रीष्मकाल में जनसंख्या का प्रव्रजन पर्वतीय जनता की एक प्रमुख विशेषता थी।

1.6.5 यातायात एवं परिवहन

पर्वतीय क्षेत्रों में यात्रामार्ग दुर्गम थे। प्रायः मनुष्य और पशु ही भारवहन का प्रमुख साधन थे। हार्डविक,रेपर,मूरक्राफ्ट, वेब, हियरसे, पिलग्रिम आदि यूरोपीय यात्रियों के विवरणों से यात्रामार्गों के बारे में विशेष जानकारी मिलती है। यद्यपि मध्यवर्ती क्षेत्रों में सड़कें सुदूर आंतरिक तथा उत्तरवर्ती भागों की अपेक्षा कम दुर्गम थीं,पर बरसात के महीनों में ये असाध्य हो जाती थीं। औपनिवेशिक शासकों ने अपने व्यापारिक तथा सामरिक हितों के लिए इस क्षेत्र में पुराने मार्गों के जीर्णोद्धार तथा नये मार्गों का निर्माण कार्य प्रारंभ किया। बड़ी नदियों में लोहे के पुल भी बनाए गए। 1827-28 में ट्रेल ने हरद्वार से केदारनाथ के तीर्थ यात्रा मार्ग तथा वहाँ से रामनगर जाने वाले मार्ग का उद्घाटन किया,जो सात वर्षों में पूर्ण हुआ। 1874 में कुमाऊँ में प्रथम श्रेणी की गाड़ी(बैलगाड़ी)सड़कें रामनगर से रानीखेत और वहाँ से अल्मोड़ा तक थी। 1896 में द्वितीय श्रेणी में 17 चौड़ी घोड़िया सड़कें और तृतीय श्रेणी में कम चौड़ी 7 घोड़िया सड़कें थीं।गढ़वाल की संचार व्यवस्था कम चौड़ी घोड़िया सड़कों से संबंधित थी और ये अत्यंत खराब अवस्था में थीं। हरिद्वार से देवप्रयाग-श्रीनगर होकर बदरीनाथ जाने वाला तीर्थयात्रा मार्ग सबसे महत्वपूर्ण था। एन्द्रोदे की यात्रा (1624)के पौने दो सौ वर्ष बाद भी हार्डविक को यह मार्ग दुर्गम मिला था। कोटद्वार से पौड़ी होकर जाने वाली सड़क कुछ ठीक कही जा सकती थी। 1896 में यहाँ द्वितीय श्रेणी की सात तथा तृतीय श्रेणी की 27 सड़कें थीं। एक मार्ग मलेथा होकर टिहरी पहुँचता था। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पर्वतों की तलहटी तक रेलवे के आगमन और 1920 में मोटर वाहनों के प्रचलन से परिवहन और मार्गों की दशा में काफी सुधार हुआ, पर उत्तराखण्ड के सुदूर आन्तरिक भागों में मार्गों की दुरवस्था काफी हद तक बनी रही। बेगार प्रथा पहले से अधिक बढ़ गई। कुलियों को पहाड़ के भीतर दूरस्थ क्षेत्रों के अलावा मैदान में बरेली तक ले जाना सामान्य बात थी। यहाँ तक कि टिहरी रियासत में भी कम्पनी सरकार के सैनिकों के लिए भारवाहक (कुली) और खाद्य सामग्री(बर्दायश) उपलब्ध करने का आदेश कम्पनी द्वारा जनता को दिया गया था।

स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न—

निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—

(क) औपनिवेशिक उत्तराखण्ड में अर्थ व्यवस्था एवं राज्य की आय के साधन

(ख) पर्वतीय क्षेत्रों में यातायात एवं परिवहन की स्थिति।

2. नीचे लिखे प्रश्नों के उत्तर दीजिए

(क) उत्तराखण्ड में औपनिवेशिक हित क्या थे?

(ख) उत्तराखण्ड और तिब्बत के बीच भोटान्तिक व्यापार के मुख्य पड़ाव क्या थे?

1.7 समाज, स्त्रियों की दशा, शिक्षा

1.7.1 सामाजिक दशा

उत्तराखण्ड में भी समाज का मूल आधार वर्णाश्रम व्यवस्था थी। ब्रिटिश युगीन बन्दोबस्ती आख्याओं से पता चलता है कि कई ब्राह्मण भी कृषि कार्य में संलग्न थे और थातवान, खायकर तथा सिरतानों के रूप में उनकी एक अच्छी संख्या थी। शासक वर्ग के बदलने से क्षत्रिय वर्ग का महत्व कुछ कम हो गया था और उसकी स्थिति भू-स्वामी वर्ग में केन्द्रित हो गई। समाज में व्यवसायों पर आधारित अनेक वर्गों के उल्लेख मिलते हैं। शिल्पकार वर्ग में कोली, टमटा, ओड़, लोहार, तिरुवा, भूल, रुड़िया, बाड़ी, पहरिया, हनकिया, धोबी, दर्जी, औजी आदि थे। कुछ मुसलमान व्यापारी भी चन्द-परमार शासन में यहाँ आकर बस गए थे। इनके अलावा नायक लोग भी थे, जिन्हें पातीराम ने खस राजपूत, गंगादत्त उप्रेती ने शूद्र तथा एल.डी.जोशी ने खस बताया है। समाज में खान-पान, छुआछूत, जातिवाद जैसी कु-प्रथाएँ प्रचलित थीं। सवर्णों की बारात में डोला पालकी ढोने का कार्य हरिजन करते थे, पर स्वयं उन्हें इसकी इजाजत नहीं थी। टिहरी में सामंती शाही के अधीन राजा का स्थान सर्वोपरि था और वह प्रजा के लिए अभी भी बोलांदा बदरीनाथ था। राज्य में दास प्रथा प्रचलित थी। मीया प्रेमसिंह ने गुलदस्त तवारीख में उल्लेख किया है कि प्रतापशाह के राज्यकाल (1871-86) तक भी पचास कच्चे रु. में दास को खरीदा जा सकता था।

1.7.2 स्त्रियों की दशा

उत्तराखण्ड की अर्थव्यवस्था का मुख्य आधार होने पर भी स्त्रियों की दशा विशेष अच्छी नहीं थी। वे उपेक्षित और अशिक्षित थीं। पुत्री को उत्तराधिकार में पुत्र के समान अधिकार नहीं थे। पर्दा प्रथा, बहु विवाह और बाल विवाह भी प्रचलित था। विधवा स्त्री की दशा और भी अधिक दयनीय थी। यहाँ तक कि दिसंबर 1918 में अल्मोड़ा में एक महिला सती भी हो गई थी। गणिकाओं को सम्मान की दृष्टि से नहीं देख जाता था। नायक जाति में वेश्यावृत्ति की प्रथा व्याप्त थी। कन्या विक्रय के संदर्भ भी मिलते हैं। घरेलू दासियाँ छ्योड़ी कहलाती थीं। राष्ट्रीय जागृति के साथ ही उत्तराखण्ड में भी महिलाओं की दशा में भी सुधार के लिए प्रयास प्रारंभ हुए।

1.7.3 शिक्षा

1857 से पूर्व उत्तराखण्ड में प्राथमिक शिक्षा परंपरागत पद्धति पर आधारित थी। 1823 में ट्रेल ने लिखा था—“ यहाँ स्कूल जैसी कोई सार्वजनिक संस्था नहीं है और निजी विद्यालयों में केवल उच्च वर्ण के लोग ही शिक्षा पाते हैं। अध्यापक प्रायः ब्राह्मण हैं, जो पढ़ने, लिखने व हिसाब का थोड़ा बहुत ज्ञान देते हैं। सम्मानित ब्राह्मणों के बच्चों को संस्कृत भी पढ़ाई जाती है और

शिक्षा पूरी करने के लिए उन्हें अक्सर बनारस भेजा जाता है।” बैटन और रैमजे के विवरणों से पता चलता है कि कुमाऊँ और गढ़वाल में उस समय हिन्दी और संस्कृत की 121 निजी पाठशालाएँ थीं।

1854 में चार्ल्स वुड के घोषणपत्र के तहत 1857 में पब्लिक इंस्ट्रक्शन विभाग के अधीन कुमाऊँ सर्किल की स्थापना के माध्यम से उत्तराखण्ड में पाठशालाओं के निर्माण की प्रक्रिया प्रारंभ हुई। ए.आर. देसाई के अनुसार—“भारत में पाश्चात्य शिक्षा के प्रसार का श्रेय ईसाई मिशनरियों, ब्रिटिश सरकार और प्रगतिशील भारतीयों को है।” उत्तराखण्ड में भी इनके सम्मिलित प्रयासों से ही यह कार्य सम्पन्न हुआ। 1871 में शिक्षा विभाग की स्थापना के साथ ही विभिन्न क्षेत्रों में स्कूल खोले गए। अल्मोड़ा में 1944 में खुला मिशन स्कूल 1871 में रैमजे कॉलेज बन गया। नैनीताल शिक्षा के एक प्रमुख केन्द्र के रूप में विकसित हुआ। गढ़वाल में 1901 के उपरान्त पौड़ी, दोगड़डा, चोपड़ा, कण्डारस्यूँ आदि स्थानों में मिशनरी प्रयासों से स्कूल खुले। मैसमोर हाईस्कूल का शिक्षा की प्रगति में विशेष योगदान रहा। टिहरी में राज्य की ओर से पहला प्राथमिक विद्यालय 1883 में प्रतापशाह ने स्थापित किया, जिसे कीर्तिशाह ने हाईस्कूल बनाया। 1913 तक यहाँ 260 प्राथमिक विद्यालय थे, जिनमें 160 जनता द्वारा खोले गए थे। 1940 तक नरेन्द्रनगर, चन्द्रबदनी तथा चम्बा में मिडिल स्कूल भी खुले। राज्य में केवल एक इण्टर कॉलेज था। आर्य समाज ने भी दोगड़डा, काशीपुर, रामगढ़, नैनीताल, अल्मोड़ा आदि स्थानों पर अपने विद्यालयों की स्थापना की। स्त्री शिक्षा के क्षेत्र में भी मिशनरी प्रयासों से गति आई। राष्ट्रीय आन्दोलन के दौर में स्थानीय समाचार पत्रों के आलेखों, स्थानीय सुधारकों तथा सरला देवी जैसी महिलाओं के प्रयासों से भी स्त्री शिक्षा को बढ़ावा मिला।

स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न—

निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—

(क) स्त्रियों की दशा

(ख) शिक्षा का विकास

2. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए

(क) उत्तराखण्ड में सरकार द्वारा पाठशालाओं के निर्माण की प्रक्रिया कब शुरू हुई?

1.8 1857 और उत्तराखण्ड

1857 की घटनाओं ने उत्तराखण्ड को भी प्रभावित किया, पर यह प्रत्यक्ष रूप से इससे प्रभावित नहीं हुआ। यहाँ विरोधियों में कालू महारा, आनंदसिंह फर्तुवाल, बिशनसिंह करायत के नाम उल्लेखनीय हैं। कमिश्नर रैमजे ने पर्वतीय भागों को इसके प्रभाव से रोकने के लिए पर्याप्त उपाय किए। ब्रिटिश गढ़वाल में पुराने वन ठेकेदार पद्मसिंह नेगी तथा कुमाऊँ के प्रवेश मार्गों पर धर्मानन्द जोशी को प्रभार सौंपा गया। प्रशासनिक सक्रियता से यहाँ स्थिति नियंत्रण में रही। तराई- भाबर का इलाका इससे पूरी तरह प्रभावित हुआ।

1.8.1 उत्तराखण्ड और राष्ट्रीय आंदोलन

भारत में औपनिवेशिक सत्ता के खिलाफ राष्ट्रीय जागृति की जो लहर फैली, उससे उत्तराखण्ड भी अछूता नहीं रहा। शेखर पाठक और रामचंद्र गुहा ने 1916-21, 1930-32 तथा 1940-42 के ब्रिटिश कुमाऊँ के आंदोलनों को भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस आंदोलनों का समयस्क तथा टिहरी के किसान आंदोलन को अखिल भारतीय राज्य प्रजामण्डलों से संबद्ध मानते हुए दो भिन्न धाराओं से संबंधित माना है तथा इस आधार पर दो अलग-अलग क्षेत्रों में संघर्ष के विशिष्ट संबंधों को उजागर करने पर बल दिया है। इस अंचल में औपनिवेशिक शासन की शोषक प्रवृत्तियों के प्रति जागृति लाने, विभिन्न स्थानीय संघर्षों के एकीकरण तथा उन्हें राष्ट्रीय घटनाओं के साथ जोड़ने में स्थानीय समाचार पत्रों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इनमें अल्मोड़ा अखबार (1871-1918), गढ़वाली (1905-51), शक्ति (1918 से लगातार), कर्मभूमि (1937 से लगातार), युगवाणी (1947 से लगातार) के नाम प्रमुख रूप से लिए जा सकते हैं। इनके अलावा कुमाऊँ कुमुद, स्वाधीन प्रजा, जागृत जनता आदि की भी प्रमुख भूमिका रही। उस दौर को अपनी रचनाओं विशेषकर कविताओं से स्वर देने वालों में कृष्ण पाण्डे, 1800-1850, गौर्दा (1872-1949) और गुमानी सहित कई अग्रणी रचनाकार रहे। इन्होंने समकालीन ब्रिटिश शासन, समाज और आन्दोलन को अपने रचनाकर्म का प्रमुख विषय बनाया।

राष्ट्रीय नेताओं में प. गोविन्द बल्लभ पंत और कॉमरेड पी.सी. जोशी तथा स्थानीय स्तर पर बदरीदत्त पाण्डे, हरगोविन्द पंत, मुकुन्दीलाल, रामसिंह धौनी, अनुसूया प्रसाद बहुगुणा, मोहन जोशी, तरादत्त गैरोला (ब्रिटिश कुमाऊँ) श्रीदेव सुमन, शंकर डोभाल, वीरेन्द्र दत्त सकलानी, परिपूर्णानन्द पैन्थूली आदि (टिहरी) और अन्य महत्वपूर्ण नामों में चन्द्रसिंह गढ़वाली, खुशीराम, हर्षदेव ओली, प्रयागदत्त पंत, रामसिंह आजाद, नागेन्द्र सकलानी के अलावा अनेक अन्य ज्ञात-अज्ञात नाम हैं जिन्होंने इस अंचल में विभिन्न प्रतिरोध आंदोलनों का नेतृत्व किया।

1.8.1.1 कुमाऊँ परिषद

1916 में गोविन्दबल्लभ पंत, हरगोविन्द पंत, चंद्रलाल शाह, बदरीदत्त पांडे आदि के प्रयासों से कुमाऊँ परिषद की स्थापना हुई, जिसका प्रथम अधिवेशन नैनीताल के मझेड़ा ग्राम में रायबहादुर नारायणदत्त छिपाल की अध्यक्षता में हुआ। 1916 से 1926 तक इसके सात अधिवेशन हुए। 1923 से परिषद ने कांग्रेस के कार्यक्रमों को अपना लिया।

1.8.1.2 कुली बेगार आंदोलन

कुमाऊँ परिषद का महत्वपूर्ण कार्य कुली बेगार प्रथा के उन्मूलन के लिए आंदोलन करना था। औपनिवेशिक शासन में कुली उतार, बेगार और बर्दायश की यह प्रथा अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई थी। 1920 में काशीपुर में हरगोविन्द पंत की अध्यक्षता में परिषद के चौथे अधिवेशन में बेगार प्रथा को समाप्त करने का प्रस्ताव रखा गया। 1 जनवरी 1921 को कत्यूर के चामी गाँव के हरू मंदिर में 400 लोगों ने एक साथ बेगार न देने की शपथ ली। हरगोविन्द पंत, बदरीदत्त पांडे, गोविन्दबल्लभ पंत, चिरंजीलाल आदि के नेतृत्व में मकर संक्रान्ति के अवसर पर

बागेश्वर के उत्तरायणी मेले में ग्रामवासियों ने कुली बेगार के खिलाफ प्रतिज्ञा की और ग्राम प्रधानों, थोकदारों तथा मालगुजारों ने सरयू में कुली बेगार के रजिस्टर बहा दिये। आन्दोलन ने व्यापक रूप धारण कर लिया और 1921 के अन्त तक इस अमानवीय प्रथा का लगभग अन्त हो गया। गढ़वाल में यह उतना उग्र नहीं हुआ क्योंकि 1908 से जोधसिंह नेगी के प्रयत्न से मुख्य सड़कों पर कुली एजेंसी कार्य करने लगी थीं। 30 जनवरी 1921 को चमेठाखाल में मुकुन्दीलाल की अध्यक्षता में हुई सैकड़ों लोगों की सभा में बागेश्वर की घटना का अनुकरण गढ़वाल के लिए अनिवार्य बताया गया। इसके उपरान्त विभिन्न स्थानों में लगातार सभाएँ और प्रतिरोध होते रहे। आन्दोलन के दौरान गौर्दा ने 'कुली उतार' शीर्षक से 'मुल्क कुमाऊँ का सुणि लिया यारो। झन दिया कुल्ली बेगार.....' की रचना की जिसे शक्ति ने प्रकाशित किया।

गढ़वाली, पुरुषार्थ, तरुण कमाऊँ जैसे समकालीन स्थानीय समाचार पत्रों तथा राष्ट्रीय पत्रों, आज, अभ्युदय, लीडर, वन्दे मातरम, यंग इंडिया, में भी इस प्रथा के उन्मूलन संबंधी लेख प्रकाशित हुए। टिहरी में भी किसानों ने बरा, बेगार तथा करों को देने से इन्कार किया। शेखर पाठक के अनुसार 'शेष उत्तराखण्ड से बेगार उठने, असहयोग, सविनय अवज्ञा और भारत छोड़ो आन्दोलन के बाद भी टिहरी रियासत और अस्कोट में बेगार प्रथा बनी रही। उन्होंने इसका कारण नेतृत्व की उदासीनता माना है।



स्रोत: शेखर पाठक, उत्तराखण्ड में कुली बेगार प्रथा

1.8.2 वन आन्दोलन

उत्तराखण्ड के वन आन्दोलन को 1864 में वन विभाग की स्थापना के बाद देश में हाने वाले जन जातीय और कृषक वर्ग के वनाधिकारों के लिए किये जाने वाले आन्दोलनों के परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है। रेलवे के निर्माण के साथ ही वनों के दोहन की प्रक्रिया आरंभ हुई। (ब्रिटिश सरकार की वन नीति के बारे में आप इसी पाठ की इकाई 1.5.4 में विस्तार से पढ़ चुके हैं)। समाचार पत्र गढ़वाली ने 1917 में 'जंगलात की सख्ती' शीर्षक से वन व्यवस्था से उत्पन्न कष्टों का वर्णन किया और आंदोलन की आवश्यकता बताते हुए लिखा 'जब तक जंगलात की सख्तियों को कुमाऊँ प्रान्त से दूर करने के लिए नियमपूर्वक दृढ़ आंदोलन नहीं किया जाएगा, तब

तक कोई विशेष फल नहीं होगा। सरकार की नीतियों से जनता का आक्रोश बढ़ता गया और इसने शीघ्र ही आन्दोलन का रूप धारण कर लिया। 1921 में कुली बेगार आन्दोलन के समय कुमाऊँ परिषद के नेतृत्व में बदरीदत्त पांडे, अनुसूया प्रसाद बहुगुणा, गोविन्दवल्लभ पन्त, हरगोविन्द पन्त आदि ने इस आन्दोलन में मुख्य भूमिका का निर्वाह किया। आन्दोलन की तीव्रता तथा जनता द्वारा वनों में अग्निकाण्ड आदि की घटनाओं को देखते हुए सरकार ने गिरफ्तारियाँ कीं। साथ ही पशुचारण, घास काटने से संबंधित कुछ सीमित अधिकार प्रदान किये, जिससे आन्दोलनकारी संतुष्ट नहीं थे। 1930-31 में ग्रामीणों द्वारा सरकार के आरक्षित वनों में लगातार आगजनी की घटनाएँ हुईं। इसके साथ ही नये भूमि बन्दोबस्त के अंतर्गत 30 प्रतिशत की वृद्धि किए जाने का भी विरोध हुआ। 1942 में आंदोलन पुनः तीव्र रूप से उभरा।

टिहरी रियासत की वन नीति जो औपनिवेशिक नीति का ही प्रतिरूप थी, के विरुद्ध हुए 1904, 1906 और 1930 में हुए प्रतिरोधों में जनता द्वारा राजा से जन विरोधी कानूनों को हटाने का आग्रह किया जाता रहा। 1930 में राजा की अनुपस्थिति में 30 मई को टिहरी राज्य के दीवान चक्रधर जुयाल द्वारा रवाई क्षेत्र में वनाधिकारों की बहाली के लिए आयोजित जन सभा पर गोलियाँ चला कर आन्दोलन के दमन का प्रयास किया गया।

1.8.3 असहयोग आन्दोलन और उत्तराखण्ड

उत्तराखण्ड में असहयोग आन्दोलन- कुली बेगार तथा वन आन्दोलन के रूप में फैला। इस आन्दोलन के पश्चात संपूर्ण राष्ट्रीय जीवन में आयी गतिशीलता से 1925 के बाद वन आन्दोलन की गति भी धीमी हो गयी। यह 1930 में पुनः सविनय अवज्ञा आन्दोलन के दौर में तीव्र और व्यापक रूप से उभर कर आया। कुली बेगार और वनों से संबंधित दोनों ही आन्दोलन असाधारण रूप से सफल रहे। पहले ने बेगार की प्रथा का उन्मूलन किया तो दूसरे ने स्थानीय जनता के वनाधिकारों का संरक्षण किया। कुमाऊँ परिषद के नेतृत्व में 1919-1929 तक के वर्षों में काउंसिलों हेतु चुनावों में हिस्सेदारी के अलावा रौलेट ऐक्ट से साइमन कमीशन तक का विरोध स्थानीय स्तर पर होता रहा। 25 फरवरी 1928 में प्रान्तीय कौंसिल में बैरिस्टर मुकुन्दीलाल ने साइमन कमीशन के बहिष्कार का प्रस्ताव रख और अल्मोड़ा से स्वराज्य पार्टी के टिकट पर चुने गए बदरीदत्त पांडे ने इसका अनुमोदन किया, जिसके पक्ष में 56 तथा विपक्ष में 55 मत पड़े और सरकारी पक्ष की हार हुई। 1926 में कुमाऊँ परिषद का कांग्रेस में विलीनीकरण हो गया।

1.8.4 सविनय अवज्ञा आन्दोलन और उत्तराखण्ड

1929 में गांधी जी के कुमाऊँ आगमन के उपरान्त अछूतोंद्वारा, सरकारी कार्यालयों और विद्यालयों का बहिष्कार शराबबन्दी, धरना विदेशी वस्त्रों की होली जलाने आदि कार्यों में तीव्रता आयी। गाँवों में यह जंगलात सत्याग्रह (वन आन्दोलन) के रूप में प्रकट हुआ। गोविन्द बल्लभ पन्त ने नमक सत्याग्रह का संचालन किया। आंदोलन में कुन्ती वर्मा, मंगला वर्मा, जीवन्ती ठकुरानी, विमलादेवी, जानकी देवी साह, भागीरथी वर्मा, पद्मा जोशी आदि अनेक महिलाओं की सक्रिय भागीदारी रही। डाँडी मार्च में दो स्थानीय आन्दोलनकारियों के जाने, जगह-जगह धरने तिरंगा

फहराने के अभियान ,खादी और स्वदेशी के प्रचार, सल्ट क्षेत्र में वन नीति के खिलाफ असाधारण आन्दोलन, जिसमें सल्ट से 404 सत्याग्रहियों के अहिंसक जुलूस पर पुलिस ने लाठी चार्ज किया और 58 आन्दोलनकारियों गिरफ्तार कर लिया गया, जिन्हें गांधी इरविन समझौते के दौरान छोड़ा गया। इस प्रकार 1930 का वर्ष स्थानीय इतिहास में महत्वपूर्ण रहा और इसने उत्तराखंड में राष्ट्रीय संग्राम के स्वरूप को भी स्पष्ट किया। 23 अप्रैल 1930 को पेशावर में निहत्थे खुदाई खिदमतगारों पर गढ़वाल राइफल्स के सिपाहियों द्वारा गोली चलाने से इनकार करना, मई में अल्मोड़ा नगरपालिका में तिरंगा फहराया जाना, जिसमें मोहन जोशी और शान्तिलाल त्रिवेदी घायल हुए आदि घटनाएँ हुईं। 1930 में ही संयुक्त प्रान्त में लगानबन्दी के साथ ही कुमाऊँ तथा गढ़वाल में भी लगानबन्दी आन्दोलन प्रारंभ हुआ। इसका सर्वाधिक प्रभाव सल्ट क्षेत्र में पड़ा। दमन के बावजूद सल्ट के निवासियों ने कमिश्नर को लगान न देने का नोटिस दिया।

इसके अलावा इस दौर में भारत में चल रही क्रान्तिकारी और समाजवादी गतिविधियों के प्रति भी यहाँ के राष्ट्रवादी नेताओं में सहानुभूति थी। स्थानीय राष्ट्रवादी समाचार पत्रों शक्ति आदि ने क्रान्तिकारियों तथा मजदूर आंदोलनों का दमन करने वाले विधेयकों तथा सरकारी नीतियों का विरोध करते हुए लाहौर षडयंत्र केस,भगत सिंह,राजगुरु तथा सुखदेव की फाँसी की घटनाओं तथा अनेक लेखों को अपने अंकों में प्रकाशित करके जनभावनाओं को उभारने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। अल्मोड़े के नवयुवकों ने इस घटना के विरोध में जुलूस निकाला। क्रान्तिकारी आंदोलन से प्रभावित होकर सशस्त्र संघर्ष में भाग लेने वाले युवकों में टिहरी निवासी इन्द्रसिंह तथा लैंसडाउन के एक समीपवर्ती गाँव के निवासी बच्चूलाल भट्ट की गतिविधियों का उल्लेख शिवप्रसाद डबराल ने भी किया है।(देखें, उत्तराखण्ड का इतिहास,भाग 8,खण्ड 2,पृ.218.19) भारतीय कम्युनिस्ट आंदोलन में अल्मोड़ा निवासी पी.सी. जोशी का महत्वपूर्ण स्थान है। 1928 में वह उ०प्र० मजदूर किसान पार्टी के सचिव और 1936 में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के महासचिव चुने गए। विभिन्न मंचों को मजबूत करने के अतिरिक्त उन्होंने कांग्रेस के भीतर सोशलिस्ट खेमे को कम्युनिस्ट पार्टी से जोड़ा।

1.8.5 अछूतोद्धार तथा शिल्पकार आंदोलन

1925 में हरि टम्टा,खुशीराम,बच्चीराम आर्य,रामप्रसाद टम्टा आदि के प्रयास से कुमाऊँ में पहली बार कुछ प्रमुख मांगों जैसे, प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य और निशुल्क किए जाने,नगरपालिका,जिला परिषद आदि में प्रतिनिधि भेजने का अधिकार देने,फौज में भर्ती,भूमि दिए जाने,सामाजिक कुरीतियों पर प्रतिबंध लगाने को लेकर बृहत् शिल्पकार सम्मेलन का आयोजन किया गया। 1929 में गाँधी जी के कुमाऊँ आगमन से अछूतोद्धार कार्यक्रम को बढ़ावा मिला। दोगड़डा में गुणानंद जुयाल आदि की भागीदारी में दलितोद्धार कांफ्रेंस आयोजित की गई। प्रथम दौर में दलित नेतृत्व की विभिन्न स्थानीय आंदोलनों में उदासीनता और सरकार से सहयोग के रुख को देखते हुए सवर्ण नेतृत्व(हरगोविन्द पंत, हर्षदेव ओली,बदरीदत्त पाण्डे,कृष्णानंद उप्रेती आदि) द्वारा हल जोतने, दलितों के साथ भोजन करने, उनके नौले से पानी पीने जैसी घटनाओं को भी अंजाम दिया गया, लेकिन इन कार्यों के प्रति सवर्णों के बीच ही अन्तर्विरोध था। 1934 से 1940 तक अखिल भारतीय दलित संस्था के उपाध्यक्ष के रूप में हरि टम्टा ने सरकार के साथ

सहयोग की नीति अपनाते हुए दलितों के उद्धार के लिए कार्य किया। जयानन्द भारती, खुशीराम, बलदेव सिंह आर्य, बचीराम आर्य आदि ने दलितों की मुक्ति को राष्ट्रीय संग्राम के साथ जोड़ा। गढ़वाल में जयानंद भारती ने डोला पालकी आंदोलन को विकसित किया, जो उस दौर का एक व्यापक सामाजिक आंदोलन रहा। 1936 में इलाहाबाद हाइकोर्ट द्वारा दलितों के लिए उनके पुत्र-पुत्रियों के विवाह में डोला-पालकी का अधिकार वैध घोषित किया गया। 1941 में लैंसडाउन में हुए सर्वदलीय सम्मेलन में सवर्णों ने इस अधिकार को स्वीकार किया। हालांकि विरोध की घटनाएँ फिर भी उभरती रहीं। 1941 तथा 1946 में बागेश्वर के मेले में हुए सम्मेलनों में पुनः दलितों के हितों के लिए आवाज उठाई गई।

1.8.6 नायक सुधार आंदोलन

कुमाऊँ की नायक जाति में कन्याओं में वेश्यावृत्ति की कुप्रथा प्रचलित थी। 1913 में आर्य समाज ने इसके उन्मूलन के लिए सरकार के समक्ष एक पृथक कानून बनाने की मांग रखी। बदरीदत्त पाण्डे, गोविन्दबल्लभ पंत, कृष्णानंद शास्त्री आदि के नेतृत्व में कुमाऊँ परिषद ने इस कार्य को आगे बढ़ाया। गढ़वाली, शक्ति आदि समाचार पत्रों ने इसे प्रमुखता से प्रकाशित किया। 'गढ़वाली' के सम्पादक विश्वम्भरदत्त चंदोला ने 1913 में मुम्बई में वेश्यावृत्ति कर रही पर्वतीय कन्याओं का सचित्र हाल अपने अखबार में दिया। इसी प्रकार कन्या विक्रय के विरुद्ध 1923 में बदरीदत्त पाण्डे ने 'शक्ति' में लिखा 'कुमाउनियाँ चेतो, तुम्हारे घर में यह क्या हो रहा है।' 1919 में नैनीताल में हुई कुमाऊँ परिषद की सभा में वेश्यावृत्ति रोकने, नायक कन्याओं के लिए शिक्षा की व्यवस्था आदि से संबंधित निर्णय लिए गए। इसके बाद लगातार प्रयास जारी रहे। विभिन्न कानूनों के बनने और सुधार सभाओं के बावजूद भी नायक जाति में यह प्रथा आंशिक रूप में बनी रही।

1.8.7 किसान आंदोलन

कुली बेगार तथा वनांदोलन प्रारंभिक किसानों के सफल आंदोलन थे। स्थानीय किसान सरकार से नई पद्धति के आधार पर स्थायी लगान कानून बनाने की मांग कर रहे थे। 1928 में सरकार की लगान वृद्धि योजना का किसानों ने विरोध किया। 1930-31 के देशव्यापी लगानबंदी आंदोलन का प्रभाव यहाँ भी पड़ा, जिसे आप सविनय अवज्ञा आंदोलन वाले खण्ड में सल्ट के संदर्भ में भी पढ़ चुके हैं। दूसरा महत्वपूर्ण आंदोलन अस्कोट के भूमिहीन सिरतानों का था, जो रजवारों द्वारा बेदखल किए जाने के कारण आक्रोशित थे। बेदखली रोकने का सरकारी आदेश जारी होने के बाद भी कुमाऊँ में यह क्रम नहीं रुका था। 1937-38 के बाद इसमें तीव्रता आई और 500 किसानों का जत्था प्रान्तीय राजधानी लखनऊ के लिए पैदल रवाना हुआ, जिसे स्थानीय नेताओं, हरगोविंद पंत, हर्षदेव ओली, शांतिलाल त्रिवेदी आदि स्थानीय नेताओं ने समझा। बुझा कर वापस लौटा दिया। अस्कोट के किसानों के आक्रोश के लिए नेहरू ने प्रान्तीय सरकार को भी दोषी ठहराया। 1939 में द्वितीय विश्व युद्ध आरंभ होने से स्थानीय आंदोलन को आघात लगा। कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों के त्यागपत्र देने से ब्रिटिश नौकरशाही को कुमाऊँ कमिशनरी के लिए कानून बनाने और नए बन्दोबस्त करने का अधिकार प्राप्त हो गया। 1942 में प्रकाशित अस्कोट के

बन्दोबस्त की रिपोर्ट में किसानों और छोटे जमींदारों की मांगों पर ध्यान नहीं दिया गया और लगान में वृद्धि हो गई, जिससे किसानों में असंतोष बढ़ा। आंदोलन के बावजूद इनकी समस्याएँ दूर नहीं हुईं। 1946-47 में किसान आंदोलन का नेतृत्व पाली पछाऊँ के किसानों ने किया।

1.8.8 व्यक्तिगत सत्याग्रह और भारत छोड़ो आंदोलन

1940-41 में गाँधीजी के आह्वान पर व्यक्तिगत सत्याग्रह आंदोलन के तहत कुमाऊँ - गढ़वाल से भी गिरफ्तारियाँ हुईं। तत्कालीन स्थानीय समाचार पत्रों ने गिरफ्तार सत्याग्रहियों की एक विस्तृत सूची दी है। भारत छोड़ो आंदोलन के दौरान ब्रिटिश कुमाऊँ - गढ़वाल में अत्यधिक गतिशीलता रही। 1930. 32 में कुमाऊँ का बारडोली माना जाने वाला सल्ट क्षेत्र 1942 में भी आंदोलित रहा और वहाँ कई दिनों तक स्वराज्य कायम रहा। नैनीताल, अल्मोड़ा, सोमेश्वर, सल्ट, देघाट, सालम, चनौदा, (कुमाऊँ) उदयपुर, चमोली, गुजडू (गढ़वाल) आदि अधिक प्रभावित इलाके रहे। प्रारंभ में आंदोलन अधिक तीव्र और व्यापक रूप से फैला और कई स्थानों पर हिंसात्मक हो गया, पर सरकारी दमन के कारण यह अन्तिम चरण में धीमा पड़ गया। रामसिंह आजाद, रेवाधर पाण्डे, प्रतापसिंह, हरिकृष्ण पाण्डे आदि आंदोलनकारियों ने भूमिगत रूप से कार्यवाहियाँ प्रारंभ कीं और 1944 में गाँधी जी द्वारा भूमिगत सत्याग्रहियों से आत्मसमर्पण की घोषणा करने पर ही इन्होंने अपनी गिरफ्तारी दी। गढ़वाल में भैरवदत्त धूलिया, रामप्रसाद बहुगुणा, छवाण सिंह नेगी, भगवती चरण निर्मोही आदि ने आंदोलन में सक्रिय भूमिका निभाई। इसके अलावा अनेक स्थानीय नाम हैं, जिन्होंने विभिन्न क्षेत्रों में आंदोलन की कमान संभाली। आन्दोलन का एक महत्वपूर्ण पक्ष महिलाओं की सक्रिय भागीदारी के रूप में भी सामने आया। बिशनी देवी साह, मालती देवी, कुन्ती वर्मा, भागीरथी चौहान, शोभावती मित्तल आदि के नाम इनमें विशेष उल्लेखनीय हैं।

1938 में कुमाऊँ के बागेश्वर तथा गढ़वाल में गाड़ी सड़क के लिए भी आंदोलन हुआ। गढ़वाल में एकमात्र गाड़ी सड़क कोटद्वार से लैंसडाउन तक थी और स्थानीय आवश्यकताओं को देखते हुए जनता कोटद्वार से पौड़ी, श्रीनगर होकर बदरीनाथ तक मोटरमार्ग के लिए आंदोलनरत थी। संयुक्त प्रान्त सरकार द्वारा 1937-38 के बजट में केवल बीस हजार रु० इस कार्य के लिए आबंटित किए जाने से लोगों को अत्यंत निराशा हुई।

इसके अलावा उत्तराखण्ड के हजारों सिपाहियों ने आजाद हिन्द फौज के माध्यम से राष्ट्रीय संग्राम में अपनी भूमिका निभाई।

स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न—

निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—

(क) कुली बेगार आंदोलन

(ख) अछूतों द्वारा तथा शिल्पकार आंदोलन

(ग) अस्कोट का किसान संघर्ष

2. नीचे लिखे प्रश्नों के उत्तर दीजिए

(क) पी.सी. जोशी भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के महासचिव कब चुने गए?

(ख) जयानंद भारती का संबंध किस संघर्ष से जुड़ा है?

(ग) नायक जाति में कौन सी कुप्रथा व्याप्त थी?

- (घ) गांधी जी कुमाऊँ में प्रथम बार कब आये?
(च) कुमाऊँ का बारडोली किस स्थान को कहा जाता है?
(छ) राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान स्थानीय संघर्षों में महिलाओं की सक्रिय भागीदारी दिखाई दी।

1.8.9 टिहरी रियासत और विभिन्न प्रतिरोध आंदोलन

1939 में प्रजामंडल की स्थापना से पूर्व टिहरी में ढंडक के नाम से रियासत की शोषक नीतियों, मुआफीदारों, जागीरदारों तथा राज्य कर्मचारियों के उत्पीड़न के विरुद्ध अनेक स्वतः स्फूर्त प्रतिरोध हुए परन्तु स्थानीय स्तर पर व्यापक जनाधार होते हुए भी वे अधिक प्रभाव नहीं डाल पाए। 1935 में सकलाना के मुआफीदार के विरुद्ध तथा 1851 में बदरी सिंह असवाल के नेतृत्व में मुआफीदारों के विरुद्ध हुआ 'तिहाड़' (फसल का 1/3 जमींदार का हिस्सा) ढंडक राजा के लिए भी एक चेतावनी था। रियासत की वन नीति के खिलाफ 1906-07 में भी कृषक संघर्ष हुए, पर प्रजा का अभी राजा से मोह भंग नहीं हुआ था। बाद के वर्षों में भी राज कर्मचारियों द्वारा बेगार-बर्दायश के नाम पर किए जा रहे प्रजा के दमन के खिलाफ अनेक ढंडक हुए। 1903-04 में कुजणी के ढंडक में ग्रामीणों ने कर देने से इन्कार करते हुए ढंडक में शामिल न होने वालों को बिरादरी से अलग करने की घोषणा की गई। किसानों ने लगातार प्रतिवेदन दिए। इसके बाद सकलाना 1913 से 1919 तक रीजेंसी के दौर में भी दमन कार्यों में वृद्धि हुई। प्रथम विश्व युद्ध के दौरान जनता अकाल से त्रस्त रही। 1930 में नई वन व्यवस्था के खिलाफ हुआ रवाई का आंदोलन पिछले सभी ढंडकों से महत्वपूर्ण था। इस दौरान यहाँ समानान्तर सरकार की योजना भी बनी। रियासती पुलिस दमन और हत्याकाण्ड के बाद यह नहीं हो पाया, पर रियासत के भीतर फैल रही चेतना को नहीं रोका जा सका।

1.8.9.1 टिहरी राज्य प्रजामंडल और श्रीदेव सुमन

1939 में देहरादून में टिहरी राज्य प्रजामंडल की स्थापना हुई। श्रीदेव सुमन के प्रवेश से संस्था में सक्रियता आई। 1940 में सुमन द्वारा में दिल्ली में रियासत की प्रवासी जनता के सम्मेलन की अध्यक्षता करने के उपरांत उस पर रियासत में जाने पर प्रतिबंध लगा दिए गए। 1941 में देहरादून में बुलाए गए प्रजामंडल के विशेष अधिवेशन में रियासत की प्रतिनिधि सभा के सदस्यों के त्यागपत्र की मांग की गई। सुमन को दो माह तक रियासत में आने से रोकने के बाद हिरासत में लेकर रियासत से बाहर कर दिया गया। प्रजामंडल रियासत के नियमों के अनुसार पंजीकृत होने के लिए प्रयास करता रहा पर रियासत इसे प्रतिबंधित किए जाने में ही अपना हित समझती थी। भारत छोड़ो आन्दोलन के दौरान गिरफ्तारी के बाद 1943 में जेल से रिहा होने पर सुमन ने पुनः आन्दोलन को संगठित करने का प्रयास किया जिसमें उन्हें अपेक्षित सफलता नहीं मिली। बावजूद इसके सुमन ने संघर्ष जारी रखा और राज्य को लिखा कि 'यदि एक भी व्यक्ति अपने आदर्श पर कायम रहेगा तो वह भी प्रजामंडल का प्रतिनिधित्व करेगा.....' 30 दिसम्बर को सुमन को गिरफ्तार कर टिहरी जेल में डाल दिया गया और 84 दिन के अनशन के बाद 25 जुलाई 1944 को उनकी शहादत हो गई। 26 जुलाई 1946 को आजाद हिन्द फौज से लौटे हुए सैनिकों ने टिहरी में सुमन दिवस मनाया।



स्रोत: शेखर पाठक, उत्तराखण्ड में कुली बेगार प्रथा

1.8.9.2 श्रीदेव सुमन के बाद

1945 के बाद श्रीदेव सुमन के प्रयास को कम्युनिस्ट नेता नागेन्द्र सकलानी ने आगे बढ़ाया। नागेन्द्र सकलानी और दौलतराम लखेड़ा के नेतृत्व में चले आन्दोलन में बरा और बेगार की समाप्ति की मांग प्रमुख थी। 21 अगस्त 1946 में प्रजामण्डल का पंजीकरण होने के साथ ही सरकार ने गिरफ्तारियाँ प्रारंभ कर दीं। इस दौर में प्रजामण्डल की सक्रियता तथा रियासती दमन चक्र दोनों साथ साथ चले। दौलतराम, नागेन्द्र सकलानी और परिपूर्णानन्द पैन्थूली ने जमानत स्वीकार न करते हुए जेल में ही अनशन किया। 22 सितंबर को प्रजामण्डल ने सरकार के साथ असहयोग करने की घोषणा की। 1947 में इन्होंने पुनः अनशन किया और जेल से मुक्त होने के बाद बेगार बन्द करवाने हेतु अनशन जारी रखा। मई 1947 में टिहरी में पहली बार प्रजामण्डल का वार्षिक अधिवेशन हुआ, जिसमें मुख्य मांग राजा की छत्रछाया में उत्तरदायी शासन की स्थापना थी। 1947-48 में आजाद पंचायतों का गठन तथा 1948 में ही अंतरिम सरकार बनने के बाद बरा-बेगार जैसी शोषक प्रथाओं की समाप्ति हुई।

स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न—

निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—

(क) श्रीदेव सुमन का योगदान

(ख) टिहरी रियासत में प्रजामण्डल के कार्य

2. नीचे लिखे प्रश्नों के उत्तर दीजिए

(क) टिहरी रियासत में शोषक नीतियों के खिलाफ हुए स्वतः स्फूर्त स्थानीय संघर्षों को किस नाम से पुकारा जाता है?

(ख) श्रीदेव सुमन के बाद किसने आंदोलन को आगे बढ़ाया?

1.9 सारांश

1815 के उपरान्त उत्तराखण्ड ब्रिटिश कुमाऊँ तथा टिहरी रियासत—दो भिन्न राजनैतिक इकाइयों में विभक्त हुआ। टिहरी रियासत को छोड़कर संपूर्ण क्षेत्र को दो कमिशनरियों, मेरठ(देहरादून), तथा कुमाऊँ(कुमाऊँ-गढ़वाल) से सम्बद्ध किया गया। इस अवधि में प्रशासनिक ढाँचे में भी कुछ परिवर्तन किए गए। इनका विभाजन जिला, तहसील, परगना और पट्टी के क्रम में किया गया। शासन की सबसे छोटी इकाई गाँव थी। प्रशासनिक क्षेत्रों का विभाजन उनकी सीमाओं को ध्यान में रखकर किया गया, जिसका विस्तृत विवरण बैकेट के बन्दोबस्त में मिलता है। भू-स्वामित्व की परंपरा में परिवर्तन हुआ। भूमि हस्तांतरण के व्यक्तिगत अधिकार की शुरुआत हुई और खायकरों को भी गाँव की कृषि भूमि में हस्तांतरण के अधिकार प्रदान किए गए। कुछ नई फसलों जैसे चाय, आलू, टमाटर आदि का उत्पादन प्रारंभ किया गया। 1914 में प्रथम विश्व युद्ध छिड़ने तथा 1929-30 की विश्वव्यापी आर्थिक मंदी से पूर्व व्यापार उन्नत स्थिति में रहा। नये मार्गों के निर्माण तथा यातायात के साधनों के विकास ने यात्रियों तथा व्यापारिक परिवहन को भी नये आयाम दिए। औपनिवेशिक हितों की पूर्ति के लिए किए अनेकानेक कार्यों ने अप्रत्यक्ष रूप से उत्तराखण्ड के आंशिक विकास में भी योगदान दिया। स्थानीय जनता को मनमाने कानूनों के अलावा पटवारी, पतरौल राजस्व पुलिस आदि के भी शोषण का शिकार बनना पड़ा। परवर्ती वर्षों में औपनिवेशिक सरकार तथा टिहरी राज्य की सामन्तशाही के भूमि बन्दोबस्त, राजस्व, जंगलात, कुली बेगार, बर्दायश और उतार तथा कृषि के वाणिज्यीकरण की नीतियों ने उत्तराखण्ड को प्रभावित किया, जिसकी झलक हमें बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों से शुरू होने वाले प्रतिरोध आंदोलनों में दिखाई देती है। बेगार और बर्दायश के रूप में ग्रामीणों के शोषण और उत्पीड़न की एक लम्बी अवधि का समापन उत्तराखण्ड व्यापी जनान्दोलन के साथ हुआ। राष्ट्रीय आंदोलन के प्रभाव से समाज सुधार के कार्यों में भी गति आई। स्थानीय जनता को राष्ट्रीय जागृति के साथ जोड़ने में स्थानीय समाचार पत्रों, विभिन्न रचनाकारों, नेताओं ने प्रमुख भूमिका निभाई। इसके अलावा आंदोलनों में महिलाओं की सक्रिय भागीदारी की जो शुरुआत हुई, वह आजादी के बाद के वर्षों में होने वाले विभिन्न आंदोलनों में और भी मुखर होकर सामने आई।

1.10 तकनीकी शब्दावली

गैर आइनी— कुमाऊँ को दुर्गम और पिछड़ा क्षेत्र होने के कारण बंगाल प्रेसीडेंसी में लागू रेग्यूलेशन (कानूनों) से मुक्त रखा गया और यहाँ एक नये प्रकार का प्रशासन, जिसे नॉन रेग्यूलेशन (गैर आइनी) कहा गया, लागू किया गया। यहाँ स्टोवेल के नियमों के अनुसार कार्य होता था। गैर आइनी (अर्थात् जहाँ संयुक्त प्रांत के कानून लागू नहीं थे)।

खुर्नी, कैनी, सिरतान, पायकाश्त, हलिया, साझी—

खुर्नी, कैनी— हिस्सेदार (चंद-परमार राज्य के थातवान की एक तिहाई खुदकाश्त (स्वयं या दूसरों के माध्यम से अपनी भूमि पर खेती करना) भूमि पर कार्य करने वाले स्थायी कृषि श्रमिक। कैनी कृषि के अलावा हिस्सेदार के निजी काम भी करता था

सिरतान— ऐसे कृषक जिन्हें थातवान या खायकर अस्थायी तौर पर अपनी भूमि में कृषि करने के लिए बसाते थे।

पायकाशत—एक गाँव का वह सिरतान काशतकार, जो अन्य गाँव की जमीन पर कृषि करने जाता हो, अर्थात् अस्थायी काशतकार।

हलिया-साझी—उच्च ब्राह्मण या दूसरे भू-स्वामी, जो जाति या अन्य कारणों से हल नहीं चला सकते थे, हलिया के द्वारा अपनी भूमि में कृषि करवाते थे। साझी भाबर में थे। हलिया को केवल भोजन, वस्त्र तथा मजदूरी दी जाती थी, साझी को फसल पकने पर एक-तिहाई या एक-चौथाई हिस्सा मिलता था।

बीसी—बीस नाली बीज जिस भूमि में बोया जाता हो। स्टोवेल के अनुसार 20 नाली = 4800 वर्ग गज

नाली—ऐसी भूमि जिसमें दो सेर बीज बोया जाता हो या दो सेर बीज का मात्रक। पर्वतीय क्षेत्र में नाली अब भी मुख्य मात्रक है।

खालसा—जिन गाँवों का राजस्व सीधे राजकोष में जमा होता था।

गूँठ—ऐसे भूमि अनुदान, जिनका राजस्व मन्दिरों को प्राप्त होता था।

माफी—विशिष्ट व्यक्तियों को राजस्व मुक्त अनुदान में दी गई भूमि

गैर आबाद—बंजर भूमि, वन तथा पर्वत श्रेणियाँ

फी सिंपिल—कुछ प्रमुख यूरोपीय लोगों, सेना के अफसरों आदि को चाय बागान लगाने के लिए सरकार द्वारा नाममात्र के लगान पर दी गई भूमि, जिन्हें फी सिंपिल एस्टेट या वेस्टलैण्ड ग्रांट्स कहा जाता था।

कुली बेगार, कुली उतार तथा बर्दायश—बिना मजदूरी के जबरन श्रम, कुली उतार—सरकारी या गैर सरकारी बोझों के ढोने के लिए जबरन न्यूनतम मजदूरी सहित बुलाया जाना। कुली बर्दायश—विभिन्न पड़ावों पर निःशुल्क या न्यूनतम मूल्य पर ब्रिटिश अधिकारियों, सैनिकों और पर्यटकों एवं उनके दलों को दी जाने वाली सामग्री तथा सुविधाओं से सम्बन्धित था।

कोली—बुनकर। **टमटा**—ताँबे के बर्तन बनाने वाले, **ओड़**—भवनों के निर्माण के लिए पत्थर काटने वाले, **तिरुवा**—तीर बनाने वाले, **भूल**—कोल्हू से तेल निकालने वाले, **रुड़िया**—रिंगाल तथा बाँस की टोकरी बनाने वाले, **बाड़ी**—चमड़े के जूते बनाने वाले, **हनकिया**—कुम्हार। **औजी**—जागर लगाने वाले

मामला—टिहरी रियासत में लिया जाने वाला नकद लगान

बरा—अनाज के रूप में लिया जाने वाला आधा भाग, इसमें खाद्य पदार्थों के अतिरिक्त ईंधन और लकड़ी के बोझ भी लिए जाते थे।

1.12 स्व.मूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

इकाई 1.3 के स्व मूल्यांकित प्रश्न

1. (क) देखिए 1.3.2 ब्रिटिश कुमाऊँ (गढ़वाल)	(ख) देखिए 1.3.3 टिहरी रियासत
2. (क) कुमाऊँ में 19 तथा गढ़वाल में 11	(ख) पटवारी

इकाई 1.4 के स्व मूल्यांकित प्रश्न

1. (क) देखिए 1.4.1 व 1.4.2—न्यायिक प्रशासन	(ख) देखिए 1.4.4 गढ़वाल रेजीमेंट
2. (क) नरेन्द्र हिन्दू लॉ	(ख) चन्द्रसिंह गढ़वाली

इकाई 1.5 के स्व मूल्यांकित प्रश्न

1. (क) देखिए 1.5.2 हिस्सेदारी अधिकारों का स्वरूप	(ख) देखिए 1.5.4 वन नीति
2. (क) हाँ	(ख) हाँ

- इकाई 1.6 के स्व मूल्यांकित प्रश्न
- (क) देखिए 1.6 व 1.6.1 अर्थव्यवस्था तथा राज्य की आय के साधन
(ख) देखिए 1.6.5 यातायात एवं परिवहन
 - (क) हिमालय के संसाधनों, जैसे वन्य जीव, लकड़ी, जड़ी बूटी, ऊन, धातुओं का दोहन तथा भारत.
तिब्बत व्यापार
- इकाई 1.7 के स्व मूल्यांकित प्रश्न
- (क) देखिए 1.7.2 स्त्रियों की दशा (ख) देखिए 1.7.3 शिक्षा
 - (क) उत्तराखण्ड में पाठशालाओं के निर्माण की प्रक्रिया 1857 में पब्लिक इंस्ट्रक्शंस विभाग के कुमाऊँ सरकार की स्थापना के बाद
- इकाई 1.8 के स्व मूल्यांकित प्रश्न
- (क) देखिए 1.8.2 कुली बेगार आंदोलन (ख) देखिए 1.8.6 अछूतोंद्वारा तथा शिल्पकार आंदोलन
(ग) देखिए 1.8.8 अस्कोट का किसान संघर्ष
 - (क) 1936 में (ख) डोला पालकी (ग) वेश्यावृत्ति (घ) 1929 (च) सल्ट (छ) हाँ
- इकाई 1.9 के स्व मूल्यांकित प्रश्न
- (क) देखिए 1.9.1 टिहरी राज्य प्रजामण्डल और श्रीदेव सुमन
(ख) देखिए 1.9.2 टिहरी राज्य में प्रजामण्डल के कार्य
 - (क) ढंडक (ख) नागेन्द्र सकलानी

1.13 संदर्भ ग्रन्थ सूची

- ए स्टैटिस्टिकल स्केच ऑफ कुमाऊँ, एशियाटिक रिसर्च, भाग 16 (1828, कोलकाता)
- रिपोर्ट ऑन द रिवीजन ऑफ कुमाऊँ डिस्ट्रिक्ट, जे.ओ.बी.बैकेट (इलाहाबाद 1886)
- रिपोर्ट ऑन द सैटिलमेंट ऑफ कुमाऊँ डिस्ट्रिक्ट, हेनरी रैमजे (इलाहाबाद 1874)
- रिपोर्ट ऑन द टैन्थ सैटिलमेंट ऑफ गढ़वाल डिस्ट्रिक्ट, ई.के.पौ (इलाहाबाद 1896)
- स्टोवेल, मैन्युएल ऑफ द लैण्ड टैन्योर्स इन कुमाऊँ डिवीजन (इलाहाबाद 1906)
- पहाड़ भाग 2, पहाड़ प्रकाशन, नैनीताल, 1986,
- पहाड़, भाग 4—राष्ट्रीय संग्राम और हिमालयी प्रतिरोध, पहाड़ प्रकाशन, नैनीताल 1989
- पहाड़, भाग 9—18वीं-19वीं सदी का हिमालय—1, पहाड़ प्रकाशन, नैनीताल 1998
- पहाड़, भाग 10—18वीं-19वीं सदी का हिमालय—2, पहाड़ प्रकाशन, नैनीताल 1999
- आर.एस.टोलिया, ब्रिटिश कुमाऊँ गढ़वाल (दो भाग) अल्मोड़ा 1995
- शिवप्रसाद डबराल, टिहरी गढ़वाल राज्य का इतिहास, भाग 1 व 2, वीरगाथा प्रकाशन, दोगड़डा गढ़वाल (1975)
- शिवप्रसाद डबराल, उत्तराखण्ड का राजनैतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास, भाग 8 (खण्ड 1 व 2) वीरगाथा प्रकाशन, दोगड़डा गढ़वाल (1977)
- बदरीदत्त पाण्डे, कुमाऊँ का इतिहास, अल्मोड़ा, (1937)
- शेखर पाठक, उत्तराखण्ड में कुली बेगार प्रथा, राधकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली (1987)
- अजय सिंह रावत, हिस्ट्री ऑफ फारेस्ट्री इन इण्डिया, दिल्ली (1991)
- किरण त्रिपाठी, उत्तराखण्ड का ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक भूगोल, ज्ञानोदय प्रकाशन

- , नैनीताल(2006)
17. ज्योति साह, शक्ति के तीन दशक, कुमाऊँ में राष्ट्रवादी पत्रकारिता का अध्ययन, पहाड़ प्रकाशन, नैनीताल (2009)

1.14 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. पहाड़, भाग, 2— पहाड़ प्रकाशन, नैनीताल, 1986
2. पहाड़, भाग, 4—राष्ट्रीय संग्राम और हिमालयी प्रतिरोध, पहाड़ प्रकाशन, नैनीताल 1989
3. पहाड़, भाग. 10—18वीं-19वीं सदी का हिमालय—1, पहाड़ प्रकाशन, नैनीताल 1998
4. पहाड़, भाग. 10—18वीं-19वीं सदी का हिमालय—2, पहाड़ प्रकाशन, नैनीताल 1999
5. आर.एस.टोलिया, ब्रिटिश कुमाऊँ, गढ़वाल (दो भाग) अल्मोड़ा 1995
6. शिवप्रसाद डबराल, टिहरी गढ़वाल राज्य का इतिहास, भाग. 1 व 2, वीरगाथा प्रकाशन, दोगड़डा गढ़वाल (1975)
7. शिवप्रसाद डबराल, उत्तराखण्ड का राजनैतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास, भाग 8 (खण्ड 1 व 2) वीरगाथा प्रकाशन, दोगड़डा गढ़वाल (1977)
8. बदरीदत्त पाण्डे, कुमाऊँ का इतिहास, अल्मोड़ा, (1937)
9. शेखर पाठक, उत्तराखण्ड में कुली बेगार प्रथा, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली (1987)
10. शेखर पाठक, सरफरोशी की तमन्ना, नैनीताल (2000)
11. अजय सिंह रावत, हिस्ट्री ऑफ फारेस्ट्री इन इण्डिया, दिल्ली (1991)
12. धर्मपाल सिंह मनराल, स्वतंत्रता संग्राम में कुमाऊँ, गढ़वाल का योगदान, बरेली (1978)
13. किरन त्रिपाठी, उत्तराखण्ड का ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक भूगोल, ज्ञानोदय प्रकाशन, नैनीताल (2006)
14. ज्योति साह, शक्ति के तीन दशक, कुमाऊँ में राष्ट्रवादी पत्रकारिता का अध्ययन, पहाड़ प्रकाशन, नैनीताल (2009)

1.15 निबंधात्मक प्रश्न

1. औपनिवेशिक उत्तराखण्ड में प्रशासनिक पुनर्गठन तथा न्यायिक प्रशासन की समीक्षा कीजिए।
2. ब्रिटिश कुमाऊँ तथा टिहरी रियासत में भूमि बन्दोबस्त का क्या स्वरूप विकसित हुआ?
3. औपनिवेशिक शासकों की विभिन्न नीतियों की समीक्षा करते हुए कुली बेगार तथा वन आन्दोलनों की समीक्षा कीजिए।
4. ब्रिटिश कालीन उत्तराखण्ड में समाज और अर्थ-व्यवस्था की विशेषताएँ बताते हुए उस दौर में होने वाले विभिन्न परिवर्तनों को चिह्नित कीजिए।
5. 20वीं शताब्दी में उत्तराखण्ड में चले विभिन्न आंदोलनों की विवेचना करते हुए बताइये कि राष्ट्रीय आंदोलन ने इन्हें किस प्रकार प्रभावित किया?

तराई-भाबर का इतिहास

- 2.1 प्रस्तावना
- 2.2 उद्देश्य
- 2.3 तराई-भाबर का भूगोल और उत्तराखण्ड
 - 2.3.1 नामकरण
 - 2.3.2 मूल निवासी
- 2.4 स्रोत सामग्री :
 - 2.4.1 साहित्यिक साक्ष्य
 - 2.4.2 मुस्लिम इतिहासकारों के विवरण
 - 2.4.3 यात्रा वृत्तान्त
 - 2.4.4 ब्रिटिश युगीन दस्तावेज
 - 2.4.5 अन्य ग्रन्थ
 - 2.4.6 पुरातात्विक अवशेष
 - 2.4.7 अभिलेखीय साक्ष्य
- 2.5 प्रागैतिहासिक तराई-भाबर
 - 2.5.1 पाषाण युगीन तराई-भाबर
 - 2.5.2 ताम्र युगीन तराई-भाबर
 - 2.5.3 समकालीन सभ्यताएँ और तराई-भाबर
- 2.6 तराई-भाबर का प्रारंभिक इतिहास (गुप्त युग तक)
 - 2.6.1 प्राचीन संपर्क मार्ग तथा पूर्व-पश्चिम महापथ
 - 2.6.2 तराई-भाबर की प्राचीन बसासतें
 - 2.6.3 प्राचीन काल में तराई-भाबर में व्यापारिक गतिविधियाँ
 - 2.6.4 धार्मिक स्थिति
 - 2.6.4.1 बौद्ध मत
 - 2.6.4.2 ब्राह्मण धर्म
 - 2.6.5 राजनीतिक इतिहास
 - 2.6.5.1 कुलिन्द जनपद
 - 2.6.5.2 यवन शक और कुषाण आधिपत्य
 - 2.6.5.3 कुषाणों का योगदान
 - 2.6.6 गुप्तकालीन तराई भाबर
- 2.7 गुप्तोत्तर युग में
 - 2.7.1 सम्राट हर्ष के साम्राज्य में
 - 2.7.2 सुघ्न
 - 2.7.3 ब्रह्मपुर
 - 2.7.4 गोविषाण
 - 2.7.5 कन्नौज के प्रभुत्व के युग में
- 2.8 बाह्य आक्रमणों का युग
 - 2.8.1 महमूद गजनवी का आक्रमण
 - 2.8.2 पर्वतीय शासकों द्वारा दक्षिणी सीमा का सुदृढ़ीकरण
 - 2.8.3 चौहान सामन्तों का आगमन
 - 2.8.4 कटेहरी राजपूतों का तराई में प्रवेश
 - 2.8.5 कुमाऊँ नरेश को तराई की जागीर
 - 2.8.6 मंगोलों के आरंभिक आक्रमण
 - 2.8.7 मुहम्मद तुगलक का काराचल अभियान
 - 2.8.8 तैमूर का आक्रमण और तराई-भाबर
 - 2.8.9 सुल्तान खिज़्र खाँ का आक्रमण
- 2.9 मुगल कालीन तराई-भाबर
 - 2.9.1 हुसैन खाँ टुकड़िया के आक्रमण
 - 2.9.2 माल की जागीर/ रुद्रचन्द को तराई की सनद
 - 2.9.3 कुमाऊँ सरकार
 - 2.9.4 बाजबहादुर चन्द को तराई की सनद
 - 2.9.5 शाही सेना का आधिपत्य
 - 2.9.6 तराई की जागीर पुनः चन्दों को
 - 2.9.7 तराई की पुनः उपेक्षा
 - 2.9.8 रुहेला आधिपत्य
 - 2.9.9 रुहेलों के विरुद्ध शाही अभियान
 - 2.9.10 शिवदेव जोशी द्वारा तराई की सुव्यवस्था
 - 2.9.11 तराई पर अवध का प्रभुत्व
- 2.10 औपनिवेशिक शासन में तराई-भाबर
 - 2.10.1 तराई-भाबर का प्रशासनिक पुनर्गठन
 - 2.10.2 औपनिवेशिक शासन के आरंभ में तराई-भाबर की स्थिति
 - 2.10.3 नहरों का निर्माण तथा सिंचाई व्यवस्था
 - 2.10.4 व्यापार और वाणिज्य
 - 2.10.5 प्रमुख मण्डियाँ (रामनगर, हल्द्वानी, टनकपुर, देहरादून)
 - 2.10.6 परिवहन के साधन
 - 2.10.7 जनसंख्या की स्थिति और प्रव्रजन
- 2.11 तराई-भाबर पर राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रभाव
 - 2.11.1 1857 और तराई-भाबर
 - 2.11.2 राष्ट्रीय आन्दोलन और तराई-भाबर
- 3.0 सारांश
- 4.0 तकनीकी शब्दावली
- 5.0 स्व मूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर
- 6.0 सहायक संदर्भ ग्रंथ
- 7.0 उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 8.0 निबंधात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व के उत्तराखंड का इतिहास बहुलांश में पर्वतीय क्षेत्र का इतिहास है, जिसमें कहीं-कहीं तराई-भाबर की बस्तियों का उल्लेख हुआ है, जबकि इस क्षेत्र में घने वनों के बीच अनेक प्राचीन बसासतों के अवशेष विद्यमान हैं। स्थानीय लोकगाथाओं में भी इसके अनेक बार बसने और उजड़ने की अनुश्रुतियाँ हैं। उत्तराखंड के इतिहास को उसकी समग्रता में जानने के लिए तराई-भाबर के अतीत को समझना अपरिहार्य है।

2.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के उपरान्त आप

- तराई-भाबर की भौगोलिक स्थिति से परिचित होंगे।
- इस क्षेत्र के इतिहास को समझने में सहायक स्रोत सामग्री का अवगाहन कर सकेंगे।
- आप यह भी जान सकेंगे कि कि अतीत से ही इस क्षेत्र में जलवायुगत विषमताओं के कारण बसासतों का क्या स्वरूप रहा?
- प्रागैतिहासिक युग से लेकर औपनिवेशिक युग तक भाबर-तराई में होने वाली विभिन्न राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक गतिविधियों से भी परिचित होंगे।

2.3 तराई-भाबर का भूगोल और उत्तराखण्ड

यह क्षेत्र हिमालय की बाहरी पर्वतमालाओं की तलहटी में पश्चिम में जम्मू-कश्मीर से लेकर पूर्व में ब्रह्मपुत्र नदी तक दो छोटी पट्टियों के रूप में विद्यमान है। उत्तराखंड में यह भू-भाग पश्चिम में फीका नदी से लेकर पूर्व में शारदा नदी तक आठ से पचीस कि.मी. तक चौड़ी पट्टी के रूप में स्थित है। पश्चिम की ओर इसकी चौड़ाई बहुत कम है पर पूर्व की ओर इसका विस्तार होता गया है।

भाबर का निर्माण पर्वतीय नदियों द्वारा अपने प्रवाह में लायी गयी गोल-मटोल बालुज शिलाओं, रेत, बजरी, और उनके ऊपर मिट्टी की हल्की सी परत जमते रहने से हुआ है। वर्षा ऋतु को छोड़ कर सभी नदियों का जल रेत और बालुज शिलाओं के नीचे रिस जाने के कारण लगभग शुष्क इस क्षेत्र में अतीत से ही साल, शीशम, खैर आदि चौड़ी पत्तियों वाले वृक्षों के घने वन फैले रहे हैं। पर्वतों से लगे भू-भाग में जहाँ जल उपलब्ध है, अतीत से ही मानव बसासतें विकसित होती रही हैं।

भाबर से अपेक्षाकृत निचले धरातल पर लगभग 25 कि.मी. चौड़ा समतल भू-भाग तराई है, जिसका निर्माण वर्षा काल में पर्वतीय नदियों द्वारा लायी गयी जलोढ़ मिट्टी और भाबर में भूमिगत हुई नदियों के जल के पुनः प्रकट होने से हुआ है। इस क्षेत्र में जल की अधिकता के कारण भूमि अधिकांशतः दलदली है। फलतः यहाँ वृक्षों की अपेक्षा झाड़ियों और ऊँची-ऊँची घास के जंगल फैले रहे हैं। बिशप हैबर ने लिखा है कि “यहाँ घास इतनी ऊँची है कि उसके आगे मकान भी बौने लगते हैं।...”

2.3.1 नामकरण

भाबर शब्द के अनेक अर्थ —भबड़ या ऊबड़-खाबड़ भूमि, जल रहित घने वनों में प्रायः यात्रियों के भटक जाने की घटनाओं के कारण कुमाऊँनी में दिग्भ्रमित हो जाने या भटक जाने के लिए ‘भाबर’ भवरीण शब्द का प्रयोग, युगों तक अस्थायी और छितरी हुई बसासतों के कारण अपनी कोई विशिष्ट संस्कृति न होने या अलग-अलग क्षेत्रों के लोगों के केवल खाने और कमाने के लिए ही बसते रहने आदि से लिए गए हैं। तराई शब्द ‘तर’ या जल की प्रचुरता वाले क्षेत्र के साथ-साथ ‘तिराई’ (कुमाऊँनी)

अपेक्षाकृत नीचा क्षेत्र होने' का भी बोध कराता है। प्राचीन काल में तराई के एक भू-भाग के लिए तीरभुक्ति (या तराई की जागीर) नाम मिलता है। नित्यानन्द मिश्र के अनुसार "तराई का उर्वर प्रदेश कूर्माचल में मध्यदेश के नाम से प्रसिद्ध था। इसे मढ़ौ की माल भी कहते थे। वैसे आम पर्वतीय जन इसे माल भी कहते हैं।" कुछ विद्वान माल को फारसी महाल का रूपान्तर मानते हैं। आप इस इकाई के खण्ड.2.9.2 के माल की जागीर खण्ड में नौलखिया माल या चौरासी माल के बारे में पढ़ेंगे।

2.3.2 मूल निवासी

तराई में अतीत से ही थारू और बोक्सा जन जातियों की बसासतें विद्यमान हैं। यहाँ इनका आगमन कब हुआ, इसके बारे में इतिहास मौन है। थारू लोगों के अनुसार उनके पूर्वजों ने हल्दीघाटी के युद्ध में राणा प्रताप की पराजय के बाद राजस्थान से इस क्षेत्र में शरण ली। बोक्सा लोग अपने आप को धारा नगरी से आया हुआ मानते हैं, पर उनकी मुखाकृति, गोल चेहरा, हल्की चपटी नाक, सपाट आँखें, कद काठी और रूप रंग उन्हें हिमालय की किरात जाति का वंशज सिद्ध करती हैं। विद्वानों के अनुसार सुदूर अतीत में हिमालय में खशों का आधिपत्य हो जाने के बाद किरात या तो हिमालय की दुर्गम शृंखलाओं में बसने के लिए बाध्य हुए या उन्होंने तराई के घने वनों में शरण ली। वर्तमान में बिहार में मिथिला से लेकर नेपाल, उत्तर प्रदेश और उत्तराखण्ड की तराई में शताब्दियों से थारू और बोक्साओं की बस्तियाँ विद्यमान हैं। डबराल के अनुसार "गढ़वाल भाबर के बोक्सा, देहरादून भाबर के मिहिर, तथा अंबाला, होशियारपुर, कांगड़ा, जम्मू तक फैले गिरथ, चाड या बाती उसी थारू जाति के सगोत्रीय भाई बन्धु हैं।"

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. नीचे लिखे गये प्रश्नों के उत्तर दीजिये:

(क) भाबर की भौगोलिक संरचना का निर्माण किस प्रकार हुआ है?

(ख) तराई-भाबर के नामकरण के बारे में संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

2.4 स्रोत सामग्री

2.4.1 साहित्यिक साक्ष्य

ब्रिटिश आधिपत्य से पूर्व भाबर और तराई के इतिहास के अध्ययन के लिए स्रोत सामग्री अत्यल्प और बिखरी हुई है। पालि जातकों में कोशी नदी और खैर के जंगलों, महाभारत के वन पर्व में कालशैल, गंगा, यमुना, रथस्या, आदि नदियों और कनखल, गंगाद्वार, शक्रावर्त आदि तीर्थों, पाणिनि की अष्टाध्यायी में कालकूट, उशीनर आदि जनपदों, पतंजलि के महाभाष्य में सुघ्न नगर, कालिदास के अभिज्ञान शाकुंतलम् में कण्वाश्रम और मालिनी नदी, कथासरित्सागर में कनखल, गंगाद्वार, उशीनर, कुब्जिकातंत्र में गंगाद्वार ऋषीकेश, कनखल, आदि स्थानों तथा योगिनी तंत्र में कनखल व यमुना का उल्लेख है।

2.4.2 मुस्लिम इतिहासकारों के विवरण

इब्नबतूता ने कराचल, याहिया-बिन-अहमद ने महताओं का देश कुमाऊँ, तैमूर ने गंगा के तट पर स्थित 'कुटिल दर्रा', सैफुद्दीन यजदी ने 'कुपिल दर्रा' और गंगा तथा यमुना के मध्य में स्थित शिक्कई और बहरा नाम के उन गाँवों का उल्लेख किया है जहाँ तैमूर ने पड़ाव डाला था। अबुलफजल ने कुमाऊँ के बसन्तपुर, निजामुद्दीन अहमद ने 'कुमाऊँ' तथा 'दामन-ए-कोह', इनायतखाँ ने 40 मील लंबे और 10 मील चौड़े दून प्रदेश तथा उसके किलाघर, बहादुरखानपुर, बसन्तपुर, साहसपुर, थानाचंडी आदि स्थानों तथा शाहनवाज खाँ ने नजाबत खाँ द्वारा यमुना के पूर्वी तट पर स्थित शेरगढ़ नामक दुर्ग को जीतने का उल्लेख किया है। अबुल-फजल ने आइन-ए-अकबरी में तराई का उल्लेख सरकार कुमाऊँ के रूप किया है जिसके अन्तर्गत 21 महाल थे।

2.4.3 यात्रा वृत्तान्त

ह्वेनसांग ने इस क्षेत्र के मयूर, गोविषाण और ब्रह्मपुर आदि राज्यों का वर्णन किया है। अल्बरूनी की किताब-उल-हिन्द, विलियम फिंच के विवरण, टैवर्नियर के 'ट्रेवल्स इन इंडिया' (1676), बर्नियर का 'ट्रेवल्स इन मुगल इम्पायर' (1665-1668), में भी इस क्षेत्र के बारे में सूचनाएँ मिलती हैं। 1824-25 में कुमाऊँ की यात्रा पर आये ब्रिटिश पादरी रेगनाल्ड हैबर ने तराई में रुद्रपुर और भाबर में बमौरी नामक गाँव का विस्तृत विवरण दिया है।

2.4.4 ब्रिटिश युगीन दस्तावेज

कुमाऊँ कमिश्नर जॉर्ज विलियम ट्रेल द्वारा प्रकाशित 'स्टैटिस्टिकल स्केच ऑफ कुमाऊँ' (1828), एटकिंसन कृत 'गजेटियर ऑफ द नॉर्थ-वैस्ट प्रॉविंसेज-हिमालयन डिस्ट्रिक्ट्स', वाल्टन कृत देहरादून गजेटियर, नेविल कृत गजेटियर ऑफ द नैनीताल डिस्ट्रिक्ट तथा प्रमुख राजकीय अभिलेखों में भी इस क्षेत्र के बारे में महत्वपूर्ण सूचनाएँ उपलब्ध हैं। पन्नालाल ने कस्टमरी लॉ आफ कुमाऊँ में इस क्षेत्र की थारू और बुकसा जनजातियों के रीति-रिवाजों का विस्तार से वर्णन किया है।

2.4.5 अन्य ग्रन्थ

पयूहरर कृत 'मॉन्युमेंटल एंटीक्विटीज ऑफ द नॉर्थ-वैस्टर्न प्रॉविंसेज', गवर्नमेंट ऑफ यूनाइटेड प्रॉविंसेज द्वारा प्रकाशित मैनुअल ऑफ द रूल्स एंड आर्डर्स रिलेटिंग टु द मैनेजमेंट आफ गवर्नमेंट इस्टेट (1941), ब्यूरो ऑफ ऐग्रिकल्चरल इंकार्पोरेशन उत्तर प्रदेश द्वारा प्रकाशित तराई एंड भाबर डेवलपमेंट रिपोर्ट (1946), रामशरण सारस्वत द्वारा लिखित काशीपुर का इतिहास, रामचरणसिंह के शोधपत्र 'रुद्रपुर अ स्टडी ऑफ अर्बन ज्याॅग्रफी', शक्तिप्रसाद सकलानी कृत 'तराई-रुद्रपुर का इतिहास और विकास', शिवप्रसाद डबराल कृत उत्तराखंड का इतिहास के विभिन्न खंडों, बदरीदत्त पांडे कृत कुमाऊँ का इतिहास तथा आर.एस टोलिया कृत ब्रिटिश कुमाऊँ एंड गढ़वाल, अजय रावत कृत 'इनवायरनमेंट एंड पोलिटिक्स इन तराई-भाबर' में भी महत्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध है।

2.4.6 पुरातात्विक अवशेष

कालसी, जगतग्राम, बहादुराबाद, वीरभद्र, मायापुर, मोरध्वज, पांडुवाला, लालढांग, उज्जैन (काशीपुर), ढिकुली, सेनापानी, आदि अनेक स्थलों पर प्राचीन काल की समृद्ध बसासतों के अवशेष एवं शिल्पसामग्री विद्यमान हैं। इतिहासबोध के अभाव में प्राचीन खंडहरों की सामग्री का नये भवनों में उपयोग कर लिये जाने अथवा उन्हें नष्ट कर दिये जाने से अधिकतर पुरा सामग्री विनष्ट हो गयी है। कुछ उपलब्ध सामग्री जंगलों के बीच बिखरी हुई मिलती है। दून क्षेत्र के जंगलों में भी तराई में मिलने वाले पुरावशेषों की तरह अनेक बावड़ियों तथा बसासतों के खंडहर विद्यमान हैं। 1834 में सहारनपुर से 25 कि. मी. उत्तर में तिमली द्वार और चकरौता को जाने वाली सड़क के पास स्थित बेहट में नहर की खुदाई करते समय कैप्टन कोटिले को लगभग 20 फीट की गहराई में प्राचीन नगर के अवशेष और प्राचीन मुद्राओं का भंडार मिला था। इनमें अमोघभूति की चाँदी और ताँबे की मुद्राएँ, छोटे-बड़े आकार-प्रकार और तौल की कुणिन्दों की ताँबे और काँसे की मुद्राएँ, कतिपय यौधेय मुद्राएँ, एवं कुषाणों की ऐसी मुद्राएँ मिली थीं जिन पर राजा और नंदी के अंकन के साथ ग्रीक लिपि में लेख थे। इससे स्पष्ट होता है कि सुदूर अतीत में भी पर्वतों की तलहटी में स्थित इस क्षेत्र में कलात्मक भवनों, तोरण द्वारों और विभिन्न शिल्पाकृतियों से युक्त मंदिरों वाले अनेक समृद्ध नगर विद्यमान थे।

2.4.7 अभिलेखीय साक्ष्य

कार्तिकेयपुर नरेश भूदेव की बागेश्वर प्रशस्ति में 'जयकुलभुक्ति' और सहणपाल के बोधगया लेख में 'शिवालिक पर्वतमाला' का उल्लेख हुआ है। चन्द दानपत्रों में इस क्षेत्र के छिनकी का परेगना, मुडिया का परेगना, बगसी का परेगना आदि प्रशासनिक इकाइयों के नाम हैं।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये:

1. (क) अष्टाध्यायी के रचनाकार का नाम बताइये।

(ख) कुमाऊँ सरकार का उल्लेख किस ऐतिहासिक ग्रंथ में मिलता है।

2. नीचे लिखे गये प्रश्नों के उत्तर दीजिये:

(क) तराई-भाबर के इतिहास से संबंधित साहित्यिक साक्ष्यों का उल्लेख कीजिये।

(ख) पुरातात्विक स्रोतों से इस क्षेत्र के संबंध में क्या जानकारी मिलती है?

2.5 प्रागैतिहासिक तराई भाबर

2.5.1 पाषाण युगीन तराई-भाबर

1953 में डा. यज्ञदत्त शर्मा के निर्देशन में हरिद्वार के निकट बहादुराबाद स्थल पर की गई खुदाई में भूतल से बीस फीट की गहराई पर अनेक पाषाण उपकरण और हल्के लाल और गेरु के रंग के मिट्टी के पात्र मिले थे, जिनमें अगली ओर पतली धार पर आरी जैसे दाँत बने हैं और पीछे की ओर शिला मोटी और गोल है। इनके अग्रभाग का प्रयोग कन्द, मूल, फल, छोटी टहनियों और मांस आदि को काटने में और पिछले मोटे भाग का प्रयोग एक हथौड़े के रूप में किया जाता होगा। इनमें से कुछ उपकरण सिन्ध की सहायक सोहन नदी की घाटी में मिले उपकरणों के समान हैं। डबराल के अनुसार एक ही स्थान पर फ्लेक्स, स्क्रेपर्स, चौपर्स तथा अन्य स्थूल उपकरण और छोटी-छोटी छुरियाँ (माइक्रोलिथ्स) तथा ताँबे के भाले बरछे, हारपून आदि मिलने से विदित होता है कि गंगाद्वार के आस-पास मानव बसासतें प्रस्तर उपकरण युग से लेकर ताम्र उपकरण युग के आरंभ तक बनी रही होंगी।

2.5.2 ताम्रयुगीन तराई-भाबर

बहादुराबाद में ही गंगा नहर की उपशाखा के लिए खुदाई करते समय मजदूरों को अनेक ताम्र उपकरण जैसे, बेंट या बिना बेंट वाले भाले, कुल्हाड़ियाँ, तलवारें, ताँबे के कुछ कड़े और कुछ चित्रांकन भी मिले थे। डबराल के अनुसार "ऐसा लगता है कि ताँबे के उपकरण और हल्के लाल गेरु के रंग के पात्र बनाने वाली इस जाति का तराई भाबर और गंगा-यमुना के मैदान में तब तक आधिपत्य बना रहा होगा जब तक मिट्टी के चित्रित धूसर पात्र बनाने वाली जाति ने उसके क्षेत्र पर अधिकार नहीं जमा लिया।"

2.5.3 समकालीन सभ्यताएँ और तराई-भाबर

इस क्षेत्र में बहादुराबाद के अलावा कहीं भी पाषाण या ताम्र उपकरण बनाने वाली सभ्यताओं के सर्वेक्षण का कार्य नहीं किया गया है। लेकिन यहाँ से 100 कि.मी दक्षिण में हस्तिनापुर की खुदाई में विभिन्न स्तरों में एक के ऊपर एक स्थित पाँच बसासतों में से प्रथम तीन युगों की बसासतों के अवशेषों के आधार पर कहा जा सकता है कि इन युगों में तराई-भाबर के निवासियों ने भी कालक्रम में गेरु के रंग के पात्रों बनाने से लेकर मिट्टी चित्रित धूसर भांड बनाने उन्हें आड़ी-तिरछी रेखाओं, वृत्तों और

अर्द्धवृत्तों से सजाने, ताँबे के नाना प्रकार के अस्त्र और पात्र बनाने से लेकर जानवरों की अस्थियों से ऐसे नुकीले छोटे उकरण बनाना सीख लिया था, जिनका प्रयोग सिलाई या बुनाई के लिए होता होगा। वे अपने घर की दीवारें कच्ची ईंटों या नरकुल आदि से बनाते थे और उन्हें मिट्टी से लीपते थे। धीरे-धीरे उन्होंने भी काली पालिश वाले मिट्टी के पात्र बनाना, कच्ची व पक्की ईंटों से घरों का निर्माण और पानी के निकास के लिए ईंटों से बनी नालियाँ बनाना भी सीख लिया होगा। वे पशु पालन और धान आदि की खेती करना भी सीख गये होंगे तथा ताँबे के साथ-साथ लोहे से भी बाणों की नोकें, छेनी, दराती और कीलें बनाने लगे होंगे।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये:

1. (क) यज्ञदत्त शर्मा के निर्देशन में किस स्थल पर खुदाई की गई?

2. नीचे लिखे गये प्रश्नों के उत्तर दीजिये:

(क) पाषाण युगीन तराई- भाबर पर टिप्पणी लिखिये?

(ख) ताम्र युगीन तराई-भाबर की स्थिति पर संक्षेप में उल्लेख कीजिये।

2.6 तराई-भाबर का इतिहास का प्रारंभिक इतिहास (गुप्त युग तक)

2.6.1 प्राचीन संपर्क मार्ग तथा पूर्व-पश्चिम महापथ

19वीं शताब्दी में ब्रिटिश सरकार द्वारा रेल लाइनों के लिए स्लीपर्स की आपूर्ति और स्थानीय रूप से लोहे का उत्पादन करने के लिए साल वनों के अंधाधुंध कटान से पूर्व इस क्षेत्र में इतने जंगल थे कि गंगा-यमुना के मैदानी भू-भाग से पर्वतीय भू-भाग का संपर्क केवल छोटी-बड़ी नदियों के प्रवाह पथों से ही संभव था। इनमें पूर्व में शारदा नदी के तटवर्ती मार्ग से बरमदेव मंडी, नन्धौर घाटी मार्ग से सेनापानी, गौला घाटी मार्ग से शीतलाहाट, कोशी घाटी मार्ग से गोविषाण और ब्रह्मपुर, रामगंगा घाटी मार्ग से पांडुवाला और लालढाँग, खोह नदी घाटी मार्ग से मोरध्वज और खोहद्वार, गंगा घाटी मार्ग से चंडी पहाड़ी और गंगाद्वार और यमुना घाटी मार्ग से कालकूट या कालसी जाना संभव था। इन दक्षिण-उत्तर मार्गों के अलावा प्राचीन काल में ताम्रलिप्ति को पश्चिमोत्तर प्रान्त में स्थित कपिशा और कंधार से जोड़ने वाले उत्तरपथ की एक शाखा तराई-भाबर के मध्यवर्ती क्षेत्र से होकर गुजरती थी। भारवाही पशुओं के लिए चारे तथा जल की प्रचुरता और जलवायु के मैदानी भाग से अपेक्षाकृत शीतल होने के कारण ग्रीष्म ऋतु में अधिकतर सार्थवाह इसी पथ का अनुसरण करते थे। महाभारत, अष्टाध्यायी में उपलब्ध विवरणों के अनुसार भी हिमालय की तलहटी या भाबर प्रदेश में मार्ग अच्छे थे। भरतसिंह उपाध्याय (बुद्धकालीन भारत) के अनुसार “इन पर निरंतर सार्थ चलते रहते थे। स्थान-स्थान पर पड़ाव डालने और विश्राम करने की सुविधा थी। दिन भर और सभी ऋतुओं में भारवाही पशु चल सकते थे। बुद्ध भी इसी मार्ग से उशीरगिरि पहुँचे थे।”

2.6.2 तराई-भाबर की प्राचीन बसासतें

तराई-भाबर में इन पूर्व-पश्चिम और दक्षिण-उत्तर मार्गों के मिलन बिन्दुओं के आस-पास प्राचीन काल के नगरों और मंडियों का विकास हुआ होगा। इनमें यमुना घाटी में सुघ्न और कालकूट, गंगा घाटी में गंगाद्वार और कनखल, खोह नदी की घाटी में मोरध्वज, रामगंगा घाटी में पांडुवाला, कोशी घाटी में गोविषाण और ब्रह्मपुर, गौला घाटी में शीतलाहाट, नन्धौर घाटी में सेनापानी, और शारदा घाटी में बरमदेव मंडी जैसे व्यापारिक सन्निवेश या तो विद्यमान हैं या वहाँ प्राचीन बस्तियों के अवशेष मिलते हैं।

अष्टाध्यायी में संकेतित विवरणों से ज्ञात होता है कुलिन्द जनपद का दक्षिणवर्ती क्षेत्र घने वनों से ढका था जहाँ दूर-दूर से आखेटक शिकार के लिए आते थे। इस युग में भाबर प्रदेश में विशेष रूप से गंगाद्वार(हरद्वार) के समीप महत्वपूर्ण बस्तियाँ थीं। हिमालय की तलहटी के मार्ग गंगाद्वार से शाक्य और कोलिय जनपदों तक पहुँचते थे। महाभारत में इस जनपद के कुलिन्द, एकचक्र, कालकूट और सुघ्न आदि नगरों का उल्लेख हुआ है। दिव्यावदान के अनुसार भगवान बुद्ध ने सुघ्न और उशीनर की यात्रा की थी। असंकिय जातक के अनुसार घने वनों से आच्छादित होने के कारण इन यात्रा मार्गों में चोर-डाकुओं का भय बना रहता था।

2.6.3 प्राचीन काल में तराई-भाबर में व्यापारिक गतिविधियाँ

इन स्रोतों से विदित होता है कि तब भी भाबर की मंडियों में अंजन, लवण (तिब्बत से आने वाला नमक जिसे भोटिया लूण कहा जाता था), रस्सी बनाने के लिए मूँज और बाबड़ घास, कंबल, मृगचर्म, लाख, ऊन तथा भाँग के रेशों से बने वस्त्र, बाँस और रिंगाल से बने उपकरण, स्वर्ण चूर्ण, भोटान्तिक अश्व, सुहागा शहद और गंगाजल आदि का व्यापार होता था। कौटिल्य ने उत्तर के म्लेच्छों से प्राप्त होने वाले उत्तम कंबलों और चर्मों का उल्लेख किया है।

2.6.4 धार्मिक स्थिति

2.6.4.1 बौद्ध मत

डबराल के अनुसार उस युग में तराई-भाबर में बौद्ध मत का प्रसार था। कनखल के पास अहोगंग या चंडी पहाड़ी के आस-पास के क्षेत्रों में बौद्ध विहारों की स्थापना हो चुकी थी जिन्हें कुणिन्द शासकों का संरक्षण था। कुणिन्दों के सिक्कों पर भी बौद्ध वेष्टिनी, त्रिरत्न और बोधिवृक्ष का अंकन मिलता है। कालसी में अशोक के चौदहवें शिलालेख से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यह नगर मौर्य काल में एक महत्वपूर्ण व्यापारिक और प्रशासनिक नगर था। अशोक ने कालसी के दक्षिण में स्थित सुघ्न नगर से लेकर गोविषाण और अहिच्छत्र आदि में अनेक स्तूप बनवाये थे जिनका उल्लेख ह्वेनत्सांग ने अपने यात्रा विवरण में किया है।

प्राचीन काल में गंगा से लेकर रामगंगा के तट तक फैली पर्वतमाला का नाम मयूरगिरि था, जिसकी तलहटी में गंगा तट पर मयूर नगर (ह्वेनत्सांग द्वारा उल्लिखित मो-यू-लो) बसा था। पूर्व की ओर कोटद्वार के पास मोरध्वज स्तूप था। डबराल के अनुसार “अहोगंग या गंगाद्वार के स्थविरों का गंगा से लेकर रामगंगा तक फैले गढ़वाल भाबर के निवासियों पर गहरा प्रभाव था। इसकी गाथा साँची और भरहुत के अभिलेखों में आज तक सुरक्षित है।” उन्होंने एपिग्राफिका इण्डिका (जि.2 पृ. 399) को उद्धृत करते हुए बताया है कि “साँची से प्राप्त धातुपात्रों में अहोगंग निवासी स्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स, हिमवन्त के आचार्य कस्सपगोत, मज्झिम स्थविर हारितिपुत्त आदि के अस्थि-अवशेष मिले हैं। पात्रों के ढक्कनों पर अशोक कालीन ब्राह्मी में इनके नाम अंकित हैं। यहाँ से मिले कुछ अभिलेखों से ज्ञात होता है कि मोरगिरि के पार्श्व में बसे कुछ गाँवों के निवासियों ने साँची पहुँच कर स्तूप निर्माण के लिए दान दिया था।”

2.6.4.2 ब्राह्मण धर्म

कालसी के निकट ही जगतग्राम नामक स्थान पर दूसरी शताब्दी में युगशैल के पोण वंशीय छठे राजा शीलवर्मण ने अश्वमेध यज्ञ किया था। यज्ञ की वेदिका की ईंटों पर शीलवर्मण द्वारा चतुर्थ अश्वमेध यज्ञ किये जाने के उल्लेख से विदित होता है कि इस क्षेत्र में बौद्ध मत के प्रसार के बावजूद ब्राह्मण धर्म को मानने वाले नरेशों का प्रभाव था।

2.6.5 राजनीतिक इतिहास

2.6.5.1 कुलिन्द जनपद

ईसा पूर्व की चौथी शताब्दी में सतलज, यमुना, गंगा और कालीगंगा का प्रदेश कुलिन्द जनपद के अन्तर्गत था। पाणिनि ने इसका उल्लेख किया है। बृहत्संहिता में शक, हूण और कुलिन्दों का एक ही क्रम में उल्लेख करते हुए इसे कुलिन्द और कृणिन्द नामों से अभिहित किया गया है। टॉलेमी ने इसे कुलिन्द्राइन कहा है। डबराल के अनुसार “पाणिनि के समय से लेकर अशोक के राज्यकाल तक यह भूभाग मगध साम्राज्य के कुलिन्द जनपद के अन्तर्गत था। आरंभ में इसका मुख्यालय कालकूट या वर्तमान कालसी में था। कालान्तर में राज्य का विस्तार हो जाने के कारण इसे कालसी से दक्षिण में स्थित सुघ्न में स्थापित किया गया। कुलिन्द नरेशों में से, अब तक, अगरज, बलभूति और अमोघभूति के सिक्के तथा भरहुत और मथुरा से धनभूति, उसकी पत्नी नागरखिता (नागरक्षिता), वधपाल (वृद्धपाल) के अभिलेख मिले हैं। इनमें अमोघभूति सबसे शक्तिशाली था, जिसकी मुद्राएँ गढ़वाल में श्रीनगर के समीप सुमाड़ी से लेकर पश्चिम में ज्वालामुखी, करनाल और सुनेत तक मिली हैं।” पतंजलि के अनुसार “यह नगर यमुना के तट पर बसा था। वाह्य आक्रमणों से रक्षा के लिए नगर के बाहर पकी ईंटों से बनाया गया प्राकार इतना सुदृढ़ था कि पाटलिपुत्र को छोड़ कर किसी अन्य नगर के प्राकार उससे समता नहीं रखते थे। नगर के बाहर एक परिखा थी, जिसमें यमुना का जल भरा रहता था। नगर के मार्ग काफी चौड़े थे।” बराहमिहिर (बृहत्संहिता) के अनुसार भी कुलिन्द जनपद की गणना गणराज्यों में की जाती थी और उसे श्रेष्ठ गणराज्य माना गया था (कौलिन्दान् गणपुंगवान)।

2.6.5.2 यवन शक और कुषाण आधिपत्य

शुंग साम्राज्य के अवसान और कृणिन्दों के बाद बैक्ट्रिया के शासक डेमेट्रियस एवं मेनेंडर के आक्रमणों तथा उनके बाद इस क्षेत्र में प्रविष्ट होने वाले मथुरा के शक क्षत्रपों के युग में तराई-भाबर में भारी उथल-पुथल रही, जो कालान्तर में कश्मीर से लेकर मथुरा, वाराणसी तक कुषाणों का अधिकार हो जाने पर ही थम सकी। यहाँ बिजनौर के 25 कि.मी. उत्तर-पूर्व में गंगाखादर के बायें किनारे पर टिप के टीले से लेकर काशीपुर के पास गोविषाण के टीले और पर्वतीय क्षेत्र में अल्मोड़ा जनपद में सोमेश्वर के पास भी कुषाण नरेश वासुदेव की मुद्राओं के मिलने से इस बात की पुष्टि होती है कि यह पूरा भू-भाग कुषाण साम्राज्य के अन्तर्गत था।

2.6.5.3 कुषाणों का योगदान

डबराल के अनुसार “कुषाणों ने मार्गों के सुधार और सुरक्षा पर विशेष ध्यान दिया। नदियों पर बाँस के पुल बनाये जाते थे। झूलों, नावों और नावों के बेड़ों से भी नदियाँ पार की जाती थीं। साकल से पाँच-पाँच सौ गाड़ियों वाले सार्थ पाटलिपुत्र जाते थे। ये सार्थ प्रायः इस क्षेत्र से होकर गुजरते थे। फलतः इस युग में भाबर प्रदेश में अनेक छोटे-बड़े व्यापारिक नगर बस गये थे, जो पर्वतीय और मैदानी व्यापारिक वस्तुओं का विनिमय करते थे। सुघ्न कालकूट, बेहट, वीरभद्र, कनखल, मोरगिरि, गोविषाण, जयकुल भुक्ति, सेनापानी आदि में बड़ी मंडियाँ विकसित हो गयी थीं, जिनके अवशेष इन क्षेत्रों में दूर-दूर तक विकीर्ण हैं।”

2.6.5.4 गोविषाण का मित्र वंश

कुषाणों के अवसान के बाद तराई-भाबर में मित्रवंशीय नरेशों के राज्य के प्रमाण काशीपुर के निकट उज्जैन या गोविषाण के विशाल दुर्ग से मिलते हैं। दुर्ग के निर्माण में प्रयुक्त ईंटों पर अंकित लेखों पर गोविषाण के तीन मित्रवंशी नरेशों—मातुमित्र, पिथिवीमित्र तथा एक अन्य नरेश (जिसका नाम पढ़ा नहीं जा सका है) के नाम उत्कीर्ण हैं। इन्होंने गोविषाण में विशाल दुर्ग का निर्माण करवाया जिसके अवशेष 800 मीटर लंबे और 400 मीटर चौड़े क्षेत्र में विद्यमान हैं। कनिंघम के अनुसार “उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक दुर्ग के तीन ओर उथली खाइयाँ और उत्तर-पश्चिम और दक्षिण-पश्चिम की ओर दो स्थानों पर

पुराने द्वारों के अवशेष थे। दुर्ग के पार्श्व में एक सरोवर का भी निर्माण किया गया था जो आज भी द्रोण सागर के रूप में विद्यमान है।

2.6.5.5 युगशैल राज्य

कालसी के समीप जगतग्राम में प्राप्त यज्ञ की गरुडाकृत वेदी के अवशेषों से इस क्षेत्र में पौण वंशीय राजाओं के राज्य की सूचना मिलती है। वेदिका की ईंटों पर अंकित अभिलेखों से ज्ञात होता है कि यह अश्वमेधयज्ञ पौण वंश के छठे नरेश शीलवर्मन ने किया था। उसके राज्य अथवा राजधानी युगशैल की पहचान अनिश्चित है। संभवतः यह हिमाचल और उत्तराखंड दोनों प्रदेशों का वाचक हो सकता है। कुछ विद्वानों के अनुसार युगशैल उसकी राजधानी का नाम भी हो सकता है।

2.6.6 गुप्तकालीन तराई-भाबर

गोविषाण और युगशैल के राज्यों के अवसान के बाद तराई-भाबर में किस वंश का उदय हुआ यह ज्ञात नहीं है। समुद्रगुप्त की दिग्विजय से पूर्व पांचाल प्रदेश और मथुरा में नाग राजाओं के राज्य थे। पांचाल से सटे होने के कारण संभवतः तराई पर भी नाग राजाओं का प्रभाव रहा होगा। समुद्रगुप्त द्वारा नाग राजाओं के उन्मूलन के बाद यह पूरा प्रदेश गुप्त सम्राटों के अधिकार में आ गया और नाग राजाओं को पर्वतीय क्षेत्रों और विंध्याटवी में शरण लेनी पड़ी। गोपेश्वर के त्रिशूल लेख में अंशुनाग, विभुनाग, भवनाग और गणपति नाग के नामांकित नाग नरेशों के लेख से यह ज्ञात होता है कि कुछ नाग नरेशों ने पर्वतीय क्षेत्र के उत्तरी भाग में अलकनन्दा से लेकर बेरीनाग तक अपना राज्य स्थापित किया था। गोपस्थल या वर्तमान गोपेश्वर इनकी राजधानी थी। गुप्त युग के अंतिम वर्षों में हूणों का आक्रमण हुआ था। स्कन्दगुप्त और उनके बाद मालवा नरेश यशोधर्मन ने हूणों को मध्यदेश से खदेड़ दिया। मंदसौर अभिलेख से ज्ञात होता है कि हूणों के पराभव के बाद गंगा के स्रोत प्रदेश तक यशोधर्मन का राज्य स्थापित हो गया।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये:

1. (क) कालसी में अशोक का कौन सा शिलालेख है?

(ख) कुलिन्द जनपद को टॉलेमी ने किस नाम से संबोधित किया है?

2. नीचे लिखे गये प्रश्नों के उत्तर दीजिये:

(क) तराई-भाबर की प्राचीन बसासतों पर एक टिप्पणी लिखिए।

(ख) गोविषाण के मित्र वंश के बारे में आप क्या जानते हैं?

2.7 गुप्तोत्तर युग में

हूण आक्रमणों से गुप्त नरेशों की सत्ता शिथिल होते ही उत्तर भारत में छोटे-छोटे राज्यों का उदय होने लगा। इस युग में गंगा घाटी में स्थित कन्नौज अपनी भौगोलिक एवं सामरिक क्षमताओं के कारण राजनीति का केन्द्र बन गया। कन्नौज पर नियंत्रण का अर्थ था, गंगा के दोआब के उपजाऊ पूर्वी और पश्चिमी भाग पर नियंत्रण। अतः यह समकालीन राजसत्ताओं के बीच संघर्ष का कारण बन गया।

तत्कालीन विवरणों से ज्ञात होता है कि यमुना के पश्चिमी भाग पर थानेश्वर के पुष्यभूति वंश के नरेशों का और पूर्वी भाग पर कन्नौज के मौखरियों का अधिकार था। उत्तराखंड में गोपेश्वर के निकट सिरोली में प्राप्त एक शिलालेख में कन्नौज के नरेश महाराजाधिराज सर्ववर्मन द्वारा बावड़ी के निर्माण

का उल्लेख है। अतः यह माना जा सकता है कि कन्नौज पर हर्ष का अधिकार होने से पहले यह सारा भूभाग मौखरियों के अधीन रहा होगा। (रमाशंकर त्रिपाठी, हिस्ट्री ऑफ कन्नौज पृ. 55)

2.7.1 सम्राट हर्ष के साम्राज्य में

मौखरियों को पराजित कर हर्ष ने पूरे पांचाल प्रदेश पर अधिकार कर लिया था। उसके शासन काल में भारत आने वाले चीनी यात्री ह्वेनत्सांग ने भाबर-तराई और उससे लगे पर्वतीय क्षेत्र में स्थित तीन जनपदों— सुघ्न, ब्रह्मपुर और गोविषाण जनपदों का विस्तृत विवरण दिया है। उसके यात्रा विवरण में जहाँ अन्य जनपदों के नरेशों के नाम हैं, इन तीन जनपदों के नरेशों के नामों का उल्लेख नहीं है। इससे यह माना जा सकता है कि ये तीनों ही जनपद सम्राट हर्ष के राज्यान्तर्गत थे।

2.7.2 सुघ्न

ह्वेनत्सांग के यात्रा विवरण के अनुसार “वह स्थाण्वीश्वर से उत्तर-पूर्व की ओर 400 ली या 104 कि. मी चल कर सु-लु-किन-ना(सुघ्न) पहुँचा था। इस राज्य की परिधि 6000 ली या 1600 कि.मी. थी। उसकी पूर्वी सीमा पर गंगा बहती थी। यमुना नदी जनपद के मध्य में थी। इसके उत्तर में हिमालय था। राजधानी के दक्षिण-पूर्व में एक विशाल बौद्ध मठ था, जिसके पूर्वी द्वार के समीप अशोक द्वारा निर्मित स्तूप था।” उसके अनुसार यह समृद्ध नगर उन दिनों उजाड़ होने लगा था। यमुना के राज्य के बीच होने और पूर्वी सीमा पर गंगा की स्थिति से यह संकेत मिलता है कि वर्तमान देहरादून जनपद उन दिनों सुघ्न राज्य के अन्तर्गत था।

2.7.3 ब्रह्मपुर

ह्वेनत्सांग के अनुसार “पु-लो-हि-मो-पु-लो या ब्रह्मपुर सुघ्न के उत्तर-पूर्व की ओर स्थित था। यह जनपद चारों ओर पर्वतों से घिरा था। इसके उत्तर में सुवर्णगोत्र का स्त्री द्वारा शासित राज्य या तिब्बत था। राज्य की परिधि चार हजार ली या 1070 कि.मी. थी। यहाँ ताँबे और स्फटिक की खानें थीं। इन विवरणों के आधार पर ब्रह्मपुर राज्य की अवस्थिति उत्तराखंड में सिद्ध होती है। इस राज्य की राजधानी कहाँ थी, इस बारे में विद्वान एकमत नहीं हैं। कनिंघम इसे पश्चिमी रामगंगा के तट पर स्थित ‘लखनपुर वैराटपट्टन’, एटकिंसन तथा राहुल ‘बाड़ाहाट’, पॉवेल प्राइस ‘कत्यूर घाटी’, फ्यूहरर तथा डबराल ‘पाण्डुवाला’, सेंट मार्टिन और मुकुंदीलाल ‘श्रीनगर’, नित्यानन्द मिश्र व के.पी.नौटियाल ‘ढिकुली’ तथा ताराचन्द्र त्रिपाठी ‘द्वाराहाट के समीप’ मानते हैं। नैनीताल जनपद के भाबर प्रदेश में स्थित ढिकुली के जंगलों में प्राचीन नगर के बिखरे हुए अवशेषों को देखते हुए ब्रह्मपुर नगर को राज्य की शीतकालीन राजधानी माना जा सकता है।

2.7.4 गोविषाण

ह्वेनत्सांग के अनुसार “कि-उ-पि-सु-आंग-ना या गोविषाण मो-ती-पु-लो या मतिपुर से चार सौ ली या लगभग 105 कि.मी. दक्षिणपूर्व की ओर था। राज्य की परिधि 2 हजार ली या लगभग 540 कि.मी तथा राजधानी की परिधि पन्द्रह या सोलह ली या लगभग 4 कि.मी थी। इसके चारों ओर हरे-भरे वन और सरोवर थे। जनसंख्या घनी थी। लोग समृद्ध थे। नगर के निकट ही अशोक द्वारा निर्मित एक स्तूप उस स्थान पर खड़ा था जहाँ बुद्ध ने एक मास तक रुक कर उपदेश दिये थे। यहाँ दो स्तूप और थे, जिनमें बुद्ध के केश और नख रखे हुए थे। इस राज्य की परिधि मात्र 2000 ली (450) कि.मी. होने के उल्लेख से यह विदित होता है कि तराई-भाबर का पूरा क्षेत्र इन राजाओं के अधीन रहा होगा। कनिंघम ने ह्वेनत्सांग द्वारा मण्डावर से दी गई दूरी के आधार पर गोविषाण की राजधानी की स्थिति नैनीताल जनपद के काशीपुर नगर के निकट उज्जैन गाँव के समीप मानी है।

2.7.5 कन्नौज के प्रभुत्व के युग में

647 ई. में सम्राट हर्ष की मृत्यु हो गयी। उसका कोई उत्तराधिकारी न होने से कन्नौज में फैली अव्यवस्था उसकी मृत्यु के लगभग 75 वर्ष बाद 725 ई. में यशोवर्मन के रूप में एक प्रभावशाली नरेश के राज्यारोहण तक बनी रही। यशोवर्मन ने कन्नौज के राज्य को फिर से सुगठित किया। देवप्रयाग से मिले आदिवर्मन, परम भट्टारक महाराजाधिराज कल्याणवर्मन और यहाँ तक तालेश्वर दानपत्रों में भी वर्मन वंश के राजाओं के उल्लेख से यह ज्ञात होता है इस युग में पूरे उत्तराखंड पर कन्नौज के वर्मनवंशीय शासकों का अधिकार था। डबराल के अनुसार “संभवतः कत्यूरी राज्य के संस्थापक मसन्तन देव भी यशोवर्मन के करद सामन्त थे।”

यशोवर्मन की मृत्यु के बाद पांचाल राज्य फिर अस्थिर हो गया। कन्नौज पर अधिकार करने के लिए पूर्व के पाल नरेशों, पश्चिमी भारत के गुर्जर प्रतिहारों और दक्षिण के राष्ट्रकूटों के बीच बार-बार संघर्ष आरंभ होने लगे। इस अस्थिरता का लाभ उठाते हुए उत्तराखंड में कार्तिकेयपुर नरेशों ने एक सुदृढ़ राज्य की स्थापना की। भाबर और तराई का भू-भाग इन राजाओं के अधिकार में था या नहीं, इसके बारे में जानकारी उपलब्ध नहीं है, लेकिन परवर्ती कत्यूरी नरेशों की गाथाओं में भाबर-तराई के वर्णन से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उनसे पहले के शक्तिशाली नरेशों के युग में भी भाबर कार्तिकेयपुर राज्य के अन्तर्गत रहा होगा।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये:

1. (क) के.पी. नौटियाल ने ब्रह्मपुर की राजधानी किसे माना है?

(ख) ह्वेनत्सांग द्वारा उल्लिखित किउ.पि.स्वांग.ना का साम्य किस राज्य से स्थापित किया गया है?

2. नीचे लिखे गये प्रश्नों के उत्तर दीजिये:

(क) सुघ्न तथा ब्रह्मपुर पर टिप्पणी लिखिये।

(ख) गोविषाण के बारे में संक्षेप में बताइये।

2.8 बाह्य आक्रमणों का युग

आठवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में केन्द्रीय राजसत्ता के बिखर जाने के बाद पूरा उत्तरी भारत छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गया। ये राज्य न केवल आपस में युद्धरत रहे, अपितु अपने स्वदेशी प्रतिद्वन्द्वी के विरुद्ध बाहरी आक्रान्ताओं से भी सहायता लेने में नहीं चूके। परिणामतः उत्तरी भारत में एक के बाद एक बाह्य आक्रमण हुए। भले ही इसके आरंभ में तराई-भाबर का क्षेत्र उत्तर भारत में यमुना के पश्चिमी भाग में हो रही इन हलचलों से सीधे प्रभावित न हुआ हो, पर तब भी इसे शरणार्थी समस्या से जूझना पड़ा होगा।

2.8.1 महमूद गजनवी का आक्रमण

महमूद गजनवी द्वारा 1001 से 1025 तक लगातार किए गये आक्रमण अधिकतर यमुना के पश्चिमी भाग, गंगा के दोआब और गुजरात तक सीमित रहे। इनसे उत्तरी भारत में ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गयी जिससे विवश होकर इन भागों में रहने वाले लोगों को बड़ी संख्या में अपनी भूमि छोड़ कर तराई-भाबर और पर्वतों की शरण लेनी पड़ी। इनमें राजवंशों के आयुधजीवी सैनिक भी बड़ी संख्या में थे।

2.8.2 पर्वतीय शासकों द्वारा दक्षिणी सीमा का सुदृढ़ीकरण

मध्यदेश और अपने राज्यों की दक्षिणी सीमा पर हो रही इस उथल-पुथल से सुरक्षा हेतु इस क्षेत्र के सामन्तों ने शिवालिक की ढालों तथा भाबर-तराई में अनेक गढ़ों की स्थापना की और बहुत से पूर्ववर्ती गढ़ों को सुदृढ़ किया। तल्ला सलाण, गंगा सलाण और भाबर में गढ़ों की संख्या में भारी वृद्धि से ज्ञात

होता है कि आक्रान्ता सहारनपुर और रुहेलखंड की ओर से भाबर-तराई और शिवालिक की पहाड़ियों पर भी बार-बार छापे मारते थे। उनसे राज्य की रक्षा के लिए दक्षिणी सीमान्त पर सुदृढ़ गढ़ों की आवश्यकता थी। इनमें देहरादून से 13 कि.मी दूर सुन्तोर गढ़, डेरा साहसपुर और बसन्तपुर के बीच कौलागढ़, नालापानीगढ़ या खलंगागढ़, यमुना के तट पर शेरगढ़, हरिद्वार और ऋषिकेश के बीच ननोरगढ़, लालढाँगगढ़, नजीबाबाद और कोटद्वार के बीच मोरध्वजगढ़, या मुनव्वर तूर, कोटद्वार से पूर्व की ओर पातलीदून, ढिकुली, पारकोट, कठौतिया, उज्जैन (काशीपुर) शीतलाहाट, बाड़ाखोड़ी, कालीचौड़, सेनापानी तथा प्रमुख सीमावर्ती गढ़ थे।

2.8.3 चौहान सामन्तों का आगमन

मुहम्मद गोरी से पृथ्वीराज के परास्त होने के बाद चौहान सामन्तों और सैनिकों ने आत्मरक्षा के लिए गढ़वाल के निचले भागों और भाबर क्षेत्र में शरण ली। डबराल के अनुसार 1160 और 1192 के बीच वे यहाँ के कई गढ़ों पर अधिकार कर चुके थे। चौहानों की मूल भूमि अजमेर थी। फलतः उन्होंने अपने नयी बसासतों के क्षेत्र को भी अजमेर नाम दिया। आज भी गढ़वाल के दक्षिण पश्चिमी भू-भाग में स्थित एक पट्टी का नाम अजमेर है।

2.8.4 कटेहरी राजपूतों का तराई में प्रवेश

कटेहर मूलतः तराई के दक्षिण में स्थित रुहेलखण्ड का क्षेत्र था। कटेहर के राजपूत अपनी स्वतंत्रता की रक्षा के लिए इतने कटिबद्ध थे कि बंगाल गुजरात और महाराष्ट्र तक अपनी राजसत्ता फैला देने वाले सुल्तान भी कटेहर पर अधिकार करने में सफल नहीं हो सके थे। 1254 में बलबन द्वारा भेजी गयी एक विशाल सेना ने मायापुर या चंडी घाट के पास गंगा को पार किया और तकलाबाली (कालागढ़ स्थित मिठावाली) में उसका स्थानीय सामन्तों से घोर युद्ध हुआ। दिल्ली के सुल्तानों ने कटेहरियों के दमन के लिए बिजनौर, मंडावर, संभल बदायूँ में अपने सैनिक ठिकाने स्थापित किये। अन्ततः लगातार आक्रमणों और लूटपाट के कारण कटेहरियों को अपनी भूमि से विस्थापित होना पड़ा। जैसे-जैसे सुल्तान कटेहरियों की जमीन पर अधिकार करते गये, कटेहरी भाबर और तराई के अस्वास्थ्यकर प्रदेशों में शरण लेने के बाध्य होते गये। राहुल के अनुसार "रामगंगा की पश्चिमी, पूर्वी दोनों उपत्यकाओं में वर्तमान गढ़वाल और कुमाऊँ के भाबर में खोह नदी से लेकर किच्छा नदी और उससे आगे तक कटेहरी बसने लगे। परिणामतः कटेहर की सीमा भाबर और तराई के उस भाग से मिल गयी जहाँ शीतकाल में पर्वतवासी अपने पशुओं को चराने आया करते थे।" कटेहरियों ने तराई में थापलों पर बसना और खेती करना आरंभ कर दिया। धीरे-धीरे सदियों से उजाड़ पड़े भाबर और तराई के जंगलों में खेत लहलहाने लगे। नई बसासतें, गाँव और बाजार विकसित होने लगे।

फिरोज तुगलक के राज्यकाल में बदायूँ के सूबेदार सय्यद मुहम्मद और कटेहर के मुकद्दम, (तारीखे-ए-मुबारक शाही में उल्लिखित खडगू) के बीच संघर्ष आरंभ हो गया। डबराल के अनुसार "कटेहर की समृद्धि से आकर्षित होकर जब सय्यदों ने उस प्रदेश में हस्तक्षेप करना चाहा तो कटेहरियों ने सय्यदों की सेना और उसके सेनानायकों को तलवार के घाट उतार दिया।" सय्यद बन्धुओं की हत्या का बदला लेने के लिए फिरोज तुगलक ने कटेहर पर आक्रमण कर उसका विध्वंस करना आरंभ कर दिया। खडगू ने भाग कर महताओं के देश कुमाऊँ में शरण ली। शाही सेना खडगू पीछा करती हुई कुमाऊँ में प्रविष्ट हो गयी, पर उसका पता लगाने में असमर्थ रही। सेना का कोप भाजन निरपराध पर्वतीय जनता को होना पड़ा। इसके उपरान्त फीरोज तुगलक ने एक अफगान को संभल का सूबेदार नियुक्त किया और उसे कठोर आदेश दिया कि वह हर साल मशालें और तलवार लेकर लेकर कटेहर का विध्वंस करे।

2.8.5 कुमाऊँ नरेश को तराई की जागीर

कटेहरियों द्वारा अधिकार जमाने से बहुत पहले से पर्वतीय जन शीतकाल में अपने पशुओं को लेकर तराई और भाबर में पहुँचते थे। तराई में कटेहरियों के बढ़ते प्रभाव से इन पशुचारकों को भी परेशानी झेलनी पड़ती होगी। कटेहरियों के तराई में प्रसार की समस्या से निपटने और तराई-भाबर पर अपना नियंत्रण बनाये रखने के लिए कुमाऊँ का राजा ज्ञानचन्द सुल्तान के दरबार में उपस्थित हुआ। सुल्तान ने कटेहरियों पर सतर्क दृष्टि रखने तथा उनके द्वारा पर्वतीय क्षेत्र से उतर कर बार-बार शाही सेना पर छापे मारने की घटनाओं को रोकने के लिए ज्ञानचन्द को तराई की जागीर प्रदान की।

2.8.6 मंगोलों के आरंभिक आक्रमण

बरनी ने लिखा है कि "अलाउद्दीन खिलजी के राज्य काल में ही 1296 और 1308 ई. के बीच मध्य एशिया के मुगल सरदारों ने विशाल अश्वारोही सेना लेकर सात बार उत्तरी भारत पर आक्रमण किये। इनमें से दो आक्रमणों में चंगेज खाँ के वंशज अलीबेग और तरताक के नेतृत्व में 50 हजार मुगल सैनिक दून और भाबर प्रदेश में लूटमार, हत्याकांड करते आग लगाते हुई पूर्व की ओर बढ़े, जिनके भय से भाबर और पहाड़ी क्षेत्र में भगदड़ मच गयी।"

2.8.7 मुहम्मद तुगलक का काराचल अभियान

1338 ई. में मुहम्मद तुगलक ने अपनी सेना को हिन्दुस्तान और चीन(तिब्बत) के मध्य स्थित 'काराचल' पर अधिकार करने के लिए भेजा। इब्नबतूता के अनुसार काराचल के दक्षिण में चौरस भूमि में खेती होती थी। पहाड़ी भाग में लोग भेड़-बकरियाँ चराते थे। वहाँ कस्तूरा मृग मिलता था। पर्वतश्रेणी के पदतल में जिदिया और पर्वत के ऊँचे भाग में वारंगल नगर था। इन सूचनाओं के आधार पर विद्वानों ने काराचल की पहचान गढ़वाल और कुमाऊँ के मध्यवर्ती भूभाग से की है। उनके अनुसार जिदिया वर्तमान चंडी और वारंगल देवलगढ़ का परिचायक है(हौडीवाला,स्टडीज इन इण्डो मुस्लिम हिस्ट्री)। इब्नबतूता के अनुसार जिदिया नगर और निकटवर्ती प्रदेश पर अधिकार कर सैनिकों ने आग लगा दी और लूटमार की। जो लोग बच सके वे पहाड़ों में छिप गये। संभवतः यह लूटमार भाबर प्रदेश में हुई होगी। यद्यपि इस अभियान में शाही सेना की बड़ी दुर्दशा हुई और कुछ ही सैनिक जीवित लौट सके, पर इस अभियान ने इस क्षेत्र की तत्कालीन राज सत्ताओं को भी शक्तिहीन कर दिया।

2.8.8 तैमूर का आक्रमण और तराई भाबर

काराचल अभियान के 61 वर्ष बाद 1399 इस प्रदेश पर तैमूर ने आक्रमण किया। दिल्ली मेरठ तथा आस-पास की बसासतों को लूटता और उजाड़ता हुआ वह गंगाद्वार तक पहुँच गया। वहाँ शिवालिक के राजा की सेना ने कुटिल दर्रा (चंडी पहाड़ी) के पास उसे रोकने का प्रयास किया लेकिन पराजित हुआ। इस आक्रमण से शिवालिक और लाखामंडल के दक्षिणी भाग में धन-जन की भारी हानि हुई।

2.8.9 सुल्तान खिज़्रखाँ का आक्रमण

1414 में कटेहर के तत्कालीन मुकद्दम हरीसिंह का दमन करने के लिए दिल्ली के तत्कालीन सुल्तान खिज़्र खाँ ने एक बड़ी सेना भेजी, जिस पर हरीसिंह ने कर देकर सुल्तान की अधीनता स्वीकार कर ली। दो वर्ष बाद ही उसने स्वतंत्रता की घोषणा करते हुए कर देना बन्द कर दिया। 1418 में खिज़्रखाँ द्वारा ताज-उल-मुल्क के नेतृत्व में भेजी गई एक विशाल सेना के साथ युद्ध में हरीसिंह परास्त हुआ और कुमाऊँ की पहाड़ियों की ओर भाग गया। ताज-उल-मुल्क ने उसका पीछा करने के लिए बीस हजार घुड़सवारों की एक सेना भेजी। उसका पता न लगने पर शाही सेना ने तल्लादेश और भाबर में भारी लूटमार की।

खिज़्रखाँ के आक्रमण के बाद के कुछ दशकों तक तराई में अपेक्षाकृत शान्ति रही। फलतः इस अवधि में माल में फिर से गाँव बसने लगे। खेती होने लगी। बाजार विकसित होने लगे। भाबर में

पर्वतीय पशुपालकों और अल्पकालिक कृषि करने वालों का आगमन होने लगा। चन्द नरेश कीर्तिचन्द इस क्षेत्र की सुरक्षा के लिए पश्चिमी सीमा पर एक नयी चौकी की स्थापना की, जिसका नाम कीर्तिपुर रखा।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये:

1.(क) फीरोज तुगलक के समय में कटेहर के मुकद्दम का नामोल्लेख कीजिये।

(ख) मुहम्मद तुगलक ने अपनी सेना को कराचल अभियान पर भेजा। (हाँ/नहीं)

2. नीचे लिखे गये प्रश्नों के उत्तर दीजिये:

(क) पर्वतीय शासकों द्वारा अपने राज्य की दक्षिणी सीमा के सुदृढीकरण पर एक टिप्पणी लिखिये।

(ख) कटेहरी राजपूतों के भाबर.तराई में प्रवेश के क्या कारण थे?

2.9 मुगल कालीन तराई भाबर

2.9.1 हुसैन खाँ टुकड़िया के आक्रमण

— 1559 में अकबर ने हुसैन खाँ टुकड़िया को काँठ गोला (वर्तमान शाहजहाँपुर)का जागीरदार नियुक्त किया। उसने अनेक बार तराई-भाबर और पहाड़ी प्रदेश पर आक्रमण किये। बदायूँनी के विवरण से पता चलता है कि "हुसैन खाँ टुकड़िया ने सुना था कि राजा रैका के राज्य में सोने और चाँदी की खानें थीं। रेशम, कस्तूरी, एवं तिब्बत के समस्त उत्पादन उपलब्ध थे। वहाँ से दो दिन में वह तिब्बत पहुँच सकता था। अतः पर्वतीय सामन्तों को पराजित करते हुए उसने पर्वतीय प्रदेश के शक्तिशाली रैका राजा के राज्य में स्थित वजराइल कस्बे तक के सारे प्रदेश और उसकी राजधानी अजमेर को भी उजाड़ डाला। संयोग से लगातार मूसलाधार वर्षा होने से उसके सैनिकों के लिए खाद्य सामग्री तथा घोड़ों के लिए घास प्राप्त करना असंभव हो गया। परिणामतः टुकड़िया को वापस लौटना पड़ा। इस अभियान से लौटते समय स्थानीय निवासियों ने पाषाण वर्षा की तथा विष बुझी अस्थियों की नोकों वाले बाणों की झड़ी लगा दी। उन्होंने उसकी सेना के लौटने के मार्ग को अवरुद्ध कर दिया। उसके बहुत से सैनिक मारे गये, जो बचे वे कुछ दिनों बाद मलेरिया से मर गये।"

एटकिंसन ने राजा रैका की पहचान डोटी के राजा से, वजराइल की डोटी के राजा की शीतकालीन राजधानी जूराइल या दीपाइल से और अजमेर की पहचान डोटी राज्य में डंडेलधूरा के समीप अजमेर गढ़ से की है। जहाँ डोटी के राजा का चौतरा या प्रान्तीय शासक रहता था। जिस मंडी तक टुकड़िया पहुँचा था उसकी पहचान एटकिंसन ने बरमदेव मंडी से की है। इसमें संदेह नहीं कि काठगोला या शाहजहाँपुर से पीलीभीत होकर बरमदेव मंडी पहुँचना सरल है। इसके बाद भी उसने अनेक बार निचली पहाड़ियों पर आक्रमण किये जिसमें वह कभी सफल तो कभी असफल हुआ। टुकड़िया का अंतिम आक्रमण पूर्वी दून में शिवालिक की तलहटी में स्थित बसन्तपुर पर हुआ, जिसे आईन-ए-अकबरी में कुमाऊँ की पहाड़ियों में बतलाया गया है।

2.9.2 माल की जागीर/ रुद्रचन्द को तराई की सनद

मुगल साम्राज्य का सीमावर्ती क्षेत्र होने के कारण विद्रोही सरदारों की बगावत के लिए तराई-भाबर सर्वाधिक उपयुक्त क्षेत्र था। शाही सेना द्वारा विद्रोह का दमन किए जाने की स्थिति में कुमाऊँ-गढ़वाल की पहाड़ियाँ शरणस्थली बन सकती थीं। अकबर के शासन में विद्रोही सरदार हुसैन खाँ टुकड़िया ने कुछ समय के लिए इस क्षेत्र पर अधिकार कर लिया था। सामरिक तथा आर्थिक दृष्टि से महत्वपूर्ण इस भू-भाग पर अधिकार करने के चंदों के प्रयत्न विफल हो रहे थे। 1588 में रुद्रचंद राजा टोडरमल के पुत्र

के माध्यम से अकबर के दरबार में उपस्थित हुआ। बादशाह ने उसे ननौरा दुर्ग के घेरे में भाग लेने का निर्देश दिया। पर्वतीय सैनिकों के शौर्य से प्रभावित होकर अकबर ने रुद्रचन्द को 'चौरासी माल' के परगने की सनद दे दी, जिसे 'नौलखिया माल' भी कहा गया है। संभवतः इसकी लम्बाई चौरासी कोस होने के कारण 'चौरासी माल' और यहाँ से नौ लाख (लाखों) रुपये के राजस्व की प्राप्ति होने के कारण इसे नौ लखिया माल कहा जाने लगा।

रुद्रचन्द, तराई को स्थायी रूप से कुमाऊँ राज्य में मिलाने तथा बाहर से आकर इस क्षेत्र में बसते जाने वाले कटेहरियों को नियंत्रण में रखने वाला पहला पर्वतीय शासक था। उसने रुद्रपुर बसाया, विभिन्न परगनों की व्यवस्था के लिए प्रशासक नियुक्त किये, जिनमें से काशीनाथ अधिकारी ने काशीपुर बसाया। तराई-भाबर की सुव्यवस्था के लिए उसे सहजगिर (जसपुर), कोटा(काशीपुर), मुडिया(बाजपुर), गदरपुर(गदरपुर), बुक्साड़(रुद्रपुर) बगसी(नानकमत्ता) और छिनकी(सरबना) महालों में विभक्त किया। (इसी इकाई के खण्ड 2.9.3 में देखें 'कुमाऊँ सरकार')

2.9.3 कुमाऊँ सरकार

अकबर के युग में भाबर-तराई का इलाका कुमाऊँ सरकार के रूप में जाना जाता था। चन्द दानपत्रों में रौत या जागीर आदि के रूप में जिन स्थानों को दान में दिया गया है, उनमें से कुछ इन प्रशासनिक क्षेत्रों में भी विद्यमान थे। इससे लगता है कि कुमाऊँ सरकार चंद राजाओं के अधीन मुगल साम्राज्य का एक उपविभाग (जिला) था। इसके आधिपत्य के बदले में चन्द शासक मुगल बादशाह को भेंट तथा नजराना प्रदान करते थे। बी.एन. पुरी के अनुसार "मुगल प्रशासनिक व्यवस्था से भी इसकी पुष्टि होती है, जिसके अन्तर्गत मुगल अधिकृत क्षेत्रों में दो प्रकार के सरकारों (जिलों) का अस्तित्व था – पहले, जिनमें बादशाह द्वारा मुगल अधिकारियों की नियुक्ति की जाती थी तथा दूसरे, जो करद राजाओं के अधीन थे।"

अबुल-फजल ने आइन-ए-अकबरी (गैरेट, भाग-2) में कुमाऊँ सरकार के अन्तर्गत जिन इक्कीस महालों का विवरण दिया है, उनमें से कुछ स्थानों की पहचान स्पष्ट है तो कुछ की पहचान अनुमान पर आधारित है।

कुमाऊँ सरकार

क्रमांक	महाल	वर्तमान नाम
01	आओदान	एटकिंसन के अनुसार तराई का खेड़ी क्षेत्र
02	बुकसी	बदरीदत्त पाण्डे और इरफान हबीब के अनुसार बुक्साड़ या रुद्रपुर और किलपुरी क्षेत्र।
03	भक्सा	तराई में बकसर का वनाच्छादित क्षेत्र।
04	बस्तरा	संभवतः बस्तिया या टनकपुर क्षेत्र।
05	पंचोतर	किच्छा तहसील में पचोरिया।
06	भेंकेंडेवार	संभवतः भाखड़ा नदी के पूर्व का क्षेत्र

07	भक्ति	यह नानकमत्ता का पुराना नाम था।
08	भूरी	अस्पष्ट
09	रतीला	अस्पष्ट
10	चटकी	किच्छा तहसील में चुकटी नामक स्थान
11	जकराम	काशीपुर तहसील में जुर्का नामक स्थान,
12	जरदाह	अस्पष्ट
13	जावन	अस्पष्ट
14	चोली	संभवतः छिनकी
15	सहजगिर	जसपुर
16	गजरपुर	गदरपुर
17	द्वारकोट,	ठाकुरद्वारा
18	मालवाड़ा,	अस्पष्ट
19	मालाचौड़	मालधनचौड़
20	सीताचौड़,	सीतावनी या पारकोट और कोटाबाग
21	कमूस	संभवतः कोटा के दक्षिण में स्थित कमौला

2.9.4 बाजबहादुर चन्द को तराई की सनद

रुद्रचन्द के बाद बहुत समय तक चन्द नरेश आपसी विवादों में इतने व्यस्त रहे के वे तराई में कटेहरियों के निरंतर प्रसार की ओर जरा भी ध्यान नहीं दे सके। परिणामतः तराई की समृद्धि से आकर्षित होकर कटेहरियों ने मुगल जागीरदारों की सहमति से सीमान्त ग्रामों पर अधिकार कर लिया। चन्द नरेश बाजबहादुर चन्द का ध्यान जब इस ओर गया तो वह बहुत चिंतित हुआ। अतः उसने भी अपने पूर्ववर्ती शासकों की भाँति दिल्ली दरबार में शाहजहाँ से फरियाद की।

शाहजहाँ ने बाजबहादुर चन्द को पहले उन दिनों चल रहे मुगल सेना के गढ़वाल अभियान में सहयोग देने का आदेश दिया। अभियान की समाप्ति पर चौरासी माल पर उसके अधिकार की पुष्टि की गयी तथा बादशाह की आज्ञा से संभल के सूबेदार रुस्तम खाँ ने बाजबहादुर की सहायता कर कटेहरियों को तराई से भगा दिया। शाहजहाँ के फरमान में बाजबहादुर को 'कुमाऊँ का जमींदार' कहा गया है।

बाजबहादुर चन्द ने बाजपुर नगर की स्थापना की तथा तराई के लिए अधिकारियों की स्थायी व्यवस्था की। बाजपुर और रुद्रपुर में प्रशासनिक केन्द्र स्थापित किये गये। बाजपुर के अधिकारी का मुख्यालय शीतकाल में बाजपुर और ग्रीष्म तथा वर्षा काल में कोटा एवं रुद्रपुर के अधिकारी का मुख्यालय शीतकाल में रुद्रपुर और ग्रीष्म तथा वर्षा काल में रानीबाग के पास बाड़ाखोड़ी में रखा गया। कहा जाता है कि उसके शासन काल में तराई में प्रत्येक बीघा में खेती होती थी।

2.9.5 शाही सेना का आधिपत्य

औरंगजेब के समय में बाजबहादुर चन्द के बिना शाही अनुमति के गढ़वाल पर आक्रमण करने तथा उसके पास अकूत सम्पत्ति होने की अफवाह ने भी उसे चन्द राज्य पर आक्रमण करने के लिए प्रेरित किया। इससे तराई में फिर समस्या उठ खड़ी हुई। औरंगजेब द्वारा कुमाऊँ पर आक्रमण करने के लिए 1665 में भेजी गयी शाही सेना ने तराई-भाबर पर अधिकार कर उसका शासन प्रबंध अपने हाथ में ले लिया। अगले आठ साल तक यह सेना तराई में डटी रही।

2.9.6 तराई की जागीर पुनः चन्दों को

अक्टूबर 1673 में नबाब वजीर अलीवर्दी खाँ द्वारा बीच-बचाव करने पर औरंगजेब ने बाजबहादुर को क्षमा कर दिया और तराई की जागीर उसे लौटा दी। बाजबहादुर चन्द के बाद उसके पुत्र उद्योतचन्द ने भी माल तराई की सुव्यवस्था की ओर विशेष ध्यान दिया। उसके एक कर्मचारी श्रीनाथ अधिकारी ने चिल्किया के पास श्रीनाथपुर का कस्बा बसाया।

2.9.7 तराई की पुनः उपेक्षा

उद्योतचन्द्र के बाद देवी चन्द के राज्यारोहण के बीस वर्षों में चन्द नरेशों ने माल की जागीर पर विशेष ध्यान नहीं दिया। परिणामतः भाबर और तराई के दुर्गों में रखी गयी कुमाउनी सेना और रोहिला आयुधजीवी दाउद खाँ की सेना ने ऐसे उपद्रव आरंभ कर दिये कि मुरादाबाद के फौजदार वजीर कमरुद्दीन खाँ को रुहेला दाउद खाँ और राजा देवीचन्द की सम्मिलित सेनाओं के विरुद्ध कार्यवाही करनी पड़ी। दोनों सेनाओं की रुद्रपुर के निकट मुठभेड़ हुई। रुहेले पराजित हुए।

2.9.8 रुहेला आधिपत्य

डबराल ने लिखा है कि “अठारहवीं शताब्दी में तराई- भाबर के इतिहास की सबसे बड़ी घटना रुहेला सरदार अलीमुहम्मद खाँ की सेनाओं का कुमाऊँ पर आक्रमण है। राजा देवीचन्द द्वारा छल से रुहेला सरदार दाउद खाँ मारे जाने पर उसके दत्तक पुत्र अलीमुहम्मद खाँ ने 1743 ई. में अपने धर्मपिता दाउदखाँ की हत्या का बदला लेने के लिए हाफिज रहमत खाँ, पैदाखाँ और बख्शी सरदारखाँ के नेतृत्व में दस हजार रुहेलों की सेना लेकर कुमाऊँ पर आक्रमण कर दिया। रुहेलों के अभियान की सूचना मिलते ही कोटा भाबर के हाकिम रामदत्त अधिकारी ने अल्मोड़ा दरबार को इसकी सूचना भेजी। तराई के हाकिम शिवदेव जोशी ने भी राजा को लिखा, पर चन्द नरेशों के दरबार की दलबन्दी ने राजा को गुमराह कर दिया। राजा से सहायता न मिलने पर भी शिवदेव जोशी ने थोड़ी सी सेना बटोर कर रुहेलों को रोकने का प्रयास किया, पर उसे पराजित होकर काठगोदाम के पास बाड़ाखोड़ी के किले में शरण लेनी पड़ी। रुद्रपुर के पतन और रानीबाग के पास विजयपुर पर रुहेला अधिकार की सूचना पाकर तत्कालीन चन्द नरेश कल्याणचन्द द्वारा भेजी गई सेना वह रुहेलों की सेना के सामने टिक न सकी। अल्प अवधि में ही रुहेलों ने राजधानी अल्मोड़ा और उसके आस-पास के क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया। राजा कल्याणचन्द भाग कर गढ़वाल की राजा की शरण में चला गया। (“पर्वत आछौ तै दीन बड़ो सावधान करो मानस रोहिला नै मीलन दियासब ठौर गरखान सँ” —कल्याणचंद का 1745 का कनलगौंव ताम्रपत्र)

कुमाऊँ की ठंड को सहन न कर पाने के कारण कई रुहेले सिपाहियों की मृत्यु हो गयी। फलतः उनमें वापस लौटने की बेचैनी बढ़ने लगी। कुमाऊँ की लूट से जितनी संपदा प्राप्त होने की आशा थी उसे रुहेले प्राप्त कर चुके थे। शीत के कारण अधिक समय तक रुकने में हाफिज रहमत खाँ को आकर्षण नहीं था। अतः तीन लाख रुपये नकद और हर साल साठ हजार रुपये कर देने की शर्त पर रुहेलों ने चन्दों को उनका पर्वतीय राज्य तो लौटा दिया पर काशीपुर, रुद्रपुर और पहाड़ियों के दक्षिण में स्थित दो अन्य परगनों को अपने राज्य में मिला लिया।

2.9.9 रुहेलों के विरुद्ध शाही अभियान

रुहेलों के उत्पात से मुरादाबाद के नबाब मंसूरखाँ और कटेहर के निकटवर्ती क्षेत्र के अनेक हिन्दू जागीरदार, राजा भी बहुत दुखी थे। उन्होंने तथा राजा कल्याणचन्द ने रुहेलों द्वारा किये जा रहे अत्याचारों की शिकायत बादशाह मुहम्मद शाह से की। अवध के नबाब सफदर जंग ने भी बादशाह से रुहेलों के विरुद्ध तुरंत कार्यवाही करने का अनुरोध किया। परिणामतः 25 फरवरी 1745 को वजीर कमरुद्दीन खाँ, सफदर जंग, अमीर खाँ और अन्य सामन्तों की विशाल शाही सेना अलीमुहम्मद खाँ को दंडित करने चल पड़ी। जून 1745 को शाही सेना अलीमुहम्मद खाँ रुहेला और उसके प्रमुख सेनानायकों को बन्दी बना कर दिल्ली ले गयी और उसके द्वारा शासित प्रदेश पर अधिकार कर लिया। बादशाह ने अलीमुहम्मद खाँ को चकला सरहिन्द का फौजदार नियुक्त कर दिया। चार जून 1745 को बादशाह मुहम्मदशाह ने कल्याणचन्द को तराई की सनद प्रदान की। कल्याणचन्द ने तराई की व्यवस्था शिवदेव जोशी को सौंप दी। अन्य राज्याधिकारियों की नियुक्ति, पुरानी जागीरों की पुष्टि तथा नयी जागीरें भी प्रदान कीं। शिवदेव जोशी के सरबना पहुँचने से पहले ही नबाब सफदरजंग के आदेशानुसार उसके हाकिम तेजू गौड़ ने सरबना पर अधिकार कर लिया। शिवदेव जोशी ने नबाब को लिखा कि सरबना का परगना सदा से कुमाऊँ का अंग रहा है और बादशाह ने जो सनद दी है, उसमें भी राजा का सरबना का अधिकार दिया गया है। किन्तु नबाब ने जोशी के आवेदन पर कोई ध्यान नहीं दिया। शिवदेव ने सरबना पर बलपूर्वक अधिकार करने का प्रयत्न किया। पर वह पराजित हुआ और एक साल तक अवध के नबाब की कैद में रहा। राजा कल्याणचन्द के बादशाह से फरियाद करने पर ही शिवदेव कारागार से मुक्त हुआ और सरबना का क्षेत्र भी चन्दों को मिला।

2.9.10 शिवदेव जोशी द्वारा तराई की सुव्यवस्था

शिवदेव जोशी ने रुहेलों और नबाब के शासन में पहुँची क्षति को दूर करने के लिए आवश्यक कदम उठाए। सीमान्त को सुदृढ़ किया। रुद्रपुर और काशीपुर में गढ़ों के निर्माण के साथ ही दोनों में पर्याप्त सेनाएँ रखीं तथा काशीपुर और रुद्रपुर परगनों की व्यवस्था के लिए दो विभिन्न अधिकारियों की नियुक्ति की। सरबना, बिलहरी और धनेर परगनों की जमींदारी बारबायक जमींदार को तथा भाबर की जमींदारी काली कुमाऊँ की लूल जाति के अधिकारी को सौंपी। इन्हें अपनी जमींदारी के परगनों में जान-माल की सुरक्षा हेतु स्वयं ही पुलिस व्यवस्था करनी थी। अन्य क्षेत्रों में पुलिस व्यवस्था हेड़ी और मेवाती जाति के लोगों को सौंपी गयी। जोशी ने अनेक प्रभावशाली लोगों को जागीरें दिलवायीं तथा उनका दस्तूर निश्चित किया। कुछ अन्य लोगों को भी, जिन्हें पहले कष्ट पहुँचाये गये थे, भूमि आदि देकर सान्त्वना देने का प्रयत्न किया गया। पूरे क्षेत्र में शान्ति और समृद्धि रही। फलतः दक्षिण की ओर मैदानी गाँवों के अनेक हिन्दू तथा मुसलमान परिवार आकर माल में बसने लगे। कृषक मुख्यतः थारू, बोक्सा और बरबायकों थे। कृषकों की आय का केवल छठा भाग राजस्व के रूप में लिया जाता था। अकाल के वर्ष इस राजस्व में भी छूट दी जाती थी। राज्य और प्रजा की रक्षा के लिए स्थायी वेतन भोगी सेना रखी गयी थी।

जनवरी 1748 में अहमदशाह अब्दाली के भारत आक्रमण के दौरान अली मुहम्मद के सरहिन्द से भाग कर मुरादाबाद पहुँच कर अपने शासित प्रदेश पर पुनः अधिकार कर लेने से कुमाऊँ राज्य पर या कम से कम तराई- भाबर प्रदेश पर रुहेला आक्रमण का संकट पैदा हो गया, जो 1748 में अली मुहम्मद की मृत्यु तक बना रहा। अलीमुहम्मद की मृत्यु के बाद उसका पुत्र सादुल्लाखाँ रुहेलों का सरदार बना। 1750 में अवध के नबाब सफदरजंग और फर्रुखाबाद के नबाब अहमदखाँ बंगश के बीच युद्ध छिड़ जाने पर उसने बंगश का साथ दिया। सफदरजंग ने मराठों की सहायता से दोनों की सम्मिलित सेनाओं को परास्त कर दिया। रुहेलों ने तराई-भाबर में चिल्किया व लालढाँग में शरण ली और आत्मरक्षा के लिए गढ़ी का निर्माण किया। दो महीने तक दोनों सेनाओं के बीच झड़पें होती रहीं। सादुल्लाखाँ द्वारा अपने पिता के अच्छे संबंधों के आधार पर अहमदशाह अब्दाली से सहायता माँगे जाने की सूचना पाकर मराठों

की मध्यस्थता में नबाब सफदर जंग ने रोहिलों से संधि कर ली। 1764 तक तराई में शान्ति बनी रही। इस बीच तराई में रखी गयी सेना ने अधिक वेतन के लिए विद्रोह कर दिया और शिवदेव जोशी और उसके दो पुत्रों जयदेव और हरनिधि को मार डाला। शिवदेव का तीसरा पुत्र हर्षदेव भी उसी दुर्ग में था। वह भाग्यवश बच गया। शिवदेव की सारी संपत्ति, धन, माल असबाब, सनद तथा अन्य कागजात सभी लूट लिये गये।

डबराल ने लिखा है कि “शिवदेव जोशी की मृत्यु के कुछ समय बाद तराई के दूसरे अधिकारी हरिराम जोशी की भी मृत्यु हो गयी। उस दिन से तराई-भाबर कुमाऊँ राज्य से लगभग पृथक हो गया। दूसरी ओर अपने आन्तरिक कलह और दलबन्दी से चन्द राज्य में अस्थिरता आने लगी। दीपचन्द के शासनकाल में चन्द दरबार के षडयंत्र और उठापटक चरम पर पहुँच गयी। चन्दों के ही एक वंशज मोहनसिंह ने षडयंत्र कर दीपचन्द को उसके दो पुत्रों सहित सीराकोट के किले में कैद करवा दिया और स्वयं शासक बन गया। उन दिनों काशीपुर का हाकिम शिरोमणिदास और रुद्रपुर का हाकिम हरिराम जोशी का पुत्र मनोरथ जोशी था। शिरोमणि दास की मृत्यु होने पर उसका पुत्र नन्दराम काशीपुर का हाकिम बना। मोहनसिंह का सहयोग पाकर उसने हल्दुआ के युद्ध में चन्दों की अल्मोड़ा से जयकृष्ण जोशी के नेतृत्व में भेजी गयी सेना को परास्त कर दिया।”

2.9.11 तराई पर अवध का प्रभुत्व

मोहनसिंह (चन्द) ने पर्वतीय राज्य को अपने अधिकार में मानते हुए काशीपुर तराई पर नन्दराम का अधिकार स्वीकार किया और दोनों राज्यों की मध्यवर्ती सीमा गूलर घाटी को माना। मोहन चन्द तब भी चन्द राज्य का अपहरण कर्ता माना जाता था। उसकी सत्ता अनिश्चित थी। अतः नन्दराम ने उसकी अपेक्षा सुस्थिर और वैध शासक का आश्रय लेने के लिए अवध के नबाब को तराई का स्वामित्व सौंप दिया और स्वयं उसके आमिल के रूप में काम करने लगा। बैटन ने नन्दराम और शिवलाल के समय में तराई के प्रबंध की प्रशंसा की है। नन्दराम के द्वारा छल से रुद्रपुर के हाकिम मनोरथ जोशी को मरवा देने के बाद रुद्रपुर परगना भी अवध के नबाब के राज्य में शामिल हो गया। सरबना पर उसका अधिकार पहले से ही था। इस प्रकार 1778 में तराई पर अवध के नबाब का अधिकार हो गया। कुमाऊँ पर गोरखों का अधिकार हो जाने के कुछ दिनों बाद नेपाल सरकार ने भी तराई पर अवध के नबाब के अधिकार को मान लिया और नबाब ने भी कुमाऊँ पर गोरखों के अधिकार को मान्यता दे दी।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये:

1. (क) अकबर ने माल की जागीर किस शासक को प्रदान की?

(ख) कुमाऊँ सरकार के अन्तर्गत कितने महाल थे?

2. नीचे लिखे गये प्रश्नों के उत्तर दीजिये:

(क) कुमाऊँ सरकार पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।

(ख) शिवदेव जोशी ने तराई को किस प्रकार सुव्यवस्थित किया?

2.10.1 तराई-भाबर का प्रशासनिक पुनर्गठन

और अफजलगढ़ के कुछ गाँवों को मिला कर काशीपुर परगने का पुनर्गठन किया गया। 1857 से कुछ पहले बाजपुर को तथा 1870 में काशीपुर को तराई में सम्मिलित कर दिया गया। 1833 से 1848 तक तराई कुमाऊँ से पृथक् भू-भाग था। किलपुरी, नानकमत्ता तथा बिलहरी परगने पीलीभीत जिले के साथ तथा रुद्रपुर और गदरपुर परगने बरेली से संयुक्त थे। कुमाऊँ-बरेली खण्ड में रुद्रपुर व गदरपुर का कुछ भाग पर्वतीय क्षेत्र के अधीन था। बाजपुर और काशीपुर परगनों का प्रशासन मुरादाबाद जिले से नियन्त्रित होता था।

बैकेट की बन्दोबस्ती आख्या से पता चलता है कि 1840 के बाद कुमाऊँ जिले में एक तीसरी तहसील भाबर का गठन हुआ, जो संभवतः उन्नीसवीं शताब्दी के पाँचवे दशक तक बनी रही। इसमें छखाता, धनियाकोट का कुछ भाग, ध्यानीरौ का कुछ भाग, कोटा तथा फल्दाकोट का कुछ भाग सम्मिलित किया गया था। कुछ समय के लिए इस तहसील को विघटित कर दिया गया और 1860 के बाद के किसी वर्ष में पुनः भाबर तहसील का गठन करके हल्द्वानी में इसका मुख्यालय बनाया गया।

1857 के विद्रोह के बाद 1858 के भारत सरकार अधिनियम द्वारा भारतीय प्रशासन का नियन्त्रण ईस्ट इण्डिया कम्पनी से ब्रिटिश क्राउन को हस्तांतरित करने के बाद कुमाऊँ में प्रशासनिक दृष्टि से सबसे पहला परिवर्तन 1862 में तराई जिले के गठन के रूप में हुआ। 1858 में तराई को कुमाऊँ के कमिश्नर के अधीन किया गया पर 1861 में उन्हें फिर से रुहेलखंड में सम्मिलित कर दिया गया।

तराई- भाबर को ब्रिटेन के सम्राट की संपदा माना जाता था। भारत सरकार इसकी संरक्षक मात्र थी। 1894 तक तराई भाबर की प्रशासनिक व्यवस्था शेष भाग से अलग रही। 1894 में दोनों को एक करने का प्रस्ताव रखा गया। 1895 में इस क्षेत्र के प्रशासनिक नियंत्रण के लिए सहायक आयुक्त की नियुक्ति हुई।

1891 में कुमाऊँ के छः परगनों (छखाता, कोटा, धनियाकोट, रामगढ़, कोटौली और ध्यानीरौ) तथा तराई जिले के सात परगनों (काशीपुर, बाजपुर, गदरपुर, रुद्रपुर, किलपुरी, नानकमत्ता तथा बिलहरी) को मिलाकर नैनीताल जिले का गठन किया गया। तल्ला देश अथवा टनकपुर भाबर का क्षेत्र, जो 1891 में नैनीताल जिले के साथ था, 1896 में अल्मोड़ा जिले में समाहित किया गया। भाबर तहसील को इसके मुख्यालय हल्द्वानी के नाम से जाना जाने लगा। समग्र तहसील चार पट्टियों— चिल्किया भाबर, कोटा भाबर, छखाता भाबर तथा चौभैंसी भाबर में विभक्त थी। 1891 में तराई क्षेत्र (नैनीताल जिले) में भी तीन तहसीलें थीं—काशीपुर (काशीपुर परगना), रुद्रपुर (बाजपुर, गदरपुर तथा रुद्रपुर परगने) तथा किलपुरी (किलपुरी, नानकमत्ता तथा बिलहरी परगने)। (सेंसस ऑफ इण्डिया, 1891, नैनीताल जिला)

1891 में नैनीताल जिला सृजित हो जाने के बाद 1892-93 में तराई और भाबर की प्रशासनिक व्यवस्था को शेष जिले की प्रशासनिक व्यवस्था से अलग कर दिया गया। 1900 में यहाँ के प्रशासन के लिए एक स्थायी अधिकारी सुपरिटेण्डेंट तराई भाबर गवर्नमेंट एस्टेट का पद सृजित हुआ। इसे जन भाषा में खाम सुपरिटेण्डेंट भी कहा जाता है। खाम का अभिप्राय अस्थायी भूप्रबंध हैं। खाम के अन्तर्गत भू भाग में खाम सुपरिटेण्डेंट की अनुमति से ही एक निश्चित अवधि के लिए जमीन को जोता अथवा मवेशियों को चराया जा सकता था। इस व्यवस्था के अनुसार तराई - भाबर की जमीन पर किसी का पैतृक अधिकार नहीं था। (जैन, प्रद्युम्न कुमार, 'उत्तराखंड', पृ.76 (1983)।

खाम सुपरिटेण्डेंट एक प्रकार का उपप्रबंधक था, जो कई मामलों में स्वतंत्र किन्तु अधिकतर में नैनीताल के जिलाधिकारी के अधीन होता था। वह तराई के अधिशासी अभियन्ता के भी अधिकार रखता था और निर्माण संबंधी मामलों सीधे उच्चाधिकारियों से बात कर सकता था। 1923 में उसे प्रथम श्रेणी के सहायक कलेक्टर के अधिकार प्रदान किये गये। सर्किल पटवारियों, प्रधानों की नियुक्ति और बेदखली उसके अधिकार में थी। वह एक बार में 100 एकड़ तक भूमि आवेदक को स्वीकृत कर सकता था।

ब्रिटिश युग में तराई-भाबर में राजस्व के हिसाब से पाँच प्रकार के गाँव थे।

1. खाम के गाँव : जिनका स्वामित्व राज्य में निहित था। इनमें रहने वाले लोगों का अपनी भूमि पर मौरुसी अधिकार नहीं था। यह लीज पर दी गयी भूमि थी। कृषक अपनी भूमि के आस-पास की बंजर जमीन को भी आबाद कर सकते थे। ऐसे ग्राम बन्दोबस्ती कहलाते थे और उनके निवासियों को लगान के रूप में एक निश्चित राशि देनी होती थी। 1890 में इनकी संख्या 711 थी।

2. बुक्साड़ी गाँव : इन गाँवों के किसान अपनी भूमि के मालिक थे। इनकी संख्या 55 ,जो सरकार द्वारा नई बसासतों के विकास के बाद 42 रह गयी।

3. जमींदारी गाँव : ब्रिटिशकाल से भी पहले से बसे हुए थे। इनका भी अपनी भूमि पर मौरुसी हक था। ऐसे गाँव अधिकतर काशीपुर में थे। इनकी संख्या 85 थी।

4. ठेकेदारी गाँव: ऐसे गाँव जो 30 साल की अवधि के लिए निश्चित राजस्व के आधार पर ठेके पर दिये जाते थे। ठेकेदार अपनी भूमि को खेती के लिए दूसरों को दे सकते थे पर हस्तांतरण का अधिकार नहीं था। 30 साल के बाद लीज अगले 30 साल के लिए बढ़ाई जा सकती थी। ऐसे गाँवों की संख्या 35 थी।

5. मुस्तजिर गाँव : सरकार के अधीन गाँवों के वंश परंपरागत वे ठेकेदार थे,जो प्रत्येक कृषक से सीधे लगान वसूल करते थे। मुस्तजिर का अपनी भूमि पर पूरा अधिकार था और वे अपनी भूमि को गिरवी रख सकते थे, दान में दे सकते थे और किसी अन्य को हस्तांतरित भी कर सकते थे। ऐसे गाँवों की संख्या 53 थी। ये गाँव 1860 के बाद मुरादाबाद से तराई में स्थानान्तरित गाँव थे।

6. नई बसासतों का स्वामित्व राज्य में निहित था। इन पर रहने वालों का अपनी भूमि पर पूरा अधिकार था। इन गाँवों की संख्या 175 थी।

7. इनके अलावा दो गाँव मुआफी के तथा 19 गाँव अर्द्ध मुआफी के थे, जो ब्रिटिश काल से पूर्व से चले आये थे।

. **देहरादून**— 1826 में देहरादून और चंडी के इलाके भी कुमाऊँ में शामिल कर दिये गये। वर्तमान देहरादून जिले का भू-भाग मेरठ कमिश्नरी के अन्तर्गत सहारनपुर जिले से संयुक्त किया गया।(वॉल्टन, गजेटियर ऑफ गढ़वाल, पृ0 83) 1871 में देहरादून को सहारनपुर से अलग करके एक स्वतंत्र जिला घोषित किया गया।(वॉल्टन, देहरादून गजेटियर, पृ0 198)।

2.10.2 औपनिवेशिक शासन के आरंभ में तराई-भाबर की स्थिति

ट्रेल के विवरणों से ज्ञात होता है कि "ब्रिटिश शासन से पूर्व भाबर क्षेत्र में, जहाँ सिंचाई की थोड़ी-बहुत व्यवस्था हो पाती थी, चंदों के जमाने से ही गाँव बसे हुए थे। यहाँ जान-माल की कोई सुरक्षा नहीं थी। केवल मेवाती डाकुओं के मुखिया को रिश्वत देकर ही यहाँ रहना संभव था। फिर भी कुमाऊँ के दक्षिणी परगनों की लगभग सम्पूर्ण जनता, जिसकी संख्या उस समय न्यूनतम 30,000 थी, नवम्बर से लेकर मई तक पर्वतों की तलहटी और भाबर में उतर आती थी तथा यहाँ के जंगलों में खेती करती थी। इससे उत्पन्न होने वाली उपज को देखते हुए सरकार ने इसे प्रोत्साहित करने का हर संभव प्रयास किया। पुलिस व्यवस्था में सुधार होने से रामगढ़ और गागर पर्वतमाला के क्षेत्रों के नायक तथा अन्य जातियों के लोग भाबर में बसने लगे और उन्होंने बमौरी, बिठौरिया, पन्याली तथा फतेहपुर के दक्षिण के क्षेत्रों में खेती करना प्रारम्भ कर दिया। उस समय सिंचाई के लिए पर्याप्त मात्रा में जल उपलब्ध था और पहाड़ों से भाबर में कृषि हेतु आने वाले लोगों की भीड़ नहीं थी। यहाँ केवल जाड़ों में ही फसल होती थी। कुछ खेत खरीफ की फसल के लिए भी छूटे हुए थे, जिन पर हलिया और छोटी जाति के लोग बरसात में भी खेती करते थे। ये लोग कुछ वर्षों से भाबर में रहने लग गये थे और इन्होंने भाबर की जलवायु से अनुकूलन कर लिया था।"

गढ़वाल भाबर में 1815 में कृषि लगभग नगण्य थी। परमार शासकों के समय यहाँ कुछ खेती होती थी। 1820 में मवाकोट में और 1823 में धारों, झिघना तथा काठीरौ में कृषि कार्य प्रारम्भ किया गया। ये तीनों गाँव पातलीदून के सीरा की रौ (लग्गा) के अन्तर्गत थे। बैटन के बन्दोबस्त में पातलीदून में कृषि कार्य पदमसिंह नेगी नामक एक व्यक्ति को 275 रू० में सौंपा गया था।

एटकिंसन ने लिखा है “1818 में कुमाऊँ-भाबर की सिंचाई व्यवस्था के लिए लेफ्टीनेंट कोर्डिस ने राजस्व परिषद का ध्यान आकर्षित किया और बमौरी से लेकर टांडा तक एक नहर बनवाने का प्रस्ताव रखा, पर ट्रेल ने भाबर की कठिनाइयों को देखते हुए उस समय इस योजना को लागू करना उपयुक्त नहीं समझा, क्योंकि जल की उपलब्धि की अनिश्चितता और अस्वास्थ्यकर जलवायु के कारण पर्वतीय किसान यहाँ बसने में संकोच करते थे। बैटन के समय में पूर्वी भाबर में चोरगल्या को छोड़कर, जहाँ नंधौर के पानी का उपयोग किया जाता था, कहीं भी सिंचाई की व्यवस्था नहीं थी। यद्यपि 1837 में भाबर छाखाता में गौला नदी के दोनों किनारों पर पहाड़ की जड़ से छः मील तक हरे-भरे लहलहाते हुए खेत विद्यमान थे।”

2.10.3 नहरों का निर्माण तथा सिंचाई व्यवस्था

एटकिंसन ने लिखा है “सिंचाई के लिए गौला नदी से छोटी-छोटी गूलें निकाली गईं और सिंचाई की व्यवस्था इस प्रकार की गई कि भाबर में अधिक गूलों के निर्माण से तराई क्षेत्र की कृषि को हानि न पहुँचे। 1850 के बाद रैमजे के समय में गूलों और नहरों के निर्माण की दिशा में विशेष प्रयास किये गये। तल्ला देश में सिंचाई हेतु बरमदेव में शारदा नदी से एक नहर निकाली गई, जिसके द्वारा सौ गाँवों की सिंचाई की व्यवस्था हुई।” ‘अपने मुलुक का भूगोल’ के विवरण से पता चलता है कि “सम्पूर्ण क्षेत्र में नहरों का जाल बिछाया गया। काठगोदाम से नीचे गौला नदी में एक बाँध बनाकर सम्पूर्ण गौला नदी को भाबर छाखाता में बाँध दिया गया और गाँवों में अनेक नहरें पहुँचाई गईं। हल्द्वानी-कालाढुंगी से पश्चिम की ओर कोटा भाबर में बौर आदि नदियों से अनेक नहरें निकाली गईं।” नेविल के अनुसार “रामनगर में कोसी से निकाली गई नहरों का जाल बिछा हुआ था, जिससे भाबर के एक बड़े भू-भाग की सिंचाई होती थी।” इन सब प्रयासों से भूमि की उर्वरता में वृद्धि हुई और कृषि में सुधार होने से काफी संख्या में लोगों ने इन इलाकों में बसना प्रारम्भ किया। नये बाजारों के विकास के साथ ही कुमाऊँ भाबर पर्वतीय क्षेत्रों के लिए एक महत्वपूर्ण केन्द्र बन गया। अजय रावत के अनुसार “1870 और 1890 के बीच अभूतपूर्व प्रगति दिखाई दी। इस अवधि में 79421.51 हैक्टेयर भूमि पर कृषि हो रही थी। जनसंख्या में असाधारण वृद्धि दिखी।” (इकोलौजी एंड पॉलिटिक्स इन तराई भाबर पृ 12)

पौ की रिपोर्ट से ज्ञात होता है कि “गढ़वाल भाबर के पूर्वी गाँवों में सिंचाई कम थी और प्रायः पहाड़ों की तरह ही गाँवों के किनारे स्थित स्रोतों से गूलें निकालकर सिंचाई करते थे। पश्चिमी गाँवों में सरकार द्वारा नहरें बनाई गई थीं, जिनमें पश्चिमी खोह नहर तथा पूर्वी मलाण नहर प्रमुख थी। मवाकोट में पूर्वी मलाण नहर से सिंचाई होती थी, लेकिन सम्पूर्ण क्षेत्र की सिंचाई के लिए नदी में पानी कम होने के कारण बरसात तथा शरद ऋतु के प्रारम्भ में जगदेवसोत (मवाकोट के ऊपरी पर्वतों से निःसृत) से सिंचाई की जाती थी।”

2.10.3.1 तराई

तराई क्षेत्र का वास्तविक विकास 1862 में कुमाऊँ के अन्तर्गत एक जिले के रूप में गठन किए जाने के बाद ही हुआ। तराई जिले का मुख्यालय मई से नवम्बर तक नैनीताल में रहता था। 1891 में नैनीताल जिला बनने के बाद यह सम्पूर्ण क्षेत्र नये जिले में सम्मिलित कर लिया गया। तराई की जलवायु अत्यन्त अस्वास्थ्यप्रद थी। अधिकतर थारू, बुक्सा आदि जनजातियाँ ही निवास करती थीं। वर्ष भर मलेरिया का प्रकोप रहता था, जो ग्रीष्मकाल से आरम्भ होकर वर्षाकाल की समाप्ति के बाद अत्यन्त उग्र रूप धारण कर लेता था। जमीन उपजाऊ थी और थोड़े से प्रयासों में ही अच्छी उपज हो जाती थी। चावल का

उत्पादन अधिक होता था , गेहूँ तथा अन्य फसलें भी थोड़ी बहुत मात्रा में उगाई जाती थीं। बहुत सी जमीन बंजर पड़ी थी और आबादी भी अधिक नहीं थी। भाबर में कृषि के विस्तार के बाद लोग पशुचारण हेतु तराई में आने के लिए बाध्य हुए।

तराई में सिंचाई के लिए नदियों से गूलें निकालकर व्यवस्था की गई थी। 1831 में कैप्टन जोन्स ने यहाँ नहरों से सम्बन्धित सुधार प्रारम्भ किए। 1861 के बाद नहरों का निर्माण कार्य आरम्भ किया गया। सार्वजनिक निर्माण विभाग की शाखा का पूर्व में शारदा से लेकर पश्चिम में बौर तक नियन्त्रण था। इसमें बिलहरी, नानकमत्ता, किलपुरी परगने तथा रुद्रपुर का एक बड़ा भाग सम्मिलित था। बिलहरी और नानकमत्ता में जल प्रचुरता थी और लोगों को अपनी इच्छानुसार जलोपयोग करने की अनुमति थी पर वे प्राकृतिक अपवाह तंत्र में हस्तक्षेप नहीं कर सकते थे। पूर्वी बहगुल नहर द्वारा किलपुरी परगने तथा नानकमत्ता के मैना झूंडी क्षेत्र की सिंचाई होती थी। दूसरा नहर तंत्र किच्छा और पाहा का था। काशीपुर परगने में जे0सी0 मैकडनल्ड द्वारा कोसी तथा ढेला नदी से नहरें निकाल कर सिंचाई की उत्तम व्यवस्था की गई थी, जो इस सम्पूर्ण परगने को सूखे से सुरक्षित रखने के लिए पर्याप्त थी। यहाँ तक कि इससे मुरादाबाद जिले के भी कई गाँवों में सिंचाई होती थी। सरकार के स्वामित्व वाली भूमि में सिंचाई पर कुछ शुल्क लिया जाता था। (एटकिंसन, हिमालयन डिस्ट्रिक्ट्स, खण्ड.3, भाग.2, पृ0 669.700)

सिंचाई सुविधाओं के विस्तार के परिणामस्वरूप कृषि उत्पादन में काफी वृद्धि हुई साथ ही स्वास्थ्य सेवाओं में सुधार होने से अनेक लोग यहाँ बसने लगे। तराई को कुमाऊँ तथा मैदानी क्षेत्र के प्रमुख मार्गों से सम्बद्ध किया गया। रेलवे के आगमन से विकास की प्रक्रिया में वृद्धि हुई।

2.10.3.2 दून क्षेत्र

वॉल्टन (देहरादून गजेटियर) ने लिखा है कि “दून क्षेत्र में भी जिन भागों में सिंचाई की व्यवस्था अच्छी थी, कृषि का काफी विस्तार हुआ। 1823 से नहर निर्माण की दिशा में कार्य आरम्भ हुआ। कर्नल यंग के प्रशासन में कैप्टन कोटले तथा कैप्टन किर्क को नहरों का कार्यभार सौंपा गया। 1867 तक इसमें काफी सुधार हुआ। 1885 में दून में 67 मील या 108 कि०मी० नहरें थीं, जिनसे 12,553 एकड़ क्षेत्र की सिंचाई हो रही थी। इनमें प्रमुख नहरें थीं (1) पश्चिम में कटापाथर नहर— 1847 में निर्मित इस नहर से यमुना तथा आसन नदियों से घिरे हुए एक बड़े भूभाग की सिंचाई होती थी। (2) विजयपुर नहर— पूर्वी टौंस से निकाली गयी इस नहर का निर्माण कार्य 1839 में आरम्भ हुआ। इससे देहरा के एक बड़े भाग की सिंचाई होती थी। (3) राजपुर नहर (4) खलंगा नहर— . 1859-60 में पूर्ण हुई। (5) जाखन नहर — 1863-64 में बनी। सिंचाई के क्षेत्र में विकसित की गई इन सुविधाओं के परिणामस्वरूप दून क्षेत्र की कृषि में अत्यन्त सुधार हुआ।”

2.10.4 व्यापार और वाणिज्य

प्रतिवर्ष पर्वतों से व्यापारी तलहटी में स्थित भाबर क्षेत्र में आते थे और वहाँ से वर्षभर के लिए चीनी, कपड़ा, नमक, लोहा आदि ले जाते थे। दक्षिण में सामान ढोने वाले जानवरों की अनुपस्थिति के कारण लोग अपनी पीठ पर ही सामान ले जाते थे। प्रायः लोग समूहों में चलते थे। भाबर की वार्षिक यात्रा को ढाकर जाना, माल जाना, पैठना आदि नामों से पुकारा जाता था तथा मैदानी इलाकों के लिए तिब्बत की ही भाँति घाट शब्द का प्रयोग था। भाबर के बाजारों में प्राप्त वस्तुओं की अदायगी प्रायः नकद में होती थी। उन्नीसवीं शताब्दी में अनाज, नमक, सुहागे तथा अन्य वस्तुओं के अतिरिक्त हल्दी, घी, कम्बल, शहर तथा चाय भी व्यापार की प्रमुख वस्तुओं में थे। हल्दी से काफी अच्छी आय होती थी। काली-कुमाऊँ की तल्ला देश और पालबिलोन पट्टियों में हल्दी का प्रचुर उत्पादन होता था, जिसे शीतकाल में बरमदेव मण्डी में बेचकर, वहाँ से काशीपुर आदि स्थानों का कपड़ा लेकर गाँव-गाँव में बेचते थे। हल्द्वानी, रामनगर, बरमदेव आदि स्थानों में कुमाऊँ से हल्दी विक्रय की जाती थी। ट्रेल के समय में इसका मूल्य 2 रु० प्रति मन था, जो रैमजे के समय में बढ़कर 6 रु० प्रति मन हो गया था। कुमाऊँ में

धनियाकोट, कोटौली तथा फल्दाकोट में घी का व्यवसाय होता था। भाबर तथा अन्य स्थानों को घी का निर्यात किया जाता था।

2.10.4.1 मैदानी भागों से पहाड़ों में आयात

देशी तथा यूरोपीय सूती वस्त्र – चादरें और छींटदार, रेशमी वस्त्र, गाढ़ा, कपास तथा सूती धागा, ऊन, कम्बल। कच्चा तथा संरक्षित तम्बाकू, गुड़, चीनी तथा मिश्री, नमक, सभी प्रकार के मसाले, सुपारी, नारियल, सूखे मेवे, साबुन। नील, लाख तथा अन्य रंग, फिटकरी, गंधक, पोटेश आदि विभिन्न औषधियाँ, ताँबे की चादरें (यूरोपीय), मनके, दर्पण आदि। काँच के आभूषण, सीसा, बारूद, मूंगा, सोने तथा चाँदी के तार, देशी कागज तथा स्याही। सभी प्रकार के बर्तन औजार खिलौने, मनके, दर्पण, काँच, सीसा, बारूद, मूंगा, मोती तथा रत्न, सोने-चाँदी की लेस और तार, देशी मिर्च (काली) तथा स्याही। देहरादून क्षेत्र में लोहे तथा पीतल की वस्तुएँ, सूती तथा ऊनी वस्त्र, कम्बल, नमक, चीनी, अनाज, तम्बाकू, मेवे, मसाले और भेड़ें मुख्य रूप से आयात की जाती थीं।

2.10.4.2 निर्यात

पर्वतीय क्षेत्र से मैदानी इलाकों को भी अनेक वस्तुओं का निर्यात होता था। इनमें प्रमुख थीं – सभी प्रकार के अनाज, दालें, तिलहन, हल्दी, अदरक, कश्मीरी केसर, पहाड़ी केसर (नागकेसर), पहाड़ी इलायची, कटकी, निरबीसी, रुबार्ब, चिरायता, मीठा, विभिन्न प्रकार की छालें, जड़ी-बूटियाँ, रंग और दवा दोनों के लिए, तेजपात, लाल मिर्च, दाड़िम (पहाड़ी अनार), अखरोट तथा चुलू, मीठा आलू (घुइयाँ), भाँग, भाँग से निर्मित वस्त्र (भंगेला) अफीम, घी, तेल, शहद, मोम, कस्तूरी, बाज (पक्षी), सुहागा, शिलाजीत, खड़िया मिट्टी, हरताल, बर्च की छाल, पहाड़ी मिर्च, पहाड़ी बाँस, लकड़ी के बर्तन, खालें, खच्चर, पशु, स्वर्णधूलि, लोहा, ताँबा (छड़ों के रूप में), पंखी आदि। इनके अलावा तराई में उत्पन्न होने वाली अनेक वस्तुओं का निर्यात मैदानी भागों के लिए होता था। इनमें इमारती लकड़ी, लट्ठे, बाँस, तेल, चीनी, आबनूस, जलावन लकड़ी, लकड़ी के बर्तन, चारकोल, चूना, गोंद, लाख, कत्था, घी, तेल सभी प्रकार का अनाज सभी प्रकार की दालें, तिलहन, मीठे आलू (घुइयाँ), हल्दी, लाल मिर्च, बाबड़ घास, मूँज घास आदि प्रमुख थीं।

2.10.5 प्रमुख मण्डियाँ

भाबर-तराई की मंडियों में कालसी, हरद्वार, लालढांग, काशीपुर, रुद्रपुर, बाजपुर, बिलहरी, बरमदेव मण्डी आदि मण्डियाँ प्रमुख थीं। इसके अतिरिक्त विभिन्न स्थानों में समय-समय पर लगने वाले मेलों का भी व्यापारिक और वाणिज्यिक दृष्टि से विशेष महत्व था। उन्नीसवीं शताब्दी में रामनगर हल्द्वानी, टनकपुर जैसी नई मण्डियों का उद्भव हुआ। कई पुरानी मण्डियों में व्यापार-वाणिज्य की अधिक वृद्धि नहीं हुई। कालसी, हरद्वार, डांडा मण्डी, लालढांग, कोटद्वार, बरमदेव मण्डी आदि का व्यापारिक महत्व काफी कम हो गया। इसी के साथ कुछ नई मण्डियाँ पुरानी मण्डियों के समीपवर्ती स्थलों पर विकसित हुईं।

2.10.5.1 रामनगर

पश्चिमी पहाड़ियों का समग्र व्यापार रामनगर के माध्यम से ही होता था। इसमें गढ़वाल तथा पाली-पछाऊँ से लाया गया मक्का और मिर्च तथा भोटान्तिक व्यापारियों द्वारा लाई गई ऊन और सुहागा प्रमुख था। मुरादाबाद से रामनगर तक रेलवे के विस्तार के बाद इस क्षेत्र का वाणिज्यिक महत्व और अधिक बढ़ गया।

2.10.5.2 हल्द्वानी

अंग्रेजी शासन के प्रारम्भिक वर्षों में नई बस्तियों के विकास के बाद एक मण्डी की कमी को पूरा करने के लिए कुमाऊँ के तत्कालीन कमिश्नर ट्रेल ने 1834 ई. में इसकी स्थापना की। हल्द्वानी में पर्वतीय उत्पादों तथा रामनगर और हल्द्वानी की वनोपज का विक्रय करने वाले व्यापारी एक बड़ी संख्या में थे। बंजारों, अनाज के व्यापारियों तथा ठेकेदारों और तिब्बत के तथा भोटान्तिक व्यापारियों की संख्या भी काफी थी। बदरीनाथ-केदारनाथ जाने वाले तीर्थ यात्री भी काफी संख्या में यहाँ आते थे। 1880 में रेल यातायात आरम्भ होने के बाद हल्द्वानी का महत्व बढ़ा और यह नगर नैनीताल जनपद तथा कुमाऊँ प्रभाग का शीतकालीन मुख्यालय बन गया। नेविल ने लिखा है, "अक्टूबर के बाद पर्वतीय जनता बहुत बड़ी संख्या में भाबर चली आती है। फलतः नैनीताल जनपद के प्रशासन के लिए हल्द्वानी एक मध्यवर्ती स्थान बन जाता है। जाड़ों में हिमपात के कारण नैनीताल के अपेक्षाकृत दुर्गम हो जाने से भी इस नगर का महत्व बढ़ा है। इसके अतिरिक्त नैनीताल जनपद की सभी पट्टियों से निकट होने के कारण भी हल्द्वानी विकास की ओर अग्रसर हुआ।"

2.10.5.3 टनकपुर

1880 में बरमदेव मण्डी के बाढ़ में विध्वस्त हो जाने के बाद शारदा नदी के बायें तट पर टनकपुर की स्थापना की गई। व्यापारिक दृष्टि से टनकपुर पूर्वी कुमाऊँ का एक महत्वपूर्ण केन्द्र था। हल्दी, मिर्च और घी पहाड़ों तथा नेपाल से मैदानों को निर्यात होता था। इसके अलावा टनकपुर से इमारती लकड़ी, काजू, खालें, शहद तथा कुछ वन्य उत्पाद भी निर्यात किये जाते थे। नवम्बर से लेकर मई के अंत तक यह व्यापार चलता था और जून के मध्य से नगण्य हो जाता था।

2.10.5.4 देहरादून

1808 में रेपर ने इसे एक विस्तृत गाँव के रूप में पाया था। 1823 में सहारनपुर जिले के संयुक्त मजिस्ट्रेट मि० शोर ने लोगों को सड़कों की मरम्मत करने हेतु प्रेरित किया तथा मार्गों पर दुकानों के निर्माण हेतु स्वयं धनराशि उपलब्ध कराई। फिर भी उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध तक देहरा शहर के विकास की गति अत्यन्त धीमी थी। 1886 में एफ० बेकर द्वारा प्रस्तुत की गई भू-राजस्व प्रबंधन सम्बन्धी आख्या में देहरादून पर टिप्पणी करते हुए कहा गया था कि "प्राकृतिक सम्पदा की दृष्टि से समृद्ध होते हुए भी देहरा शहर प्रदेश का सबसे पिछड़ा क्षेत्र है। यहाँ किसी भी प्रकार के सार्वजनिक बाग-बगीचे या संस्थान नहीं हैं और नगरपालिका की आय, जो केवल वार्षिक 20,000 रु० है, जरूरी खर्चों को पूरा करने के लिए भी पर्याप्त नहीं है।" देहरा में नगरपालिका की स्थापना 1867 ई० में हुई थी। उस समय इसका विस्तार केवल साढ़े तीन वर्गमील के क्षेत्र में था। 1876 से 1909 के बीच विभिन्न स्तरों पर किए गये निर्माण एवं सुधार कार्यों ने शहर के विकास को एक नया आयाम दिया।

2.10.6 परिवहन के साधन

देहरादून में सड़कें अपेक्षाकृत अच्छी थीं। इनका अधिकांश पर्वतों की तलहटी में स्थित होने के कारण, बैलगाड़ियाँ भी चलाई जा सकती थीं। कुछ सड़कें अच्छी, कुछ कच्ची तथा कुछ पैदल चलने योग्य थीं। देहरा को मैदानी भागों से जोड़ने वाले तीन प्रमुख मार्ग थे : (1) रुड़की-देहरा-राजपुर-लंडौर मार्ग, जिसे 1823 में मि० शोर ने पुनर्निर्मित कराया (2) सहारनपुर-चकराता (1873) तथा (3) देहरा-हरद्वार मार्ग। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यहाँ प्रथम श्रेणी की छः, द्वितीय श्रेणी की (जिनमें कच्ची घोड़िया तथा पैदल सड़कें भी थी) आठ तथा तृतीय श्रेणी की चौबीस सड़कें थीं। इनके अलावा अनेक कच्ची सड़कें तथा पगडंडियाँ भी विद्यमान थी। जिला बोर्ड तथा वन विभाग द्वारा अनेक सड़कों की मरम्मत और रख-रखाव का कार्य किया जाता था।

1880 में रुहेलखण्ड-कुमाऊँ (बरेली-हल्द्वानी) रेलमार्ग खुलने से परिवहन एवं संचार व्यवस्था में आमूल-चूल परिवर्तन हुआ और भाबर-तराई के क्षेत्रों में आवागमन तथा खाद्य सामग्री की ढुलाई की समस्या में

काफी हद तक सुधार हुआ। नजीबाबाद तक रेलमार्ग बनने से गढ़वाल के लिए खाद्य सामग्री की आपूर्ति अधिक सुगम हो गई और तीर्थयात्रियों का आवागमन पहले की अपेक्षा बढ़ गया। इसी प्रकार श्रीनगर जाने वाले मार्ग में सुधार होने से अन्तर्वर्ती क्षेत्रों में अनाज का आयात करना भी सरल हो गया। 1884 में हल्द्वानी-काठगोदाम तथा नजीबाबाद, 1897 में कोटद्वार और 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही हरद्वार में रेल आगमन से यातायात की व्यवस्था में काफी परिवर्तन आया। 1900 में देहरादून में रेल आई। किन्तु ये सभी साधन पर्वतों की तलहटी में स्थित क्षेत्रों तथा भाबर-तराई तक सीमित थे। उत्तरी और मध्यवर्ती क्षेत्रों में अभी भी मनुष्य और पशु ही परिवहन के प्रमुख साधन थे।

2.10.7 जनसंख्या की स्थिति

भाबर-तराई में जनसंख्या अधिक नहीं थी। गर्मी काफी पड़ती थी। बरसात में मलेरिया आदि बीमारियों का प्रकोप रहता था। घने वनों के कारण जंगली जानवरों का भी भय बना रहता था। प्रायः मैदानी क्षेत्रों में डाकू यहाँ के जंगलों में पनाह ले लेते थे और निकटवर्ती क्षेत्रों में लूटमार करके अपनी जीविका चलाते थे। इन कारणों से लोग यहाँ बसने में संकोच करते थे। केवल शीतकाल में मौसम अच्छा होने के कारण कुछ पर्वतीय पशुचारक अच्छी कृषि वाले क्षेत्रों में कबिलदार और घामतप्पा के रूप में आते थे और शीतकाल समाप्त होने के बाद मार्च में अपने गाँवों की ओर लौट जाते थे। जिन क्षेत्रों में कृषि उपज अच्छी थी और अन्य संसाधन सुलभ थे, वहाँ जनसंख्या का घनत्व सर्वाधिक था। कोटद्वार तथा खाम भाबर पट्टियों में प्रव्रजन अधिक था। परन्तु इनकी स्थिति कुमाऊँ की भाँति नहीं थी। चूँकि यह प्रव्रजन पूरी तरह आंतरिक था इसलिए जनसंख्या में कोई विशेष परिवर्तन नहीं होता था। शीतकाल में पर्वतों की तलहटी में जनसंख्या में वृद्धि हो जाती थी, तो ग्रीष्मकाल में ऊँचे पर्वतों पर स्थित गाँव पूर्ववत् आबाद हो जाते थे।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये:

1. (क) तराई जिले का गठन कब हुआ?

(ख) भाबर-तराई की तीन प्रमुख मण्डियों के नाम लिखिये।

(ग) हल्द्वानी-काठगोदाम में रेल का आगमन कब हुआ?

2. नीचे लिखे गये प्रश्नों के उत्तर दीजिये:

(क) तराई-भाबर के प्रशासनिक पुनर्गठन पर संक्षेप में प्रकाश डालिये।

(ख) औपनिवेशिक शासन में तराई-भाबर में नहरों के निर्माण एवं सिंचाई व्यवस्था पर एक टिप्पणी लिखिये।

2.11 तराई-भाबर पर राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रभाव

2.11.1. 1857 और तराई-भाबर

1857 में अंग्रेजी सत्ता को उखाड़ फेंकने के लिए जूझते विद्रोही सैनिकों ने बार-बार भाबर पर अधिकार करने का प्रयास किया। 17 सितंबर 1857 को खान बहादुर खान की एक पैदल तथा घुड़सवार सेना ने हल्द्वानी पर अधिकार कर लिया, किन्तु भीषण लड़ाई और गोलाबारी के बाद उन्हें पीछे हटना पड़ा। 6 अक्टूबर को पाँच हजार विद्रोहियों ने हल्द्वानी पर पुनः अधिकार कर लिया। रैमजे के पत्र संख्या 258 से पता चलता है कि विद्रोहियों पर भय का ऐसा वातावरण उत्पन्न किया गया कि वे अपना कुछ सामान छोड़कर अव्यवस्थित रूप से भाग गये। (डॉ. धर्मपाल सिंह मनराल—स्वतंत्रता संग्राम में कुमाऊँ-गढ़वाल का योगदान), बदरीदत्त पांडे ने लिखा है कि 16 अक्टूबर 1857 को पाँच सौ विद्रोही सैनिकों

ने पुनः भाबर को अपने अधिकार में ले लिया, पर अंग्रेजों ने उन्हें पराजित कर दिया। डॉ. मनराल के अनुसार “रैमजे के पत्र संख्या 258 में इस बात का उल्लेख नहीं मिलता। संभवतः उपरोक्त दोनों घटनाएँ एक ही हैं और रैमजे के पत्र में उल्लिखित घटना को ही प्रामाणिक मानना उपयुक्त है। इस आक्रमण के बाद हल्द्वानी की रक्षा हेतु कर्नल मैककौसलैंड को रखा गया। फरवरी 1858 में फजलहक चार हजार पाँच सौ तथा काले खाँ चार हजार सैनिकों और चार तोपें लेकर सम्मिलित रूप से ब्रिटिश सेना पर आक्रमण करने के उद्देश्य से बहेड़ी से आगे बढ़ आये लेकिन दस फरवरी को कर्नल मैककौसलैंड ने काले खाँ की सेना पर चोरपुड़ा नामक स्थान पर आक्रमण कर उसे पराजित कर दिया। इस संघर्ष में काले खाँ और फजल हक दोनों मारे गये।”

2.11.2 राष्ट्रीय आन्दोलन और तराई-भाबर

तराई-भाबर में राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास समग्र रूप से तत्कालीन उत्तराखण्ड में होने वाली घटनाओं से जुड़ा हुआ है। 1916 में कुमाऊँ परिषद की स्थापना की गई, जिसके दो महत्वपूर्ण अधिवेशन हल्द्वानी(1918) और काशीपुर(1920) में सम्पन्न हुए। 1918 में तारादत्त गैरोला की अध्यक्षता में हुए हल्द्वानी अधिवेशन में हरगोविन्द पन्त ने दो वर्षों के अन्दर कुली उतार, कुली बेगार और कुली बर्दायश को समाप्त किए जाने का प्रस्ताव रखा, जो सर्वसम्मति से पारित हो गया। 1919 में बदरीदत्त जोशी की अध्यक्षता में कोटद्वार अधिवेशन में इसे पुनः दोहराया गया और सरकार को स्मरण पत्र दिया गया। 6 अप्रैल 1919 को काशीपुर में रौलेट एक्ट के विरोध में हुई एक जनसभा को संबोधित करते हुए गोविन्दबल्लभ पंत ने रौलेट एक्ट के दोषों पर प्रकाश डाला और उसे रद्द करने का प्रस्ताव सर्वसम्मति से पारित करवाया। चोरगल्या(हल्द्वानी) में भी इसके विरोध में एक जनसभा आयोजित की गई। 1920 में हरगोविन्द पंत की अध्यक्षता में कुमाऊँ परिषद के काशीपुर के अधिवेशन में गोविन्द बल्लभ पंत, बदरीदत्त पाण्डे आदि प्रमुख नेताओं ने भाग लिया। इस सभा में प्रस्ताव रखा गया कि कोई भी व्यक्ति कुली उतार, कुली बेगार और कुली बर्दायश जैसी कुप्रथाओं को न माने और वैध उपायों द्वारा उनका विरोध करे। परिषद में असहयोग का प्रस्ताव पारित होने के कारण सरकार समर्थक कुछ नेता सभा से उठकर चले गये। 1923 में बदरीदत्त पाण्डे की अध्यक्षता में टनकपुर में अधिवेशन हुआ। 1929 में गाँधीजी हरिद्वार होकर देहरादून और मसूरी पहुँचे। 14 जून को हल्द्वानी पहुँचे, जहाँ गोविन्द बल्लभ पंत और अन्य कार्यकर्ताओं ने उनका स्वागत किया। हल्द्वानी के रामलीला मैदान में गाँधीजी ने भाषण दिया।

सविनय अवज्ञा आन्दोलन में स्महिलाओं की भी महत्वपूर्ण भागीदारी रही। 1932 में अल्मोड़ा से कुन्ती वर्मा, मंगला वर्मा, जीवन्ती ठकुरानी, भागीरथी वर्मा तथा नैनीताल से पद्मा जोशी आदि ने हल्द्वानी पहुँच कर विदेशी कपड़ों की होली जलाई, शराब की भट्टियों पर धरना दिया तथा दुकानों को तोड़ने के आरोप में गिरफ्तार कर ली गयीं। सत्याग्रह में भी महिलाओं ने खुलकर भाग लिया। सर्वप्रथम हल्द्वानी से शोभावती मित्तल व भागीरथी तथा काशीपुर से यशोधरा की गिरफ्तारी हुई। महिला सत्याग्रहियों को संगठित करने के उद्देश्य से कुन्ती वर्मा, भागीरथी चौधरानी के नेतृत्व में हल्द्वानी, कालाढूंगी, कोटाबाग की पद यात्राएँ कीं। कोटाबाग की कुन्ती देवी तथा पार्वती देवी का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा। डांडी मार्च से उत्तराखण्ड के तीन सत्याग्रही जुड़े थे जिनमें देहरादून से खड्गबहादुर सिंह थे। देहरादून की सत्याग्रह कमेटी को नरददेव शास्त्री, महावीर त्यागी, स्वामी विचारानन्द, नारायण दत्त डंगवाल, रामस्वरूप, हुलास शर्मा तथा बिहारीलाल देख रहे थे। देहरादून में खाराखेत में नमक सत्याग्रह किया गया। 20 अप्रैल को स्वयं सेवकों की संख्या 150 से ज्यादा हो गई। खाराखेत से नमक बनाकर फालतू लाइन में बेचा जाता था और सत्याग्रहियों का परिचय कराया जाता था। यह क्रम अनेक दिनों तक चला। 30 अप्रैल को गिरफ्तारियाँ हुईं। खादी के प्रचार में महिलाएँ बड़ी संख्या में सक्रिय हुईं। इसी समय बेटी उमा सहित श्रीमती शर्मदा देवी त्यागी, विष्णु देवी, सरस्वती देवी, रामदुलारी तथा दो बच्चों के साथ श्यामादेवी की गिरफ्तारी हुई। हरिराम मिश्र ‘चंचल’ तथा सोमेन्द्र मुखर्जी भी गिरफ्तार हुए। 6 से 13 अप्रैल तक राष्ट्रीय सप्ताह मनाने के क्रम में 6 अप्रैल को गोविन्द बल्लभ पंत के सभापतित्व में हल्द्वानी में विराट सभा हुई और उन्होंने कहा कि मैं गाँधीजी द्वारा बताये तरीकों से सरकार को उलटने की पूरी कोशिश

करुंगा(सरफरोशी की तमन्ना)। अन्य स्थानों की तरह ही काशीपुर और हल्द्वानी में भी झंडा सत्याग्रह हुआ,तिरंगा फहराया गया,विदेशी कपड़ों की होली जली तथा नमक बनाया गया। कोटाबाग.पाटकोट क्षेत्र में जंगल सत्याग्रह में कमलापति जोशी,शिवसिंह,भवानीदत्त सुनौला,जीवानन्द सुनौला,मोतीराम बघाणी,शंकरदत्त त्रिपाठी आदि सर्वाधिक सक्रिय थे। अनेक स्थानों पर जंगल की नीलामियों का विरोध हुआ और सैकड़ों ग्रामीणों ने, जो जाड़ों में तराई-भाबर के जंगलों में काम करने जाते थे,इस बार काम पर जाने से इन्कार कर दिया। देहरादून में स्कूली बच्चों की गिरफ्तारी भी हुई। एम.एन.राय के देहरादून आने से वहाँ युवाओं में क्रान्तिकारी विचारों का प्रसार भी होने लगा था। भारत छोड़ो आन्दोलन के दौरान कुमाऊँ में व्यक्तिगत सत्याग्रह की शुरुआत 24 नवंबर 1940 को गोविन्द बल्लभ पंत ने नैनीताल से हल्द्वानी रवाना होकर की,जहाँ वे गिरफ्तार हुए। हल्द्वानी में हड़ताल हो गई और हरगोविन्द पंत की अध्यक्षता में एक विशाल सभा हुई। देहरादून में नरदेव शास्त्री,महावीर त्यागी,धर्मदेव शास्त्री आदि ने व्यक्तिगत सत्याग्रह में सक्रियता बनाये रखी। देहरादून में डी.ए.वी. कॉलेज के छात्रों ने सक्रियता और जोश के साथ सरकारी दमन का विरोध और करो या मरो का आह्वान किया।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये:

1. (क) 1918 में कुमाऊँ परिषद के हल्द्वानी अधिवेशन की अध्यक्षता किसने की?

(ख) सविनय अवज्ञा आन्दोलन के विभिन्न कार्यक्रमों में महिलाओं की भी सक्रिय भागीदारी रही।(हाँ/नहीं)

2. नीचे लिखे गये प्रश्नों के उत्तर दीजिये:

(क) 1857 में तराई-भाबर की स्थिति पर संक्षेप में बताइये।

(ख) राष्ट्रीय आन्दोलन में इस क्षेत्र के योगदान पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।

3.0 सारांश— इस प्रकार इस अध्ययन में आपने यह जाना कि भाबर और तराई शिवालिक पर्वतमालाओं की तलहटी में स्थित भारत और नेपाल का वह भू-भाग है,जो पश्चिम में जम्मू-कश्मीर से लेकर पूर्व में सिक्किम तक दो क्रमिक संकरी पट्टियों के रूप में फैला हुआ है। उत्तराखण्ड में इनका विस्तार पश्चिम में यमुना नदी से लेकर पूर्व में शारदा नदी तक है। इनमें पहाड़ों की तलहटी से लगा वह भू-भाग ,जिसका निर्माण पहाड़ी नदियों द्वारा बहाकर लायी गयी गोल- मटोल बालुज शिलाओं और रेत के ऊपर मिट्टी की तह जम जाने से हुआ है। जल के भूमि में रिस जाने के कारण इस क्षेत्र में प्राचीन काल से ही मानव बसासतें केवल उन्हीं स्थानों पर विकसित हुईं जहाँ जल उपलब्ध था। भाबर के दक्षिण में स्थित वह भू-भाग तराई है,जहाँ भाबर में भूमिगत हुआ जल बाहर निकल कर छोटी-छोटी धाराओं के रूप में प्रवाहित होता है। इस क्षेत्र में भी सामान्य धरातल से कुछ ऊँचे उठे भागों में प्राचीन काल से ही यत्र -तत्र मानव बसासतों के अवशेष मिलते हैं।

तराई-भाबर का इतिहास अतीत से ही रुहेलखण्ड और उत्तराखण्ड दोनों की राजनीतिक और सांस्कृतिक गतिविधियों से प्रभावित रहा है। जब भी पश्चिमोत्तर भारत या गंगा-यमुना के मैदान पर आक्रमण हुआ, तब.तब इसे शरणार्थी समस्या से जूझना पड़ा तो शांतिकाल में आगंतुकों और पर्वतीय जनों ने मिलकर इस क्षेत्र को समृद्ध करने का प्रयास भी किया। इस भू- भाग में बहादुराबाद में प्राप्त पाषाणकालीन अवशेषों से लेकर भारत विभाजन तक हजारों साल के घटनाक्रम के अवशेष विद्यमान हैं। कालसी में अशोक ने चतुर्दश शिलालेख अंकित करवाये। तब से लेकर गोविषाण, मोरध्वज, गंगाद्वार , सुघ्न, मयूर, ब्रह्मपुर , सेनापानी आदि के अवशेषों में इस अंचल की स्थापत्य कला, मूर्तिकला, धार्मिक आस्था आदि के बारे में महत्वपूर्ण सूचनाएँ और पुरावशेष विद्यमान हैं।

कुणिन्दों, कुषाणों, कटेहरियों और कुमाऊँ - गढ़वाल के नरेशों ने इस क्षेत्र को मानव आवास योग्य बनाने में अथक प्रयास किया तो तैमूर, फीरोज तुगलक, हुसैन खाँ टुकड़िया और रुहेलों ने इस क्षेत्र का ध्वंस करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। तराई-भाबर को वर्तमान रूप में लाने का सर्वाधिक श्रेय कुमाऊँ के ब्रिटिश शासकों और भारत के विभाजन के बाद के आप्रवासियों को है।

प्रस्तुत इकाई में आप तराई-भाबर के इतिहास और विकास को विस्तार से समझने का प्रयास करेंगे।

4.0 तकनीकी शब्दावली

1. चित्रित धूसर भांड— Painted Grey Ware

2. गढ़— किला

3. रौत— राज्य की रक्षा हेतु वीरगति को प्राप्त होने वाले अथवा युद्ध

आदि बाह्य संकट के समय विशिष्ट साहस एवं वीरता प्रदर्शित करने वाले व्यक्तियों के परिवार को प्रदान की जाने वाली भूमि।

4. सनद— प्रमाणपत्र

5. लगगा— जुड़ा हुआ

6. खाम— खाम का अभिप्राय अस्थायी प्रबंध या Temporary land settlement है। ब्रिटिश युग में तराई भाबर की व्यवस्था खाम सुपरिटेण्डेंट के अधीन थी। खाम की संपत्ति पूर्णतः ब्रिटेन के राजवंश की जागीर मानी जाती थी। इसमें रहने वाले लोगों को सीमित अधिकार प्राप्त थे।

7. मुआफी— पुरस्कार स्वरूप दी जाने वाली भूमि थी। प्रायः ब्राह्मणों को दी जाती थी।

8. कबिलदार/घामतप्पा— कबिलदार या ग्रामीणों के ऐसे समूह जो अपना सारा सामान बैलगाड़ियों पर लाद कर सपरिवार जाड़ों में भाबर आ जाते थे और यहाँ खेती करते थे। घामतप्पा—जाड़ों में केवल धूप सेंकने के लिए भाबर आने वाले लोग।

5.0 स्व मूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

इकाई 2.3 के स्व मूल्यांकित प्रश्न

1. (क) देखिए 2.3 तराई-भाबर का भूगोल और उत्तराखण्ड
(ख) देखिए 2.3.1 नामकरण

इकाई 2.4 के स्व मूल्यांकित प्रश्न

1. (क) पाणिनि (ख) आइन.ए.अकबरी
2. (क) देखिए 2.4.1— साहित्यिक साक्ष्य
(ख) देखिए 2.4.6— पुरातात्विक अवशेष

इकाई 2.5 के स्व मूल्यांकित प्रश्न

1. (क) बहादुराबाद
2. (क) देखिए :2.5.1 पाषाण युगीन तराई-भाबर
(ख) देखिए 2.5.2 ताम्र युगीन तराई-भाबर

इकाई 2.6 के स्व मूल्यांकित प्रश्न

1. (क) चौदहवाँ (ख) कुलिन्द्राइन

2. (क) देखिए 2.6.4.1 तराई-भाबर की प्राचीन बसासतें
(ख) देखिए 2.6.5.1 गोविषाण का मित्र वंश

इकाई 2.7 के स्व मूल्यांकित प्रश्न

1. (क) गोविषाण (ख) ढिकुली
2. (क) देखिए 2.7.2 (ख) देखिए 2.7.4

इकाई 2.8 के स्व मूल्यांकित प्रश्न

1. (क) खड़गू (ख) हाँ
2. (क) देखिए 2.8.2 (ख) देखिए 2.8.4

इकाई 2.9 के स्व मूल्यांकित प्रश्न

1. (क) रुद्रचन्द्र (ख) 21 महाल
- 2 (क) देखिए 2.9.3 (ख) देखिए 2.9.11

इकाई 2.10 के स्व मूल्यांकित प्रश्न

1. (क) 1862 ई० (ख) रामनगर, हल्द्वानी, टनकपुर
(ग) 1884
2. (क) देखिए 2.10.1 (ख) देखिए 2.10.3

इकाई 2.11 के स्व मूल्यांकित प्रश्न

1. (क) तारादत्त गैरोला (ख) हाँ
2. (क) देखिए 2.11.1 (ख) 2.11.2

6.0 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. शिवप्रसाद डबराल, उत्तराखण्ड का इतिहास भाग 1 से 12 (वीरगाथा प्रकाशन, दोगड्डा, गढ़वाल, 1965.86)
2. वासुदेव शरण अग्रवाल, पाणिनि कालीन भारतवर्ष (वाराणसी, 1989)
3. भरतसिंह उपाध्याय, बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, (प्रयाग 1962)
4. जियाउद्दीन बरनी, तारीख. ए. फीरोज शाही (भारत का इतिहास, भाग 3 सं. इलियट. डाउसन)
5. अबुल फजल, आइन. ए. अकबरी (अनु. गैरेट, भाग. 2, कोलकाता 1949)
6. बी. एन. पुरी, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एडमिनिस्ट्रेशन (भाग. 2, 1968.75)
7. इरफान हबीब, एटलस ऑफ मुगल इम्पायर, (उत्तर प्रदेश पोलिटिकल, 1995)
8. जॉर्ज विलियम ट्रेल, ए स्टैटिस्टिकल स्केच ऑफ कुमाऊँ (एशियाटिक रिसर्च, भाग 16, 1828)
9. जे. ओ. बी. बेकेट, रिपोर्ट ऑन द रिवीजन ऑफ द सैटिलमेंट ऑफ कुमाऊँ डिस्ट्रिक्ट (इलाहाबाद 1886)
10. ई. टी. एटकिंसन, गजेटियर ऑफ द नॉर्थ वेस्ट प्रोविंसेज—हिमालयन डिस्ट्रिक्ट, खण्ड 3, भाग 2, दिल्ली 1973)

- 11.एच. आर. नेविल, नैनीताल गजेटियर (इलाहाबाद 1922)
- 12.एच.जी.वॉल्टन, देहरादून गजेटियर (इलाहाबाद 1911)
- 13...एच.जी.वॉल्टन, गजेटियर ऑफ गढ़वाल (इलाहाबाद 1921)
- 14.बदरीदत्त पाण्डे, कुमाऊँ का इतिहास (अल्मोड़ा,1937)
15. सरफरोशी की तमन्ना—उत्तराखण्ड में स्वाधीनता आन्दोलन का दृश्य इतिहास,शेखर पाठक, नैनीताल 1998
- 16.पहाड़, भाग 4, राष्ट्रीय संग्राम और हिमालयी प्रतिरोध (नैनीताल,1989)
- 17.आर.एस.टोलिया, ब्रिटिश कुमाऊँ.गढ़वाल, भाग2 (अल्मोड़ा,1995)
- 18.अजय रावत, इकोलॉजी एण्ड पोलिटिक्स इन तराई-भाबर
- 19.धर्मपाल सिंह मनराल, स्वतंत्रता संग्राम में कुमाऊँ.गढ़वाल का योगदान(अल्मोड़ा 1978)
- 20.शक्ति प्रसाद सकलानी,तराई रुद्रपुर का इतिहास और विकास (बरेली 1996)
21. किरन त्रिपाठी, उत्तराखण्ड का ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक भूगोल (ज्ञानोदय प्रकाशन,2006)

7.0 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

- 1.शिवप्रसाद डबराल, उत्तराखण्ड का इतिहास भाग 1से12 (वीरगाथा प्रकाशन, दोगड़डा, गढ़वाल, 1965.86)
- 2.वासुदेव शरण अग्रवाल, पाणिनि कालीन भारतवर्ष (वाराणसी,1989)
- 3.भरतसिंह उपाध्याय, बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, (प्रयाग 1962)
- 4.बी.एन.पुरी, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एडमिनिस्ट्रेशन(भाग.2,1968.75)
- 5.ई.टी.एटकिंसन, गजेटियर ऑफ द नॉर्थ वेस्ट प्रोविंसेज—हिमालयन डिस्ट्रिक्ट, खण्ड 3,भाग 2,दिल्ली 1973)
- 6.एच. आर. नेविल, नैनीताल गजेटियर (इलाहाबाद 1922)
- 7.एच.जी.वॉल्टन, देहरादून गजेटियर (इलाहाबाद 1911)
- 8...एच.जी.वॉल्टन, गजेटियर ऑफ गढ़वाल (इलाहाबाद 1921)
- 9.बदरीदत्त पाण्डे, कुमाऊँ का इतिहास (अल्मोड़ा,1937)
10. सरफरोशी की तमन्ना—उत्तराखण्ड में स्वाधीनता आन्दोलन का दृश्य इतिहास,शेखर पाठक, नैनीताल 1998
11. पहाड़, भाग 4, राष्ट्रीय संग्राम और हिमालयी प्रतिरोध (नैनीताल,1989)
- 12.आर.एस.टोलिया, ब्रिटिश कुमाऊँ.गढ़वाल, भाग2 (अल्मोड़ा,1995)
- 13.अजय रावत, इकोलॉजी एण्ड पोलिटिक्स इन तराई.भाबर
- 14.धर्मपाल सिंह मनराल, स्वतंत्रता संग्राम में कुमाऊँ.गढ़वाल का योगदान(अल्मोड़ा 1978)
- 15.शक्ति प्रसाद सकलानी,तराई रुद्रपुर का इतिहास और विकास (बरेली 1996)
16. किरन त्रिपाठी, उत्तराखण्ड का ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक भूगोल (ज्ञानोदय प्रकाशन,2006)

8.0 निबन्धात्मक प्रश्न

1. तराई-भाबर के इतिहास से संबन्धित स्रोत सामग्री का विवरण दीजिये।
2. गुप्त युग तक तराई-भाबर के प्रारंभिक इतिहास की समीक्षा कीजिये।
3. गुप्तोत्तर युग में तराई-भाबर में होने वाली गतिविधियों के बारे में आप क्या जानते हैं?
4. बाह्य आक्रमणों ने तराई-भाबर के विकास में किस प्रकार गतिरोध उत्पन्न किए?
5. मुगल काल में तराई-भाबर की स्थिति पर प्रकाश डालिये।
6. राष्ट्रीय आन्दोलन में तराई-भाबर के योगदान की समीक्षा कीजिये।

इकाई एक

मध्यकालीन उत्तराखण्ड में राजत्व की वैधता के स्रोत

- 1.1 प्रस्तावना
- 1.2 उद्देश्य
- 1.3 मध्यकालीन उत्तराखण्ड
 - 1.3.1 पौरव-वर्मन राजवंश
 - 1.3.2 पौरव-वर्मन शासकों के राजत्व की वैधता
- 1.4 कत्यूरी राजवंश
 - 1.4.1 कत्यूरी शासकों के राजत्व की वैधता
- 1.5 पंवार एवं चंद राजवंश
 - 1.5.1 पंवार एवं चंद शासकों के राजत्व की वैधता
- 1.6 सारांश
- 1.7 तकनीकी शब्दावली
- 1.8 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर
- 1.9 संदर्भ ग्रंथसूची
- 1.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 1.11 निबंधात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

यह इकाई मध्यकालीन उत्तराखण्ड में राजत्व की वैधता के स्रोत से संबंधित है। इस इकाई में बताई गयी बातों को समझने से पूर्व आपको कुछ तकनीकी शब्दों को भलीभांति समझना होगा, जैसे **मध्यकालीन उत्तराखण्ड, राजत्व तथा वैधता**। तो आइये सबसे पहले मध्यकालीन उत्तराखण्ड पर चर्चा करें। सामान्य रूप से इतिहासकारों ने अतीत को विश्लेषित करने के लिए उसे मोटे तौर पर प्राचीन, मध्यकालीन और

आधुनिक कालों में विभाजित किया है, यही नहीं सूक्ष्म विश्लेषण के लिए इन कालखण्डों का उप-विभाजन भी मिलता है। यह जानना आवश्यक है कि वे कौन सी प्रवृत्तियाँ थीं जिनसे प्राचीन युग बदलकर मध्ययुग में परिवर्तित हो गया। यदि हम आरंभिक मध्यकाल को देखें तो पता चलता है कि इस समय कुछ ऐसी बातें हो रही थीं जो पहले नहीं थीं, इनमें महत्वपूर्ण थीं, शासकों द्वारा भारी मात्रा में भूमि अनुदानों का दिया जाना, हम देखते हैं कि इस सम्पूर्ण काल में भारी मात्रा में शासकों द्वारा भूमि तथा भू-राजस्व का धार्मिक तथा धर्म-निरपेक्ष तत्वों को हस्तांतरण किया गया, जिससे इस प्रकार के लोगों की संख्या बढ़ती गयी जो जमीन पर बिना काम किये ही इससे कमाते थे, ये लोग शक्तिशाली थे और जमीन पर काम किये बिना ही उस पर अधिकार रखते थे। इस व्यवस्था में राजा की शक्ति कम होने लगी और वह ऐसे लोगों या सामंती सरदारों पर निर्भर रहने लगे जिनकी अपनी सेना होती थी, छोटे राज्य व्यापार को निरुत्साहित करते हैं, फलतः इस काल में व्यापार-वाणिज्य का ह्रास होने लगा, मौद्रिक अर्थव्यवस्था कमजोर होने लगी और नये समाज का उदय हुआ जिसमें ग्रामीण क्षेत्र आर्थिक दृष्टि से अधिक आत्मनिर्भर होते गये। इन सब कारकों की वजह से प्राचीन भारतीय समाज मध्यकालीन भारतीय समाज में परिवर्तित होने लगा और इतिहास में हम मध्यकाल में प्रवेश कर गये, उत्तराखण्ड के विषय में भी यह तथ्य दिखाई देता है, यहां से प्राप्त तालेश्वर और पाण्डुकेश्वर ताम्रपत्र वस्तुतः दानपत्र ही हैं, जिन्हें आगे चलकर स्पष्ट किया जायेगा। इसी प्रकार राजत्व शब्द भी महत्वपूर्ण है। राजत्व के अंतर्गत राजा द्वारा शासन, राजा या शासक की स्थिति, शक्ति, राज्य-क्षेत्र, प्रभाव क्षेत्र, ओहदा, प्रतिष्ठा जैसी बातें सम्मिलित रहती हैं। वैधता का सामान्य अर्थ औचित्य है। इन तथ्यों को समझने के उपरांत आइये अब विस्तार से शीर्षकवार चर्चा करें।

1.2 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य, मध्यकालीन उत्तराखण्ड में राजत्व की वैधता के स्रोतों की जानकारी प्रस्तुत करना है। इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप निम्नांकित जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

- मध्यकालीन उत्तराखण्ड, राजत्व तथा वैधता जैसे शब्दों का तात्पर्य
- पौरव-वर्मन राजवंश के शासक और राजत्व की वैधता के स्रोत
- कत्यूरी राजवंश के शासक और राजत्व की वैधता के स्रोत
- चंद-पंवार राजवंश के शासक और राजत्व की वैधता के स्रोत

1.3 मध्यकालीन उत्तराखण्ड

भारतीय इतिहास को तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो उत्तराखण्ड के इतिहास में मध्यकालीन प्रवृत्तियों की शुरुवात पौरव-वर्मन शासकों द्वारा तालेश्वर ताम्रपत्रों में दी गयी सूचनाओं से होती है, पौरव-वर्मनों के उपरांत यहां कत्यूरी और फिर चंद-पंवार तथा अन्य माण्डलिक शासकों ने राज्य किया। इन सभी का काल, मध्यकाल के अंतर्गत शामिल किया जा सकता है। अब प्रत्येक राजवंश के काल का अध्ययन शीर्षकवार किया जायेगा।

1.3.1 पौरव-वर्मन राजवंश

चौथी सदी ईस्वी के उत्तरार्द्ध से सातवीं सदी ईस्वी तक के उत्तराखण्ड के इतिहास की जानकारी के एकमात्र स्रोत द्विजवर्मन का वृषताप शासन और विष्णुवर्मन के ताम्रशासन को है, ये ताम्रपत्र अल्मोड़ा जनपद के तालेश्वर नामक स्थान से मिले हैं इसीलिए प्राप्ति सिल के पाम के आधार पर, इन्हें तालेश्वर ताम्रपत्र पुकारा गया है। अभिलेखों में पौरव-वर्मन शासकों के राज्य का नाम 'पर्वताकर राज्य' बतलाया गया है, जो स्पष्टतः उत्तराखण्ड के पर्वतीय क्षेत्रों का ही परिचायक प्रतीत होता है। तालेश्वर अभिलेखों में गजसेना के अधिकारी का उल्लेख यह महत्वपूर्ण सूचना देता है कि पौरव-वर्मनों का राज्य न केवल पर्वतीय क्षेत्रों तक सीमित था वरन् यह आस-पास के तराई क्षेत्रों तक भी विस्तृत था क्योंकि हाथी एवं ऊँट की सेना इसी क्षेत्र के लिए उपयुक्त रही होगी। विशाल पदाधिकारियों का उल्लेख भी वृहत् साम्राज्य का परिचायक है। ताम्रपत्रों के अध्ययन से ही जानकारी मिलती है कि पौरव-वर्मनों ने गुप्त शासन से प्रेरणा ली थी। इस राज्य की राजधानी ताम्रपत्रों में ब्रह्मपुर बतलायी गयी है जिसे 'इन्द्र की नगरी' और 'नगरों में श्रेष्ठ' के रूप में उल्लिखित किया गया है। तालेश्वर ताम्रपत्र इसी नगर से जारी किये गये हैं।

तालेश्वर ताम्रपत्रों में शासक के लिए अनेक नाम— राजा, नृपति, महाराजाधिराज, महाराज— प्रयुक्त हुये हैं। प्राचीन भारतीय साहित्य में 'राजा' पद अनेक अर्थों में प्रयुक्त मिलता है, उत्तराखण्ड से प्राप्त विभिन्न प्राचीन अभिलेखों में भी इसका प्रयोग अनेक तरह से हुआ है, लेकिन यह स्पष्ट है कि यह पद शासकीय शक्ति का प्रतीक था और इससे विभिन्न शासकों की राजनैतिक स्थिति का पता चलता है। तालेश्वर अभिलेखों में 'नृपति', पद भी उत्कीर्ण मिलता है। नृपति का शाब्दिक अर्थ 'मनुष्यों का स्वामी' होता है, अतः इस अर्थ में यह पद शासकीय सत्ता के रूप में राजा का ही समानार्थी है। तालेश्वर पत्रों से पता चलता है कि पौरव-वर्मन शासकों ने 'महाराजाधिराज' उपाधि धारण की थी, यह उपाधि केवल पौरव-वर्मन शासकों के स्वतंत्र और सार्वभौम होने का संकेत देती है। 'महाराज' उपाधि कुणिन्द सिक्कों में भी मिलती है, पौरव-वर्मन शासकों के लिए भी यह उपाधि प्रयुक्त की गई है लेकिन यह द्रष्टव्य है कि 'महाराज' पद केवल पूर्वज राजाओं के लिए ही प्रयुक्त किया गया है। तालेश्वर ताम्रपत्रों में पौरव-वर्मन शासकों में से अग्निवर्मन के नाम के आगे— श्री —प्रयुक्त मिलता है जबकि अन्य शासकों के नाम के आगे यह अनुपस्थित है। 'श्री' का प्रयोग सम्भवतः इस बात को दर्शाता है कि इस वंश के शासकों में अग्निवर्मन का नाम महत्वपूर्ण है। इस संबंध में यदि तत्कालीन भारतीय इतिहास का विश्लेषण किया जाय तो पता चलता है कि स्कंधगुप्त (गुप्त संवत् 136–155 या 455 ईस्वी— 467 ईस्वी) के पश्चात् गुप्त साम्राज्य पतनोन्मुख हो रहा था। गुप्ते ने तालेश्वर पत्रों में लगी मुद्रा की तिथि चौथी सदी ईस्वी के उत्तरार्द्ध में निश्चित की है इस आधार पर यदि हम इस वंश के दो शासकों, विष्णुवर्मन और वृषवर्मन को स्कंधगुप्त और उसके पूर्वगामी शासकों के काल में रखें तो माना जा सकता है कि समुद्रगुप्त के समय में गुप्त साम्राज्य के करद और आधीनता स्वीकार करने के उपरान्त से अब तक स्थानीय राज्य वैधानिक रूप से परतंत्र ही रहा था, लेकिन बाद में गुप्त साम्राज्य की पतनोन्मुख स्थिति का लाभ उठाकर अग्निवर्मन ने सम्भवतः परतंत्रता का जुआ उतार फेंका और पौरव-वर्मन राज्य की वैधानिक स्वतंत्रता स्थापित की। सम्भवतः इसी महत्वपूर्ण कार्य को प्रदर्शित करने के लिए उसके नाम के आगे 'श्री' लगाकर उसे पौरव-वर्मन शासकों में अतिरिक्त सम्मान दिया गया। यदि यह साम्य भविष्य में अन्य तथ्यों के प्रकाश में सही साबित ठहरता है तो इससे स्थानीय इतिहास को एक नवीन दिशा मिल सकती है।

पौरव-वर्मनों का शासन-प्रबन्ध सुसंगठित रहा होगा क्योंकि उनके ताम्रपत्रों में हमें शासन-कार्य का निर्वहन करने वाले पदाधिकारियों/कर्मचारियों की एक विस्तृत सूची मिलती है। यद्यपि अभिलेखों में केवल पदनामों का उल्लेख आया है तथापि अन्य समसामयिक सन्दर्भों के आधार पर उनका कार्य निश्चित किया जा सकता है। तालेश्वर अभिलेखों के आधार पर पौरव-वर्मन शासन की प्रकृति जानने का प्रयास भी किया गया है। के.पी. नौटियाल तालेश्वर पत्रों का विश्लेषण करते हुये पौरव-वर्मन शासन का प्रेरणा स्रोत गुप्त शासन का बतलाते हैं। नौटियाल के विश्लेषण का आधार मुख्यतः तालेश्वर पत्रों में आये कुछ ऐसे पदाधिकारियों का उल्लेख है जो गुप्तकालीन अभिलेखों में भी मिलते हैं, वस्तुतः गुप्तोत्तर काल में उत्तर भारत में स्थापित होने वाले अनेक राज्यों द्वारा जारी अभिलेखों में इन पदाधिकारियों का उल्लेख मिल जाता है, इसका तात्पर्य यह नहीं है कि इन सभी राज्यों ने अपने शासन प्रबन्ध में गुप्त-शासन से प्रेरणा ली थी वरन् आवश्यकता और परिस्थिति के अनुसार इन राज्यों ने विभिन्न पदों का सृजन किया था। इस प्रकार के प्रभाव की व्याख्या एम.पी.जोशी, 'पीअर पौलिटी इण्टरैक्शन' के आधार पर करते हुए बताते हैं, कि— प्रत्येक प्रभुत्व सम्पन्न राजनैतिक संगठन अपने स्वतंत्र अस्तित्व को बनाये रखने के लिए समानान्तर राजनीतिक क्रिया-कलाप करते रहते हैं और संगठन/संस्था बनाते रहते हैं। भारतीय इतिहास के विभिन्न चरणों में विभिन्न राज्यों द्वारा बनाये गये संगठन इसी आधार पर मिलते हैं। अतः उत्तराखण्ड के इतिहास के विभिन्न चरणों में विभिन्न राज्यों द्वारा इसी प्रकार के समानान्तर संगठन बनाने की कल्पना की जा सकती है।

1.3.2 पौरव-वर्मन शासकों के राजत्व की वैधता

जैसा कि बताया गया है कि समुद्रगुप्त के समय में गुप्त साम्राज्य के करद और आधीनता स्वीकार करने के उपरान्त से अब तक यह राज्य वैधानिक रूप से परतंत्र ही रहा था, लेकिन बाद में गुप्त साम्राज्य की पतनोन्मुख स्थिति का लाभ उठाकर अग्निवर्मन ने सम्भवतः परतंत्रता का जुआ उतार फेंका और पौरव-वर्मन राज्य की वैधानिक स्वतंत्रता स्थापित की। हमारे पास इस वंश के शासन की जानकारी के इन दो ताम्रपत्रों के अलावा अन्य स्रोत नहीं हैं, इन ताम्रपत्रों से जो सूचनाएँ मिलती हैं उनके आधार पर कहा जा सकता है कि पौरव-वर्मन राज्य का क्षेत्र एक विशाल दायरे में फैला था, इसके शासक प्रभूत शक्तियों का उपभोग करते थे। हम जानते हैं कि मध्ययुग में धर्म का अत्यधिक प्रभाव था और तालेश्वर ताम्रपत्रों में महासत्रपति के साथ ही 'देवद्रोण्याधिकृत' पद भी उल्लिखित मिलता है, प्रतीत होता है कि ये दोनों पद एक ही व्यक्ति के पास थे, जो देव पूजा का प्रधान होने के नाते उत्सव, यात्रा-व्यवस्था, मन्दिरों का संरक्षण, अभिषेक, सम्मार्जन, बलि, चरु, सत्र बनाये रखने के लिए राजा से प्रार्थना करता था और सत्रपति होने के नाते मन्दिरों का संरक्षण एवं उनकी भूमि का प्रबंध भी करता था। तालेश्वर ताम्रपत्र अभिलेखों में पौरव-वर्मन शासकों के राज्य का नाम 'पर्वताकर राज्य' बतलाया गया है, जो स्पष्टतः उत्तराखण्ड के पर्वतीय क्षेत्रों का ही परिचायक प्रतीत होता है, संभव है कि हिमाचल के भू-भागों तक भी यह राज्य विस्तृत हो, हाथी एवं ऊँट की सेना उनका मैदानी क्षेत्रों में प्रभाव को दर्शाता है। स्पष्ट है कि पौरव-वर्मन शासकों ने अपनी सत्ता एक विशाल क्षेत्र में स्थापित की थी। पौरव-वर्मन शासकों की उपाधि 'महाराजाधिराज' अनेक छोटे राजाओं के शासक के अर्थ में उनकी शक्ति की परिचायक है। उन्होंने अपने शासन तंत्र में गुप्त शासन की भांति ही विशाल संख्या में पदाधिकारियों की नियुक्ति की थी। हाथी, घोड़े, ऊँट और पदातियों की विशाल सेना से स्पष्ट है कि पौरव-वर्मन राजत्व की वैधता की प्रमुख शक्ति, सैन्य शक्ति ही थी। पौरव-वर्मन शासकों ने राजत्व की वैधता के लिए तत्कालीन धर्मभीरु समाज के समक्ष धर्म का सहारा भी लिया होगा।

स्वमूल्यांकित प्रश्न

1. तालेश्वर ताम्रपत्रों में पौरव-वर्मन राज्य का क्या नाम बताया गया है?
2. पौरव-वर्मन शासकों ने अपने शासन की प्रेरणा किन शासकों के शासन से ली थी?
3. पौरव-वर्मन शासन में देव पूजा के प्रधान की पदवी क्या थी?

1.4 कत्यूरी राजवंश

पाण्डुकेश्वर अभिलेख कत्यूरी राजवंश के इतिहास की जानकारी के लिए प्रमुख स्रोत के रूप में प्रतिष्ठित हैं। ये अभिलेख कार्तिकेयपुर (ललितशूरदेव और पद्मटदेव के ताम्रपत्र) और सुभिक्षपुर (सुभिक्षराजदेव का ताम्रपत्र) से जारी किये गये हैं। विद्वानों ने कार्तिकेयपुर की निश्चित पहचान बैजनाथ (कत्यूर घाटी) से की है और सुभिक्षपुर को भी विद्वानों ने कार्तिकेयपुर के समीप स्थित या अन्य मत में कार्तिकेयपुर का ही अपर नाम माना है। वर्तमान तक ज्ञात साक्ष्यों के आधार पर सातवीं सदी ईस्वी के उत्तरार्द्ध से ग्यारहवीं सदी ईस्वी के मध्य शासन करने वाले कत्यूरी शासकों के छह घरानों की जानकारी है, इन छह घरानों में से, दो घरानों— निम्बरदेव तथा सलोणादित्य— के घरानों की जानकारी पाण्डुकेश्वर अभिलेखों में मिलती है, निम्बरदेव के घराने का उल्लेख बागेश्वर, भूदेव देव के अभिलेख में भी आया है।

कार्तिकेयपुर राजवंश में राजपरिवार से सम्बद्ध पदनामों के अन्तर्गत, महाराजाधिराज, महाराज, राजा, नृपति, नरेन्द्र, क्षितीश, राज्ञी जैसी उद्बोधन मिलते हैं। राजा के लिए परमद्वारक महाराजाधिराज परमेश्वर तथा रानी के लिए 'राज्ञी महादेवी' उपाधियों का प्रयोग मिलता है। इन अभिलेखों में राजाओं के साथ उनकी रानियों के नाम भी मिलते हैं। पाण्डुकेश्वर ताम्रपत्रों में राजाओं के लिए परममाहेश्वर, परमब्रह्मण्य, परमवैष्णव, धराधरेन्द्रकृतयुगधर्मावतार, कलिकलुषमातंगसूदन, समस्तारातिचक्रप्रमर्दन जैसे विरुदों का प्रयोग मिलता है। ये विरुद जहाँ कत्यूरी शासकों की विभिन्न सम्प्रदायों में आस्था के परिचायक हैं, वहीं कत्यूरी शासकों में दैवत्व के गुणों को आरोपित करने की समसामयिक भारतीय परम्परा को भी बतलाते हैं।

पाण्डुकेश्वर अभिलेखों में 'राजपुत्र' और 'राजन्यक' पदों का उल्लेख आया है। राजपुत्र का शाब्दिक अर्थ 'राजा का पुत्र' है। अभिलेखों में संभवतः यह पद राजा के उस पुत्र के लिए प्रयुक्त किया गया है जो शासन-कार्य में राजा का हाथ बंटाता हो, क्योंकि पाण्डुकेश्वर पत्रों में राजा के आज्ञानुवर्ती अधिकारियों में राजपुत्र को भी सम्मिलित किया गया है। प्राचीन भारत में 'राजन्यक' किसी राज्य के क्षत्रिय उत्तराधिकारी थे जबकि सामान्य क्षत्रियों के वंशज 'राजन्' द्वारा उद्बोधित किये जाते थे। 'राजन्यक' को 'राजकुमार' भी माना जाता है। बेनीप्रसाद बंगाल के पाल अभिलेखों के अनुकरण पर ही पाण्डुकेश्वर पत्रों में 'राजन्यक' को प्रयुक्त मानते हैं। पाण्डुकेश्वर अभिलेखों में राजन्यक का राजपुत्र से पहले उल्लेख आना भी संभवतः उसकी महत्वपूर्ण स्थिति का द्योतक है। हमें विशाल संख्या में पदाधिकारियों की जानकारी मिलती है, ब्रह्मचारी, गौगुलिक, पारिषद जैसे पदनाम भी पाण्डुकेश्वर अभिलेखों में आये हैं, ये पदनाम धर्म से सम्बन्धित प्रतीत होते हैं। इन अभिलेखों में वर्णित पदाधिकारियों की वृहत सूची कत्यूरियों के व्यापक प्रशासनिक संगठन को बतलाती है साथ ही इस सूची से यह भी पता चलता है कि कत्यूरी सम्राटों ने राजनीतिक एवं सार्वजनिक जीवन से सम्बन्धित प्रायः प्रत्येक क्षेत्र में अपना प्रभाव स्थापित कर रखा था। विस्तृत जानकारी के लिए ग्यारहवीं इकाई को देखें।

कत्यूरी प्रशासन में राजा सर्वोच्च था, उसके द्वारा धारण की गयी बड़ी-बड़ी विरुदावलियाँ, जहाँ राजा के सर्वोच्च सत्ताधारी होने का संकेत करती हैं, वहीं कुछ राजाओं की शूर-वीरता एवं विजेता होने की परिचायक भी हैं। कत्यूरी शासक सर्वधर्म समभाव पर आस्था रखते थे, हालांकि भूदेव देव ने स्वयं को परम ब्राह्मण भक्त एवं बुद्ध श्रमण रिपु घोषित किया था। कत्यूरी शासक उदार एवं दानी थे, विभिन्न मन्दिरों को दिये गये दान-पत्र इसके परिचायक हैं। राजा, शासन का केन्द्र बिन्दु होता था। वह न्याय, सेना एवं कार्यकारी शक्तियों का प्रधान था, संभवतः सभी मन्त्रियों, पदाधिकारियों की नियुक्ति एवं विमुक्ति का अधिकार उसी का था। विदेशी राज्यों के साथ सन्धि एवं विग्रह का निर्णय वही करता था।

राजा की सहायतार्थ एवं मंत्रणार्थ, मन्त्री-परिषद रही होगी, जो राजा के प्रति अपने कृत्यों के लिए पूर्णरूपेण उत्तरदायी रही होगी। मन्त्रियों के अधीन एक से अधिक विभागों का उल्लेख भी मिलता है। शासन, अनेक विभागों में विभक्त था, अष्टादशप्रकृत्याधिष्ठानीयन जैसा पद अठारह विभागों के अध्यक्ष की ओर संकेत करता है, विभिन्न मन्त्रियों के कर्तव्य निर्धारित थे इनका उल्लेख ग्यारहवीं इकाई में किया जा चुका है।

1.4.1 कत्यूरी शासकों के राजत्व की वैधता

एम. पी. जोशी का मानना है कि कत्यूरियों का सामाजिक-राजनैतिक संगठन कबीलाई/गणतंत्रात्मक था, इनके अनेक मुखियाजन्य राजनैतिक संगठन थे, इसीलिए हमें कत्यूरी अभिलेखों में छह घरानों का उल्लेख मिलता है। जोशी के अनुसार इनमें सबसे प्राचीन बसंतन देव का घराना था, तत्पश्चात् खर्पर देव और फिर क्रमशः निम्बरदेव, सलोणादित्य, लखनपाल तथा जतबलदेव का घराना था। कत्यूरी साम्राज्य का संस्थापक बसंतनदेव था और संभवतः उसी ने जोशीमठ से अपनी राजधानी कार्तिकेयपुर स्थानान्तरित की थी। कार्तिकेयपुर राजवंश के प्रशासन को एक भारी-भरकम प्रशासन कहा जा सकता है। यह पौरव-वर्मनों की तुलना में कहीं अधिक विस्तृत था। एम. पी. जोशी इसका कारण कत्यूरियों के समय में समाज का अपेक्षाकृत अधिक जटिल और स्तरीकृत होना बतलाते हैं। इसके अलावा कत्यूरियों का पौरव-वर्मनों की तुलना में कहीं अधिक विशाल साम्राज्य भी इसका एक कारण रहा होगा। गुप्तोत्तर काल में समस्त उत्तर भारत में सामन्तवाद तेजी से बढ़ा था, पाण्डुकेश्वर पत्रों में भी ऐसे अनेक पदाधिकारी वर्णित हुये हैं, अतः माना जा सकता है कि कत्यूरी प्रशासन में बढ़ते हुये सामन्तवाद ने भी पदाधिकारियों की संख्या पर्याप्त बढ़ा दी होगी। विभिन्न पदों के अस्तित्व ये यह भी पता चलता है कि कत्यूरी शासकों ने राजनैतिक तथा सार्वजनिक जीवन के प्रायः सभी क्षेत्रों में अपना प्रभाव स्थापित कर रखा था। कत्यूरी प्रशासन की उदात्त नीतियों का पालन सभी घरानों ने विभिन्न कालों में समान रूप से किया, जिसके कारण इस काल में चहुंमुखी विकास संभव हो सका। इस काल के अवशेषों से अनुमान लगाया जा सकता है, कि तत्कालीन जनता ने विभिन्न संसाधनों का उत्पादन अपनी आवश्यकता से अधिक कर राज्य को सुदृढ़ आर्थिक आधार प्रदान किया होगा। इस काल की भव्य झांकी प्रस्तुत करने वाले अनेक साक्ष्य-ताम्रपत्राभिलेख, प्रस्तर अभिलेख, मन्दिर, मूर्तियाँ/प्रतिमाएँ उत्तराखण्ड के विभिन्न स्थलों से प्रकाश में आये हैं। कत्यूरी शासकों में दैवत्व के गुणों को आरोपित करने की समसामयिक भारतीय परम्परा भी मिलती है। कार्तिकेयपुर राजवंश में राजपरिवार से सम्बद्ध पदनामों के अन्तर्गत, महाराजाधिराज, महाराज, राजा, नृपति, नरेन्द्र, क्षितीश, राज्ञी जैसी उद्बोधन मिलते हैं। राजा के लिए परमह्वारक महाराजाधिराज परमेश्वर तथा रानी के लिए 'राज्ञी महादेवी' उपाधियों का प्रयोग मिलता है। इन अभिलेखों में राजाओं के साथ उनकी रानियों के नाम भी मिलते हैं। पाण्डुकेश्वर ताम्रपत्रों में राजाओं के लिए परममाहेश्वर, परमब्रह्मण्य, परमवैष्णव, धराधरेन्द्रकृतयुगधर्मावतार, कलिकलुषमातंगसूदन, समस्तारातिचक्रप्रमर्दन जैसे

विरुद्धों का प्रयोग मिलता है। ये विरुद्ध जहाँ कत्यूरी शासकों की विभिन्न सम्प्रदायों में आस्था के परिचायक हैं, वहीं कत्यूरी शासकों में दैवत्व के गुणों को आरोपित करने की समसामयिक भारतीय परम्परा को भी बतलाते हैं। स्पष्ट है कि इस प्रकार की उपाधियाँ कत्यूरी शासकों की उच्च प्रतिष्ठा, अपने सामंतों एवं प्रजा के ऊपर मजबूत स्थिति एवं प्रभाव क्षेत्र की द्योतक हैं।

स्वमूल्यांकित प्रश्न

निम्न में स्थान पूर्ति कीजिए

1. सुभिक्षराजदेव का ताम्रपत्र..... से जारी किये गया है।
2. स्वयं को परम ब्राह्मण भक्त एवं बुद्ध श्रमण शत्रु घोषित किया था।
3. अष्टादशप्रकृत्याधिष्ठानीयन जैसा पद अठारह विभागों के की ओर संकेत करता है,

1.5 पंवार एवं चंद राजवंश

इकाई बारह एवं तेरह में आपने पंवार एवं चंद राजवंश के विषय में विस्तार से जानकारी प्राप्त की है। आप जानते हैं कि पंवार सत्ता की पूर्ण शक्तियाँ राजा के हाथों में थी। इसीलिये उसे “बोलन्दा बदरीनाथ” कहा गया था अर्थात् बदरीनाथ के समान राजा, उसका विरोध नमक हरामी माना जाता था। राजा की सुरक्षा हेतु जागीरदार, नक्कारवाद, उपाधि देना, मुहर लगान, अंग-भंग की सजा आदि का अधिकार मुगल शासकों की तरह था। प्रशासनिक व्यवस्था के अन्तर्गत राजा द्वारा ही स्थानीय सामंतों को अधिकार दिये जाते थे।

राजा के मुख्य पदाधिकारियों में वजीर या मुख्तार थे राजा के बाद यही उच्च पद था, इसलिये इसे मुख्यमंत्री भी कह सकते हैं। इसके अलावा दफ्तरी, दीवान, बख्सी, राजगुरु, वकील, लेखवारों, फौजदार, गोलदार, नेगीचारी, थोकदार या जागीरदार, प्रधान जैसे अधिकारियों का उल्लेख भी मिलता है। पंवार शासकों की सैन्य व्यवस्था दो प्रकार की थी। स्थायी सेना जो राजप्रासाद में शांति व्यवस्था हेतु रखी जाती थी तथा थोकदार व गोलदरों की सेना। युद्ध के समय अस्थायी सेना भी संगठित की जाती थी। अस्त्र-शस्त्रों के नाम पर सैनिकों को बन्दूक व तोपों के अतिरिक्त धनुष-बाण, ढाल-तलवार व पत्थर कला (पत्थरों से युद्ध) का प्रशिक्षण भी दिया जाता था। ताम्र पत्रों के माध्यम से राजा द्वारा सैनिकों को ‘रौत’ (जागीर) दी जाती थी जिस पर राजस्व नहीं लिया जाता था।

पंवार शासनकाल में गढ़वाल में मुख्यतः हिन्दू-मुस्लिम समुदाय के अतिरिक्त गुरु रामराय के साथ आये कुछ सिख भी देहरादून में बस गये थे। ईसाई भी यहाँ यात्री के रूप में आते रहे। हिन्दुओं के विभिन्न सम्प्रदाय शैव, वैष्णव, शाक्य व नाथ सम्प्रदाय के लोग मुख्य थे। सीमान्त क्षेत्र तिब्बत सीमा पर बौद्ध धर्म का प्रभाव था। इन सम्प्रदायों के साथ-साथ विभिन्न देवी-देवताओं की पूजा का प्रचलन भी था जैसे प्रकृति पूजा, तथा स्थानीय देवी-देवताओं की पूजा।

यदि पंवार कालीन गढ़वाल का अध्ययन किया जाय तो हम पाते हैं कि कत्यूरी साम्राज्य के पतन के साथ ही उत्तराखण्ड खण्डित हो चुका था एक तरह से यहाँ अराजकता या बहुराजकता का माहौल

व्याप्त हो चुका था अर्थात् राजनीतिक अस्थिरता अपनी चरम पर थी और विभिन्न मांडलिक राजा यहां शासन कर रहे थे। इस राजनीतिक अस्थिरतापूर्ण परिवेश के मध्य गढ़वाल क्षेत्र में स्थापित दर्जनों गढ़ियों या छोटी-छोटी राजनीतिक इकाईयों में चाँदपुर गढ़ी का पवार राजवंश भी एक था जिसका प्रारम्भिक शासक कनकपाल को माना जाता है परन्तु पवार राजवंश का वास्तविक संस्थापक अजयपाल को माना गया है क्योंकि उसने 1500 ई. में राजा बनते ही राजधानी चाँदपुर गढ़ी से देवलगढ़ फिर श्रीनगर स्थापित करने के साथ पवार राज्य का विस्तार ही नहीं किया अपितु दर्जनों स्थानीय गढ़ियों के सामंतों, राजाओं को अपने अधीन कर गढ़वाल को एक सूत्र में बाँधा था। आन्तरिक व्यवस्था में सुधार के साथ बाह्य सम्बन्ध भी सुदृढ़ किये थे।

इसके अतिरिक्त उसने एक सुनिश्चित राजनीति, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक व्यवस्था स्थापित की। जिस व्यवस्था का अनुसरण उसके उत्तराधिकारियों ने भी किया और लगभग 300 वर्षों तक सम्पूर्ण गढ़वाल पर पवार शासकों ने शासन किया। परन्तु पवार शासनकाल के अन्तिम चरण में पहुँचने तक अजयपाल के उत्तराधिकारियों में सत्ता को लेकर जो मतभेद सामने आये उससे वहाँ सत्ता संघर्ष आरम्भ हो गया।

इसी प्रकार इकाई तेरह में आपने देखा कि जिस प्रकार पवार शासकों ने गढ़वाल को संगठित कर एक सूत्र में बाँधा था उसी प्रकार की राजनीतिक अराजकता व बिखराव कुमाऊँ में भी व्याप्त था। उस अस्थिरता के माहौल में लगभग 700 ई0 में तत्कालीन चम्पावत में राजा सोमचंद ने एक माण्डलिक राजा के रूप में चंद राज्य की स्थापना की थी। तमाम राजनीतिक उठापटक के मध्य सोमचंद व उसके उत्तराधिकारियों ने चंद राज्य का विस्तार करने के साथ-साथ कुमाऊँ को एकीकृत किया था। आन्तरिक प्रतिद्वन्द्विता की समाप्ति के साथ डोटी या माल के संकटों से भी कुमाऊँ की रक्षा की, अर्थात् छोटी राजनैतिक इकाईयों को समाप्त कर एक संगठित राज्य स्थापित किया। राज्य विस्तार के बाद उन्हें अपनी प्रारम्भिक राजधानी चम्पावत से शासन प्रबन्ध चलाने में असुविधा महसूस हुई तब केन्द्र में राजधानी बनाने की जरूरत समझी गई तब भीष्म चंद द्वारा लगभग 1512-30 ई0 के मध्य चम्पावत से अल्मोड़ा राजधानी परिवर्तित की गई, साथ ही आन्तरिक सुधार व बाह्य सम्बन्ध भी स्थापित किये गये। चंद वंश की स्थापना व प्रथम शासक सोमचंद से लेकर अन्तिम शासक महेन्द्र चंद तक के शासन काल का वर्णन भी आपने पढ़ा, चंद राजनीतिक व्यवस्था में राजा ही सर्वोपरि था व राज्य की सम्पूर्ण सम्पदा का स्वामी भी राजा ही होता था। राज्य संचालन हेतु अपने मंत्रीमण्डल में राजा द्वारा विभिन्न पद निर्धारित किये जाते थे जैसे बख्शी, सेना, अर्थव्यवस्था, वजीर प्रशासनिक व्यवस्था, लेखिया राज्य स्तर पर और सहायक लेखिया, परगनों में कार्य देखते थे। कलमदान-राजाज्ञा प्रसारित करना, फौजदार अर्थात् किलेदार जो सैन्य व्यवस्था देखता था, पुरोहित एवं धर्माधिकारी हेतु ब्राह्मण नियुक्त होते थे, जिन्हें उच्च श्रेणी का ब्राह्मण माना जाता था, जो तान्त्रिक, ज्योतिष व धार्मिक कर्मकाण्डों की जिम्मेदारी निभाते थे। राजस्व वसूली हेतु सयाणा, बूढ़ा व थोकदार नियुक्त थे इसके अतिरिक्त ये सैन्य सहयोग भी करते थे। कर्मचारियों के वेतन हेतु गाँव या गाँवों के अन्दर कुछ भूमि व कभी-कभी नकद धनराशि 'रोजीना' भी देय थी। उक्त सभी पद राजा के अधीन होते थे।

चंदकाल में भी विभिन्न स्थानों पर मंदिर का निर्माण और जीर्णोद्धार होता रहा , जैसे जागेश्वर, बागेश्वर, वैद्यनाथ, द्वाराहाट, चम्पावत, अल्मोड़ा आदि स्थानों में तथा इन सार्वभौमिक देवी देवताओं के अतिरिक्त स्थानीय देवी देवताओं के मंदिर-मूर्तियाँ भी अनेकों स्थानों पर स्थापित हुए जैसे- गोल्ल, हर,

सैम, कलसिंघ, लाटू, गंगनाथ, नन्दा देवी आदि। चंदों ने स्वयं पर देवत्व का अंश स्थापित करने की कोशिश भी की और नन्दा भगवती को अपनी बहन के रूप में प्रचारित करवाया साथ ही अनेक स्थानीय देवताओं को चंद राजघराने से संबंधित किया।

1.5.1 पंवार एवं चंद शासकों के राजत्व की वैधता

पंवार एवं चंद शासक मोटे तौर पर उत्तराखण्ड के गढ़वाल एवं कुमाऊँ के भू-भागों में लगभग समकालीन रूप से शासन कर रहे थे। दोनों ही राजघराने सैनिक दृष्टि से कमजोर थे और सुरक्षा या आक्रमण के लिए अपने सामंतों की सेनाओं पर आश्रित थे। आर्थिक दृष्टि से भी इन दोनों वंशों को बहुत शक्तिशाली नहीं माना जा सकता है क्योंकि अभी भी ये घराने मौद्रिक अर्थव्यवस्था से कोसों दूर थे, हमें इनके कोई सिक्के नहीं मिलते हैं। वस्तुतः दोनों ही वंशों के इतिहास में अगर नजर डालें तो यह स्पष्ट है कि कत्यूरियों के उपरांत अराजकता या बहुराजकता का माहौल व्याप्त हो चुका था अर्थात् राजनीतिक अस्थिरता अपने चरम सीमा पर थी और अन्य समकालीन माण्डलिक शासकों को हराकर पंवार एवं चंद शासकों ने अपने-अपने क्षेत्रों पर वर्चस्व जमाया और फिर प्रायः संपूर्ण शासन काल में ये अपने-अपने सामंतों पर निरंतर प्रभाव स्थापित करते हुए ही दिखाई देते हैं, हाँलाकि अपने अंतिम काल में ये ऐसा करने में असफल रहे थे और सत्ता पर असली नियंत्रण शक्तिशाली सामंतों के हाथ में आ गया था। पंवार एवं चंद शासकों ने क्रमशः गढ़वाल एवं कुमाऊँ क्षेत्र में शासन किया था। यहां यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि दोनों वंशों के कुछ ही शासक अपने-अपने क्षेत्र के संपूर्ण भाग में शासन कर पाये थे अन्यथा छोटे-छोटे मांडलिक शासक निरंतर इनकी शक्ति को चुनौती देते रहते थे और पंवारों का संपूर्ण गढ़वाल क्षेत्र और चंदों का संपूर्ण कुमाऊँ क्षेत्र में सत्ता स्थापित करना कुछ ही अवसरों पर संभव हो पाया था।

स्वमूल्यांकित प्रश्न

निम्न में स्थान पूर्ति कीजिए

1. चाँदपुर गढ़ी के पंवार राजवंश का प्रारम्भिक शासक को माना जाता है।
2. चंद वंश का प्रथम शासक को माना जाता है।
3. चंदों ने स्वयं पर देवत्व का अंश स्थापित करने की कोशिश भी की और को अपनी बहन के रूप में प्रचारित करवाया।

1.6 सारांश

इस इकाई में कुछ तकनीकी शब्दों को, जैसे— मध्यकालीन उत्तराखण्ड, राजत्व तथा वैधता को समझाया गया है। राजत्व शब्द महत्वपूर्ण है। अब आप जानते हैं कि राजत्व के अंतर्गत राजा द्वारा शासन, राजा या शासक की स्थिति, शक्ति, राज्य-क्षेत्र, प्रभाव क्षेत्र, ओहदा, प्रतिष्ठा जैसी बातें सम्मिलित रहती हैं। वैधता का सामान्य अर्थ औचित्य है। मध्यकाल में उत्तराखण्ड के भू-भागों में शासन करने वाले पौरव-वर्मन, कत्यूरी, पंवार तथा चंद शासन काल में राजत्व की वैधता को शीर्षकवार समझाया गया है।

1.7 तकनीकी शब्दावली

वृषताप शासन — बैल की आकृतियुक्त ताम्रपत्र

ताम्रशासन — ताम्रपत्र

धर्मभीरु — धर्म से डरने वाला

विरुद — उपाधि

बोलन्दा बदरीनाथ — बदरीनाथ के समान राजा

1.8 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

इकाई 1.3 के स्वमूल्यांकित प्रश्न 1 का उत्तर— पर्वताकर राज्य

इकाई 1.3 के स्वमूल्यांकित प्रश्न 2 का उत्तर— गुप्त शासन

इकाई 1.3 के स्वमूल्यांकित प्रश्न 3 का उत्तर— देवद्रोण्याधिकृत

इकाई 1.4 के स्वमूल्यांकित प्रश्न 1 का उत्तर — सुभिक्षपुर

इकाई 1.4 के स्वमूल्यांकित प्रश्न 2 का उत्तर — भूदेव देव ने

इकाई 1.4 के स्वमूल्यांकित प्रश्न 3 का उत्तर — अध्यक्ष

इकाई 1.5 के स्वमूल्यांकित प्रश्न 1 का उत्तर — कनकपाल

इकाई 1.5 के स्वमूल्यांकित प्रश्न 2 का उत्तर — सोमचंद

इकाई 1.5 के स्वमूल्यांकित प्रश्न 3 का उत्तर — नन्दा भगवती

1.9 संदर्भ ग्रंथसूची

कठोच, यशवन्त सिंह(1981) : 'मध्यहिमालय का पुरातत्त्व' रोहिताश्व प्रिंट्स, लखनऊ।

डबराल, शिवप्रसाद(1965) : 'उत्तराखण्ड का इतिहास', बीरगाथा प्रकाशन, दोगडा।

रतूड़ी, हरिकृष्ण(1980) : 'गढ़वाल का इतिहास', द्वितीय संस्करण, भागीरथी प्रकाशन, टिहरी गढ़वाल।

शंतन सिंह नेगी, 1988: मध्य हिमालय का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, वाणी प्रकाशन दिल्ली।

मदन मोहन जोशी, 2015 : पौरव-वर्मन राजवंश, उत्तराखण्ड का इतिहास, प्रका. उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी।

मदन मोहन जोशी, 2015 : कार्तिकेयपुर राजवंश, उत्तराखण्ड का इतिहास, प्रका. उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी।

हीरा सिंह भाकुनी, 2015 : चंदकालीन कुमाऊँ, उत्तराखण्ड का इतिहास, प्रका. उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी।

हीरा सिंह भाकुनी, 2015 : पंवारकालीन गढ़वाल, उत्तराखण्ड का इतिहास, प्रका. उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी।

Gupte, Y.R. (1915-16) : Two Taleswar Copper Plates, Epigraphia Indica, XIII : 109-21.

Thaplyal, K.K. (1972) : Studies in Ancient Indian Seals, Akhila Bhartiya Sanskrit Parishad, Lucknow.

Atkinson, E.T., 1882; 1884; 1886 : Gazetteer of the Himalayan Districts of The North-Western Provinces of India, Vol. I (1882); II (1884) & III (1886), N.W. Provinces and Oudh

- Press, Allahabad, Reprinted 1973, under the Title, Himalayan Gazetteer, Cosmo, New Delhi.
- Joshi, M.P.1989 : : Morphogenesis of Kunindas (circa 200 B.C. -- A.D. 300): A Numismatic Overview. Shree Almora Book Depot, Almora.
- Joshi, M.P.1990 : :Uttaranchal (Kumaon-Garhwal) Himalaya: An Essay in Historical Anthropology. Shree Almora Book Depot, Almora
- Powell Price, J.C. 1945 : : Kunindas and Katyura, Journal of the U.P. Historical Society, XVIII :213-23.
- Prinsep, James, 1838 : :Ancient Inscriptions No.IV, Journal of the Asiatic Society of Bengal VII: 1056-58 (text), 1058-60 (translation by Saroda Prasad).
- Sircar, D.C. 1955-56 : :Three Plates from Pandukesvar, Epigraphia Indica, XXX:277-98

1.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

- 1— डबराल, शिवप्रसाद, 1965: उत्तराखण्ड का इतिहास, बीरगाथा प्रकाशन, दोगडा ।
- 2— रतूड़ी, हरिकृष्ण, 1980: गढ़वाल का इतिहास, भागीरथी प्रकाशन, टिहरी गढ़वाल, द्वितीय संस्करण ।
- 3— शंतन सिंह नेगी, 1988: मध्य हिमालय का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, वाणी प्रकाशन दिल्ली ।

1.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. पौरव-वर्मन शासकों के राजत्व की वैधता को समझाइये।
2. अपने शब्दों में मध्यकालीन उत्तराखण्ड में राजत्व की वैधता के स्रोतों को समझाइये।

इकाई दो

मध्यकालीन उत्तराखंड में राज्य निर्माण की प्रक्रिया

- 2.1 प्रस्तावना
- 2.2 उद्देश्य
- 2.3 राज्य का उदय
- 2.4 कत्यूरी राजवंश
- 2.5 चंदवंश
 - 2.5.1 चंपावत काल
- 2.6 पंवारवंश
- 2.7 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर
- 2.8 संदर्भ ग्रंथ सूची
- 2.9 निबंधात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

उत्तराखंड की प्राचीन गाथाएं और कथाएं तो तब से शुरू हो जाती हैं जब मनुष्य का जन्म इस धरती पर हुआ था। लोक विश्वासों में, पुस्तकों में, वेद और पुराणों में, रामायण और महाभारत में इस भूमि से संबंधित गाथाएं पढ़ने को मिलती हैं। उस काल से संबंधित स्थान, पर्वत-नदियां, गोंव-गुफाएं, आज भी उस युग की यादगार के रूप में विद्यमान हैं। ढूढ़ने –पढ़ने से बहुत सी कथा और कहानियों का पता चलता है।

कालसी के निकट यमुना नदी में मिले पुरातात्विक अवशेषों से पता चलता है कि प्रागैतिहासिक काल में भी उत्तराखंड में मानव का अस्तित्व था। इसी तरह यहां मिले लगभग 68 शैलाश्रयों के चित्रों से भी पता चलता है कि यहां बहुत पहले से मानव का अस्तित्व रहा है। अल्मोड़ा जिले में स्थित लखुउड़्यार तथा चमोली जिले में स्थित गोरख्याउड़्यार ऐसे महत्वपूर्ण शैलाश्रय कहे जा सकते हैं।

थापली (अलकनंदा घाटी), पुरोला (यमुना घाटी) और काशीपुर के कुछ जगहों से मिले चित्रित धूसर मृदभांडों से पता चलता है कि यहां भी नदी घाटी सभ्यता फली-फूली थी और इन सभ्यताओं ने यहां के राज्य और संस्कृति निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान दिया होगा। जोशीमठ के पास मलारी, भिकियासैण आदि जगहों से मिले महापाषाण कालीन शवाधानों गुफाचित्रों, दीप के आकार के कप मार्क्स, भूमिगत कब्रों, हड्डियों, मृदभांडों आदि से भी यहां मानव के पुरातन आवागमन के संकेत मिलते हैं।

महाभारत से पता चलता है कि उस काल में उत्तराखंड में तंगण, कोल, किरात, पुलिंद, हूण, खस आदि जातियों का आधिक्य था। पुरातात्विक अवशेषों के आधार पर ऐतिहासिक काल पर नजर डालें तो पता चलता है कि कोटद्वार से 13 कि०मी० दूर मोरध्वज, पांडुवाला, काशीपुर आदि जगहों पर राज्य और संस्कृति निर्माण का केन्द्र रहा होगा। यहां मिले कुणिन्दों और यौद्धेयों के सिक्कों से पता चलता है कि उत्तराखंड के बहुत बड़े भू-भाग पर इनका शासन रहा होगा। मुनीकीरेती (ऋषिकेश) से मिले हुविष्क के 44 सिक्कों (106–138 ईस्वी) से भी पता चलता है कि कुषाणों ने भी यहां राज्य निर्माण प्रक्रिया में योगदान दिया था। कुषाणों के पतनकाल में गोविषाण (काशीपुर), कालसी और लाखामंडल(चकाराता) में कुछ राजवंश उभरकर आये। कुणिन्द भी किसी न किसी रूप में शासन करते रहे। इस काल में उत्तराखंड के इतिहास की सबसे महत्वपूर्ण घटना 'कर्तृपुर राज्य' का उदय था। इतिहासकारों का मत है कि इस राज्य की स्थापना कुणिन्दों ने की थी। इस राज्य में उत्तराखंड, हिमाचल प्रदेश और रोहिलखंड के उत्तरी क्षेत्र सम्मिलित थे।

2.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप अग्रांकित जानकारी प्राप्त कर सकेंगे—

- ❖ कत्यूरी राज्य निर्माण की प्रक्रिया
- ❖ पंवारवंश राज्य निर्माण की प्रक्रिया
- ❖ चंदवंश निर्माण की प्रक्रिया

2.3 राज्य का उदय

उत्तराखंड के राजवंशों का इतिहास हमें सातवीं शताब्दी ईसवी के बाद से मिलता है। इस दौरान यहां भिलंग का राज्य, चांदपुरगढ़ का राज्य, कत्यूरी राजवंश और चंदों का राज्य आदि प्रमुख शक्तियां थीं।

इतिहासकार इस बात को स्वीकार करते हैं कि चौथी शताब्दी ईसवी तक यहां यौद्धेयों का शासन रहा और इनका अंत गुप्त साम्राज्य के उदय के साथ हुआ। इसके बाद यहां मौखरी, नाग और पौरव-वर्मन, यादव आदि छोटे राजवंशों द्वारा राज्य करने की बात इतिहासकार स्वीकार करते हैं। उत्तराखंड की अनेक जगहों से मिली उदीच्य वेषधारी (कोट, बूटधारी) सूर्य की प्रतिमाओं से सिद्ध होता है कि यहां शकों का भी शासन रहा होगा, क्योंकि शक सूर्य उपासक थे।

गोपेश्वर, बाराहाट के त्रिशूल अभिलेखों से पता चलता है कि 5 वीं शती के उत्तरार्ध में नागों ने कर्तृपुर के कुणिन्द राजवंश की सत्ता समाप्त कर उत्तराखंड पर अपना अधिकार जमाया। तब पश्चिम में यमुना की उपत्यका में यादववंशी सेनवर्मा का शासन था। ऐसा माना जाता है कि छठी शती के उत्तरार्ध में कन्नौज के मौखरी राजवंश ने नागों की सत्ता समाप्त कर उत्तराखंड पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया। अंतिम मौखरी नरेश गृहवर्मा की हत्या हो जाने के बाद मौखरी राज्य उनके बहनोई हर्षवर्धन के अधिकार में चला गया और इस प्रकार उत्तराखंड भी उसके राज्य का अंग बन गया। हर्षवर्धन की मृत्यु के बाद उत्तराखंड का इतिहास कुछ अस्पष्ट सा है। इस विघटनकाल में उत्तराखंड में अनेक छोटे-बड़े राज्यों की भरमार हो गयी। इन ऐतिहासिक परिस्थितियों में यहां एक नये 'कार्तिकेयपुर राजवंश' का उदय हुआ।

स्वमूल्यांकित प्रश्न —1

1. उत्तराखंड के दो महत्वपूर्ण शैलाश्रयों (rock shelter) के नाम बताइये?
2. उत्तराखंड में चित्रित धूसर मृदभांड कहां मिले हैं जिनसे पता चलता है कि यहां की नदी घाटी सभ्यताओं ने उदय लिया ?
3. महाभारत से उत्तराखंड की कौन सी आदिम जातियों का पता चलता है?
4. कुषाण शासक हुविष्क के सिक्के कहां से प्राप्त हुए हैं?

2.4 कत्यूरी राजवंश

उत्तराखंड का प्रथम ऐतिहासिक राजवंश कत्यूरी माना जाता है। पुरातात्विक अवशेषों, मंदिरों, शिलालेखों आदि से इस राजवंश के बारे में जानकारी मिलती है। राहुल सांकृत्यायन का मानना है कि कत्यूरी राजवंश पहला ऐतिहासिक राजवंश था जिसने उत्तराखंड में राज कर रही छोटी-छोटी ठकुराइयों को किन्ही तरीकों से विजित कर या अपने राज्य में विलीन कर सम्पूर्ण उत्तराखंड पर राज किया। कत्यूरियों के संबंध में निम्न अभिलेखों के माध्यम से जानकारी मिलती है।

- वासुदेव मंदिर अभिलेख, जोशीमठ
- त्रिभुवन राजदेव का शिलालेख, बागेश्वर
- भूदेव का बागेश्वर शिलालेख
- ललितसूरदेव का पांडुकेश्वर तामपत्र
- ललितसूरदेव का कंडारा तामपत्र
- सुभिक्षराजदेव का पांडुकेश्वर तामपत्र
- पद्मदेव का पांडुकेश्वर तामपत्र

कत्यूरी राजाओं की राजधानी जब पहले जोशीमठ में, बाद को अल्मोड़ा की कत्यूर घाटी में वैजनाथ अर्थात् कार्तिकेयपुर में थी, तो उस समय कहा जाता है कि उनका राज्य विस्तार सिविकम से लेकर काबुल तक था। इसके वंशजों ने 700 ई० से लेकर 1050 ई० तक उत्तराखंड के विषाल भूभाग पर शासन किया। निम्बर, इष्टंग, ललितसूरदेव, भूदेव, सलोनादित्य, इच्छतदेव, देसटदेव, पद्मदेव, सुभिक्षराजदेव आदि इस राजवंश के प्रतापी राजा हुए, जिन्होंने उत्तराखंड के छोटे-छोटे राज्यों को अधिगृहित कर एक विशाल उत्तराखंड राज्य का निर्माण किया। हालांकि कत्यूरी शासन काल का क्रमबद्ध इतिहास उपलब्ध नहीं है परंतु इस बात पर इतिहासकार एकमत हैं कि कत्यूरियों ने अखिल उत्तराखंडी राज्य का निर्माण किया था।

इस दौर में यहां कला-कौशल की भी विशेष उन्नति हुयी। इनके राज्यकाल में कई मंदिरों, मूर्तियों गौर कलात्मक भवनों का निर्माण हुआ। आदिबदरी, सिमली, जोशीमठ, बाड़हाट, लाखामंडल, जागेश्वर, बागेश्वर और बैजनाथ उत्तराखंड में देवी-देवताओं की मूर्तियां बनाने के केन्द्र थे। कत्यूरी शासन में वृहत् राज्य निर्माण के साथ ही ज्योतिष, आयुर्वेद, संस्कृत, तंत्र-मंत्र और साहित्य का काफी प्रचार हुआ। कत्यूरी शैली के मंदिर उस समय की महान देन हैं।

सुभिक्षराजदेव की मृत्यु के बाद धर्मदेव और वीरदेव कमजोर शासक सिद्ध हुए। वीरदेव की मृत्यु के बाद गौरवशाली कत्यूरी साम्राज्य उसके परिवार के अनेक धड़ों और ठकुराइयों में बंट गया। ये छोटे राज्य डोटी,

अस्कोट, बारामंडल, द्वाराहाट और लखनपुर थे। गढ़वाल में अनेक गढ़ों के रक्षक स्वयं राज बन गये। कत्यूरियों के बारे में मौखिक परंपरा में प्रचलित लोकगाथाओं, लोकगीतों, लोककथाओं, लोकोक्तियों आदि के माध्यम से भी जानकारी मिलती है।

इस तरह हम देखते हैं कि उत्तराखंड एक बार फिर न केवल बहुअराजकता के घेरे में आ गया बल्कि उस पर बाहरी आक्रमण भी होने लगे। पश्चिमी नेपाल नरेश अशोकचल्ल ने 1191 ई० में उत्तराखंड पर धावा बोला और उसके अधिकांश भूभाग पर अधिकार कर लिया। तदन्तर नेपाली आक्रांता क्राचलदेव ने भी 1223 में कुमाऊँ पर अधिकार किया, यद्यपि उसकी सत्ता भी अधिक समय तक नहीं रही।

यह एक उल्लेखनीय घटना है कि कत्यूरी शासन के सूर्यास्त तथा गोरखा राज्य से पूर्व तक उत्तराखंड में दो भिन्न-भिन्न राजवंशों का शासन रहा। बहुअराजकता के उस दौर में कुमाऊँ में चंदवंश तथा गढ़वाल में पंवारवंश ने अपने क्षेत्र की छोटी-छोटी ठकुराइयों को विजित कर अपने-अपने राज्यों का निर्माण और सशक्तिकरण किया। मौखिक इतिहास के अनुसार कुमाऊँ में चंदवंश (सन् 700 ई०) तथा गढ़वाल में पंवारवंश (सन् 888 ई०) के संस्थापक लगभग एक जैसी परिस्थितियों में कुमाऊँ तथा गढ़वाल के प्रशासक बने।

स्वमूल्यांकित प्रश्न-2

1. शक किस देवता के उपासक थे?
2. किन अभिलेखों से पता चलता है कि 5 वीं शती के उत्तरार्ध में नागों ने कर्तृपुर के कुणिन्द राजवंश की सत्ता समाप्त कर उत्तराखंड पर अपना अधिकार जमाया?
3. उत्तराखंड का प्रथम ऐतिहासिक राजवंश कौन माना जाता है?
4. कत्यूरियों की राजधानी कहां थी?

2.5 चंदवंश

लोक मान्यता है कि इलाहाबाद के निकट झूसी या प्रतिष्ठानपुर के कुँवर सोमचंद ज्योतिषियों के कहने पर बदरीनाथ की यात्रा पर आये। उस समय काली कुमाऊँ में सूर्यवंशी राजा ब्रह्मदेव कत्यूरी थे। उन्होंने कुँवर सोमचंद के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उनसे अपनी एकमात्र कन्या का विवाह कर दिया तथा दहेज में पंद्रह बीघा जमीन दान में दी। एटकिंसन ने सोमचंद के आने की तारीख संवत् 953 (सन् 896 ई०) तथा रुद्रदत्त पंत ने संवत् 757 (सन् 700 ई०) दी है। जब सोमचंद ने चंपावत में चंदराजवंश की नींव डाली तो उस समय पूर्वी कुमाऊँ में चम्पावत, सीरा, सोर, अस्कोट, गंगोलीहाट, कत्यूर और पाली आदि छः प्रमुख राज्य थे। यह राज्य राजनीतिक प्रभुत्व के लिए आपस में लड़ते रहते थे। कुछ समय पश्चात् राजा के रूप में सोमचंद ने चम्पावत में एक किला बनवाया तथा कालांतर में सम्पूर्ण काली कुमाऊँ पर आधिपत्य स्थापित कर एक वृहत् राज्य निर्माण की आधारशिला तैयार की। कुछ इतिहासकार सोमचंद को नहीं बल्कि थोहरचंद (सन् 1261-1281 ई०) को चंद साम्राज्य का वास्तविक संस्थापक मानते हैं।

2.5.1 चंपावत काल

एटकिंसन आदि इतिहासकार मानते हैं कि थोहरचंद (1261-1281 ई०) ने मल्लों के पतन के बाद चम्पावत में एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना की। प्र० एम० पी० जोशी के अनुसार थोहरचंद के बाद

कल्याणचंद और त्रिलोकचंद चंपावत की राजगद्दी पर बैठे। इनके बाद अभयचंद (1360–1379 ई०), ज्ञानचंद (1378–1420 ई०), उद्यानचंद, विक्रमचंद (1420–1434 ई०), भारतीचंद (1420–1434 ई०) तथा रतनचंद (1477–1488 ई०) ने यहां शासन किया।

रतनचंद की मृत्यु के पश्चात् कीर्तिचंद (1488–1506 ई०) ने राजसत्ता संभालते ही अनेक सैनिक अभियानों को अंजाम दिया। अपने गुरु नागनाथ के सहयोग से कीर्तिचंद ने डोटी की सेना को परास्त किया। इसके बाद राजा ने चौभैंसी जीती, फिर सालम, फल्दाकोट, उंचाकोट, धनियाकोट पर अधिकार किया। कोटोली, छखाता, कोटा, बारामंडल, कैड़ारौ, बौरारौ व पाल-पछाऊँ पर भी विजय पाई और इन सारे छोटे-छोटे राज्यो को चंद राज्य में शामिल कर लिया गया। गढ़वाल का भी बहुत सा हिस्सा भी सैनिक अभियान के तहत छीन लिया गया और गढ़वाल के राजा को सोना राज्य-कर देने को बाध्य किया गया। इसके बाद प्रतापचंद (1503–1507 ई०), ताराचंद (1517–1533 ई०), मानिकचंद (1533–1542 ई०), कल्याणचंद, पूर्णचंद तथा भीष्मचंद ने शासन किया।

भीष्मचंद (1555–1560) को ज्ञात होने लगा कि चंद राज्य की राजधानी एक कोने में है, वह राजधानी के लिए ठीक स्थान नहीं, राजधानी किसी केन्द्र स्थान में होनी चाहिए! इसलिए राजा भीष्मचंद ने खगमराकोट के पुराने किले का जीर्णोद्धार कर राजधानी स्थापित करने का इरादा किया, वहां पर आलमनगर की नींव भी डाली गयी, परंतु यह प्रयास खस राजा श्रीगजुवाटिंगा ने आक्रमण कर विफल कर दिया।

अल्मोड़ा में चंदों की राजधानी स्थापित करने (सन् 1563 ई०) का श्रेय राजा बालो कल्याणचंद (1560–1568) को जाता है। इस राजा ने गंगोली के मणकोटी राजा तथा दानपुर के खस राजा को परास्त किया तथा उसे अपने साम्राज्य में शामिल कर एक वृहत राज्य का निर्माण करने का प्रयास किया। इसी क्रम में चंदवंश में रुद्रचंद (1568–1597) एक प्रतापी शासक हुए। उनके शासनकाल में चंद राज्य का काफी विस्तार हुआ। राजा रुद्रचंद की वीरता से प्रभावित होकर सम्राट अकबर ने रुद्रचंद को चौरासी माल का फरमान दे दिया और खिल्लत भी दी। चौरासी माल तराई-भाबर को कहते थे। यह चौरासी कोस का टुकड़ा था। तराई-भाबर में बार-बार उपद्रव होते रहते थे। कई बार इसकी छीना-झपटी होती रही, किंतु सबसे प्रथम चंद राजाओं में राजा रुद्रचंद ने इसका पक्का इंतजाम किया। उसने रुद्रपुर नगर बसाया, वहां महल व किला भी बनवाया और जगह-जगह शासक यानी लाट मुकर्रर किये। अपने राज्य विस्तार के तहत रुद्रचंद ने बहुत प्रयासों के बाद सीरा परगने को अपने राज्य में मिलाया और इस विजय के फलस्वरूप जोहार, अस्कोट, दारमा के छोटे-मोटे सरदार रुद्रचंद के अधीन आ गये।

रुद्रचंद के बाद लक्ष्मीचंद (1597–1621), दिलीपचंद, विजयचंद, त्रिमलचंद (1625–1638) तथा बाजबहादुर चंद (1638–1678) शासक हुए। बाजबहादुरचंद भी चंद राज्य का महत्वपूर्ण एवं सफल शासक सिद्ध हुआ। उसके मुगल दरबार से भी अच्छे संबंध रहे तथा उसने अपने शत्रुओं को अपने अधीन किया। उसने तराई में बाजपुर नामक नगर बसाया और उसके समय तराई-भाबर की आमदनी नौ लाख रुपये हो गयी थी। बाजबहादुर चंद ने तिब्बत पर चढ़ाई कर ताकलखाल के किले को भी छीन लिया था। इसके अतिरिक्त उसने गढ़वाल के बधानगढ़ व लोहबागढ़ दोनों पर चढ़ाई की और जूनागढ़ का किला भी छीन लिया। वहां से मय टहलुओं के नंदादेवी को लाए, जिसको इन्होंने मल्ला महल में स्थापित किया। इसके पश्चात् उद्योतचंद, ज्ञानचंद, जगतचंद, देवीचंद, अजीतचंद, कल्याणचंद, दीपचंद, मोहनचंद, प्रद्युम्नचंद,

मोहनचंद, शिवचंद, व महेन्द्रचंद (1788–1790) शासक हुए। 1790 में गोरखों ने कुमाऊँ पर अधिकार कर लिया।

2.6 पंवार वंश

जिस प्रकार और जिन परिस्थितियों में चंदवंश के शासक कुमाऊँ के शासक बने इसी प्रकार गढ़वाल राज्य के संस्थापक कुँवर कनकपाल से संबंधित घटना भी है। ये धार (मालवा) से बदरीनाथ, केदारनाथ दर्शन के लिए आये थे तथा चांदपुरगढ़ी के राजा भानुप्रताप के अतिथि बने। राज ने अपनी एकमात्र कन्या का विवाह कनकपाल के साथ करके अपना राज्य भी उसी को दे दिया। उस समय गढ़वाल में छोटे-छोटे राजाओं व ठाकुरों के 52 गढ़ थे और इन गढ़ों में से सबसे सशक्त गढ़ था चांदपुरगढ़ और उसके राज थे भानुप्रताप।

लोक गाथाओं तथा कुछ इतिहासकारों के अनुसार पंवार या परमार वंश की स्थापना राज कनकपाल ने 888 ई0 में चांदपुरगढ़ी में की थी। आगे चलकर इस वंश के 60 राजाओं ने गढ़वाल पर राज किया। कुछ ने पूरे गढ़वाल पर तो कुछ ने अधूरे पर। परमार या पंवार वंश के प्रारंभिक नरेश कार्तिकेयपुर नरेशों के सामंत रहे।

गढ़वाल का परमार राजवंश एक स्वतंत्र राजनीतिक शक्ति के रूप में 10 वीं–11 वीं शती के आसपास ही स्थापित हो पाया। कनकपाल के पश्चात एक के बाद एक 35 राजा हुए, परंतु उनके संबंध में कोई विशेष जानकारी हमें इतिहास के स्रोतों से नहीं मिलती। इस संबंध में गढ़वाल के 37 वें राजा का विवरण ही विशेष मिलता है और उन्हें गढ़वाल राज्य निर्माण का वास्तविक निर्माता एवं महान इतिहास पुरुष माना जाता है – वे थे अजयपाल।

कनकपाल के लगभग 600 वर्ष गुजर जाने के बाद राजा अजयपाल (1493–1547 ई0) गद्दी पर बैठे। उन्होंने गढ़वाल के लगभग सभी गढ़ों को एकीकृत कर एक राज्य का निर्माण किया। अजयपाल ने चांदपुरगढ़ से अपनी राजधानी पहले देवलगढ़ (1506 से पहले) और फिर श्रीनगर (कदाचित् 1517) में स्थापित की। कहा जाता है कि उनके समय गढ़वाल राज्य का विस्तार 10,857 वर्गमील हो गया।

अजयपाल के बाद पांच राजाओं के संबंध में कुछ विशेष बातें इतिहास में नहीं मिलतीं। पंवारवंश के 43 वें राजा बदभद्रपाल या बलभद्रशाह (1581–1591) को सम्राट अकबर के समय शाह की उपाधि दी गयी थी। फिर तो उनके वंश में 'शाह' नाम जुड़ता गया। आगे चलकर मानशाह (1591–1611 ई0) और महीपतिशाह (1624–1631 ई0) ने अपने राज्य का विस्तार किया। कहा जाता है कि मानशाह ने अपने राज्य का विस्तार हरिद्वार से आगे मंगलौर तक बढ़ा दिया। एक अंग्रेज यात्री विलियम फिंच ने, जो उन दिनों गढ़वाल की यात्रा पर था, लिखा कि मानशाह का राज्य गंगा और यमुना के बीच फैला हुआ था, 300 कोस लंबा और 150 कोस चौड़ा। मानशाह और महीपतिशाह ने तिब्बती हमलों का सफलतापूर्वक सामना किया। तिब्बत के विरुद्ध युद्धों में परमार सेनानायकों माधोसिंह भंडारी और लोदी रिखोला ने असाधारण वीरता का परिचय दिया।

पंवारवंश में गढ़वाल के एक प्रमुख हस्ताक्षर के रूप में पृथ्वीपतिशाह भी जाने जाते हैं। जिन्होंने गढ़वाल राज्य निर्माण और सशक्तिकरण में महत्वपूर्ण योगदान दिया। उन्होंने अपने राज्य की पश्चिमी सीमा को सुरक्षित बनाने के साथ-साथ बढ़ाने की भी सोची। उनके बारे में कहा जाता है कि उन्होंने सतलुज तक

अपने राज्य को बढ़ाया। परंतु बाद में एक संधिपत्र के अनुसार गढ़वाल की सीमा हटकोटी नामक स्थान तक नियत की गयी, जो पावर नदी के दाहिने तट पर है। इसके बाद उनका पुत्र मेदनीशाह और उसके बाद गढ़वाल राज्य की बागडोर राजा फतेहशाह ने संभाली। उसने अपने राज्य विस्तार के उद्देश्य के तहत सिरमौर, पांवटा में गुरु गोविन्द सिंह, सहारनपुर में पुडिरी और गूजरी, नीती घाटी में दापा के राजा से संघर्ष किया। यहां यह महत्वपूर्ण है कि औरंगजेब के साथ फतेहशाह की मित्रता थी। औरंगजेब के सिफारसी पत्र के साथ सिख गुरु रामराय श्रीनगर पहुँचे। फतेहशाह ने तीन गाँव उनको दान में दिये। गुरु का डेरा पड़ जाने के कारण यह स्थान गुरु का डेरा कहलाने लगा और शिवालिक तथा हिमालय की बीच की घाटी यानी कि दून से मिलकर ड्यरादून और आज की राजधानी देहरादून का अस्तित्व सामने आया।

फतेहशाह के दरबार में सम्राट अकबर के नवरत्नों की तरह कला, साहित्य, संगीत आदि से संबंधित नवरत्न भी थे। फतेहशाह का राज्य काल उसकी राज्य सीमा तथा उपलब्धियों के लिए स्वर्णकाल के रूप में वर्णित है। इसके बाद सन् 1804 में गोरखों के हाथों पराजय के बाद परमार नरेश अपना राज्य खो बैठे और कुमाऊँ के राजा तो बहुत पहले यानी कि 1790 में अपने खोखले घमंड और अपनी दुर्बलताओं के कारण अपना राज्य खो चुके थे। यहां यह महत्वपूर्ण है कि अपने राज्य विस्तार या राज्य निर्माण हेतु इन दोनों राजवंशों ने अपनी-अपनी सामर्थ्य, योग्यता, विवेक, लालसा और अपनी कमजोरियों के सानिध्य में मध्यकालीन उत्तराखंड में राज्य निर्माण की प्रक्रिया को अमलीजामा पहनाने का प्रयास किया।

गोरखों ने अपने विशुद्ध राजनीतिक उद्देश्य के तहत उत्तराखंड का ऐसा शोषण किया कि आज भी उनके अत्याचारों की कहानी हमारे पूर्वजों को मौखिक परंपरा में प्राप्त लोकोक्तियों और मुहावरों से हमें आज भी सुनने को मिलती हैं, ऐसे अत्याचारी शासन को कुमाऊँ में 'गोरख्योल' तथा गढ़वाल में 'गोरख्याणी' की संज्ञा दी जाती है। विशुद्ध हिंदू होते हुए भी गोरखाओं के बारे में कहा जाता है कि उन्होंने उत्तराखंड के तथाकथित सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मणों से बेगार करा दी थी। इस संबंध में उनका एक महत्वपूर्ण तर्क था कि —'बामण को खुट पुजिन्या हो, खवर नै पुजिन्या हो' (कि हे ब्राह्मणो तुम्हारे पाँव पूजे जाते हैं, सिर नहीं पूजा जाता, इसलिए तुम्हें अपने सिर पर बोझ तो ढोना ही पड़ेगा, वो भी बगैर पैसे के, जिसे कि बाध्य श्रम या बेगार कहा जाता है।)

वर्ष 1804 में गोरखों के हाथ गढ़वाल नरेश प्रद्युम्नशाह खुड़बुड़ा के मैदान में वीरगति को प्राप्त हुए। गोरखों का गढ़वाल पर अधिकार हो गया तथा कुमाऊँ पर तो पहले ही हो चुका था। गोरखों के अत्याचारी शासन से प्रभावित उत्तराखंड के प्रभावशाली लोगों या समूहों ने अंग्रेजों का स्वागत कर गोरखों के खिलाफ अंग्रेजों की प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सहायता की। अंग्रेजों तथा गोरखों के मध्य हुए युद्ध में अंग्रेजों ने गोरखों से काली नदी के पश्चिम का समस्त प्रदेश जीत लिया। इस तरह 27 अप्रैल 1815 को गढ़वाल-कुमाऊँ पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया और कदाचित संपूर्ण उत्तराखंड राज्य की आधारशिला तब से ही बननी आरंभ हुयी।

स्वमूल्यांकित प्रश्न-3

1. किस राजा की वीरता से प्रभावित होकर सम्राट अकबर ने उसे चौरासी माल का फरमान दे दिया?
2. बाजपुर नामक नगर किस चंद शासक ने बसाया था?
3. गढ़वाल राज्य निर्माण का वास्तविक निर्माता किसे माना जाता है?
4. गोरखों के अत्याचारी शासन को क्या कहा जाता रहा है?

2.7 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

प्रश्नावली-1 के उत्तर

1. लखु उड़्यार, गोरख्या उड़्यार
2. थापली (अलकनंदा घाटी), पुरोला (यमुना घाटी) और काशीपुर के कुछ जगहों से मिले चित्रित धूसर मृदभांडों से पता चलता है कि यहां भी नदी घाटी सभ्यता फली-फूली थी।
3. महाभारत से पता चलता है कि उस काल में उत्तराखंड में तंगण, कोल, किरात, पुलिंद, हूण, खस आदि जातियों का आधिक्य था।
4. मुनीकीरेती (ऋषिकेश) से मिले हुविष्क के 44 सिक्कों (106-138 ईसवी) से भी पता चलता है कि कुषाणों ने भी यहां राज्य निर्माण प्रक्रिया में योगदान दिया था।

प्रश्नावली -2 के उत्तर

1. शक सूर्य के उपासक थे।
2. गोपेश्वर, बाराहाट के त्रिषूल अभिलेखों से पता चलता है कि 5 वीं शती के उत्तरार्ध में नागों ने कर्तृपुर के कुणिन्द राजवंश की सत्ता समाप्त कर उत्तराखंड पर अपना अधिकार जमाया।
3. उत्तराखंड का प्रथम ऐतिहासिक राजवंश कत्यूरी माना जाता है?
4. कत्यूरी राजाओं की राजधानी पहले जोषीमठ में, बाद को अल्मोड़ा की कत्यूर घाटी में बैजनाथ अर्थात् कार्तिकेयपुर में थी।

प्रश्नावली -3 के उत्तर

1. राजा रुद्रचंद की वीरता से प्रभावित होकर सम्राट अकबर ने उसे चौरासी माल का फरमान दे दिया था ?
2. बाजपुर नामक नगर राजा बाजबहादुर चंद ने बसाया था?
3. गढ़वाल राज्य निर्माण का वास्तविक निर्माता अजयपाल को माना जाता है?
4. गोरखों के अत्याचारी शासन को कुमाऊँ में 'गोरख्योल' तथा गढ़वाल में 'गोरख्याणी' की संज्ञा दी जाती है।

2.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. बी0 एम0 खंडूरी, शन्तन सिंह नेगी : 2007: उत्तराखंड ए हिस्टोरिकल प्रोफाइल, डारेक्टर म्यूजियम ऑफ हिमालयन आर्कियोलॉजी, एच0एन0बी0 गढ़वाल वि0वि0 श्रीनगर, गढ़वाल।
2. नवानी/रावत : 2010 :विनसर उत्तराखंड एयर बुक, विनसर पब्लिशिंग कंपनी, देहरादून।
3. सत्यप्रसाद रतूड़ी :1993 : हमारा गढ़वाल, 'सिद्ध' मसूरी।
4. एम0पी0 जोशी, ललिता प्रभा जोषी : 1994 : उत्तरांचल हिमालय: समाज, संस्कृति, इतिहास और पुरातत्व, श्री अल्मोड़ा बुक डिपो, अल्मोड़ा।
5. दिनेशचंद्र बलूनी : 2001: उत्तरांचल : संस्कृति, लोकजीवन, इतिहास एवं पुरातत्व, प्रकाश बुक डिपो, बड़ा बाजार, बरेली।
6. बद्रीदत्त पांडे : 1937 : कुमाऊँ का इतिहास, देशभक्त प्रकाशन, अल्मोड़ा।

7. ई०टी० ए०किंसन :1884 : द हिमालयन गजेटियर खंड 2, 3, कोस्मो पब्लिकेशन, दिल्ली, (पुनर्प्रकाशित 1973)
8. शिव प्रसाद डबराल : उत्तराखंड का इतिहास भाग 1-12, वीरगाथा प्रकाशन, दोगडा।
9. शेखर पाठक :1987: उत्तराखंड में कुली बेगार प्रथा, राधाकृष्ण प्रकाशन लिमि०, नई दिल्ली।
10. हरिकृष्ण रतूड़ी : 1920 :गढ़वाल का इतिहास, गढ़वाली प्रेस, देहरादून।

2.9 निबंधात्मक प्रश्न

1. चंदों के अधीन राज्य निर्माण की प्रक्रिया समझाइये।
- 2- पंवारों के अधीन राज्य निर्माण की प्रक्रिया समझाइये।

उत्तराखण्ड में कृषिकरण, सैन्य व्यवस्था, व्यापार, कर प्रणाली, सामाजिक वर्ग

- 3.1 प्रस्तावना
- 3.2 उद्देश्य
- 3.3 उत्तराखण्ड में कृषिकरण
 - 3.3.1 भू स्वामित्व का स्वरूप
 - 3.3.2 कृषि भूमि के प्रकार
 - 3.3.3 कृषि की पद्धतियाँ
 - 3.3.4 कृषि उपकरण
 - 3.3.5 फसलें व फसल चक्र
- 3.4 सैन्य व्यवस्था
 - 3.4.1 सैनिकों की भर्ती
 - 3.4.2 वेतन
 - 3.4.3 सैनिकों की संख्या
 - 3.4.4 अस्त्र-शस्त्र
 - 3.4.5 कोट/गढ़/गढ़ी
- 3.5 व्यापार
 - 3.5.1 आयात
 - 3.5.2 निर्यात
 - 3.5.3 प्रमुख मण्डियाँ
- 3.6 कर प्रणाली
 - 3.6.1 चन्द-परमार युगीन कर प्रणाली
 - 3.6.2 गोरखा युगीन कर प्रणाली
 - 3.6.3 कर प्रणाली से संबंधित राजकीय सेवक
- 3.7 सामाजिक वर्ग
 - 3.7.1 ब्राह्मण
 - 3.7.2 राजपूत/जिमदार/ क्षत्रिय
 - 3.7.3 वैश्य
 - 3.7.4 भोटांतिक
 - 3.7.5 थाडू
 - 3.7.6 बोक्स
 - 3.7.7 राजी
 - 3.7.9 अन्य समूह
 - 3.7.10 नायक
- 4.0 सारांश
- 5.0 तकनीकी शब्दावली
- 6.0 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 7.0 सहायक संदर्भ ग्रंथ
- 8.0 निबंधात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

कत्यूरी राज्य के अवसान के बाद उत्तराखण्ड में अनेक छोटी-छोटी ठकुराइयों की स्थापना हुई। जिनमें से 14 वीं शताब्दी के दौरान चन्दों के अधीन चम्पावतगढ़ तथा परमारों के अधीन चाँदपुर का उदय धीरे-धीरे एक बड़ी राजनीतिक शक्ति के रूप में हो रहा था। 16 वीं शताब्दी तक इन राजवंशों ने उत्तराखण्ड के एक बड़े भूभाग पर अपना आधिपत्य कायम कर लिया और चन्दों ने कुमाऊँ तथा परमारों ने गढ़वाल के दो पृथक राज्यों की स्थापना की। 18 वीं शताब्दी के अन्त तक इन दोनों ही वंशों का इस अंचल में अपने-अपने क्षेत्र में एकछत्र राज्य रहा। 1816 ई. में सिंगौली की संधि के द्वारा ईस्ट इण्डिया कम्पनी का शासन स्थापित होने तक गोरखों का अधिकार रहा। इस खण्ड में आप इन राज्यों के अन्तर्गत इस क्षेत्र के कृषि, सैन्य व्यवस्था, व्यापार, कर प्रणाली तथा सामाजिक वर्गों के बारे में परिचित होंगे।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको मध्यकालीन उत्तराखण्ड में राजाओं और युद्धों के इतिहास से इतर क्षेत्र के विभिन्न सांस्कृतिक, सामाजिक और आर्थिक पक्षों से अवगत कराना है। इसके अध्ययन से आप तत्कालीन व्यवस्था का वर्तमान से तादात्म्य स्थापित करने में भी सक्षम होंगे।

3.3 उत्तराखण्ड में कृषिकरण

मध्यकालीन उत्तराखण्ड में भूमि राज्य की प्रमुख सम्पत्ति थी। ट्रेल के विवरण से पता चलता है कि राजा का अधिकार उस पर सर्वोपरि था। उसके इस अधिकार को चुनौती नहीं दी जा सकती थी, किन्तु राज्य के अन्तर्गत रहने वाले कृषकों को परम्परागत रूप से कृषि करने का अधिकार था। कृषि राज्य की अर्थव्यवस्था का मुख्य आधार थी। राजा द्वारा भू-व्यवस्था एवं राजस्व संग्रह हेतु राज्य की भूमि विभिन्न अधिकारियों को वृत्ति स्वरूप प्रदान की जाती थी। इन भू-खण्डों में कृषक निर्धारित राजस्व और अन्य देय भू-स्वामी को प्रदान करते थे।

3.3.1 भू-स्वामित्व का स्वरूप

इस समग्र व्यवस्था को ट्रेल ने मिश्रित जमींदारी कहा है। इसमें भू-स्वामी राजा था और कृषक समुदाय मुख्य रूप से क्रमशः थातवान, खायकर, सिरतान एवं खुर्नी या कैनी में विभाजित था। इसके अलावा कृषि श्रमिकों के रूप में हलिया तथा साझी भी होते थे। इनमें थातवान और खायकर ही व्यावहारिक रूप में भू-स्वामित्व से जुड़े थे।

राजा— आप ऊपर खण्ड 5.3 से जान चुके हैं कि राजा का भूमि पर सर्वोच्च अधिकार था।

थातवान— ये प्रमुख रूप से राजा के प्रशासनिक तथा सैनिक अधिकारी थे। राज्य के लिए प्रदत्त इनकी सेवाओं के बदले में राजा द्वारा अनुदान में इन्हें थात दी जाती थी। ट्रेल के अनुसार थात शब्द मैदानी इलाकों के जमींदारी शब्द की भाँति था। प्राप्तकर्ता को थातवान कहा जाता था। थातवान थात के एक तिहाई भाग को खुदकाश्त के अन्तर्गत लेकर खेती कर सकते थे, पर इस अधिकार का प्रयोग करने में

विलम्ब होने पर वे इससे वंचित हो जाते थे। राजा द्वारा यदि राजस्व मुक्ति का आदेश रद्द कर दिया जाता था, तो थातवान को फौजदार आदि के माध्यम से राज्य का राजस्व चुकाना पड़ता था। किन्तु वह प्रायः अपनी थात के खायकरों के लिए थातवान बना रहता था। **खायकर**— थात में एक तिहाई सीर (थातवान की खुदकाशत) भूमि के अतिरिक्त जो भूमि थी, वह वास्तविक उपभोक्ताओं अर्थात् खायकरों के अधिकार में थी और वे ही इसके वास्तविक काशतकार होते थे। बैटन के अनुसार खायकर शब्द खाना (eat) तथा कर (revenue) से बना है। पौ ने लिखा है कि जब तक खायकर राजस्व चुकाता था, तब तक भूमि पर उसका अधिकार बना रहता था। स्टोवेल के अनुसार यदि राजा स्वेच्छा से किसी भी व्यक्ति को किसी भी क्षेत्र के गाँवों को थात के रूप में अनुदान में दे देता था तो उस क्षेत्र के मूल निवासी या वास्तविक काशतकार नये थातवान के अधीनस्थ खायकर बन जाते थे और राजस्व की निर्धारित राशि राजा को न देकर थातवान को देते थे। मध्ययुग में खायकर स्थायी नहीं होते थे। थातवान उनको बेदखल कर सकता था और उनकी संतान को थातवान की इच्छा के बिना खायकरी अधिकार प्राप्त नहीं होता था। खायकरी गाँवों के उदाहरण गढ़वाल के नागपुर परगने में पाए गए जहाँ बर्तवाल, भण्डारी, रावत आदि उच्च जाति के बाद में आए लोगों को संपूर्ण गाँव के कृषि अधिकार दे दिए गए थे, जबकि यहाँ पहले से रहने वाले खशिया लोग इन उच्च जातियों के खायकर हो गए। (एटकिंसन, हिमालयन डिस्ट्रिक्ट्स, खण्ड 3, भाग 2, पृष्ठ 457)

सिरतान— थातवान या खायकर की भूमि पर कृषि करने वाले ऐसे लोग, जिन्हें वे स्वेच्छा से या अस्थायी तौर पर अपनी भूमि में बसाते थे, सिरतान कहलाते थे (पौ)। आवश्यकता पड़ने पर वे सिरतान को हटा सकते थे। सिरतान सिरती या नगद रूप में राजस्व देते थे, जो $1/3$ भाग होता था। पर वे अन्य कोई कर देने को बाध्य न थे।

खुर्नी या कैनी— ये भूमिहीन काशतकार होते थे और इन्हें थातवान द्वारा अपनी खुदकाशत भूमि पर बसाया जाता था। ट्रेल के अनुसार “ चूँकि खुर्नी या कैनी किसी अन्य काशतकार की अपेक्षा अधिक मालगुजारी (अन्य कार्यों सहित) देता था, इसलिए इसमें संदेह नहीं कि उसे कृषि का वंशानुगत अधिकार देना अधिक सुविधाजनक समझा गया। यदि कोई खुर्नी निःसंतान होता था तो उसकी मृत्यु के बाद उसकी भूमि पर थातवान का पुनः अधिकार हो जाता था। कैनी को थातवान के निजी कार्य भी करने पड़ते थे।

हलिया या साझी— हलिया उस संपूर्ण फसल को बोता और काटता था, जितनी एक व्यक्ति की क्षमता होती थी। इसकी स्थिति सामान्य सेवकों की तरह थी। साझी के मालिक द्वारा उसे जुताई, बुवाई और कटाई के लिए भूखण्ड प्रदान किया जाता था। फसल पकने पर उसे एक चौथाई या एक तिहाई हिस्सा मिलता था और शेष भूस्वामी को दे दिया जाता था। साझी अधिकतर भाबर में होते थे।

3.3.2 कृषि भूमि के प्रकार

भारत के अन्य भागों की तरह ही कृषि और पशुचारण उत्तराखण्ड की अर्थव्यवस्था के प्रमुख स्तम्भ रहे हैं। मध्यकालीन उत्तराखण्ड में कृषि भूमि के ऐतिहासिक स्वरूप के बारे में विभिन्न ताम्रपत्रों से जो सूचनाएँ उपलब्ध हैं, उन्हें आप निम्न रूपों में अध्ययन कर समझ पाएंगे।

लेक- (कीर्तिचन्द, धौलपुर ताम्रपत्र, शाके 1427/1505 ई. तथा महारानी कर्णावती का ताम्रपत्र, शाके 1562 ई.)

पहाड़ के शिखर के आस पास के ऐसे क्षेत्र थे, जिनमें कृषि की जा सकती थी।

इजर/इजरान- (कीर्तिचन्द, धौलपुर ताम्रपत्र, शाके 1427/1505 ई. तथा महारानी कर्णावती का ताम्रपत्र, शाके 1562 ई.) यह भूमि ऊँचे नीचे पहाड़ों के डांडों पर तथा बिल्कुल ढालदार स्थानों पर होती है। दूसरे शब्दों में आप इसे इस प्रकार समझ सकते हैं—खेतों के आस पास की ऐसी परती भूमि जो अभी कृषि योग्य न बन पाई हो, लेकिन किसी के स्वामित्व में हो। इस भूमि में कच्चे सीढ़ीदार खेत बने होते हैं और दो वर्ष में एक बार फसल बोई जाती है। यह सिंचित नहीं होती और खेती वर्षा पर निर्भर होती है। अधिकतर गहथ, कोटू, काफरा, मार्सा की फसलें उगाई जाती हैं।

बगड़ — (बाजबहादुरचन्द, बदरीनाथ मन्दिर ताम्रपत्र (बोरारौ), शाके 1564) नदी की तटवर्ती भूमि जो नदी तल के गहरे होते जाने के कारण सिंचाई की सुविधा से वंचित हो गई हो। ऐसी भूमि पर बने खेत अत्यंत उपजाऊ होते हैं।

तलाऊँ- (बाजबहादुरचन्द, बाजबहादुरचन्द, बदरीनाथ मन्दिर ताम्रपत्र (बोरारौ), शाके 1564) सिंचाई के साधनों से युक्त ऐसी भूमि थी, जिसकी मिट्टी काफी उपजाऊ होती है। प्रायः सभी तलाऊँ भूमि नदी या उसकी सहायकों और सदाबहार स्रोतों के निकट होती है। कुछ खेत झरनों या तालाबों के निकट भी पाए जाते हैं।

सेरा और सिमार — (फतेशाह का ताम्रपत्र, शाके 1537/सं.1662) नदी के किनारे की निचली घाटियों में अत्यंत उपजाऊ क्षेत्र, जिनमें धान की उपज बहुत अच्छी होती है। लोकगाथाओं में गवाली का सेरा, जाबली का सेरा, बांसुली का सेरा, तरवाड़ी सेरा आदि सेरों के नाम मिलते हैं (ओकले- गैरोला, हिमालयन फोकलोर)। सिमार कम उपजाऊ होती है और सेरा के ऊँचे स्तर पर पाई जाती है। इसमें सूखे वर्षों में पानी की मात्रा कम होने पर सिंचाई करनी पड़ती है (एस. डी. पन्त, सोशियल इकॉनामी ऑफ द हिमालयन्स)।

उपराऊँ- (ट्रेल, स्टैटिस्टिकल स्केच ऑफ कुमाऊँ) यह भूमि प्रायः उन ऊँचे क्षेत्रों में होती है, जहाँ सिंचाई के कोई साधन नहीं होते और इनमें केवल शुष्क फसलें ही उगाई जाती हैं। खेती वर्षा पर आधारित होती है। यह भूमि दो प्रकार की होती है— 1. उपराऊँ अबल— असिंचित भूमि है और अधिकतर गाँव की आबादी के समीप और घाटियों में होती है। इसमें धान, गेहूँ, जंगोरा, जौ, महुवा आदि फसलें उगाई जाती हैं। 2. उपराऊँ दोयम— यह भी असिंचित भूमि है और उपराऊँ अबल की तुलना में कम उपजाऊ होती है।

खील व कटील- यह भूमि इजर की भाँति ऊँचे पहाड़ी ढालों पर पाई जाती है और इसमें सीढ़ीदार खेत नहीं बन पाते, न ही जुताई के लिए हल का प्रयोग किया जा सकता है। यह बहुत ही ढालदार तथा पथरीली और उपज की दृष्टि से बिल्कुल निम्न कोटि की होती है। इसमें प्रायः तीन या चार साल में एक बार खेती की जाती है। खेती करने से पहले भूमि पर उगी झाड़ियाँ आदि काटकर जला दी जाती थीं, जिनकी राख खाद का काम देती थी। कुमाऊँ में इसे खिल, कटील, काला बंजर और इजरान तथा गढ़वाल में खिल और कण्डाला कहा जाता था। महुवा, चुआ, गहथ, जंगोरा, हल्दी आदि प्रमुख फसलें हैं।

3.3.3 कृषि की पद्धतियाँ

कृषि की वर्तमान पद्धति विकसित होने से पूर्व संपूर्ण प्राचीन, मध्य तथा आधुनिक युग में कृषि प्रणाली लगभग समान थी। प्रत्येक गाँव में कृषि कार्य पर्वत की ओर भू खण्डों में होता था तथा एक गाँव से संबन्धित खण्ड प्रायः दूसरे गाँव के भू खण्डों के साथ मिला जुला रहता था। कहीं कृषि कार्य पर्वत की चोटी से नदी तक तो कहीं केवल नदी घाटियों तक सीमित होता था। कृषि कार्य के लिए जुताई, बुवाई, निराई आदि पद्धतियों को अपनाया जाता था। उत्तराखण्ड से संबन्धित बन्दोबस्ती आख्याओं तथा लोक में इनके लिए विभिन्न नाम भी मिलते हैं। भूमि को साफ करने के बाद प्रायः उसमें तीन बार जुताई की जाती थी। खेत की प्रथम जुताई को बान तथा दूसरी जुताई को उखेलण कहते थे। इसके लिए दनेला शब्द का भी प्रयोग होता था। जुताई के बाद खेत को जोतकर बुवाई के लिए बीज डाला जाता था। इसके बाद हाथ से घास अर्थात् खरपतवार उखाड़ कर निराई की जाती थी। मोटे अनाजों में प्रायः दो या तीन बार निराई की जाती थी। यह कार्य पौधे के भूमि से दो या तीन इंच ऊपर बढ़ जाने के बाद किया जाता था। महीन अनाजों के लिए इस अवधि में खेत पर अतिरिक्त खाद फैलाई जाती थी। तत्पश्चात् गुड़ाई के अन्तर्गत कुटले से घास निकाल कर जमीन को इस प्रकार तैयार करते थे कि पौधों को उपयुक्त हवा और पानी मिल सके। भारी बरसात में कीड़ा लगने की स्थिति में फसल से खरपतवार हटाने तथा उस पर हल चलाने की प्रक्रिया अपनाई जाती थी। फिर अनाज काटकर खलिहान में ले जाकर उसकी मणारी की जाती थी, जिसे मानणा कहते थे। अन्तिम प्रक्रिया बतूण/फटक्यूण थी, जिसमें मड़ाई के बाद अनाज को एक सूप में रखकर उसमें से भूसा निकालने के लिए सूप को हाथ से हवा में धीरे धीरे हिलाया जाता था। जिन क्षेत्रों में कपड़े या धोतियों को झलकर भूसा उड़ाते थे उसे फटक्यूण कहा जाता था।

3.3.4 कृषि उपकरण

कृषि के लिए जो उपकरण प्रयोग में लाए जाते थे उनके विवरण से आप जान पाएंगे कि आज भी पर्वतीय क्षेत्रों में उनका प्रयोग होता है। ये उपकरण थे—

हल— यह मैदानी भगों के हल के समान ही था।

मय— लकड़ी का एक चपटा मोटा टुकड़ा होता था, जिस पर हल चलाने वाला खड़ा रहता था। असमान भूमि को समतल बनाने के लिए इसका प्रयोग होता था।

दुर्मट/डिलारा— कुमाऊँ में मिट्टी के ढेलों को तोड़ने के उपकरण को दुर्मट तथा गढ़वाल में डिलारा कहा जाता था।

कुटला— जमीन खोदने का उपकरण, जिससे आप सभी परिचित हैं।

जौल— जमीन को मुलायम बनाने के लिए हल की किस्म का औजार था।

डंडाला/मय— इसमें लोहे के दाँत लगे होते थे।

दराती/ दाँथी— फसल काटने का उपकरण था।

3.3.6 फसलें व फसल चक्र

उत्तराखण्ड के अभिलेखों में फसलों का उल्लेख प्रायः नहीं मिलता। ताम्रपत्रों में मन्दिर के चढ़ावे के रूप में कुछ धान्यों के नाम आए हैं। बाजबहादुर चन्द के बोरारौ ताम्रपत्र, शाके 1564/1642 ई. (छतिस चावल मन) तथा उद्योतचन्द के सोमेश्वर मन्दिर ताम्रपत्र, शाके 1570/1648 ई. (आठ चावल) में चावल का उल्लेख है। दाल शब्द बाजबहादुर चन्द के सोमेश्वर मन्दिर ताम्रपत्र, शाके 1570/1648 ई. में मिलता है। यह दाल संभवतः बाजबहादुरचन्द के ही दूसरे ताम्रपत्र में उल्लिखित माष (मास नालि 24) रही होगी। ट्रेल के विवरणों से खरीफ और रबी की दो फसलों के अन्तर्गत बोए जाने वाले प्रमुख अनाजों का पता लगता है। खरीफ की फसलों में चावल, महुवा, झुंगरा या मादिरा, कौणी, चिण, चुआ या मासा, कोटू, ऊगल, बाजरा, ज्वार, मकई या भुट्टा (इसे काकुनी या जुनला भी कहा जाता है), गनारा, उड़द, भट, गहथ, रैस (लोभिया), तोरी या अरहर, मूंग, गुरूस, सरसों, तिल, भंगिर आदि थे। यह फसल अप्रैल में बोई जाती थी और अक्टूबर के अन्त में कटती थी। रबी की फसलों में गेहूँ, जौ, मसूर, चना, कलौं, मटर, अलसी, सरसों आदि प्रमुख थीं। यह नवम्बर के महीने में बोई जाती थी और मार्च के महीने में कटती थी। ऊँचाई बढ़ने के साथ साथ फसलों की बुवाई और कटाई का समय परिवर्तित होता जाता था। सर्वाधिक ऊँचे क्षेत्रों में साल भर में केवल एक ही फसल हो पाती थी।

इनके अलावा कपास, भांग, गन्ना, अदरक, हल्दी, चिरायता, घुइयाँ, फाफड़ आदि उत्तराखण्ड में उगाई जाने वाली प्रमुख फसलें थीं। पर्वतीय भांग बहुत अच्छी मानी जाती थी। यह पौधा 12 से 14 फुट तक ऊँचा होता था और इसका धागा अत्यंत मजबूत होता था। भांग का उत्पादन गढ़वाल में अधिक होता था। भाबर में घुइयाँ बड़े पैमाने पर उगाई जाती थी। तपोवन में होने वाली अच्छे किस्म की बासमती के कारण सिरमौर के राजा मौलिचन्द, कुमाऊँ के ज्ञानचन्द तथा अकबर के बीच विवाद भी हुआ था— (गोविन्द चातक, गढ़वाली लोक साहित्य एक अध्ययन, पृ.237)

“एका राजान बोले मेरो तपोवन
हे को राजा बोल्दो तपोवन मेरो होलो
तपोवन छ्यो राजा मानशाही को
तीनून लेखो मानशाही को परवानो
तपोवन की बाँट करी जा.....।”

अधिक ऊँचे अर्थात् भोटांतिक इलाकों में बहुत सी जड़ी बूटियाँ उगाई जाती थीं, जिनमें जंगली लहसुन, रुबार्ब, लाल जड़ी, कटकी आदि थीं। इसके अलावा यहाँ फाफर, अतीस, गाँठवाला, जंबू, गंदायणी बहुत होता था।

कृषि पद्धति तथा फसलों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट होता है कि उत्तराखण्ड में भौगोलिक विषमता के कारण क्षेत्र विशेष के कृषिगत तथा व्यावसायिक जीवन पर भी प्रभाव पड़ा है। उत्तरवर्ती क्षेत्रों के वर्ष के अधिकांश में बर्फ से ढके रहने रहने के कारण कृषि उत्पादन काफी कम था और वर्ष में केवल एक ही फसल हो पाती थी। इसके विपरीत मध्यवर्ती तथा दक्षिणवर्ती इलाकों में (जिन्हें साधारणतया परभत और माल कहा गया है और जो भारत के अन्य भागों से काफी मिलते जुलते हैं) कृषि काफी उन्नत थी। भाबर तथा उससे मिले पर्वतीय परगनों में तो वर्ष में तीन फसलें तक हो जाती थीं।

अभ्यास प्रश्न

1. निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए

(क) फसलें व फसल चक्र

(ख) कृषि के उपकरण

2. नीचे लिखे प्रश्नों के उत्तर दीजिए

(क) विभिन्न स्रोतों से उत्तराखण्ड में कृषि भूमि के कितने प्रकारों का उल्लेख मिलता है।

(ख) मध्ययुगीन उत्तराखण्ड में कृषि की पद्धतियों पर एक लेख लिखिए।

3.4 सैन्य व्यवस्था

आजीविका के साधनों की न्यूनता के कारण पर्वतीय क्षेत्रों की जनता प्राचीन काल से ही वार्ताशस्त्रोपजीवी (कृषि तथा सैन्य कर्म द्वारा जीवन यापन) रही है। सैन्य कर्म यहाँ के लोगों की आजीविका का प्रमुख साधन रहा। इस खण्ड में आप मध्ययुगीन उत्तराखण्ड की सैन्य व्यवस्था का अध्ययन करेंगे।

3.4.1 सैनिकों की भर्ती

मुगल बादशाहों के समान ही चन्द तथा परमार शासन में भी सैनिकों की नियुक्ति फौजदारों और गोलदारों द्वारा की जाती थी। चन्द राज्य का विस्तार माल (तराई-भाबर) तक होने के कारण उनकी सेना में काली कुमाऊँ के कैड़ा, बोरा, आदि राजपूतों के अतिरिक्त मैदानी मुस्लिम भी भर्ती किए जाते थे। माल तराई में मेवाती, हैड़ी तथा बाद में पठान रोहिलों को भी भर्ती किया गया। बाजबहादुरचन्द ने गढ़वाली मूल के बिष्ट, रौत, गैड़ा बिष्ट, असवाल और डंगवालों की भी सैनिक पदों पर भी नियुक्ति की। परमार शासकों की सेना में आरंभ में लोहबा, बधाण तथा सलाण के ब्राह्मण राजपूतों की पलटनें होती थीं, जिन्हें लोभी, बैधाणी और सलाणी कहा जाता था। बाद में मैदान से आए हुए हिन्दू तथा मुस्लिम आयुधजीवी भी भरती किए जाने लगे। महीपतिशाह की सेना में इन गढ़वाली पलटनों के अतिरिक्त दिलवाली (दिल्लीवाली) और दिसवाली (मैदानी मुसलमान) पलटनें थीं। दिसवाली में रोहिले-पठान सैनिक थे। गढ़वाली सैनिकों में खश राजपूतों की प्रधानता होती थी (देखें, हरिकृष्ण रतूड़ी, नरेन्द्र हिन्दू लौ, पृ 914)। मेदिनीशाह के समय में कांगड़ा हिमाचल के आयुधजीवी भी भरती होने लगे। इन्हीं दिनों कुमाऊँ में भी इन्हें प्रमुखता दी जाने लगी (देखें, बदरीदत्त पाण्डे, कुमाऊँ का इतिहास, पृ. 338)।

गोरखा सैन्य व्यवस्था नेपाल से जुड़ी थी। इसका संगठन ईस्ट इंडिया कम्पनी की बंगाल आर्मी के अनुकरण पर किया गया था। पहले यह केवल कम्पनियों में बँटी थी, पर भीमसेन थापा ने कुछ बटालियनें भी बनाईं। प्रतिदिन परेड होती थी। सैनिकों की शिक्षा दीक्षा के लिए प्रतिदिन तोपचियों को भी नियुक्त किया गया था। उनको अनुशासन और ड्रिल आदि की शिक्षा नियमित रूप से दी जाती थी। ये जन्मजात गुरिल्ला योद्धा थे। फ्रेजर ने लिखा है कि गोरखा सैनिकों और अधिकारियों को वर्षों तक राज्य के विस्तार में संलग्न रहने के कारण युद्धों में अत्यधिक कुशलता प्राप्त हो गई थी। गोरखा सेना में थापाओं की संख्या

सबसे अधिक थी। साधारण सैनिकों में मगर और गुरुंग थे। अंग्रेजों ने इन्हें समान नाम गुरखा या गोरखाली दिया। सेना में सर्वोच्च अधिकारी कमांडर इन चीफ था। उसके अधीन विभिन्न बटालियनों के कैप्टन कमांडिंग होते थे। अन्य में कर्नल, मेजर, कप्तान, लफ्टन, सूबादार, दफेदार, फौजदार तथा सरदार थे।

3.4.2 वेतन

अपने सैनिकों का वेतन चुकाने के लिए फौजदार को किसी परगने की जागीर तथा गोलदारों को नकद राशि दी जाती थी। वे अपने सैनिकों के अनुशासन और कार्यकुशलता के लिए उत्तरदायी होते थे। फौजदारों को यद्यपि निर्धारित संख्या में सैनिक रखने योग्य जागीर दी जाती थी, किन्तु वे प्रायः जाँच के समय कुछ सैनिकों को अस्थायी तौर भरती करके संख्या पूरी कर देते थे। फौजदार अपने परगने के राजस्व से अपने सैनिकों के वेतन का तथा भारवाही पशुओं पर व्यय की राशियों का भुगतान करना होता था। उसे उच्च अधिकारियों तथा राजा को कुछ राशि दस्तूर में भी देनी पड़ती थी। बची हुई राशि में से कुछ को अपने निर्वाह के लिए रखकर शेष को वह अपने सैनिकों में बाँटता था। डबराल के अनुसार कुमाऊँ और गढ़वाल के फौजदार बड़ी कठिनाई से छः रु. से आठ रु. मासिक तक अपने सैनिकों को दे सके होंगे। राज्य पर विपत्ति आने पर सैनिकों को कुछ समय के लिए नियमित वेतन मिल पाता था। फलतः सैनिक अवसर मिलते ही लूटमार के लिए प्रस्तुत रहते थे। डबराल ने गढ़राजवंश काव्य का एक उद्धरण दिया है जिसके अनुसार सिरमौर से लौटकर ललितशाह की सेना ने श्रीनगर में अपने वेतन के लिए इतना ऊधम मचाया कि उसके डर से राजा को अपने व्यक्तिगत कोष से सोना चाँदी बेचकर उसका वेतन चुकाना पड़ा था। युद्ध में विशेष वीरता दिखाने वाले सैनिकों को 'रौत' में भूमि दी जाती थी, जो राजस्व मुक्त होती थी। गढ़वाल का सलाण उपजाऊ और समृद्ध परगना था। गढ़राजवंश काव्य के अनुसार दून और सलाण के फौजदारों का वेतन सवा लाख रुपये माना जाता था (सवा लसष हो तलब हमारी और सलाण की फौजहिदारी)। फौजदार को अपने घर तथा शिविर के बाहर नौबत लगवाने तथा अपनी सेना के साथ निशान (झण्डा) फहराने और बाजा बजवाने का अधिकार प्राप्त था।

गोरखों में कैप्टन कमांडिंग को 417 रु. प्रतिमाह मिलता था। हियरसे के अनुसार गोरखाली सैनिकों का वेतन इतना कम था कि वे छः रु. प्रति माह पर ब्रिटिश सेना में भरती हो सकते थे। फ्रेजर को सूचना मिली थी कि युद्ध में संलग्न गोरखाली सैनिकों को प्रतिमाह 8 रु. वेतन दिया जाता था, जो अन्य दिनों में 6 रु. प्रति माह था (हिमाला माउंटेन्स)। डबराल के अनुसार ढांगू के कमीषन द्वारा सुरक्षित फर्दों से पता चलता है कि सभी सैनिकों को एक समान वेतन नहीं दिया जाता था। संभवतः अनुभव के आधार पर अंतर था। औसत मासिक वेतन लगभग चार रु. था।

3.4.3 सैनिकों की संख्या

1611 ई. के आस-पास विलियम फिंच द्वारा सुने गए विवरण के अनुसार कुमाऊँ के राजा रुद्रचन्द की सेना में पैदल सैनिकों की भारी संख्या थी, पर घुड़सवार और हस्तिदल की संख्या बहुत कम थी। हाथी कम होने का कारण राज्य का अधिकांश भाग पर्वतीय होना भी एक कारण माना जा सकता है। फरिश्ता के 1623 के विवरण के अनुसार कुमाऊँ (गढ़वाल) के राजा की सेना में 80,000 पैदल और घुड़सवार सैनिक थे। मौलाराम ने 1692 में महीपतिशाह की सेना में सवा लाख सैनिक बताए हैं। प्रदीपशाह के कुमाऊँ आक्रमण के समय भी यही संख्या दी गई है। बदरीदत्त पाण्डे के अनुसार कुमाऊँ के शासक दीपचन्द द्वारा

शिवदेव जोशी को दिए गए ताम्रपत्र में इसकी संख्या साढ़े तीन लाख है। 1790 में गोरखा आक्रमण के समय राजधानी में चार पाँच सौ सैनिक थे तथा गंगोली और काली कुमाऊँ में, जहाँ से आक्रमणकारी के आने की पूरी संभावना थी, संभवतः सेना थी ही नहीं (देखें, डबराल भाग 8)। हार्डविक के अनुसार गढ़वाल में प्रद्युम्नशाह के शासन में 1786 में राज्य की स्थायी सेना केवल 5 हजार थी, जिसमें से 1000 राजधानी में रहते थे तथा शेष राजधानी के विभिन्न भागों में रखे गए थे (देखें, हार्डविक का विवरण, एशियाटिक रिसर्च, भाग 6, पृ 343)। कुछ वर्णनों में सैनिकों की काफी अधिक संख्या अतिशयोक्ति जान पड़ती है। डबराल ने भी इस बात को इंगित किया है (देखें, उत्तराखण्ड का इतिहास, भाग 4, पृ. 510)। गोरखा सेना के बारे में जॉन प्रेम्बल के विवरण से पता चलता है कि 1814 में नेपाल में सैनिकों की संख्या 14,000 थी।

3.4.4 अस्त्र- शस्त्र

हार्डविक के अनुसार गढ़वाली सेना तोड़दार बन्दूक, धनुष बाण और ढाल तलवार का प्रयोग करती थी। कुमाऊँ की सेना के भी यही अस्त्र रहे होंगे। पानीपत के तृतीय युद्ध में कुमाउनी सेना ने बान (रौक्रेट) और हथगोलों को फेंकने का कौशल दिखाया था। छोटी तोपें (तुपक), भला (डंगारा) आदि का भी प्रयोग होता था। अस्त्र-शस्त्रों में मुख्यतः ढाल, तलवार, भाला, तीर कमान, खाण्डा, कटार, फ्यूँतार, बड़याठ, खड्ग, तुम्भी आदि थे। मौलाराम ने भी सैनिकों द्वारा युद्ध में प्रयोग किए जाने वाले अनेक अस्त्रों का उल्लेख किया है।

मध्ययुगीन उत्तराखण्ड में सेना द्वारा प्रयोग में लाए जाने वाले प्रमुख अस्त्र थे—

कवच, कवचदानी, कम्बलपोश— कवच— तीर, तलवार और भालों से शरीर की रक्षा करने के लिए इस्पात की पतली चद्दरों से निर्मित, जिससे सिर, पीठ, वक्षस्थल तथा बाहुओं को ढका जाता था। कवचदानी— लोहे की जाली से निर्मित कुर्ते के समान पहना जाने वाला अस्त्र। कम्बलपोश— युद्ध के समय सैनिकों द्वारा पहने जाने वाले ऊन या रुई के बने अंगरखे, जिन पर तलवार या बाण का प्रहार निष्फल हो जाता था।

धनुष बाण— पातीराम के अनुसार 19 वीं शताब्दी के आरंभ तक गढ़वाली, कुमाउनी और गोरखा सेना में धनुष बाण का काफी प्रचलन था। धनुष प्रायः चार फीट लम्बा, सींग, लकड़ी, हाथीदांत या लोहे का बना होता था, जिस पर रेशम या चमड़े का चिल्ला (रस्सी) चढ़ाकर उसे दो सवा दो फीट लम्बे बांस के बने लोहे की नोक वाले बाण चलाते थे।

तलवार— कई आकार-प्रकार की थीं। पट्ट या पाटा— संकरे फल वाली लम्बी तलवार। खांडा— चार फीट लम्बा दुधारा। तेग, खड्ग, पैनी— छोटी तलवारें।

फरसा-फरसी, तवर या जबर— युद्ध में प्रयुक्त होने वाली लम्बे बेंट की कुल्हाड़ियाँ।

डंगारा— लम्बे बेंट तथा दराती के समान मुड़ी हुई नोंक वाला अस्त्र।

बन्दूक-तुफंग— ऐसी बन्दूकें जिनकी नाल 41" से लेकर 66" तक लम्बी होती थी।

पत्थरकला— मौलाराम द्वारा उल्लिखित एक प्रकार की बन्दूक।

तुपक— छोटी तोप, जिन्हें खच्चर लादकर ले जाते और चलाते थे।

तुड़ा, तोबड़ा, पटेला, बटफर— लकड़ी के तख्ते और चद्दरों के टुकड़े थे, जिनसे सैनिक अपने लिए रक्षा आवरण बनाते थे।

कटार— लोहे व चाँदी की बनाई जाती थीं। चाँदी की कटार द्विधारीय होती थी, जिसमें चमड़े का कवर लगा रहता था।

भाले— द्विस्तरीय होते थे। एक लकड़ी के खँचे में फिट करके फेंका जाता था, दूसरा उसी भाले को मूँछक से पकड़ कर शत्रु पर प्रहार किया जाता था।

हत्था— सोने, चाँदी, पीतल आदि का बनाया जाता था।

फूँतार— इसके माध्यम से शत्रु पर दूर-दूर तक पत्थरों और गंगलोड़ों को फेंका जाता था।

कठपतिया— युद्ध के समय हथियारों की कमी होने पर सेना के शस्त्र के रूप में शत्रु पर प्रहार करने के लिए काठ, पात, लकड़ी और पत्थर का प्रयोग किया जाता था।

इनके अलावा कहीं-कहीं मल्ल युद्ध के समय मुंगर का भी प्रयोग होता था।

पातीराम के अनुसार गोरखों के अस्त्र शस्त्रों में तलवार, खुखरी, धनुष बाण तथा विलायती तोड़ादार बन्दूकों के अनुकरण पर बनाई गई बन्दूकें, लम्बे चाकू, खाण्डा व भुजाली थे। सेनानायक तलवार, खुखरी और ढाल का प्रयोग करते थे। 1814 में कम्पनी से युद्ध आरंभ होने तक नेपाल में चार पाँच सौ तोपें थीं।

3.4.5 कोट/गढ़/गढ़ी

ये एक प्रकार से राजाओं व सामन्तों के टीले युक्त छोटे-छोटे दुर्ग थे जिन्हें कुमाऊँ में कोट और गढ़वाल में गढ़ के नाम से जाना जाता है। इनमें आपातकाल में राजपरिवार सहित सेना, रसद आदि सामग्री रखी जाती थी। इनकी निचली सतह के मध्य में विभिन्न प्रकार की अनगढ़ खाइयाँ, बनाई जाती थीं। पानी की आपूर्ति के लिए इनमें जल भरा रहता था। आपातकालीन आवागमन के लिए सुरंगों का प्रयोग होता था। सुरंगों में हवा और प्रकाश की व्यवस्था रहती थी। कुमाऊँ में धौनकोट (अठिगाँव), सीराकोट (डीडीहाट), मणकोट (गंगोलीहाट), ऊँचाकोट व फल्दाकोट (बेतालघाट), अस्कोट आदि युद्ध सामग्री रखने वाली जगह को सेलखाना कहते थे। चन्द्र राजाओं ने धीरे-धीरे अपनी स्थायी छावनियाँ भी बनवाईं। राजा उद्योतचन्द्र ने गढ़वाल युद्ध के समय पूर्व में नेपाल सीमा पर ब्रह्मदेव मण्डी, चम्पावत और सोर में अपनी छावनियों में स्थायी सेना रखी थी। (चन्द्र सिंह चौहान, आलेख, 'कुमाऊँ में कोट एवं सैन्य परंपरा')। गढ़वाल में परमार शासन की स्थापना के दौरान 52 प्रमुख गढ़ थे। इनमें पैनखण्डा, कण्डारगढ़, सलाण, उपगढ़, चाँदपुरगढ़ आदि थे। गोरखों ने गढ़ियों का निर्माण किया, जिनमें विभिन्न राज्यों पर नियन्त्रण रखने हेतु सैनिक रखे जाते थे। अधिकांश गढ़ियाँ पर्वतीय मकानों के समान गारे के साथ चिनाई वाली पत्थरों की दीवारों से बनी थीं। अधिकतर की लम्बाई चौड़ाई 30 गज तथा ऊँचाई 12 फीट तक थी। बाहर लकड़ी पत्थर आदि से बाड़ा बनाया गया था। बहुत सी गढ़ियों में जल का प्राकृतिक स्रोत नहीं था। कुमाऊँ में

प्रमुख गढ़ियाँ पिथौरागढ़, चम्पावत, लालमण्डी (अल्मोड़ा),और नैथाणा में तथा गढ़वाल में लोहबा, चाँदपुर, गुजड़ू , पैनखण्डा, श्रीनगर, लंगूर आदि थीं। जिल्ला दून में धामागढ़ी और खलंगा या नालापानी प्रमुख थीं।

अभ्यास प्रश्न

1.निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए

(क) सेना के वेतन की व्यवस्था

(ख) सैनिकों की संख्या

2.नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए

(क)सेना द्वारा प्रयोग में लाए जाने वाले अस्त्र-शस्त्रों का वर्णन कीजिए।

3.5 व्यापार

प्राचीन काल से ही उत्तराखण्ड के तंगण आदि व्यापारी अपनी व्यापारिक वस्तुओं को लेकर तिब्बत और उससे आगे स्थित मण्डियों में जाते थे और वहाँ से सुहागा, स्वर्णधूलि आदि लेकर शीतकाल में मैदानी भागों की मण्डियों में लाते थे। इसके अतिरिक्त लाजवर्द मणि, स्फटिक, जिप्सम, समूर, खालें, ऊनी वस्त्र और ऊन का व्यापारमुख्य रूप से होता था। भांग के वस्त्र और थैलों की भी काफी मांग थी।

मध्ययुग में श्रीनगर इस व्यापार का प्रमुख केन्द्र था। यहाँ से अनेक वस्तुएँ उत्तर भारत की मण्डियों में विक्रय के लिए भेजी जाती थीं। नजीबाबाद और दोआब के व्यापारिक घरानों के प्रतिनिधि यहाँ वाणिज्यिक वस्तुओं तथा मुद्राओं के विक्रय और विनिमय का कार्य करते थे। इसके अलावा अल्मोड़ा तथा बागेश्वर दूसरे प्रमुख व्यापारिक केन्द्र थे। यहाँ नवम्बर से लेकर वर्षाकाल के आरंभ तक विनिमय विपणन जारी रहता था। छोटे- छोटे व्यापारिक केन्द्र हाट या घाट कहलाते थे। इनमें बाड़ाहाट, चौकीघाट, लालढांग, लकड़घाट, खोहद्वार आदि प्रमुख थे। कुछ में चुंगी केन्द्र (चौकी) भी थे। उत्तरवर्ती क्षेत्रों में जोशीमठ, माणा, मलारी, गमसाली, नीती में प्रमुख हाट थे। माणा में लगभग डेढ़ हजार के करीब आबादी थी। माणा के मार्ग से हुणदेश (तिब्बत) के साथ काफी व्यापार होता था। यहाँ से हुणदेश के काफी उत्पाद सुदूर आन्तरिक भागों तक पहुँचते थे। जुलाई के अन्त में जब पर्वतों का मार्ग खुल जाता था तो लोग यहाँ सौ या डेढ़ सौ के समूह में एकत्र होते थे और भेड़ों तथा बकरियों में अपनी व्यापारिक सामग्री, विशेष रूप से अनाज को लादकर व्यापार के लिए निकलते थे। इन वस्तुओं के बदले में वे हुणदेश से विभिन्न उत्पाद लाते थे और वर्ष में यहाँ आने वाले तीर्थयात्रियों के कारण उनकी अच्छी बिक्री हो जाती थी (एशियाटिक रिसर्च, भाग 11)। पूर्व की ओर नेपाल के साथ व्यापार होता था। इसके दो प्रमुख केन्द्र थे— पिथौरागढ़ के पास झूलाघाट तथा ब्रह्मदेव मण्डी(वर्तमान टनकपुर)।

3.5.1आयात

आयात पर कोई निश्चित नियम लागू नहीं थे, अपितु पिछले वर्षों के हिसाब को देखते हुए अनुमान लगा लिया जाता था। यदि व्यापारी आयात की निर्धारित मात्रा से कम बताता था तो सामग्री के अनुरूप

शुल्क वृद्धि की जाती थी। पहले हुणदेश के लोगों के साथ मुक्त आवागमन होता था। ये निरन्तर अपनी वस्तुएँ बाजारों में बेचने के लिए लाया करते थे और बदले में अन्य वस्तुएँ ले जाते थे।

व्यापारिक सामग्री प्रचुर मात्रा में आती थी और श्रीनगर से पूर्व की ओर अल्मोड़ा से आगे पहुँचाई जाती थी। पैनखण्डा से एक किस्म का कम्बल आता था, जिसे पंखी कहते थे। यह भेड़ की ऊन से बनता था और काफी अच्छा होता था। रुहेलखण्ड से यहाँ सभी प्रकार के सूती वस्त्रों की आयात होता था। लाहौर से आने वाले नमक को सिल्लूण (नमक लाहौरी) भोटान्तिक लोग अपनी व्यापारिक वस्तुओं के बदले में ले जाते थे। दक्षिणवर्ती गाँवों से एक प्रकार के चावल का आयात किया जाता था, जो उबाले जाने पर विशेष प्रकार की सुगन्ध देता था। इसे विशेष रूप से रामगढ़ के पर्वतीय क्षेत्र में उगाया जाता था।

पर्वतीय भागों में स्थित विभिन्न घाटों में आयात-निर्यात पर कुछ शुल्क लिया जाता था, जो कि औसतन छः प्रतिशत तक होता था। लेकिन कुछ विशेष वस्तुओं पर अतिरिक्त चुंगी भी ली जाती थी। खोहद्वार के मार्ग पर शुल्क वसूली का कार्य हाकिम नामक अधिकारी करता था, जो राजा को प्रतिवर्ष बारह हजार रुपये अदा करता था।

उत्तरवर्ती क्षेत्रों के लोग हुणदेश(तिब्बत) के साथ व्यापार करते थे और नमक, केसर, सुहागा, निरबीसी, किशमिश, छोटे-छोटे थैलों में स्वर्णधूलि, कस्तूरी, पंखी या कम्बल, हल्के हरे रंग का एक प्रकार का मुलायम पत्थर, जिसे सर्पदंश में काफी प्रभावी माना जाता था तथा पोर्सलीन की कुछ अन्य वस्तुएँ लाते थे। लेकिन इनकी माँग अधिक नहीं थी। चाय भी वे सिर्फ इतनी ही मात्रा में आयात करते थे, उतनी उनके उपभोग के लिए पर्याप्त होती थी। पहाड़ी टट्टू, जिन्हें गूँठ कहते थे, चार सिंघा अथवा भेड़ जिनके चार से लेकर छः सींग तक होते थे तथा चँवर गाय भी इन क्षेत्रों में लाये जाते थे। कुत्तों का व्यापार भी किया जाता था। गढ़तोक से हिंदुस्तान को भेजी जाने वाली सामग्री में स्वर्णधूलि, चाँदी, कस्तूरी, फर, सुगन्धित चमड़ा, शॉल, चीनी मिट्टी के बर्तन, चाय (बटियों के रूप में), नमक, सुहागा, औषधि तथा छोटे घड़े (टांघन) प्रमुख थे। प्रतिवर्ष सितम्बर के महीने में गढ़तोक में एक मेला होता था। इसमें प्रमुख रूप से हिन्दुस्तान, लद्दाख, कश्मीर, यारकन्द, ल्हासा तथा सिलिंग (चीन) के व्यापारी सम्मिलित होते थे।

हुणदेश की झीलों का नमक यहाँ साँभर और अन्य मैदानों से प्राप्त नमक के मुकाबले अधिक पसन्द किया जाता था। मैदानी नमक इसकी तुलना में बेस्वाद और अखाद्य समझा जाता था और उसका प्रयोग पशुओं के लिए करते थे। एक वर्ष में आयातित नमक की कुल मात्रा अनुमानतः पन्द्रह हजार मन थी। सुहागा भी हुणदेश की झीलों में होता था। भोटान्तिक इसका मूल रूप में (जैसा कि झील से प्राप्त होता था) आयात करते थे। व्यापारी इसके प्राकृतिक कणों को यूरोपीय बाजारों के लिए झील में जमा करते थे और इसके चूर्ण का परिशोधन करके शुद्ध सुहागा बनाते थे। बची हुई तलछट में काफी रेत (प्रायः बीस से तीस प्रतिशत) होती थी। भोटान्तिकों से समान खरीदने वाले पहाड़ों के छोटे व्यापारी कभी-कभी मिलावट भी कर देते थे। तिब्बती भेड़ से निकाला जाने वाला ऊन, जो उस प्रदेश में बरजेंगी कहलाता था, पाँच सौ से छः सौ मन तक आयात किया जाता था। इसका एक भाग भोटान्तिक लोग पंखी बनाने में इस्तेमाल करते थे और शेष उत्तरी परगनों में कम्बल बनाने के लिए किया जाता था। सामान्यतः वे तेल तथा अन्य उत्पादों के विनिमय में इसे दे देते थे। ऊन की यह आपूर्ति प्रायः तिब्बत से नमक और सुहागा लेकर भोट में पहुँचने वाली हिमालयी भेड़ों के झुण्ड से होती थी। इसके अलावा भोटान्तिक तिब्बती बकरी से प्राप्त होने वाले पश्म (ऊन) को एकत्र कर बिना साफ की हुई स्थिति में छत्तीस से चालीस रुपये प्रति मन के हिसाब से विक्रय करते थे। हुणदेश की प्रायः प्रत्येक नदी से सुवर्णधूलि निकाली जाती थी और तिब्बत के पठार के

विभिन्न भागों को खोदकर प्राप्त की जाती थी। हुणिया लोग प्रायः इसमें ताँबे और पीतल का चूर्ण मिला देते थे। वार्षिक रूप से इसका विक्रय एक सौ फेटांग या आठ हजार रुपये ले लगभग होता था।

हुणदेश के बाद दूसरा प्रमुख आयात मैदानी भागों से होता था। यहाँ से पर्वतीय क्षेत्रों में आने वाली प्रमुख वस्तुएँ थीं – देशी-विदेशी सूती वस्त्र, छींटदार सूती वस्त्र, रेशमी वस्त्र, गाढ़ा, कपास तथा सूती धागा, ऊन, कम्बल, . कच्चा तथा संरक्षित तम्बाकू, गुड़, मिर्ची, नमक, सभी प्रकार के मसाले, सुपारी, नारियल तथा मेवे, साबुन, नील, लाख तथा अन्य रंग, फिटकरी तथा पोटाश, गन्धक, सभी प्रकार के बर्तन औजार आदि, ताँबे की चादरें (यूरोपीय), खिलौने, मनके, दर्पण, टिन, काँच, सीसा, बारुद, मूँगा, मोती तथा रत्न, सोने-चाँदी की लेस और तार, देशी मिर्च (काली) तथा स्याही। ये सभी वस्तुएँ देश के भिन्न-भिन्न भागों से यहाँ पहुँचती थीं।

नेपाल से होने वाले आयात के अन्तर्गत वहाँ के वनों की उपज, कागज, रेशे, सेलू, हल्दी, अनाज, घी तथा तेजपातआदि मसालों का आयात होता था।

इसके अलावा गोरखा युग में दास व्यापार बहुत बढ़ गया था।

3.5.2 निर्यात

निर्यात की वस्तुओं में अनाज प्रमुख था। वर्ष लगभग बीस से तीस हजार मन प्रत्येक प्रकार का अनाज हुणदेश के लिए निर्यात होता था। इसकी आपूर्ति उत्तरी परगनों से होती थी। भोटान्तिक लोग बंजारों की भाँति वस्तुएँ खरीदते थे। गाँवों में नमक ले जाकर उसके बदले अनाज लाते थे। उसके बाद अनाज को बीच के पड़ावों में ले जाकर उसका भण्डारण करते थे और वहाँ से पुनः नया नमक भेड़ों में लादकर लाते थे। मार्च के अंत में भेड़ों के झुण्ड उत्तरी जिलों में आते-जाते रहते थे और मई के प्रारम्भ में घाटों के तल से ऊपरी गाँवों में अनाज ले जाते थे।

मध्य तथा उत्तरी परगनों में तीन या चार भार गेहूँ या चावल के बदले एक भार नमक का तथा घाटों में दो भार गेहूँ या चावल के बदले एक भार नमक का और उच्च हिमालय में भोट से दो भार नमक लेकर एक भार गेहूँ या चावल का देते थे। भोट क्षेत्र की प्राकृतिक संरचना के कारण इसकी उपज दूरस्थ बाजारों तक उपलब्ध नहीं हो पाती थी। अल्मोड़ा में कुमाऊँ के मध्यवर्ती जिलों से भेजा जाने वाला गेहूँ एक रुपये में पच्चीस सेर के हिसाब से बिकता था। अनाज के अतिरिक्त कैलिको, बर्तन और औजार, गाढ़ा, मूँगा तथा मोती, गुड़, मिर्ची, मसाले, रंग, लकड़ी के बर्तन, इमारती लकड़ी का भी तिब्बत को निर्यात किया जाता था।

पर्वतीय क्षेत्र से मैदानी इलाकों में भी अनेक वस्तुओं का निर्यात होता था। इनमें प्रमुख थीं – सभी प्रकार के अनाज, दालें, तिलहन, हल्दी, अदरक-कच्चा और सूखा, कश्मीरी केसर, पहाड़ी केसर (नागकेसर), पहाड़ी इलायची, कटकी, निरबीसी, रुबार्ब, चिरायता, मीठा, विभिन्न प्रकार की छालें, जड़ी-बूटियाँ, रंग और दवा दोनों के लिए, तेजपात, लाल मिर्च, दाड़िम (पहाड़ी अनार), अखरोट तथा चुलू, मीठा आलू (घुइयाँ), भाँग, भाँग से निर्मित वस्त्र (भंगेला) अफीम, घी, तेल, शहद, मोम, कस्तूरी, बाज (पक्षी), सुहागा, शिलाजीत, खड़िया मिट्टी, हरताल, बर्च की छाल, पहाड़ी मिर्च, पहाड़ी बाँस, लकड़ी के बर्तन, खालें, खच्चर, पशु, स्वर्णधूलि, लोहा, ताँबा (छड़ों के रूप में), पंखी आदि। इनके अलावा तराई में उत्पन्न होने वाली अनेक वस्तुओं का निर्यात मैदानी भागों के लिए होता था। इनमें इमारती लकड़ी, लट्ठे, बाँस, तेल, चीनी, आबनूस, जलावन

लकड़ी, लकड़ी के बर्तन, चारकोल, चूना, गोंद, लाख, कत्था, घी, तेल सभी प्रकार का अनाज सभी प्रकार की दालें, तिलहन, मीठे आलू (घुइयाँ), हल्दी, लाल मिर्च, बाबड़ घास, मूँज घास आदि प्रमुख थीं। कुमाऊँ से नेपाल में भांग, सूत के कपड़े, धातु और धातु की वस्तुएँ, नमक, गुड़, शक्कर तथा तम्बाकू का निर्यात किया जाता था।

3.5.3 प्रमुख मण्डियाँ

उत्तराखण्ड के यात्रापथ मुख्यतः हिमालय पार की मण्डियों को मध्यदेश की मण्डियों से जोड़ने वाले मार्ग रहे हैं। फलतः उनमें दो प्रकार की मण्डियों का विकास हुआ है – एक तो पर्वतीय मण्डियाँ, जहाँ हुणदेश से भोटान्तिकों द्वारा लाया गया सामान दक्षिणवर्ती पहाड़ियों के व्यापारियों और सार्थवाहों को बेचा जाता था और दूसरी, भाबर-तराई की मण्डियाँ जहाँ निचली पहाड़ियों के लोग अपनी जरूरत की वस्तुएँ खरीदते थे। पर्वतीय मण्डियों में बाड़ाहाट, श्रीनगर, अल्मोड़ा, बागेश्वर, चम्पावत, झूलाघाट और भाबर-तराई की मंडियों में कालसी, हरद्वार, लालढांग, काशीपुर, रुद्रपुर, बाजपुर, बिलहरी, ब्रह्मदेव मण्डी आदि मण्डियाँ प्रमुख थीं। इसके अतिरिक्त विभिन्न स्थानों में समय-समय पर लगने वाले मेलों का भी व्यापारिक और वाणिज्यिक दृष्टि से विशेष महत्व था।

अभ्यास प्रश्न

1. निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए

(क) आयात-निर्यात

(ख) प्रमुख मण्डियाँ

2. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए

(क) मध्ययुगीन उत्तराखण्ड के हुणदेश (तिब्बत) से होने वाले व्यापार की विशेषताओं के बारे में बताइए।

3.6 कर प्रणाली

जैसा कि आप इकाई 5.3 के अन्तर्गत कृषिकरण खण्ड में जान चुके हैं कि कृषि और पशुपालन राज्य की अर्थव्यवस्था का मुख्य आधार था। इस खण्ड के अन्तर्गत आप चन्द, परमार तथा गोरखा शासकों की कर प्रणाली का अध्ययन करेंगे। भू-राजस्व के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण जानकारी चन्द-परमार दानपत्रों से उपलब्ध होती है। इस युग में सिरती या भूमिकर राज्य की आय का प्रमुख साधन था। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य देय भी लिए जाते थे। ट्रेल का अनुमान था कि कुल कराधान से गढ़वाल के शासकों को दो लाख गढ़वाली रूपये की आय होती थी। राजपरिवार की आय के लिए कुछ क्षेत्रों को सिरकारी के अन्तर्गत रखा गया था। अनुश्रुति थी कि चन्द शासक अपनी प्रजा से छत्तीस रकम बत्तीस कलम लिया करते थे। इस आधार पर प्रजा से वसूल किए जाने वाले करों की संख्या छत्तीस और विभिन्न देयों की संख्या अड़सठ थी। ये सभी कर प्रतिवर्ष नहीं लिए जाते थे। प्रमुख कर निम्नवत् थे –

3.6.1 चन्द-परमार युगीन कर प्रणाली

चन्दों और गढ़वाल के शासकों की कर प्रणाली लगभग एक समान थी। कर व्यवस्था का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि कुछ कर प्रारम्भ से लेकर अन्त तक लगातार लिए जाते रहे , जबकि कुछ कर एक अन्तराल के बाद प्रचलन में नहीं दिखाई देते। समय- समय पर कुछ नए करों का चलन भी दिखाई देता है। प्रचलित करों को हटाकर उनके स्थान पर नए करों के चलन के कारण ही करों की संख्या काफी दिखाई देती है। प्रमुख कर चार प्रकार के थे

(क) **भूमिकर**—इसके अन्तर्गत थे . 'सिरती'भूमिकर जो रकम या मामला भी कहलाता था , नकद राशि के रूप में लिया जाता था। 'बैकर' या राजा के भंडार में दिया जाने वाला उपज का अंश, 'कूत' या रकम के बदले लिया जाने वाला अनाज और 'गल्ला छहाड़ा' या माल (भाबर-तराई) में लिया जाने वाला उपज का छठा भाग था। साधारण उर्वरता या बिना सिंचाई वाली भूमि पर अनाज के उत्पादन का एक तिहाई (तिहाड़) तथा सिंचाई वाली भूमि पर अनाज के उत्पादन का आधा भाग (अधेल) भूमिकर के रूप में लिया जाता था। भूमिकर एक वर्ष अन्न के रूप में तथा दूसरे वर्ष अन्न के मूल्य के बराबर नकद राशि के रूप में लिया जाता था।

(ख) **अन्य देय**—'कमीनचारी, सयानचारी'(कमीन-सयाणे आदि कर्मचारियों के लिए लिया जाने वाला कर)'गरखा-नेगी'(पटवारी और कानूनगो के लिए लिया जानेवाला कर),'डाला'(पाली पछाऊँ क्षेत्र में सयाणा (पधान) के लिए लिया जाने वाला कर) और 'घीकर' (प्रत्येक भैंस पर लिया जाने वाला कर), प्रमुख था।'गर्खा नेगी'(भूव्यवस्था करने वाले राज्याधिकारियों (पटवारी और कानूनगो) के लिए), 'साउ रतगली'(न्यायालयों और लेखागारों के व्यय के लिए)। इसके अलावा राजमहल के दैनिक व्यय के लिए भी अनेक प्रकार के कर लिये जाते थे।'भेंट'(राजा या राजवंश के राजकुमारों के लिए दिया जाने वाला नजराना) 'घोड़ियालो', 'कुकरियालो', 'बखरिया'(एटकिंसन द्वारा बुखरिया तथा बदरीदत्त पाण्डे द्वारा भुकरिया नाम से उल्लिखित)— क्रमशः राजा के घोड़ों, कुत्तों और सर्पों के लिए। 'कटक' (सेना के वेतन के लिए) 'झूलिया'(नदियों पर सांगा अर्थात् झूला पुल लगाने के लिए) 'खीणीकपीणी'(कुली बेगार) 'मांगा' (राज्य के आर्थिक संकट को दूर करने के लिए)।'बाजनिया'— नर्तकियों के लिए।

इनके अलावा ताम्रपत्रों व अभिलेखीय साक्ष्यों में उल्लिखित कुछ अन्य कर हैं, जिनका विवरण विस्तार से डॉ नीरप्रभा व डॉ वी.डी. एस. नेगी ने अपनी पुस्तक ' कुमाऊँ (मध्य हिमालय) समाज एवं संस्कृति' में दिया है। इनमें से कुछ आपके अध्ययन के लिए यहाँ दिए गए हैं—

गडिलि- पेटिलि— युद्ध के समय राज्य में विभिन्न क्षेत्रों के प्रमुखों द्वारा अपने अपने क्षेत्र से छोटी छोटी सेनाएँ एकत्र कर राजा की सहायता के लिए प्रस्तुत की जाती थीं। बहुत संभव है कि ये कर इन प्रमुखों और उनके अनुचरों के लिए प्रजा से लिए जाते थे।

नाठ नठालि— नाठ अर्थात् निःसंतान व्यक्ति उत्तराधिकार विहीन सम्पत्ति पर राजा का अधिकार हो जाता था। जिसे राजा पुनः दान दे देता था अथवा उस संपत्ति से प्राप्त होने वाली आय का अधिकार दानप्राप्तकर्ता को दे देता था।

बेठि ब्योर— बेठि अर्थात् बिना पारिश्रमिक के श्रम करना। इसका अर्थ बेगार से लिया जा सकता है।

छै छत्तीस— प्रारंभिक दिनों में उपज का छठा भाग कर के रूप में लिया जाता था, जिसे छै छत्तीस अर्थात $6/36$ भाग $=1/6$ भाग कहा जाता था।

आठ कर— युद्ध संबन्धी कर था। सेना के ठहरने के स्थान पर 6 पैसा प्रति परिवार लिया जाता था।

नौ निकास— नयाबाद भूमि से संबन्धित

बाजदार— महाजन के लिए

घीउकर— दुधारू पशुओं पर

बुड़ा— बूढ़ा नामक अधिकारी के लिए

3.6.2 गोरखा कर प्रणाली

गोरखों ने कर प्रणाली में परिवर्तन किये। भूमिकर की राशि को अत्यधिक बढ़ा दिया गया। छत्तीस रकम तथा बत्तीस कलम की प्रथा को हटाकर कुछ अन्य कर लगाए गये।

(क) भूमिकर (पुंगाड़ी)— इसकी राशि को अत्यधिक बढ़ा दिया गया। बहादुर भण्डारी तथा दशरथ खत्री द्वारा की गई भू व्यवस्था में भूमि को उर्वरता के आधार पर अव्वल, दोम, सोम, चाहर और सुखबाँसी इन पाँच वर्गों में विभक्त करके भूमिकर निर्धारित किया गया।

(ख) अन्य कर— कृषकों को भूमिकर के साथ अन्य देय भी चुकाने होते थे, जो 'सलामी'(अफसरों को दिया जाने वाला नजराना), 'मौकर' (प्रत्येक घर पर यह कर लगाया गया था, कुमाऊँ में इसे घरही-पिछही तथा गढ़वाल में मौकर कहा गया। यह कर केवल आवश्यकता पड़ने पर ही लिया जाता था), 'घीउकर' (दुधारू पशुओं पर लिया जाने वाला कर), 'मिझारी' (ट्रेल के अनुसार श्रीनगर के चर्मकारों से लिया जाने वाला कर, पर पौ के अनुसार यह सारे राज्य के हरिजनों से लिया जाता था), 'टांडकर' (करघों से सूत, ऊन और भांग के वस्त्र बुनने वालों पर कर, डबराल के अनुसार ढांगू के कमीण के फर्दों में इसका पृथक उल्लेख नहीं है। संभवतः इसका कारण ढांगू में ऊन के वस्त्र बुनने वाले कोलियों की कमी रहा होगा), 'पबीला' (भांग का वस्त्र बुनने वाले) और भोटान्तिकों से भी टांडकर या चानकर लिया जाता था। 'सोन्या फागुन' (शासकों द्वारा मनाए जाने वाले उत्सवों की पूर्ति के लिए, इसमें निर्धारित राशि के अतिरिक्त अधिकारियों की संतुष्टि के लिए अन्य वस्तुएं, भैंसे, बकरे आदि भी देने पड़ते थे। संभवतः इसकी दर कमीण के विवेक पर आधारित थी), 'अधन्नी दफ्तरी' (एटकिंसन के अनुसार यह दफ्तरी (कानूनगो) के लिए एक रु. पुंगाड़ी पर आधा आना की दर से लिया जाने वाला कर तथा पौ के अनुसार कानूनगो, कमीण और पधानों के लिए लिया जाने वाला कर था), 'सायर या आयात निर्यात कर' (भूमि कर के बाद सबसे अधिक आय इसी से होती थी), इसके अलावा राज्य की खानों, टकसाल, वनों के ठेके, वनों की उपज से भी पर्याप्त आय होती थी। 'आसमानी फरमानी' (दैवी आदेश था, जिसके अन्तर्गत अनेक प्रकार के दण्ड आते थे (विस्तार के लिए देखें डबराल, उत्तराखण्ड का इतिहास, भाग 5)। आय के अन्य साधनों में 'ऊपरी रकम', जिसका उल्लेख मूरक्राफ्ट ने किया है, 'मरो' (किसी व्यक्ति के औता अर्थात बिना किसी पुरुष उत्तराधिकारी के मृत्यु होने पर चल अचल सम्पत्ति पर राजा का अधिकार), 'रहता' (गोरखा उत्पीड़न के कारण अपनी सम्पत्ति लेकर पलायन करने वाले लोगों की अवशेष सामग्री), 'बहता' (बहकर आया हुआ), 'कल्याण धन' (लोगों द्वारा सुरक्षा के लिए जमीन

में गाड़े हुए धन को राज्य द्वारा हस्तगत करना), दास विक्रय आदि थे। 'राखिया' (रक्षा बंधन के अवसर पर लिया जाने वाला कर), 'भेंट' (राजा या राजवंश के राजकुमारों को दिया जाने वाला नजराना), 'घोड़ियालो' (राजा के घोड़ों के लिए), 'कुकरयालो' (राजा के कुत्तों के लिए), 'बाजदार' (महाजन के लिए), 'बाजनिया' (नर्तक व नर्तकियों के लिए), 'भुकड़िया' (सईस के लिए), 'मांगा' (आवश्यकता पड़ने पर राजा द्वारा प्रजा से लिया जाने वाला धन), 'साहू व रतगली' (महाफीस तथा लेखक के लिए), 'खीणी-कपीणी' (बेगार), 'कटक' (राजा की फौज के लिए), 'स्युक' (राजा को मुकर्रर समय पर दिया जाने वाला नजराना), 'सायर' (आयात-निर्यात पर लगाया गया कर)। 'सलाम्या अथवा सलामी' (यह कर नजराने के रूप में लिया जाता था। बदरीदत्त पाण्डे के अनुसार यह अधिकारियों को नजराने के रूप में दिया जाने वाला कर था।) 'सोन्या फागुन' (उत्सवों तथा त्योहारों पर लिया जाता था। इसके अन्तर्गत निर्धारित राशि के अतिरिक्त कुछ अन्य वस्तुएँ भी थीं)। 'अधन्नी दपथरी' (दपथरी, कमीण और सयाणों से लिया जाने वाला कर), 'आसमानी-फरमानी' (यह एक प्रकार का जुर्माना था। विभिन्न प्रकार के दण्डस्वरूप इसकी वसूली की जाती थी)।

ब्रिटिश शासन के प्रारम्भ में इन सभी करों को हटाकर दो प्रकार के कर निर्धारित किए गये . (1) माल या भूमिकर (2) सायर-गैर कृषि राजस्व। बाद में सायर को आन्तरिक शुल्क में सम्मिलित किया गया और इनमें सीमाशुल्क, आबकारी, नमक कर तथा डाक कर भी सम्मिलित किए गये। जनसंख्या के आधार पर राजस्व का निर्धारण किया गया। इस युग में भूमिकर की वसूली पधानों के माध्यम से की जाती थी।

3.6.3 कर प्रणाली से संबंधित राजकीय कर्मचारी

कर प्रणाली में थातवान के अलावा सयाना, बूढ़ा, थोकदार, पधान, कोटाल आदि प्रमुख थे, जो कर वसूल करके राजकोष में जमा करते थे। बदरीदत्त पाण्डे के अनुसार जमीन कमाने वाले तथा राजा के बीच और भी कर्मचारी होते थे, जिनका जमीन पर हक था। चन्द परमार युग में कर प्रणाली से जुड़े अधिकारियों में नेगी (नेग अर्थात् कर वसूल करने वाला अधिकारी) और अधिकारी (तराई क्षेत्र का बन्दोबस्त संभालने वाला अधिकारी) प्रमुख थे। इनके अतिरिक्त कमीण, सयाणा, थोकदार, पधान, अमीन, कानूनगो, चौधरी या साहू (साउ) भू राजस्व की व्यवस्था के लिए उत्तरदायी थे।

कमीण/सयाणा/बूढ़ा या थोकदार— चन्द, परमार तथा गोरखा ताम्रपत्रों में उल्लिखित कमीण/सयाणा/थोकदार का तात्पर्य एक ही था। गढ़वाल के दक्षिण में कमीण तथा उत्तर में सयाणा शब्द का प्रयोग होता था। भोटान्तिक प्रदेश के थोकदार बूढ़ा या बुढ़े कहलाते थे। इन्हें प्रत्येक गाँव से नजराना तथा अपने गाँव में राजस्व मुक्त भूमि का एक भाग प्राप्त होता था। वे अपने क्षेत्र के पधानों से परंपरागत देय भी प्राप्त करते थे, जैसे पुत्री के विवाह पर दो रु., प्रत्येक मारी गई बकरी की एक टांग, एक माणा घी तथा सावन के महीने में एक टोकरी मक्का (मुगरी कण्डी) आदि।

पधान— थोकदार परगने में प्रत्येक गाँव के प्रभावशाली व्यक्तियों में से किसी को पधान के पद पर नियुक्त करके गाँव की राजस्व वसूली का कार्य सौंपता था। उसकी सेवाओं के बदले में उसे राजस्व मुक्त क्षेत्र पधानचारी के रूप में दिए जाते थे। उसका पद अस्थायी और थोकदार की कृपा पर निर्भर था।

अमीन— गाँवों की भूमि का मापन करते थे।

दपथरी— गोरखा शासन में दपथरी के नाम से पहचाने जाने वाले अधिकारी को ब्रिटिश शासन में कानूनगोनाम दिया गया। ये जागीरों का लेखा जोखा रखते थे।

अभ्यास प्रश्न

1. निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए

(क) चन्द परमार युगीन भूमिकर

(ख) कर प्रणाली से सम्बन्धित राजकीय कर्मचारी

2. नीचे लिखे प्रश्नों के उत्तर दीजिए।

(क) गोरखा कर प्रणाली की क्या विशेषताएँ थीं ?

3.7—सामाजिक वर्ग

उत्तराखण्ड से संबन्धित विभिन्न स्रोतों का अध्ययन करने पर स्पष्ट होता है कि समाज का मुख्य आधार वर्णाश्रम व्यवस्था थी। वर्ण व्यवस्था में ब्राह्मण तथा क्षत्रियों का प्रमुख स्थान था। इनके अतिरिक्त वैश्य वर्ग की कुछ जातियों को भी समाज में सम्मानित स्थान दिया गया था। अभिलेखों में शासन या दान के प्रसंग में वर्ण के नामों का उल्लेख हुआ है। राजा को गाय तथा ब्राह्मणों का हितैषी बताया गया है। समाज में दानग्रही के रूप में ब्राह्मणों का उल्लेख है। भूमिदान के प्रसंग में क्षत्रियों के नाम भी मिलते हैं, परन्तु इससे ब्राह्मण ही अधिक लाभान्वित होते थे। वैश्य वर्ग में सुनार/साउ चौधरी का उल्लेख दानपत्र उत्कीर्णन करने वालों के रूप में हुआ है। एटकिंसन ने अपने गजेटियर में विस्तार से सामाजिक वर्गों का उल्लेख किया है।

3.7.1 ब्राह्मण

उत्तराखण्ड के अभिलेखों में ब्राह्मणों का उल्लेख प्रायः भूमिदान के संदर्भ में ही हुआ है। इनसे धर्मग्रन्थों में उल्लिखित ब्राह्मणों के प्रमुख कार्यों (यजन, याजन, अध्ययन, अध्यापन, दान, प्रतिग्रह) के अतिरिक्त जीविका के अन्य साधनों का भी पता चलता है। कुछ ब्राह्मण कत्यूरी और चन्द- परमार राजाओं के समय में यहाँ आकर बसे। ये राजाओं के गुरु, पुरोहित, मन्त्री, पण्डित, वैद्य, ज्योतिषि आदि के रूप में निवृत्त हुए। कुछ मन्दिरों में पुरोहित, कथावाचक, ज्योतिषी का कार्य करने लगे। कुछ ब्राह्मण मंत्री तथा सेनापति के उच्च पद पर भी आसीन थे। चन्द दानपत्रों में ब्राह्मण सेनापति पुरुषोत्तम पन्त का उल्लेख मिलता है। रतूड़ी ने नरेन्द्र हिन्दू लॉ में लिखा है कि बाहर से आए ब्राह्मण यहाँ के खस ब्राह्मणों को अपने से हीन समझाते थे और स्वयं को शुद्ध या असली ब्राह्मण बताते थे। गढ़वाल में इनके दो मुख्य वर्ग थे—सरोला और गंगाड़ी। रतूड़ी, पातीराम, गैरोला, राहुल आदि ने बाहर से आए राजपूतों और ब्राह्मणों की लम्बी सूची दी है।

ब्रिटिश युगीन बन्दोबस्ती आख्याओं से पता लगता है कि कई ब्राह्मण कृषि कार्य में भी लगे हुए थे और थातवान, खायकर तथा सिरतानों के रूप में इनकी एक अच्छी संख्या थी। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में गढ़वाल में ब्राह्मणों में 10,916 थातवान, 3,830 खायकर तथा 2,991 सिरतान थे और कुमाऊँ में इनकी संख्या क्रमशः 29,632 थातवान तथा 7,427 खायकर थी। इन विवरणों से पता लगता है कि धीरे-धीरे ब्राह्मणों के लिए षट्कर्म के अतिरिक्त अन्य साधनों का अवलम्बन करना आवश्यक हो गया था।

3.7.2 राजपूत/जिमदार (क्षत्रिय)

उत्तराखण्ड में क्षत्रिय शब्द का प्रयोग ब्रिटिश अभिलेखों से पूर्व नहीं मिलता। लोक में इस वर्ग को जिमदार (जमींदार) कहा जाता था। इस वर्ग में जो लोग सम्पन्न और प्रभावशाली थे उनके लिए ठाकुर और आम लोगों को लिए खसिया (खश) अभिधान प्रचलित था। ब्राह्मणों की तरह ही बाहर से आए राजपूत स्वयं को शुद्ध और असली मानते थे और अपने को खस जाति से उच्च बताते थे। क्षत्रियों में भी दो वर्ग थे (1) शासक वर्ग, (2) जनसाधारण।

शासक वर्ग में राजा तथा शासन के प्रमुख पदाधिकारी थे। ब्राह्मणों के ही समकक्ष समाज में इनका पर्याप्त सम्मान था। शक्ति एवं सत्ता की दृष्टि से ये ब्राह्मणों से कहीं बढ़कर थे। राजा बड़ी-बड़ी उपाधियाँ एवं विरुद्ध धारण करते थे। शासक वर्ग में दूसरी श्रेणी में राज्य के प्रमुख अधिकारी थे, जो शासन के प्रत्येक कार्य में राजा की सहायता करते थे। ताम्रपत्रों में इनकी विस्तृत नामावली मिलती है।

मध्ययुग में इन अधिकारियों का स्थान कुछ विशिष्ट क्षत्रिय जातियों ने ले लिया, जिनमें नेगी, बिष्ट, कार्की, कैड़ा, फर्त्याल, बोहरा, भण्डारी, भाट, महारा, राउत आदि जातियों में उत्पन्न व्यक्ति किसी न किसी पद पर थे या प्रतिष्ठा प्राप्त थे। राजकीय पदों के अलावा यह वर्ग कृषि कार्य में भी संलग्न था।

ब्रिटिश शासन के दौरान क्षत्रिय वर्ग का महत्व कम हो गया, क्योंकि यह पूर्व की भाँति शक्तिशाली शासक वर्ग नहीं रह गया था। इसकी स्थिति कुछ अवनत होकर भूस्वामी वर्ग में केन्द्रित हो गई। इनमें रजवार प्रमुख थे।

3.7.3 वैश्य

इस वर्ग का द्विज में तीसरा स्थान था। चन्द-परमार दानपत्रों में वैश्य वर्ग की विभिन्न जातियों के नाम आये हैं, जिनमें सुनार (स्वर्णकार), सेठि, साउ (साहू) आदि प्रमुख हैं। सुनार आभूषण निर्माण के अतिरिक्त दानपत्रों में लेख अंकित करने का कार्य भी करता था। इसी कारण लगभग प्रत्येक दानपत्र में सुनार का उल्लेख मिलता है। अपने व्यवसायों के आधार पर इस वर्ग की पृथक-पृथक बस्तियाँ/सन्निवेश थे।

बदरीदत्त पाण्डे ने वैश्य वर्ग के अन्तर्गत कुमाऊँ के साह तथा उसके अनेक उपवर्गों – तुलघरिये, गंगोला, कुमैये, तोला, जगाती, खोलभितरिया, चौधरी आदि का उल्लेख किया है। साथ ही अग्रवाल, खत्री, कायस्थ आदि बाहर से आकर बसे वैश्य वर्ग के बारे में भी सूचना दी है।

3.7.4 शिल्पकार

शिल्पकार वर्ग के अन्तर्गत कम से कम चार उपवर्ग थे, जो अनेक उपजातियों में बँटे थे। इन उपजातियों को भी समाज में एक दूसरे से छोटा बड़ा समझा जाता था।

1. **वादक, नर्तक उपवर्ग**— इसके अन्तर्गत औजी, बाजगी, बेड़ा (बेड़ी), ढाकी, अठपहरिया, डोंडी, गडोई, भाट, हुड़किया, वादी, भांड आदि उपजातियाँ थीं। इस उपवर्ग को हरिजनों में सबसे छोटा माना जाता था।
2. **शिल्पकार उपवर्ग**— इसके अन्तर्गत परंपरागत शिल्पों से जीविका चलाने वाले ओड़ और मिस्तरी (बढ़ई), लोहार, भदेलिया, टमटा, धलोठी (लोहे या ताँबे के पात्र बनाने वाले), धानिक (धनुष बाण बनाने वाले), मोची, बाड़ी, पुम्मी, नगरची (चमड़े के जूतों का निर्माण), बारुड़ी या रुड़िया (बाँस तथा

रिंगाल से टोकरियाँ, सूप, अन्न आदि रखने के बर्तन तथा चटाइयों का निर्माण), दरजी या औजी(वस्त्रों की सिलाई), भूल(तेल पिराई) आदि।

3. **ग्रामसेवक उपवर्ग**— इनमें झूलिया (झूलों का निर्माण और रक्षा करने वाले), धुनार (डोंगी द्वारा नदी पार कराने वाले), डूमजोगी या डूमनाथ (ओलों से खेतों की रक्षा करने वाले) आदि।
4. **हलिया**— परंपरागत हल चलाने वाले दास
5. **कोली**—कपड़ा बुनने का व्यवसाय करते थे। इनकी स्थिति हरिजन से ऊँची मानी जाती थी।

3.7.4 भोटांतिक

भोटांतिक घाटियों के निवासी जाड़, मारछा, नितवाल, तोलछा और जोहारी स्वयं को दोबासा (दो स्थानों पर निवास करने वाले) या उबदेशी(उच्च देशवासी) बताते थे और राज्य के शेष भागों के निवासियों को गंगाड़ी कहते थे। भोटांतिक गाँवों में भी उनके अपने हरिजन होते थे (डबराल, भाग 4)।

3.7.5 **खस (खसिया)**— एटकिंसन का अनुमान है कि कुमाऊँ की बिठ (सवर्ण) जातियों के 90 प्रतिशत का संबंध खस जाति से था। खस जाति अनेक उपवर्गों में बँटी थी, जिनकी स्थापना उनके पूर्वजों ने पहाड़ी ढालों को खोदकर खेतों का निर्माण करके की थी। कुछ उपजातियों की गणना ब्राह्मणों में की जाती थी। खस ब्राह्मणों और खस राजपूतों में खान-पान तथा रीति-रिवाज की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं था। पातीराम के अनुसार पहले गढ़वाल में खस अधिक थे। अब इनमें से बहुतों ने स्वयं को क्षत्रियों के समान बना लिया है। डी. डी. शर्मा की पुस्तक (देखें संदर्भ) में इस जाति के बारे में विस्तार से चर्चा है।

3.7.6थाडू

बदरीदत्त पाण्डे के अनुसार इस जाति के लोग कुमाऊँ और नेपाल की तराई में बहुत प्राचीन काल से रहते आए हैं। नैनीताल की तराई की किच्छा तहसील से लेकर शारदा नदी के किनारे ज्यादा रहते हैं।

3.7.7बोक्सा

ये पीलीभीत जिले के तराई भाबर से लेकर पूर्व में चाँदपुर तक पाए जाते हैं। पश्चिम में गंगा नदी के किनारे तक और कुछ कुछ देहरादून में भी बसे हैं। ये अपने को पँवार राजपूत कहते हैं। आइन-ए-अकबरी परगना बक्सी का उल्लेख है, जिसकी पहचान बुक्साड़ से की गई है।

3.7.8 राजी

ये अस्कोट के निवासी हैं। पौराणिक राज्य किरातों से इनका साम्य स्थापित किया जा सकता है।

3.7.9 अन्य समूह

इस वर्ग के अन्तर्गत दानपत्रों में अंकित नाथ, गिरि, पुरी, बन, भारती, गोसाई, आदि तथाकथित बैरागी समुदाय को लिया जा सकता है। ये लोग भिक्षुओं की तरह जीवन व्यतीत करते थे। इनमें अधिकतर

सामान्य जनता की तरह गृहस्थ थे। कुछ मठों में रहते थे। राजाओं द्वारा मन्दिरों तथा मठों के लिए दान का विवरण अभिलेखों में मिलता है। मठों की संपदा के कारण समाज में काफी प्रभावशाली थे।

3.7.10 नायक

इन्हें चन्द राजाओं की देवदासियों की संतान माना जाता है। पातीराम ने इन्हें खस राजपूत, गंगादत्त उप्रेती ने शूद्र कोटि का तथा एल० डी० जोशी ने खस बताया है। नायक लोग प्रमुख रूप से नैनीताल जिले की पट्टी रामगढ़ तथा हल्द्वानी में, अल्मोड़ा जिले की पट्टी गिवाड़, चौकोट, नया, मल्ला, तिखोन, खासपरजा, कटारमल गाँव, सोर परगने की सौन, सेटी, महर, बल्दिया, काली-कुमाऊँ परगने की गुमदेश, खिलपतीफाट, रेगडूबान, गंगोल तथा पालबेलोन पट्टियों में एवं गढ़वाल जिले की पट्टी मल्ला व तल्ला कालीफाट, लंगूर और उदपुर मल्ला में बसे हुए थे।

अभ्यास प्रश्न

1. निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए

(क) क्षत्रिय वर्ग

(ख) शिल्पकार वर्ग

2. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए

(क) मध्यकालीन उत्तराखण्ड के समाज के बारे में बताइए। आप किस प्रकार वर्तमान से उसमें भिन्नता पाते हैं।

4.0 सारांश

इस संपूर्ण अध्ययन में आपने मध्ययुगीन उत्तराखण्ड में कृषि, सैन्य व्यवस्था, व्यापार, कर प्रणाली और सामाजिक वर्ग से सम्बन्धित विभिन्न पक्षों का अध्ययन किया। इस युग में भूमि पर राजा के सर्वोपरि अधिकार को चुनौती नहीं दी जा सकती थी, किन्तु राज्य के अन्तर्गत रहने वाले कृषकों को परम्परागत रूप से कृषि करने का अधिकार था। राजा के बाद भूमि पर थातवान, खायकर, सिरतान आदि के सत्त्व से आप परिचित हुए। विभिन्न ताम्रपत्रों एवं बन्दोबस्ती आख्याओं के माध्यम से कृषि भूमि के अनेक प्रकार, कृषि कार्य में प्रयुक्त होने वाले उपकरणों, फसलों व फसल चक्र आदि के अध्ययन से आपने यह तादात्म्य स्थापित किया होगा कि उत्तराखण्ड के पर्वतीय क्षेत्रों में आज भी वही पद्धतियाँ मौजूद हैं, जो उस युग में थीं। किसी भी राज्य की शक्ति के मुख्य आधार के रूप में उसकी सेना की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। आप चन्द परमार तथा गोरखा सेनाओं की विविधताएँ, उनके द्वारा प्रयुक्त अस्त्र-शस्त्र, सैनिकों का वेतन, रक्षात्मक उपायों, किलों, छावनियों आदि के बारे में विस्तार से अवगत हुए। इस युग में दक्षिणवर्ती इलाकों में आक्रमणों से सुरक्षा हेतु अनेक सन्निवेश बनाए गए। व्यापार वाणिज्य की प्रगति के साथ ही नए केन्द्रों और मण्डियों का विकास हुआ, जहाँ विभिन्न क्षेत्रों से आने वाली वस्तुओं का विनिमय विक्रय होता था। भूमिकर राज्य की आय का प्रमुख साधन था। अन्य अनेक देय भी समय समय पर लिए जाते थे। इन करों को वसूलने के लिए विभिन्न राजकीय कर्मचारी थे। इस समग्र मध्य युग में उत्तराखण्ड में समाजिक संगठन का मुख्य आधार वर्णाश्रम व्यवस्था थी। चार प्रमुख वर्णों के अलावा उसके उपवर्गों के रूप में अन्य समुदायों के उल्लेख भी मिलते हैं। व्यवसाय पर आधारित जाति-वर्गों के नाम भी ताम्रपत्रों में आए हैं।

5.0 तकनीकी शब्दावली

खुदकाशत—गाँवों में स्वयं अथवा दूसरों के माध्यम से अपनी भूमि पर खेती करने वाले लोग खुदकाशत के अन्तर्गत आते थे। राज्य द्वारा निर्धारित राजस्व न देने पर वे कृषि भूमि से हटाए जा सकते थे।

हाट— पहाड़ों के ऊपरी क्षेत्र में स्थित व्यापारिक केन्द्र

घाट— पहाड़ों के नीचे नदी तट पर स्थित व्यापारिक केन्द्र

हुणदेश—(तिब्बत)

6.0 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

खण्ड 3.3 – 1. (क) देखें 3.3.1 (ख) देखें 3.3.4

2. (क) देखें 3.3.2 (ख) देखें 3.3.3

खण्ड 3.4 – 1. (क) देखें 3.4.2 (ख) देखें 3.4.3

2. (क) देखें 3.4.4

खण्ड 3.5 – 1. (क) देखें 3.5.1 (ख) देखें 3.5.3

2. (क) देखें 3.5 (व्यापार)

खण्ड 3.6 – 1. (क) देखें 3.6.2 (ख) देखें 3.6.3

2. देखें 3.6.2

खण्ड 5.7 – 1. (क) देखें 3.7.2 (ख) देखें 3.7.4

2. देखें 3.7

7.0 सहायक संदर्भ ग्रंथ

1. ए स्टैटिस्टिकल स्केच ऑफ कुमाऊँ, जॉर्ज विलियम ट्रेल, एशियाटिक रिसर्च, भाग 16, 1828

2. एशियाटिक रिसर्च, भाग 11, 1818

3. वी.ए. स्टोवेल, मैनुएल ऑफ द लैण्ड टेन्योर्स ऑफ द कुमाऊँ डिवीजन, इलाहाबाद (1906)

4. ई.टी. एटकिंसन, गजेटियर ऑफ द हिमालयन डिस्ट्रिक्ट्स, खण्ड 3, भाग 1 व 2, दिल्ली 1973

5. शिवप्रसाद उबराल, उत्तराखण्ड का इतिहास, भाग 1, 4, 5 व 8, दोगड़डा, गढ़वाल (1965 से 1986)

6. बदरीदत्त पाण्डे, कुमाऊँ का इतिहास, अल्मोड़ा, 1937

7. पातीराम, गढ़वाल एंशेंट एण्ड मॉडर्न, शिमला, 1917

8. एस. डी. पन्त, द सोशियल इकोनॉमी ऑफ द हिमालयन्स, लन्दन, 1922

9. डी.डी. शर्मा, हिमालय के खश एक ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक विश्लेषण (पहाड़, नैनीताल, 2006)

10. नीरप्रभा, वी.डी.एस. नेगी, कुमाऊँ (मध्य हिमालय) समाज एवं संस्कृति, मल्लिका बुक्स, दिल्ली 2008

11. किरन त्रिपाठी—उत्तराखण्ड का ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक भूगोल (ज्ञानोदय प्रकाशन, नैनीताल, 2006)

12. चन्द्र सिंह चौहान, कुमाऊँ में सैन्य परंपरा, मध्य हिमालय, 1993

10.0 निबंधात्मक प्रश्न

1. मध्ययुगीन उत्तराखण्ड में कृषिकरण पर एक निबंध लिखिए।
2. मध्ययुगीन उत्तराखण्ड की सैन्य व्यवस्था पर प्रकाश डालिए।
3. मध्यकाल में उत्तराखण्ड के व्यापार की क्या विशेषताएँ थीं ?
4. मध्ययुगीन उत्तराखण्ड में समाज के बारे में बताइए। आप किस प्रकार इसमें वर्तमान से भिन्नता पाते हैं ?

मध्यकालीन उत्तराखण्ड का मुगल सत्ता से सम्बन्ध

- 4.1 उद्देश्य
- 4.2 प्रस्तावना
- 4.3 उत्तराखण्ड और सूर शासन
- 4.3.1 खवास खाँ को कुमाऊँ में आश्रय
- 4.4 अकबर का काल (1556-1605)
 - 4.4.1 अकबर के काल में हुसैन खाँ टुकड़िया के धावे (वजराइल, अजमेर, बसन्तपुर)
 - 4.4.2 सुल्तान इब्राहीम का आक्रमण
 - 4.4.3 कुमाऊँ सरकार
 - 4.4.4 कुमाऊँ का शासक रुद्रचन्द और मुगल
- 4.5 जहाँगीर का काल (1605-1627)
 - 4.5.1 कुमाऊँ का शासक लक्ष्मीचन्द (1597-1621) और मुगल
 - 4.5.2 गढ़वाल के शासक मानशाह (1591-1611), श्यामशाह (1611-1630) और मुगल
- 4.6 शाहजहाँ का काल (1627-1658)
 - 4.6.1 महीपतिशाह (1631-35), रानी कर्णावती(नककट्टी रानी)(1635-40) और मुगल
 - 4.6.2 दून प्रदेश पर मुगल अधिकार तथा सलाण पर आक्रमण
(क) शेरगढ़ (ख) कानीगढ़/वैराटगढ़ (ग) सन्तूरगढ़ (घ) सलाण पर आक्रमण
 - 4.6.3 पृथ्वीपतिशाह (1640-1664) और मुगल
 - 4.6.4 खलीलुल्ला खाँ के अभियान और दून प्रदेश पर अधिकार(1654-55)
 - 4.6.5 कासिम खाँ का आक्रमण तथा पृथ्वीपतिशाह (2 जनवरी 1656)
 - 4.6.7 बाजबहादुरचन्द (1638-1678) और मुगल
- 4.7 औरंगजेब का काल (1658-1707)
 - 4.7.1 सुलेमान शिकोह को आश्रय— पृथ्वीपतिशाह(1640-1660) और मेदिनीशाह(1660-64 से 1684)
 - 4.7.1.2 बुटौलगढ़ जीतने का आदेश तथा दून का फरमान
 - 4.7.2 बाजबहादुरचन्द का गढ़वाल पर तीसरा आक्रमण (1665) और मुगल संबंध
 - 4.7.3 फतेशाह(1685-1716) का राज्यकाल और गढ़वाल-मुगल संबंध
- 4.8 उत्तराखण्ड और परवर्ती मुगल शासकों से संबंध
 - 4.8.1 कुमाऊँ का शासक जगतचन्द (1708-1720) और मुगल
 - 4.8.2 कुमाऊँ का शासक देवीचन्द (1720-1727) और मुगल
 - 4.8.3 कुमाऊँ का शासक कल्याणचन्द (1730-1748) और मुगल
 - 4.8.4 कुमाऊँ का शासक कल्याणचन्द (1730 से 1748) और मुगल
- 4.9 समाज एवं संस्कृति पर प्रभाव
- 4.10 सारांश
- 4.11 तकनीकी शब्दावली
- 4.12 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 4.13 सहायक संदर्भ ग्रन्थ
- 4.14 निबन्धात्मक प्रश्न

4.1 उद्देश्य

इस इकाई में आप उत्तराखण्ड के मुगल सत्ता से संबंधों पर अध्ययन करेंगे।

- आप यह समझ पाने में सक्षम होंगे कि किस प्रकार मध्यकाल में यह क्षेत्र मुगल शासकों के लिए महत्वपूर्ण रहा।
- इसे पढ़ने के बाद आप मुगल काल में उत्तराखण्ड के क्षेत्रीय इतिहास को भारत के इतिहास के साथ परिभाषित कर पाने में सक्षम होंगे।
- आप समाज एवं संस्कृति पर पड़े प्रभावों से भी परिचित होंगे।

4.2 प्रस्तावना

मध्ययुग में उत्तराखण्ड के पर्वतीय क्षेत्र— कुमाऊँ में चन्द तथा गढ़वाल पर परमार (पैवार) राजाओं का शासन था। पर्वतों की तलहटी में स्थित इलाकों में ये राजा मुगलों की अधीनता में शासन कर रहे थे। 1526 ई. में पानीपत के प्रथम युद्ध में इब्राहीम लोदी को पराजित करके दिल्ली में मुगल सत्ता की स्थापना के उपरान्त अगले चार वर्ष तक बाबर विभिन्न विजयों द्वारा साम्राज्य को सुदृढ़ करने में लगा रहा। वह अपने राज्य के उत्तर में तराई-भाबर के जंगलों और दलदलों से युक्त सीमा के पार स्थित मध्य हिमालय के पर्वतीय राज्यों की ओर कोई ध्यान नहीं दे सका (जैदी एस.ए.एच. एवं रेहाना जैदी, गढ़वाल मुगल संबंध)। 1530 ई. में उसकी मृत्यु के बाद उसका पुत्र हुमायूँ शासक बना। शेरशाह के साथ संघर्षों के कारण उसका शासन काल भी उथल-पुथल और अस्थिरता से भरा रहा। उत्तर भारत में लगातार चल रही राजनीतिक अस्थिरता और आक्रमणों आदि के कारण कुमाऊँ तथा गढ़वाल के राज्यों में पर्वतों की तलहटी में स्थित और उससे लगे पर्वतीय प्रदेश समय-समय पर आब्रजकों/विभिन्न धर्मों/जातियों के लोगों की शरण स्थली बन गए। इसके अलावा शासन से विद्रोह करने वाले सरदार भी भाग कर इन्हीं क्षेत्रों में अपना आश्रय स्थल बनाते थे, जिसके कई उदाहरण आप इस अध्ययन में देखेंगे। एक और बात आपके ध्यान देने योग्य है कि तत्कालीन मुस्लिम इतिहासकारों के विवरणों में गढ़वाल के परमार राज्य को श्रीनगर तथा कुमाऊँ के चन्द राज्य को कुमाऊँ राज्य कहा गया है।

4.3 उत्तराखण्ड और सूर शासन

4.3.1 खवास ख़ाँ को कुमाऊँ में आश्रय

इस्लाम शाह और आदिल खान के बीच सत्ता प्राप्ति के संदर्भ में 1545 ई. में अफगान सरदार खवास ख़ाँ का उल्लेख मिलता है। इन दिनों सूर साम्राज्य की सीमा गढ़वाल और कुमाऊँ के दक्षिण में भाबर-तराई के इलाके से सटी थी। आदिल खान के सहायक खवास ख़ाँ ने कुमाऊँ की निचली पहाड़ी ढालों पर अपना आश्रय बनाकर इस्लाम शाह के निकटवर्ती शासित प्रदेश में लूटमार करना प्रारम्भ कर दिया

(तारीख - ए - दाऊदी)। कुमाऊँ के शासक माणिक चन्द ने खवास खाँ के निर्वाह के लिए कुछ गाँव जागीर के रूप में तथा दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कुछ नकद राशि देने प्रारंभ की। खवास खाँ तीन बार अपनी सेना और तोपों को लेकर गढ़वाल की तलहटी से होकर गया और लौटा। डबराल लिखते हैं कि संभवतः गढ़वाल के समकालीन शासक अजेय पाल की भी खवास खाँ से सहानुभूति थी, जिससे उसने दिल्ली के बादशाह के विद्रोही सरदार को अपने राज्य से होकर आने जाने की सुविधा दे दी। इस्लाम शाह ने संभल के सूबेदार को कुमाऊँ के शासक की शरण से इस्लाम शाह को वापस लाने के आदेश दिए, पर माणिकचन्द ने शरणागत को छोड़ने से इन्कार कर दिया। इस पर इस्लाम शाह ने खवास खाँ के साथ पत्र व्यवहार से काम लिया और संभल पहुँचते ही उसकी हत्या करवा दी (हौडीवाला, स्टडीज इन इण्डो मुस्लिम हिस्ट्री, पृ. 400)। वूल्जले हेग ने इसे 1546 की घटना बताया है। वॉल्टन, बद्रीदत्त पाण्डे तथा राहुल के अनुसार माणिक चंद का राज्यकाल 1533 से 1542 तक रहा। डबराल के अनुसार माणिक चंद के राज्यकाल में यह घटना हुई तो उसके राज्यकाल की अंतिम तिथि 1546 से पहले नहीं हो सकती।

अभ्यास प्रश्न

1. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए

(क) उत्तराखण्ड और सूर शासन

4.4 अकबर का काल(1556-1605)

अकबर के शासनकाल में गढ़वाल राज्य की दक्षिणी सीमा का विस्तार हरिद्वार के पास गंगा के पूर्वी तट पर चंडीघाट तक था। वहाँ से पूर्व की ओर नजीबाबाद और अफजलगढ़ तक का प्रदेश गढ़वाल राज्य के तथा हरिद्वार से पश्चिम की ओर वर्तमान सहारनपुर तक अधिकांश मैदानी भाग मुगल साम्राज्य के अंतर्गत था। ऋषिकेश से देहरादून तक फैली घाटी गढ़वाल राज्य में थी। इस प्रकार अकबर के समय में गढ़वाल की दक्षिणी सीमा मुगल राज्य की उत्तरी सीमा से मिलती थी।

अकबर के शासनकाल में हरिद्वार उसके राज्य के अन्तर्गत था। आइन-ए-अकबरी से पता चलता है कि इस अवधि में यहाँ ताँबे के सिक्के ढालने की टकसाल भी थी। डबराल के अनुसार "संभवतः गढ़वाल राज्य में परमार मुद्राओं के साथ-साथ मुगलों की ताम्र मुद्राएँ भी प्रचलित थीं। यहाँ से प्राप्त निधियों में प्रायः मुगलकालीन दाम, अधेले, दमड़ियाँ आदि पाई गई हैं।" हरिद्वार से प्रतिदिन सीलबन्द घड़ों में अकबर के दैनिक जीवन में उपभोग के लिए ऊँटों से दिल्ली व आगरा गंगाजल भेजा जाता था। अक्टूबर 1560 में अकबर ने बैरमखाँ के विरुद्ध शिवालिक की ओर प्रयाण किया और बैरम खाँ को शरण देने वाले पर्वतीय राजाओं को पराजित करके वापस लौटा। 1593-94 में अकबर को पुनः शिवालिक पहाड़ियों के जमींदारों (राजाओं) के दमन के लिए एक सेना भेजनी पड़ी। अकबरकालीन ग्रंथों से पता चलता है कि श्रीनगर गढ़वाल और मुगल दरबार के बीच दूतों का आवागमन होता रहता था, किन्तु राज्य सर्वथा स्वतंत्र था और गढ़वाल के राजाओं ने अकबर की अधीनता स्वीकार नहीं की थी। एस.ए.एच. जैदी एवं रेहाना जैदी के अनुसार यदि ऐसा होता तो समकालीन इतिहास लेखकों, विशेषकर अबुल फजल ने इसका उल्लेख अवश्य किया होता। एस. एस. नेगी द्वारा दिए गए डबराल के एक उल्लेख के अनुसार अकबर द्वारा गढ़वाल राजा के अधीन भू-प्रदेश में स्थित पाण्डुकेश्वर मन्दिर में घंटा चढ़ाए जाने का पुरातात्विक साक्ष्य भी यह सिद्ध करता

है कि अकबर एवं उसके समकालीन गढ़वाल के राजाओं के बीच दौत्य संबन्ध थे। कुमाऊँ राज्य भी 1587 ई. तक किसी न किसी रूप में स्वतंत्र बना रहा। किंतु उस वर्ष राजा रुद्रचन्द ने अकबर की अधीनता स्वीकार कर ली। फलतः कुमाऊँ भी एक प्रकार से मुगल साम्राज्य का अधीनस्थ राज्य समझा जाने लगा।

4.4.1 अकबर के काल में हुसैन खाँ टुकड़िया के धावे (वजराइल-अजमेर और बसन्तपुर)

इनके बारे में आप विस्तार से ब्लॉक चार की इकाई चार के 'तराई भाबर का इतिहास' शीर्षक के अन्तर्गत पढ़ चुके हैं। बदायूनी के अनुसार टुकड़िया ने शिवालिक पर्वत के मन्दिरों की समृद्धि तथा राजाओं के कोष में अपार धनराशि के बारे में सुना था। अतः सेना के साथ साहसपूर्वक आगे बढ़ते हुए उसने पर्वतीय प्रदेश के शक्तिशाली जमींदार (राजा) रैंका के राज्य के अन्तर्गत वजराइल कस्बे तक का सारा प्रदेश और उस कस्बे से लेकर रैंका की राजधानी अजमेर तक के सारे प्रदेश को उजाड़ डाला। रैंका के राज्य में सोने और चाँदी की खानें थीं तथा रेशम, कस्तूरी और तिब्बत के समस्त उत्पाद वहाँ उपलब्ध होते थे। (मुन्तखब उत तवारीख) एटकिंसन ने रैंका राजा की पहचान डोटी के रैंका राजा से तथा वजराइल की पहचान डोटी राज्य की शीतकालीन राजधानी जूराइल और अजमेर की डोटी राज्य के अजमेरगढ़ से की है। (एटकिंसन/2/2/545) डबराल ने अजमेर को गढ़वाल के अजमेर तथा वजराइल को गंगा सलाण के अन्तर्गत बदलपुर माना किया है। (4/223) अजमेर को निस्सन्देह गंगा सलाण परगने में स्थित अजमेर नामक पट्टी से समीकृत किया जा सकता है। आइन-ए-अकबरी में हुसैन खाँ टुकड़िया के कुमाऊँ के बसन्तपुर (वर्तमान देहरादून के पास बसन्तपुर नामक गाँव) नामक स्थान पर धावे का उल्लेख है।

कुमाऊँ में प्रचलित अनुश्रुति के अनुसार टुकड़िया की मृत्यु के बाद कुमाऊँ के राजा रुद्रचन्द ने पुनः नेपाल की तराई पर अधिकार कर लिया था। बदरीदत्त पाण्डे ने इसका विवरण दिया है कि "जब कटेहर का मुगल हाकिम भारी सेना के साथ तराई पर अधिकार करने के लिए आया तो रुद्रचन्द ने द्वन्द्व युद्ध में उसे हरा दिया।" हौडीवाला के अनुसार "यह निश्चित है कि अकबर के मनसबदारों को गढ़वाल-कुमाऊँ के पर्वतीय प्रदेश पर स्थायी अधिकार प्राप्त करने में सफलता नहीं मिली थी।"

इस अवधि में गढ़वाल में सहजपाल और बलभद्रशाह का शासन था। (रतूड़ी के अनुसार 1575 और डबराल के अनुसार 1581) अकबरनामा के अनुसार 1581 में कुमाऊँ के पर्वतीय प्रदेश के एक राजा का नाम रामशाह था। डबराल ने अकबरनामा के रामशाह की पहचान बलभद्रशाह से की है। भूतकवि ने मानोदयकाव्य सहजपाल की प्रशंसा है। उसके राज्य में लूटमार करते समय ही टुकड़िया को मरणांतक घाव लगा था (डबराल)।

4.4.2 सुल्तान इब्राहीम का आक्रमण

तबकात ए अकबरी में सुल्तान इब्राहीम द्वारा कुमाऊँ के दामन-ए-कोह पर आक्रमण का उल्लेख है। बदरीदत्त पाण्डे ने इसे तराई-भाबर का इलाका माना है। संभवतः यह नाम खोह नदी के तटवर्ती क्षेत्र अर्थात् खोहद्वार (वर्तमान कोटद्वार) के लिए प्रयुक्त हुआ है क्योंकि अकबर के समय में तराई-भाबर का इलाका कुमाऊँ सरकार के नाम से जाना जाता था।

4.4.3 कुमाऊँ सरकार

(विस्तार के लिए देखें ब्लॉक चार की इकाई चार – 'तराई-भाबर का इतिहास') आइन-ए-अकबरी में कुमाऊँ के दक्षिणवर्ती क्षेत्र तराई-भाबर के इलाके के लिए कुमाऊँ सरकार नाम का उल्लेख है। चन्द ताम्रपत्रों में रौत या जागीर आदि के रूप में जिन स्थानों को दान में दिया गया है, उनमें से कुछ इन प्रशासनिक क्षेत्रों में भी विद्यमान थे। इससे लगता है कि कुमाऊँ सरकार चन्द राजाओं के अधीन मुगल साम्राज्य का एक जिला था। इसके आधिपत्य के बदले में चन्द शासक मुगल बादशाह को भेंट तथा नजराना देते थे। मुगल प्रशासनिक व्यवस्था से इसकी पुष्टि होती है, जिसके अन्तर्गत मुगल अधिकृत क्षेत्रों में दो प्रकार के सरकारों (जिलों) का अस्तित्व था, पहले जिनमें बादशाह द्वारा मुगल अधिकारियों की नियुक्ति की जाती थी तथा दूसरे, जो करद राजाओं के अधीन थे (बी.एन. पुरी, ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एडमिनिस्ट्रेशन)।

प्रारम्भ में कुमाऊँ के दक्षिणवर्ती क्षेत्र में मुगल विस्तार का प्रमुख कारण कटेहर में अकसर होने वाले उपद्रव थे। कटेहर मूलतः रुहेलखण्ड का क्षेत्र था। मुगल साम्राज्य का सीमावर्ती क्षेत्र होने के कारण विद्रोही सरदारों की बगावत के लिए यह सर्वाधिक उपयुक्त स्थान था। शाही सेना द्वारा विद्रोह का दमन किए जाने की स्थिति में ये कुमाऊँ गढ़वाल की पहाड़ियों में शरण ले सकते थे। इसका प्रभाव चन्द-परमार राज्यों पर पड़ना भी स्वाभाविक था।

4.4.4 कुमाऊँ का शासक रुद्रचन्द (1568-1597) और मुगल

लगातार हो रहे उपद्रवों तथा धावों के कारण सामरिक तथा आर्थिक दृष्टि से महत्वपूर्ण क्षेत्रों पर अधिकार करने के चन्दों के प्रयत्न विफल हो रहे थे। अतः इन हमलों को रोकने के लिए तथा तराई की जागीर प्राप्त करने की फरियाद लेकर अथवा अपने शौर्य (नागौर दुर्ग का घेरा) से राजा रुद्रचन्द 1588 में लाहौर में अकबर के शिविर में बादशाह के लिए चँवरगाय, मृत कस्तूरामृग आदि वस्तुओं की भेंट लेकर उपस्थित हुआ। बादशाह की आज्ञानुसार वह अपनी सेना लेकर शाही सेना के साथ नागौर के युद्ध में भाग लेने गया। बदरीदत्त पाण्डे के अनुसार वहाँ उसकी वीरता से प्रसन्न होकर बादशाह ने उसे चौरासी माल (तराई) की जागीर का फरमान दिया। चौरासी माल को नौलखिया माल भी कहा गया है (संभवतः क्षेत्र विस्तार चौरासी कोस होने और यहाँ से नौ लाख रुपए के राजस्व की प्राप्ति होने के कारण ये नाम दिए गए। इसके अन्तर्गत निम्न परगने थे— सहजगिर (जसपुर), कोटा (काशीपुर), मुंडिया (बाजपुर), गजरपुर (गदरपुर), बुक्साड़ (रुद्रपुर), बक्सी (नानकमत्ता) तथा छिनकी (सरबना)।

अभ्यास प्रश्न

1. निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए

(क) कुमाऊँ सरकार

(ख) रुद्रचन्द और मुगल संबंध

2. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए

(क) मानोदयकाव्य की रचना किसने की?

4.5 जहाँगीर का काल (1605-1627)

4.5.1 कुमाऊँ का शासक लक्ष्मीचन्द (1597-1621) और मुगल

जहाँगीरनामासे पता चलता है कि 1612 में लक्ष्मीचन्द जहाँगीर के दरबार में उपस्थित हुआ और उसने बादशाह को पहाड़ी टट्टू, गूठ (घोड़े), अनेक शिकारी पक्षी जैसे बाज, जुर्रा आदि, कस्तूरी से भरी नाभि, नाभि सहित कस्तूरी मृग की पूरी खालें, अनेक प्रकार के खड्ग, जिन्हें खांडा या कटार कहा जाता है, आदि भेंट कीं। जहाँगीर ने लक्ष्मीचन्द को पर्वतीय प्रदेश का एक बड़ा राजा और पर्वतीय राजाओं में सबसे धनी बताया है। साथ ही उसके राज्य में सोने की खान का भी उल्लेख किया है।

जहाँगीरनामा से आपको यह भी पताचलता है कि इस भेंट के बाद भी लक्ष्मीचन्द कुछ समय मुगल दरबार में उपस्थित होता रहा। जहाँगीर ने उसे सौ घोड़े, एक हाथी, खिलअत तथा एक जड़ाऊछुरा दिया। उसके भाइयों को भी खिलअत तथा घोड़े दिए। जहाँगीर लिखता है कि पहले प्रबन्ध के अनुसार हमने उसका राज्य उसे दे दिया। डबराल के अनुसार उसका पिता रुद्रचन्द अपने राज्य का स्वतंत्र स्वामी था। उसे केवल तराई की जागीर बादशाह की ओर से दी गई थी, किन्तु बाद में उसका सारा राज्य ही बादशाह द्वारा दिया गया माना जाने लगा(भाग 10, पृ.116)। जहाँगीरनामा से ही विदित होता है कि लक्ष्मीचन्द समय समय पर राजभक्ति प्रदर्शित करना उचित समझता था। 1620 ई. में दी गई भेंटों का उल्लेख है। संभवतः इस बार उसने ये वस्तुएँ अपने किसी प्रतिनिधि या भाई के माध्यम से भेजीं। जहाँगीर की आत्मकथा में उसके उपस्थित होने का उल्लेख नहीं है और न ही संबन्धित प्रतिनिधि का।

4.5.2 गढ़वाल के शासक मानशाह (मानपाल) (1591-1611), श्यामशाह(1611-1630)और मुगल

मानशाह के अकबर तथा जहाँगीर के साथ मैत्रीपूर्ण संबंध थे। मानशाह और श्यामशाह के सभाकवि भरत का ज्योतिषि के रूप में मुगल दरबार में बहुत सम्मान था। डबराल ने लिखा है कि बहुगुणा वंशावली के अनुसार एक समय मानोदयकाव्य के रचयिता भरतकवि राजा की ओर से कर लेकर दिल्ली गए। (भाग4, पृ.241)। जहाँगीर के राज्य के सोलहवें वर्ष (1621) में श्यामशाह आगरा में उसके दरबार में उपस्थित हुआ। जहाँगीरनामा से पता चलता है कि "श्रीनगर (गढ़वाल) के जमींदार राजा श्यामसिंह को एक घोड़ा तथा एक हाथी दिया।" जहाँगीरनामा में उन वस्तुओं का उल्लेख नहीं है, जो श्यामशाह ने जहाँगीर को दी थीं। उसी वर्ष आगरा की जलवायु अनुकूल न होने से जहाँगीर गंगा के तट पर हरिद्वार पहुँचा, पर यहाँ भी जलवायु अपने अनुकूल न पाकर कांगड़ा की ओर चला गया। यह पता नहीं चलता कि श्यामशाह अपने राज्य की दक्षिणी सीमा पर आए हुए सम्राट की सेवा में उपस्थित हुआ या नहीं। जहाँगीरनामा से पता चलता है कि संभवतः श्यामसिंह(श्यामशाह) पहला परमार शासक था, जो मुगल दरबार में उपस्थित हुआ।

अभ्यास प्रश्न

1. निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए

(क) लक्ष्मीचन्द और जहाँगीर के संबंध

(ख) मानशाह/श्यामशाह और जहाँगीर के संबंध

2. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए

(क) जहाँगीर के दरबार में कुमाऊँ का कौन सा शासक उपस्थित हुआ?

(ख) जहाँगीर के दरबार में गढ़वाल का कौन सा शासक उपस्थित हुआ?

4.6 शाहजहाँ का काल(1627-1658)

4.6.1 महीपतिशाह(1631-1635), रानी कर्णावती (नककट्टी रानी) 1635-40)और मुगल(नजाबत खाँ के आक्रमण)

महीपतिशाह ने सिरमौर के शासक कर्मप्रकाश के राज्यकाल में उसके राज्य के कैनीगढ़ और विराटगढ़ पर अधिकार कर लिया था। संभवतः कर्मप्रकाश ने शाहजहाँ से सहायता मांगी, पर उस समय से सहायता नहीं मिल पाई थी। कर्मप्रकाश की मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारी ने मान्धाता प्रकाश(1630-1654) द्वारा छीने गए प्रदेशों को वापस दिलाने में शाहजहाँ से मदद मांगी। कांगड़ा के फौजदार नजाबत खाँ और मान्धाताप्रकाश की संयुक्त सेनाओं ने श्रीनगर की ओर संयुक्त अभियान प्रारंभ किया। नजाबत खाँ के आक्रमणों के बारे में आपको विस्तार से ब्लॉक चार की इकाई चार के 'तराई भाबर का इतिहास' शीर्षक के अन्तर्गत जानकारी दी गई है।

4.6.1.2 दून प्रदेश पर मुगल अधिकार तथा सलाण पर आक्रमण

(क) शेरगढ़— 1635 में नजाबत खाँ ने महीपतिशाह के सेनानायक माधोसिंह भण्डारी द्वारा बनवाए गए शेरगढ़ नामक दुर्ग पर अधिकार कर लिया, जिसे अब्दुल हमीद लाहौरी ने यमुना के तट पर स्थित बताया है।

(ख)कानीगढ़/वैराटगढ़— यमुना के तट से आगे बढ़कर दोनों सेनाओं ने कालसी के पास गढ़वाली सेना को पराजित करके कानीगढ़ तथा वैराटगढ़ पर भी अधिकार कर लिया और ये प्रदेश मान्धाताप्रकाश को मिल गए।

(ग) सन्तूरगढ़—कालसी से दक्षिण ओर सन्तूरगढ़ पर अधिकार करके नजाबत खाँ ने उसे लखनपुर के जमींदार को सौंप दिया और दून प्रदेश पर स्थायी अधिकार बनाए रखने के लिए एक सेना भी इस दुर्ग में रखी गई।

(घ)सलाण पर आक्रमण—(विस्तार के लिए देखें ब्लॉक चार की इकाई चार के 'तराई-भाबर का इतिहास' शीर्षक के अन्तर्गत) मआसिर उल उमरा के अनुसार चण्डीघाट से आगे बढ़कर नजाबत खाँ ने गढ़वाल के भीतरी भागों में प्रविष्ट होने का प्रयास किया और श्रीनगर से केवल साठ कोस अर्थात् तीस मील दूर तक जा पहुँचा। इससे भयभीत होकर रानी ने उसके पास बादशाह की अधीनता स्वीकार करने का संदेश भेजा और सेना हटाने के बदले दो सप्ताह की अवधि देने पर दस लाख रुपए देने की बात कही। नजाबत खाँ ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। रानी कर्णावती (1635-40) (मुगल इतिहासकारों ने इसका उल्लेख नककट्टी रानीके रूप में किया है) विलम्ब करती रही और कठिनाई से एक लाख रुपए दे पाई। डेढ़ माह की प्रतीक्षा के दौरान नजाबत खाँ की सेना की रसद समाप्त होने लगी। गढ़वाली सेना ने शाही सेना को घेर लिया और युद्ध में उसके अनेक सैनिक मारे गए। प्राण बचाने के लिए वह जंगल के मार्ग से मैदान की ओर भागा और बीस दिन में संभल के पास बाहर आया। इस प्रकार रानी ने सीमित साधनों के बावजूद भी नजाबत खाँ तथा उसके सहायकों इस सम्मिलित सेना को पराजित कर शाहजहाँ के गढ़वाल को अधीन

करने के प्रथम प्रयास को विफल कर दिया और मुगल सेना द्वारा अधिकृत दून प्रदेश पर भी पुनः अधिकार कर लिया।

4.6.3 पृथ्वीपतिशाह (1640 से 1664) और मुगल

1640 के आस-पास पृथ्वीपतिशाह ने अपनी माता रानी कर्णावती के संरक्षण से मुक्त होकर अपनी इच्छानुसार शासन कार्य का संचालन आरंभ किया। पृथ्वीपतिशाह के राज्यकाल में मुगल सेना ने गढ़वाल राज्य पर तीन आक्रमण किए। मौलाराम के अनुसार इन आक्रमणों का कारण पृथ्वीपतिशाह का बादशाह द्वारा 1640 ई. में भेजी गई खिलअत की उपेक्षा करना था। इससे आहत होकर शाहजहाँ ने मीर मुगल को गढ़वाल पर आक्रमण करने और राजा को पकड़ कर लाने का आदेश दिया। दून प्रदेश के किसी भाग में पर्वत की तलहटी में दोनों सेनाओं का संघर्ष हुआ। मौलाराम के अनुसार पृथ्वीपतिशाह और मीर मुगल के बीच हुए युद्ध में मीर मुगल मारा गया और उसकी सेना भाग खड़ी हुई। (विस्तार से देखें— डबराल, उत्तराखण्ड का इतिहास, भाग 4, पृ. 278)

4.6.4 खलीलुल्ला खाँ के अभियान और दून प्रदेश पर अधिकार (1654-55)

इनायत खाँ के शाहजहाँनामा से पता चलता है कि मीर मुगल की असफलता के बाद शाहजहाँ ने खलीलुल्ला खाँ को इस अभियान का उत्तरदायित्व सौंपा। खलीलुल्ला खाँ, सिरमौर के शासक सौभाग्यप्रकाश तथा हिमाचल के पहाड़ी राजाओं की सम्मिलित सेना ने यमुना को पार करके पृथ्वीपतिशाह के शासित प्रदेश दून पर आक्रमण किया। इतनी विशाल सेना से युद्ध करना उचित न समझ कर गढ़वाली सेना ने संभवतः विशेष विरोध नहीं किया और दून प्रदेश पर शाही सेना का सरलता से अधिकार हो गया। खलीलुल्ला खाँ ने इस क्षेत्र में किलाघर (देहरा के निकट कौलागढ़), बहादुरखानपुर व बसन्तपुर (दोनों ही पूर्वी दून के पृथक परगने थे), सहसपुर (देहरादून में स्थित सहसपुर विकासखण्ड), तथा थाना चण्डी (हरिद्वार में स्थित तत्कालीन चण्डी परगना) में स्थायी सैन्य शिविरों का निर्माण किया। दून के विजित प्रदेश का शासन चतुर्भुज चौहान को तथा थाना चण्डी का उत्तरदायित्व हरिद्वार के प्रमुख नागरदास को सौंपा गया।

4.6.5 कासिम खाँ का आक्रमण तथा पृथ्वीपतिशाह (2 जनवरी 1656)

बाजबहादुरचन्द के लौटने के बाद गढ़वाली सेना ने सन्तूरगढ़ और उसके निकटवर्ती प्रदेश पर अधिकार कर लिया और दून प्रदेश में भी कुछ सफलता प्राप्त की। पृथ्वीपतिशाह ने गढ़ों की मरम्मत करके उसमें कुछ सेना और छापामारों को रखा। इसकी सूचना पर शाहजहाँ कासिम खाँ को चार हजार सैनिकों के साथ दून प्रदेश में टिकी शाही सेना की सहायता के लिए भेजा। मआसिर उल उमरा के अनुसार कासिम खाँ सन्तूरगढ़ को ध्वस्त करके वापस लौट गया। इस प्रकार दून प्रदेश तथा भाबर पर मुगलों का स्थायी अधिकार हो गया। अधिकृत प्रदेश से मुगल सेनानायक गढ़वाल पर निरन्तर छापे मारते रहते थे। पूर्वी भाग से बाजबहादुरचन्द का भय था। अतः विवश होकर राज्य के कष्ट देखते हुए पृथ्वीपतिशाह ने बादशाह की अधीनता स्वीकार करने के लिए पत्र व्यवहार किया (देखें, डबराल, भाग 4, पृ. 286)। शाहजहाँ की पुत्री जहाँआरा तथा पुत्र दाराशिकोह ने उसे क्षमा प्रदान करने में सहायता का वचन दिया। स्वीकृति मिलने पर पृथ्वीपतिशाह ने अपने पुत्र मेदिनीशाह को दाराशिकोह के पास दिल्ली भेजा, जो 30 जुलाई 1656 को शाहजहाँ के समक्ष उपस्थित हुआ। बादशाह ने राजा के अपराधों को क्षमा करते हुए एक बहुमूल्य खिलअत,

रत्नजटित बाजूबन्द तथा एक किमचाक घोड़ा दिया, जिसकी पीठ पर चाँदी की काठी सजी हुई थी। मौलाराम के अनुसार बादशाह ने प्रसन्न होकर एक हाथी और ग्यारह घोड़े पुरस्कार में दिए तथा एक रत्नजटित खिलअत और दुशाला देकर एक दूत को श्रीनगर भेजा (गढ़राजवंशकाव्य, पर्ण 19 ब (डबराल, भाग4, पृ.287)।

“हजरत बहोत भये सुनि राजी। बकस्यो हाथी ग्यारह बाजी।।

षिलत दुशाला जीगा मोती। षातर जमैं दर्ई लिखत बहूती।।

और ही ऐधी तहाँ पठायो। श्रीनगर महि लेकै आयो।।

पृथ्वीपतिशाह ने भी बादशाह के दूत का स्वागत किया।।”

एस. एस. नेगी का मत है कि गढ़वाल नरेश मुगल सेनाओं के भय से नहीं बल्कि सिरमौर और कुमाऊँ के समकालीन राजाओं के असहयोग के कारण मुगल सम्राट से समझौता करने के लिए बाध्य हुआ। जैदी एवं जैदी के अनुसार दो वर्ष बाद ही उसने इस समझौते को तोड़कर यह सिद्ध कर दिया कि वह मुगल सम्राट की स्वेच्छाचारिता को सहन करने के लिए तैयार नहीं था। 1658 में पुनः संघर्ष आरंभ हो गया, जिसका मुख्य कारण यह था कि राजा ने औरंगजेब की इच्छा के विरुद्ध सुलेमान शिकोह को अपने राज्य में शरण दी थी।

4.6.7 बाजबहादुरचन्द(1638-78) और मुगल

1653 में शाहजहाँ की गढ़वाल पर आक्रमण की योजना में बाजबहादुरचन्द ने सहयोग देना स्वीकार किया था। डबराल ने सिरमौर के राजा मान्धाता प्रकाश को भेजे गए शाहजहाँ के 1653ई. के एक फरमान का उल्लेख किया है, जिसमें श्रीनगर राज्य को जीतने के बाद उसके तीन भाग किए जाने की योजना का विवरण है। इसके अनुसार कुमाऊँ के पड़ोस में स्थित श्रीनगर राज्य के क्षेत्र कुमाऊँ के राजा को दिए जाने का उल्लेख है। मआसिर उल उमरा के अनुसार “कुमाऊँ के जमींदार (राजा) बाजबहादुरचन्द के शाही शिविर में आगमन पर बादशाह ने उसके लिए एक फरमान तथा एक रत्नजटित खिलअत भेजी।” कुमाऊँ पहुँचने के बाद बाजबहादुर चन्द ने एक साथ दो सेनाएँ भेजकर गढ़वाल पर आक्रमण कर दिया। अप्रैल 1656 में वह बादशाह तथा दाराशिकोह के लिए महत्वपूर्ण भेंटें लेकर पुरस्कार प्राप्त करने के उद्देश्य से दिल्ली पहुँचा। बदरीदत्त पाण्डे ने लिखा है कि गढ़देश पर आक्रमण में बहादुरी दिखाने पर उसे ‘बहादुर’ की उपाधि, नक्कारा बजाने का अधिकार तथा एक रत्नजटित खिलअत प्राप्त हुई। बाजबहादुर के विशेष आग्रह पर बादशाह ने उसे तराई की जागीर का फरमान दे दिया, जिसमें उसे तराई का जमींदार कहा गया है। मुरादाबाद के सूबेदार नवाब रुस्तम खाँ तथा खलीलुल्ला खाँ की सहायता से बाजबहादुर ने कटेहरियों को भगाकर तराई पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। उसने तराई में बाजपुर नामक नगर की स्थापना की और तराई की व्यवस्था के लिए राजकर्मचारियों की नियुक्ति की।

अभ्यास प्रश्न

1. निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए

(क) नजाबत खाँ के आक्रमण

(ख) खलीलुल्ला खाँ के अभियान

2. नीचे लिखे प्रश्नों के उत्तर दीजिए

(क) पृथ्वीपतिशाह के शाहजहाँ से संबंधों के बारे में बताइए।

(ख) बाजबहादुरचन्द के शाहजहाँ से कैसे संबंध थे?

4.7 औरंगजेब(1658-1707) का काल

4.7.1 सुलेमान शिकोह को आश्रय (पृथ्वीपतिशाह(1640-1660) तथा मेदिनीशाह(1660-64 से 1684)

शाहजहाँ के पुत्रों के बीच उत्तराधिकार के युद्ध (1658) में पुनः गढ़वाल-मुगल संघर्ष आरम्भ हुआ जिसकी सूचना आपको पृथ्वीपति शाह के संदर्भ में दी जा चुकी है। औरंगजेब द्वारा सामूगढ़ में दारा शिकोह को पराजित करने के बाद मुराद को भी बंदी बना लिया गया। दिल्ली और आगरा पर अधिकार करके उसने स्वयं को सम्राट घोषित कर दिया, परन्तु अभी उसके सामने दो बाधाएँ अपने भाई शुजा और दाराशिकोह के पुत्र सुलेमान शिकोह के रूप में मौजूद थीं। सुलेमान शिकोह के पास एक विशाल सेना थी और उसे युद्ध संचालन का भी अनुभव था। दारा के लाहौर भागने के बाद औरंगजेब ने एक सेना इलाहाबाद के किले पर आक्रमण करने और सुलेमान शिकोह की सेना को भंग करने के लिए भेजी। इससे उसकी सेना में खलबली मच गई। (मनुची, स्टोरियो डी मोगोर)

जयसिंह ने सुलेमान शिकोह को श्रीनगर में पर्वतीय राजा के यहां सुरक्षित स्थान बता कर शरण लेने की राय दी। हरिद्वार में गंगा के पूर्वी तट पर पांच-छह हजार सैनिकों के साथ वह था और दूसरे तट पर फिदाई खाँ केवल पचास घुड़सवारों के साथ था। फिदाई खाँ ने यह खबर फैला दी कि शाइस्ता खाँ विशाल सेना के साथ हरिद्वार पहुंच गया है। इस समाचार को सत्य मानकर सुलेमान शिकोह ने गंगा पार करने की योजना त्याग दी और गढ़वाल राज्य में शरण लेना उचित समझा। खाफी खाँ सूचित करता है कि शाइस्ता खाँ हरिद्वार नहीं आया। मआसिर-उल- उमरा से ज्ञात होता है कि औरंगजेब ने सुलेमान शिकोह की गतिविधियों को रोकने के लिए राजा राजरूप को चंडी थाने का थानेदार नियुक्त किया और सिरमौर के जमींदार सौभाग्य प्रकाश को एक फरमान भेज कर सुलेमान शिकोह पर नजर रखने तथा उसके और दाराशिकोह के बीच कोई भी पत्र व्यवहार न होने देने का आदेश दिया। गढ़वाल राज्य में शरण लेने के लिए श्रीनगर की ओर जाने पर चार पड़ाव तय करने के बाद सुलेमान शिकोह की पृथ्वीपति शाह से भेंट हुई। राजा ने उसके पांच हजार सैनिकों की व्यवस्था करने में असमर्थता प्रकट की और अपने सैनिकों को छोड़कर परिवार तथा अन्य कुछ अनुचरों को लेकर श्रीनगर चलने की सलाह दी। शाहजादे ने उसकी बात माननी चाही पर उसके विश्वासघाती साथियों ने शुजा द्वारा बड़ी सेना लेकर औरंगजेब का विरोध करने हेतु इलाहाबाद पहुंचने का जाली पत्र दिखाया तो शाहजादा नगीना की ओर चल पड़ा। मैदानी क्षेत्र में जाकर उन्होंने उसकी सारी सम्पत्ति लूट ली। विवश होकर उसे श्रीनगर की ओर लौटना पड़ा। वाक्यात-ए-आलमगिरी के अनुसार अंत में अपनी पत्नी, थोड़ी सी महिलाओं अपने धर्म भाई मुहम्मद शाह तथा सत्रह गुप्तचरों को लेकर उस भाग्यहीन राजकुमार ने स्वयं को श्रीनगर के राजा की रक्षा तथा सम्मान पर छोड़ दिया।

औरंगजेब के लिए सुलेमान शिकोह मुगल सिंहासन के दावेदार के रूप में सामने आ सकता था। अतः आक्रमणों के द्वारा भी जब शाहजादे को पाने में औरंगजेब को सफलता नहीं मिली तो उसने कूटनीति

का सहारा लिया। इसी बीच राजा जयसिंह ने गढ़वाल के राजा को कई पत्र लिखकर शाहजादे को औरंगजेब को सौंप देने और शाही प्रकोप से बचने का परामर्श दिया, पर वह किसी भी स्थिति में शरणागत के साथ विश्वासघात करने के लिए तैयार न था। उसके पुत्र मेदिनीशाह ने अपने पिता के विपरीत गढ़वाल पर आई हुई इस विपत्ति को टालने के लिए सुलेमान शिकोह को बन्दी बनाकर औरंगजेब को सौंप देने का निश्चय किया। संभवतः इस योजना से मेदिनीशाह ने राजा जयसिंह को अवगत करा दिया था, क्योंकि मआसिर-उल-उमरा का लेखक लिखता है कि श्रीनगर के राजा ने जयसिंह की मध्यस्थता से सुलेमान शिकोह को औरंगजेब को सौंपने की इच्छा प्रकट की थी। अतः जयसिंह के पुत्र रामसिंह को यह दायित्व सौंपा गया। डबराल ने लिखा है कि मेदिनीशाह स्वयं शाहजादे को लेकर भाबर प्रदेश में आया और 27 दिसंबर 1660 में उसने संभवतः कोटद्वार के पास उसे रामसिंह को सौंप दिया। मेदिनीशाह के इस कार्य से प्रसन्न होकर औरंगजेब ने उसे 2000 जात और 1000 सवार का मनसब प्रदान किया। इसके साथ ही 35000 रुपए नकद, एक हाथी और दस घोड़े भी दिए। पृथ्वीपतिशाह के लिए भी एक खिलअत, एक पौँची एवं एक हाथी उसके पुत्र को अलग से दिया। सुलेमान शिकोह को ग्वालियर के दुर्ग में बन्दी बनाकर रखा गया और कुछ समय बाद अफीम का पानी पिलाकर मार डाला गया।

4.7.2.1 मेदिनीशाह कोबुटौलगढ़ जीतने का आदेश तथा दून का फरमान

मौलाराम के अनुसार दिल्ली दरबार में उपस्थित होने पर औरंगजेब ने मेदिनीशाह को हिमाचल प्रदेश में स्थित बुटौलगढ़ जीतने का आदेश दिया। किले के अन्दर जल और भोजन सामग्री का आवागमन रोक दिया गया। शीघ्र ही मेदिनीशाह ने बादशाह के नाम पर किले पर अधिकार कर लिया और इसकी सूचना बादशाह को भेजी। बुटौलगढ़ जीतने वाले सेनानायक तुँवर को राजा ने खिलअत पहनाई तथा रजतपत्र पर लिखकर जागीर प्रदान करते हुए बुटौला नेगी की उपाधि दी। बुटौलगढ़ जीतने के ऐवज में मेदिनीशाह के दिल्ली पहुँचने पर औरंगजेब ने दून प्रदेश का पट्टा उसके नाम पर लिखवा दिया। मौलाराम ने गढ़राजवंशकाव्य में लिखा है—

“मेदिनीशाह दिल्ली में आये। बहु आदर सै पास बुलाये।

हजरत कह्यो कछु अर्जि लावो। जो तुम मांगो सो ही पावो।

राजा कही मेहर जो कीजै। दूण हमारी हमको दीजै।

बहोत दिनन से छूट रही है। बूझो तुम हम अर्ज कही है।

पढ़ा तुरंत लिषाय मंगाया। ठपि कै सही कराय दिलाया।— गढ़राजवंशकाव्य, पर्ण 21‘अ’ (डबराल, भाग4, पृ.307)

दून प्रदेश का पट्टा मिलने पर उसने अपने पिता के नाम पर पृथ्वीपुर नामक एक कस्बा बसाया। उसके पास एक गढ़ का निर्माण किया, जिसमें दून प्रदेश का सूबेदार रहता था। आज भी यहाँ पृथ्वीपुर गाँव है।

4.7.2 बाजबहादुरचन्द का गढ़वाल पर तीसरा आक्रमण(1665) और औरंगजेब से संबंध

आप इस इकाई में पहले पढ़ चुके हैं कि कुमाऊँ के शासक बाजबहादुरचन्द ने गढ़वाल के कुछ क्षेत्रों पर विजय प्राप्त की थी और उसके लौटते ही ये प्रदेश वापस जीत लिए गए थे। बदरीदत्त पाण्डे ने लिखा है कि उसने पुनः बधाण और लोहबा पर आक्रमण किया और गढ़वाली सेनाओं को श्रीनगर तक खदेड़ दिया। सन्धि के बाद उसने सेना का व्यय तथा नजराना लेकर विजित प्रदेश से अपना अधिकार उठा दिया। उसके श्रीनगर से लौटने पर मेदिनीशाह ने औरंगजेब से फरियाद की। 1664 में ही बाजबहादुरचन्द औरंगजेब से राजभक्ति का पुरस्कार प्राप्त कर चुका था। किन्तु अकारण अपने पड़ोसी तथा बादशाह की अधीनता स्वीकार करने वाले राजा पर आक्रमण की सूचना पाकर औरंगजेब ने शाही सेना को बाजबहादुरचन्द पर आक्रमण करने का आदेश दिया। 1665 में शाही सेना ने बाजबहादुरचन्द के शासित प्रदेश तराई-भाबर पर अधिकार कर लिया। 1666 में पर्वतीय भाग के लिए प्रयाण की तैयारी देखते हुए बाजबहादुरचन्द ने औरंगजेब से फरियाद की और उसे क्षमा कर दिया गया। वह अपने पुत्र के साथ शाही दरबार में उपस्थित हुआ। बाजबहादुरचन्द द्वारा अलीवर्दी खाँ को भेजे गए पत्र से अनुमान होता है कि भाबर-तराई पर मुगल सेना का अधिकार निरन्तर बना रहा। एटकिंसन ने लिखा है कि दिल्ली दरबार से अच्छे संबंध रखने के उद्देश्य से बाजबहादुरचन्द ने 1672 में प्रजा पर एक कर प्रति व्यक्ति या प्रति परिवार लगाया था, जिसकी आय को वह नियमित रूप से बादशाह की सेवा में भेजता रहता था। बदरीदत्त पाण्डे ने इस कर को जजिया मानकर लिखा है कि कुमाऊँ से एक आवेदनपत्र गया था कि यह कर न लगे। डबराल लिखते हैं कि मुगल दरबार में अधिकारियों को प्रसन्न रखने के लिए प्रजा पर एक विशेष कर लगाकर उसकी आय दिल्ली भेजता रहा हो। इसे जजिया या पौल टैक्स कहा गया है। 1673 में नवाब वजीर अलीवर्दी खाँ द्वारा बीच बचाव करने से औरंगजेब ने बाजबहादुर को क्षमा कर दिया। क्षमा करने से निश्चय ही शाही सेना माल से हट गई होगी और राजा को पुनः माल पर अधिकार प्राप्त हो गया होगा। अतः उस कर को चाहे जजिया या मुण्डकर या किसी भी नाम से वसूल किया गया हो, बादशाह के पास भेजने से बाजबहादुर पुनः उसका कृपापात्र बना था। अक्टूबर 1673 में क्षमा किए जाने के बाद बाजबहादुर अपने पुत्र के साथ दरबार में उपस्थित हुआ।

मुगल राज्याधिकारियों और बादशाह को दी गई भेंटों में लाखों रुपए की राशि समाप्त हो गई। अनेक आर्थिक अपव्ययों के कारण राजकोषीय घाटा पूरा करने के लिए प्रजा पर मांगा कर (प्रत्येक व्यक्ति या परिवार पर दो रुपए) कर लगाया गया। उसके बाद उद्योतचन्द व ज्ञानचन्द भी कर देते रहे।

4.7.3 फतेशाह(1684-1716) का राज्यकाल और गढ़वाल-मुगल संबंध

फतेशाह के समय में गढ़वाली सेना ने सिरमौर के उन सीमावर्ती प्रदेशों पर अधिकार कर लिया, जो उसे मुगल सेनाओं की सहायता करने के बदले प्राप्त हुए थे। इस पर सिरमौर के राजा ने जहाँआरा और औरंगजेब से सहायता की प्रार्थना की। फतेशाह द्वारा उन प्रदेशों पर अधिकार न छोड़ने से गढ़वाल मुगल संबंधों में पुनः तनाव उत्पन्न होने लगा। औरंगजेब को सिरमौर के समर्थन में गढ़वाल के राजा के विरुद्ध एक सेना भेजनी पड़ी। संभवतः फतेशाह मुगल सम्राट के साथ टकराव की स्थिति उत्पन्न नहीं करना चाहता था। अतः उसने कालसी एवं वैराटगढ़ से अपना अधिकार त्याग दिया। इस घटना (1686) से

औरंगजेब की मृत्यु एवं शाहआलम प्रथम के शासनकाल (1712) तक गढ़वाल और मुगलों के बीच मैत्रीपूर्ण संबंध रहे।

अभ्यास प्रश्न

1. निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए

(क) सुलेमान शिकोह प्रकरण

(ख) बाजबहादुरचन्द का गढ़वाल पर तीसरा आक्रमण तथा उसके परिणाम

2. नीचे लिखे प्रश्नों के उत्तर दीजिए

(क) मेदिनीशाह किसका पुत्र था?

(ख) गढ़राजवंशकाव्य की रचना किसने की की?

4.8 उत्तराखण्ड और परवर्ती मुगल शासकों से संबंध

4.8.1 गढ़वाल का शासक फतेशाह और मुगल-सिख संबंध

फतेशाह के शासन काल में 1710 में मुगलों और सिखों के बीच चल रहे संघर्ष के दौरान बन्दा बहादुर के सिरमौर या श्रीनगर-गढ़वाल पलायन की सूचना पर बादशाह जहाँदारशाह ने बन्दा को पकड़ कर लाने का फरमान भेजने पर फतेशाह ने बुद्धिमानी से काम लेते हुए अपने किसी अधिकारी को बादशाह के पास बहुमूल्य उपहारों के साथ भेजा और बादशाह को सन्तुष्ट किया।

4.8.2 कुमाऊँ का शासक जगतचन्द (1708 से 1720) और मुगल

बदरीदत्त पाण्डे के अनुसार कुमाऊँ के राजा ने दिल्ली के बादशाह की सेवा में बहुमूल्य भेंट, घोड़े, हाथी, चंवर, मुश्क(कस्तूरी), खुंखरी, निरबीसी जड़ी एवं सोने चांदी के बर्तन भेजे थे। बादशाह ने राजा के लिए खिलअत और फरमान भेजे। एटकिंसन ने लिखा है कि राजा ने जुआ खेलने पर कर लगाया और उसकी आय की राशि राजा की सेवा में 'नजर' रूप में भेजता था।

4.8.3 कुमाऊँ का शासक देवीचन्द (1720 से 1727) और मुगल

कुमाऊँ का यह शासक विजयों के प्रति महत्वाकांक्षी था। उसने शस्त्र बल से अपने राज्य की दक्षिणी सीमा पर स्थित मैदानी प्रदेश को अपने राज्य में मिलाने के लिए एक रुहेला आयुधजीवी दाउद खां को नियुक्त किया और भाबर-तराई के दुर्गों की रक्षा का भार सौंप दिया। इनके उपद्रवों के कारण शीघ्र ही मुरादाबाद के फौजदार वजीर कमरुद्दीन खां को दाउद खां और देवीचन्द की सम्मिलित सेना के विरुद्ध कार्यवाही करनी पड़ी और इस क्षेत्र पर पुनः शाही सत्ता की स्थापना हो गई।

4.8.4 कुमाऊँ का शासक कल्याणचन्द (1730 से 1748) और मुगल

कल्याणचन्द के शासन में शिवदेव जोशी को तराई का हाकिम नियुक्त किया गया था। इस समय तराई-भाबर पर रुहेलों का आतंक था। रुहेला सरदार दाउद खां के पुत्र अली मुहम्मद खां ने 1743 में कुमाऊँ पर आक्रमण कर दिया और शिवदेव जोशी को पराजित करते हुए कुमाउनी सेना का अल्मोड़ा तक पीछा किया। इसकी सूचना मिलने पर कल्याणचन्द गढ़वाल की ओर भाग गया। कुमाऊँ और गढ़वाल की

सम्मिलित सेनाएं भी पराजित हुईं और इसका लाभ उठाने के लिए रुहेलों द्वारा श्रीनगर पर आक्रमण की धमकी दी गई। अंत में दोनों के बीच संधि द्वारा कुमाऊँ के शासक को तीन लाख रुपए रुहेलों को देने थे, जो गढ़वाल के शासक प्रदीपशाह ने दिए। पर्वतीय क्षेत्र में फैली इस अव्यवस्था पर मुगल शाही सेना ने हस्तक्षेप किया और 1745 में बादशाह मुहम्मद शाह स्वयं एक विशाल सेना लेकर दिल्ली से चल पड़ा। इधर शिवदेव जोशी ने भी रुहेलों को मैदान की ओर खदेड़ दिया था। बादशाह के कटेहर की ओर आने की सूचना मिलने पर संभल के पास शाही शिविर में वजीर कमरुद्दीन के माध्यम से कल्याणचन्द भेंट लेकर उपस्थित हुआ। अली मुहम्मद खाँ ने बादशाह की अधीनता स्वीकार कर ली। कल्याणचन्द को पुनः जून में बादशाह के गढ़मुक्तेश्वर शिविर में उपस्थित होने पर खिलअत और तराई की सनद प्रदान की गई।

अभ्यास प्रश्न

1. निम्नलिखित विषय पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए

(क) कल्याणचन्द और मुगल संबंध

2. नीचे लिखे प्रश्नों के उत्तर दीजिए

(क) फतेशाह कहाँ का शासक था?

(ख) देवीचन्द कहाँ का शासक था?

4.9 समाज एवं संस्कृति पर प्रभाव

मुगल शासकों एवं मुगल दरबार के संपर्क में आने से राजाओं के रहन-सहन और वेशभूषा में मुगल परंपराओं का समावेश हुआ, साथ ही उन्होंने मुगल शासन व्यवस्था की अनेक विशेषताओं को अपना लिया। डबराल के अनुसार गढ़वाल के राजाओं ने बड़ी संख्या में मुस्लिम सैनिकों को अपनी सेना में भर्ती किया। जैदी एवं जैदी ने लिखा है कि कालान्तर में गढ़वाल की पहाड़ियों एवं घाटियों में मुस्लिम समाज की स्थापना हो जाने से यहाँ हिन्दू मुस्लिम संस्कृतियों को एक दूसरे के निकट आने का अवसर प्राप्त हुआ। बैरिस्टर मुकुन्दीलाल ने अपनी पुस्तक 'गढ़वाल पेंटिंग्स' में लिखा है कि "सुलेमान शिकोह के गढ़वाल आगमन के पश्चात श्रीनगर में मुगल वेशभूषा का प्रचलन बड़े जोर शोर से आरंभ हो गया। श्रीनगर में पट्टीदार कपड़े के तंग मोहरी के पैजामों एवं सलीमशाही जूतों का विशेष रूप से प्रचलन हुआ। सर्वप्रथम उच्च वर्ग ने इन्हें अपनाया।" एस. एस. नेगी ने लिखा है कि "गढ़वाल के राजाओं ने अपने नाम के साथ शाह शब्द भी जोड़ लिया। उनके नामांत पाल अथवा सिंह के स्थान पर शाह शब्द जोड़े जाने का सर्वप्रथम उल्लेख अकबर के समकालीन गढ़वाल के राजा बलभद्रशाह के समय में मिलता है। औरंगजेब के समकालीन राजा का नाम फतेशाह था, जो कि फारसी उर्दू भाषा का प्रचलित शब्द है।" डबराल के अनुसार "गढ़वाल के प्रशासन में मुगल शासन की विशेषताओं का समावेश हुआ। उनकी पताकाओं को 'निशान', आज्ञापत्रों को 'परवाना' और उनके राजप्रासाद पर बजने वाली धुन को 'नौबत' कहा जाने लगा था। इसी तरह उनकी राजसभा को 'मजलिस' और राजसभा भवन को 'दरबार' कहा जाने लगा। गढ़वाल के राजाओं ने भी पुरस्कार स्वरूप खिलअतें देने की प्रथा आरंभ की।" शूरवीर सिंह पंवार लिखते हैं कि "गढ़वाल की शासन व्यवस्था में भी वजीर, बख्शी, दीवान, दफ्तरी, फौजदार, गोलदार, मुख्तार, वकील, उमराव आदि पदों एवं पदाधिकारियों का या तो प्रचलन हो गया या फिर मुगल शासन व्यवस्था के प्रभाव से प्राचीन पदों एवं पदाधिकारियों को ये नाम दे दिए गए।" वजीर का सर्वप्रथम उल्लेख पृथ्वीपतिशाह के 1663-64 के ताम्रपत्र में मिलता है।" फतेशाह, प्रदीपशाह एवं प्रद्युम्नशाह आदि के अभिलेखों में भी वजीर का उल्लेख मिलता है। फतेशाह के 1667 के ताम्रपत्र में बख्शी और मुतसद्दी का भी उल्लेख है। प्रशासनिक इकाइयों में

थाना(परगने से छोटी इकाई अर्थात पट्टी के समान) और महाल(एच. डी. संकालिया के अनुसार यह फारसी शब्द है जिसका तात्पर्य मूलतः उस स्थान से है, जहाँ कोई व्यक्ति पड़ाव डालता है।इंसाइक्लोपीडिया ऑफ इस्लाम के अनुसार फारसी और हिंदुस्तानी में इसे मुहल्ला कहा जाने लगा) शब्द मिलते हैं।

जैदी एवं जैदी के अनुसार 'गढ़वाल के शासकों के अभिलेखों एवं दस्तावेजों के अतिरिक्त जन साधारण की बोल चाल एवं गढ़वाल के लोक साहित्य में भी उर्दू फारसी के अनेक शब्दों का प्रचलन हो गया था, जैसे फजर (प्रातःकाल),सनद(प्रमाणपत्र), पश्मीना(मूल्यवान ऊनी वस्त्र), बाजार, खुदकाशत(स्वयं खेती करने वाला), अव्वल(प्रथम), अमन(शान्ति), आजाद(स्वतंत्र), अफसोस(दुख), कर्ज(उधार), कागजात आदि। साहित्य में भी इसका प्रभाव दिखाई देता है, जैसे प्रेमसिंह मिया द्वारा रचित 'गुलदस्त तवारीख कोह-ए-टिहरी गढ़वाल', हरिदत्त भट्ट द्वारा रचित 'नौबत', राधाकृष्ण कुकरेती द्वारा संपादित 'नया जमाना', अरुण कुमार द्वारा संपादित 'हिसाब किताब', शालिग्राम वैष्णव द्वारा संपादित 'गढ़वाली परवाना' आदि। गढ़वाली लोकगीतों में नजदीक, गुजारा, जमा, खास, चीजें, वक्त, सरकार, दरबार, करतब, दरबान, सिरताज, रैयत, जनानी आदि शब्द मिलते हैं। गढ़वाल के राजाओं और मुगल शासकों के बीच होने वाले पत्र व्यवहार ने भी इस पर्वतीय अंचल में उर्दू फारसी शब्दों के प्रचलन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

कला में भी यह प्रभाव दिखाई देता है। मुकुंदीलाल ने लिखा है कि मौलाराम मुगल शैली के चित्र बनाते थे। गढ़वाल और मुगल वास्तुकला के अनुपम उदाहरण के रूप में पहाड़ी शैली में निर्मित पुराना दरबार भवन है जिसकी गोल गुम्बदें और मेहराब पूर्णतया मुगल शैली के अनुरूप हैं। सैन्य व्यवस्था, युद्ध प्रणाली एवं युद्ध तकनीकों पर भी यह प्रभाव दिखाई देता है। खान पान, सामाजिक मान्यताओं एवं रीति-रिवाजों में भी प्रभाव पड़ा। यहाँ रहने वाले मुसलमानों ने भी अनेक स्थानीय परंपराओं को अपनाया।

कुमाऊँ के संदर्भ में देखें तो प्रशासनिक इकाइयों के नामों में फारसी प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। परगना, मौजा(गाँव) जैसे शब्दों का प्रचलन बढ़ता गया। बाजबहादुरचन्द से पूर्व ताम्रपत्रों में मौजा शब्द नहीं मिलता।

भूमि से संबन्धित शब्दावली में भी परिवर्तन हुआ। फारसी प्रभाव के फलस्वरूप बीसी(स्टोवेल के अनुसार 20 नाली या 4800 वर्ग गज या एक एकड़), जरीब(भू मापन के लिए प्रयुक्त), बीघा , मन(अनाज मापने का मात्रक, 1 मन = 40 सेर) आदि का प्रयोग हुआ। अधिकारियों एवं कर्मचारियों के नामों में अमीन, दफ्तरी,कानूनगो शब्दों का प्रयोग मिलता है। दीपचन्द के 1773 के ताम्रपत्र में दीवान शब्द मिलता है। इसके अलावा बख्शी, फौजदार, माल(भाबर.तराई) का सरदार(हाकिम), मुख्तार(राजा का सर्वोच्च मंत्री, जो राजा का प्रतिनिधि माना जाता था), दफ्तरी, दारोगा नाम आए हैं। राजसिंहासन के लिए गद्दी तथा राजसभा के लिए मजलिस शब्दों से मुगल शासन का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। डबराल के अनुसार कुमाऊँ -गढ़वाल में मुगलों के सिक्कों का भी प्रचलन था। गढ़वाल की तरह ही कुमाऊँ में मुसलमानों को भी सेना में भर्ती किया जाने लगा था। बाजबहादुरचन्द ने कई मुस्लिम कर्मचारियों की नियुक्ति की थी।बदरीदत्त पाण्डे ने लिखा है कि " जब राजा बाजबहादुरचन्द तराई भाबर से लौट कर आए, तो अल्मोड़ा में आकर उन्होंने वही ढंग रखा, जो मुसलमानी दरबार में तथा अन्य राजाओं के यहाँ देखा था। नौबत व नक्काश्चीखाने बनाए गए.....।"खिलअत भी दी जाने लगी थी।

अभ्यास प्रश्न

1. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए

(क) मुगलों से संबंधों का गढ़वाल के समाज व संस्कृति पर क्या प्रभाव पड़ा?

2. नीचे लिखे प्रश्नों के उत्तर दीजिए

(क) वजीर शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख गढ़वाल के किस शासक के ताम्रपत्र में मिलता है?

(ख) जरीब का प्रयोग किसलिए होता था?

4.10 सारांश

इस समग्र अध्ययन में आपने मुगल सत्ता के साथ उत्तराखण्ड के संबंधों का विस्तार से विवेचन किया। आपने यह जाना कि 1526 ई. में पानीपत के प्रथम युद्ध के बाद भारत में मुगल सत्ता का विस्तार हुआ और उसी के साथ मुगल शासक उत्तराखण्ड के पर्वतीय राजाओं के संपर्क में आए। उत्तर भारत में लगातार चल रही राजनीतिक अस्थिरता और आक्रमणों आदि के कारण कुमाऊँ तथा गढ़वाल के राज्यों में पर्वतों की तलहटी में स्थित और उससे लगे पर्वतीय प्रदेश समय-समय पर आब्रजकों/विभिन्न धर्मों/जातियों के लोगों की शरण स्थली बन गए। इसके अलावा शासन से विद्रोह करने वाले सरदार भी भाग कर इन्हीं क्षेत्रों में अपना आश्रय स्थल बनाते थे। कुमाऊँ, गढ़वाल से संबंधित सर्वप्रथम उल्लेख इस्लामशाह के शासन में खवास खाँ के विद्रोह के संदर्भ में मिलता है। अकबर के राज्यकाल में इन राज्यों की दक्षिणी सीमा मुगल राज्य की सीमा से मिली हुई थी। कुमाऊँ की तराई-भाबर का इलाका कुमाऊँ सरकार के नाम से अकबर के अधीन था। गढ़वाल में सहजपाल के समय से ही अकबर के साथ मैत्री संबंध थे, पर उसने मुगल बादशाह की अधीनता स्वीकार नहीं की थी। मानशाह के भी अकबर से मैत्रीपूर्ण संबंध रहे। श्यामशाह यद्यपि आगरा में जहाँगीर के दरबार में उपस्थित हुआ, पर उसने मुगलों की अधीनता स्वीकार नहीं की थी। 1635 में शाहजहाँ के समय में नजाबत खाँ के आक्रमणों से गढ़वाल अधीनीकरण का प्रथम अभियान प्रारंभ हुआ। उसने कुछ समय के लिए दून और सलाण के कुछ भाग पर अधिकार कर लिया था, किंतु उसे अपनी सेना के बड़े हिस्से को खोने के बाद कठिनाई से अपने प्राण बचाने में सफलता मिली। पृथ्वीपतिशाह ने खलिलुल्ला खाँ के आक्रमण के समय शाहजहाँ की अधीनता स्वीकार कर ली थी, किन्तु सुलेमान शिकोह को आश्रय देकर शीघ्र ही औरंगजेब से उसके संबंध तनावपूर्ण हो गए। उसके पुत्र मेदिनीशाह ने शासन अपने हाथ में लेकर शरणागत सुलेमान शिकोह को मुगलों को सौंप कर अपने राज्य की रक्षा की। मेदिनीशाह ने औरंगजेब की अधीनता स्वीकार की थी, किन्तु अपने राज्य के शासन में वह स्वतंत्र था। डबराल लिखते हैं कि अकबर के राज्यकाल से लेकर बहादुरशाह के राज्यकाल तक छोटे से गढ़वाल राज्य के पर्वतीय राजाओं ने अपनी स्वतंत्रता का अपहरण नहीं होने दिया। इसमें सन्देह नहीं कि उनके राज्य की भौगोलिक स्थिति ने इसमें उनकी सबसे अधिक सहायता की। परमार शासकों में से मेदिनीशाह को छोड़कर अन्य किसी ने अपने स्वार्थों की सिद्धि के लिए मुगल बादशाहों के इशारों पर चलना स्वीकार नहीं किया। 1660 में वह मुगल सम्राट का मनसबदार बना। फतेशाह के काल में पुनः ये संबंध तनावपूर्ण हुए, पर टकराव रोकने के लिए उसने कालसी और बैराटगढ़ से अपना अधिकार त्याग दिया (1886)। इसके उपरान्त शाहआलम प्रथम के शासन काल तक गढ़वाल मुगल संबंध मैत्रीपूर्ण बने रहे।

कुमाऊँ के संदर्भ में आपने देखा कि प्रारम्भ में इस राज्य के दक्षिणवर्ती क्षेत्र में मुगल विस्तार का प्रमुख कारण कटेहर में अकसर होने वाले उपद्रव थे। मुगल साम्राज्य का सीमावर्ती क्षेत्र होने के कारण विद्रोही सरदारों की बगावत के लिए यह सर्वाधिक उपयुक्त स्थान था। शाही सेना द्वारा विद्रोह का दमन किए जाने की स्थिति में ये कुमाऊँ गढ़वाल की पहाड़ियों में शरण ले सकते थे। इसका प्रभाव चन्द-परमार

राज्यों पर पड़ना भी स्वाभाविक था। लगातार हो रहे उपद्रवों तथा धावों के कारण सामरिक तथा आर्थिक दृष्टि से महत्वपूर्ण क्षेत्रों पर अधिकार करने के चन्दों के प्रयत्न विफल हो रहे थे। अतः इन हमलों को रोकने के लिए तथा तराई की जागीर प्राप्त करने की फरियाद लेकर राजा रुद्रचन्द 1588 में लाहौर में अकबर के शिविर में बादशाह के लिए भेंट लेकर उपस्थित हुआ। बादशाह की आज्ञानुसार वह अपनी सेना लेकर शाही सेना के साथ नागौर के युद्ध में भाग लेने गया, जहाँ उसकी वीरता से प्रसन्न होकर बादशाह ने उसे चौरासी माल(तराई) की जागीर का फरमान दिया। डबराल के अनुसार रुद्रचन्द के पुत्र लक्ष्मीचन्द के समय से कुमाऊँ का संपूर्ण राज्य ही मुगलों के द्वारा दिया हुआ माना जाने लगा। बाजबहादुरचन्द के समय में भी ये संबन्ध करद राज्य के रूप में अधीनस्थता के साथ मैत्रीपूर्ण रहे। उसके गढ़वाल पर उसके तीसरे आक्रमण के दौरान तनाव बढ़ा, पर शीघ्र ही उसे औरंगजेब ने क्षमा कर दिया और ह नियमित रूप से बादशाह को कर भेजता रहा। परवर्ती चन्द शासकों के समय में भी कुल मिलाकर कुमाऊँ के शासक मुगलों को कर तथा भेंट देने के एवज में अपने क्षेत्र पर स्वतंत्रतापूर्वक शासन करते रहे।

इस संपूर्ण अवधि में उत्तराखण्ड तथा मुगलों के बीच संपर्क के कारण यहाँ के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में प्रभाव पड़ा, जो आने खण्ड 4.9 के अन्तर्गत विभिन्न शब्दावलियों में हुए परिवर्तनों के रूप में देखा। साथ ही खान-पान तथा वेष-भूषा से संबन्धित कुछ बदलाव भी आए।

4.11 तकनीकी शब्दावली

खिलअत— एक प्रकार का वस्त्र जो बादशाहों की ओर से इनाम में दिया जाता था।

4.12 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

खण्ड 4.3 — 1. (क) देखें 4.3.

खण्ड 4.4— 1. (क) देखें 4.4.3 (ख) देखें 4.4.4

2. (क) देखें 4.4.5— भरतकवि

खण्ड 4.5 — 1. (क) देखें 4.5.1 (ख) देखें 4.5.2

2. (क) देखें 4.1.5 (ख) देखें 4.5.2

खण्ड 4.6 — 1. (क) देखें 4.6.1 तथा 4.6.1.2 (ख) देखें 4.6.4

2. (क) देखें 4.6.3 व 4.6.5 (ख) देखें 4.7.7

खण्ड 4.7 — 1. (क) देखें 4.7.1 (ख) देखें 5.7.4

2. (क) देखें 4.7.1 पृथ्वीपतिशाह (ख) देखें 4.7.2 मौलाराम

खण्ड 4.8 — 1. (क) देखें 4.8.4

2. (क) देखें 4.8.1 गढ़वाल (ख) देखें 4.8.3 कुमाऊँ

खण्ड 4.9— 1. (क) देखें 4.9

2. (क) देखें 4.9 (पृथ्वीपतिशाह)(ख) देखें 4.9(भूमापन के लिए)

4.13 सहायक संदर्भ ग्रन्थ

1. अबुल फजल, अकबरनामा, अनुवाद—एच.बेवरिज, भाग1-2, दिल्ली 1972, भाग 3, 1973

2. अबुल फजल, आइन- ए -अकबरी, भाग-1, अनुवाद- ब्लोचमेन, दिल्ली 1965 भाग-2, अनुवाद -जैरट, कोलकाता, 1949

3. अब्दुल कादिर बदायूनी, मुन्तखब-उत-तवारीख, अनुवाद, रैकिंग, पटना, 1973

4. जहाँगीर, तुजुक-ए-जहाँगीरी, अनुवाद, रोजर्स, भाग 1,2, लन्दन, 1829, बेवरिज द्वारा संपादित

5. बर्नियर , ट्रैवल्स इन मुगल इम्पायर (1665-1668), 1891
6. शिवप्रसाद डबराल, उत्तराखण्ड का इतिहास, भाग 4 व 10(1967-90) वीरगाथा प्रकाशन, दोगड्डा, गढ़वाल
7. बदरीदत्त पाण्डे, कुमाऊँ का इतिहास, अल्मोड़ा, 1937
8. ई. टी. एटकिंसन, गजेटियर ऑफ द नॉर्थ वेस्टर्न प्रोविंसेज, हिमालयन डिस्ट्रिक्ट्स, खण्ड2, भाग2, दिल्ली 1973
9. एच. एम. इलियट एंड जॉन डाउसन, ए हिस्ट्री ऑफ इण्डिया एज टोल्ड बाइ इट्स ओन हिस्टोरियन्स(भाग, 3,4 व 5, 6,7), आगरा 1973
10. हरिकृष्ण रतूड़ी, गढ़वाल का इतिहास, 1928, भागीरथी प्रकाशन, टिहरी
11. राहुल सांकृत्यायन, हिमालय परिचय-1, गढ़वाल, इलाहाबाद, 1953
12. पातीराम, गढ़वाल एंश्येंट एण्ड मॉडर्न, शिमला, 1917
13. एस.एस. नेगी का आलेख- 'गढ़वाल-मुगल संबंधों का गढ़वाल के समाज एवं संस्कृति पर प्रभाव', हिमालयी इतिहास के विविध आयाम, 2013, संपादक- गिरिजा पाण्डे एवं हीरा सिंह भाकुनी
14. एस.ए.एच. जैदी एवं रेहाना जैदी, गढ़वाल .मुगल संबंध(1526से1707 ई.), 1985, हिमालया न्यूज एजेंसी, पौड़ी गढ़वाल
15. चन्द परमार शासकों के विभिन्न ताम्रपत्र

4.14 निबन्धात्मक प्रश्न

1. अकबर और जहाँगीर के काल में उत्तराखण्ड के मुगलों के साथ संबंधों के बारे में बताइए।
2. शाहजहाँ के शासन काल में मुगलों के कुमाऊँ तथा गढ़वाल के शासकों के संबंधों का निरूपण कीजिए।
3. सुलेमान शिकोह के प्रकरण पर लिखते हुए औरंगजेब के समय में उत्तराखण्ड के मुगल सत्ता से संबंधों पर लिखिए।
4. मुगलों के साथ संबंधों के कारण उत्तराखण्ड के समाज एवं संस्कृति पर क्या प्रभाव पड़ा?

- 1.1. प्रस्तावना
- 1.2. | उद्देश्य
- 1.3. भारत में आधुनिक प्रेस का उदय
- 1.4 उत्तराखण्ड के प्रारम्भिक पत्र
- 1.5. उत्तराखण्ड में पत्रकारिता का विकास
- 1.6. प्रमुख समाचारपत्र और उनका स्वरूप
 - 1.6.1 अल्मोड़ा अखबार
 - 1.6.2 गढ़वाली
 - 1.6.3 पुरुषार्थ
 - 1.6.4 शक्ति
 - 1.6.5 स्वाधीन प्रजा
 - 1.6.6 तरुण कुमाऊँ
 - 1.6.7 कुमाऊँ कुमुद
 - 1.6.8 जागृत जनता
 - 1.6.9 कर्मभूमि
 - 1.6.10 समता
 - 1.6.11 युगवाणी
- 1.7 प्रमुख सम्पादक और पत्रकार.
- 1.8 आधुनिक प्रेस और समाचारपत्रों का योगदान
- 1.9. सारांश
- 1.10. अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 1.11.संदर्भ ग्रन्थ
- 1.12. सहायक उपयोगी पाठ्य पुस्तकें
- 1.13. निबन्धात्मक प्रश्न

1.1. प्रस्तावना

आधुनिक युग में किसी क्षेत्र विशेष को जानने और समझने के लिए समाचार पत्र महत्वपूर्ण साधन हैं। समाज, संस्कृति, राजनीति, अर्थव्यवस्था, व्यापार, उद्योग और सामान्य जीवन सभी समाचार पत्र द्वारा व्यक्त होते हैं। उत्तराखण्ड में आधुनिक प्रेस और समाचार पत्रों का इतिहास औपनिवेशिक शासन के साथ-साथ विकसित हुआ। उत्तराखण्ड के तत्कालीन इतिहास को जानने के लिये समाचारपत्र महत्वपूर्ण साधन हैं।

1.2. उद्देश्य

इस इकाई में आप—

1. उत्तराखण्ड में आधुनिक प्रेस और समाचारपत्रों के उदय और उनके क्रमिक विकास के विषय में जान सकेंगे।
2. उत्तराखण्ड में प्रकाशित प्रमुख समाचारपत्रों का स्वरूप और सम्पादकों के विचारों को जान सकेंगे।
3. उत्तराखण्ड की राजनीति, समाज, संस्कृति और साहित्य के विकास में समाचारपत्रों के प्रभाव और योगदान को समझ सकेंगे।

1.3. भारत में आधुनिक प्रेस का उदय

उत्तराखण्ड की प्रेस और पत्रकारिता के इतिहास को जानने से पूर्व भारत में प्रेस और पत्रकारिता के उदय की पृष्ठभूमि को जानना आवश्यक है। भारत में आधुनिक प्रेस और समाचार पत्रों का प्रारम्भ ईस्ट इंडिया कम्पनी के असंतुष्ट कर्मचारियों ने किया। 29 जनवरी, 1780 को जेम्स आगस्टस हिकीज ने *बंगाल गजट* या *कैलकटा जनरल एडवर्टाइजर* नामक पत्र प्रकाशित करके भारतीय पत्रकारिता की नींव रखी। अप्रैल, 1818 में सीरामपुर, बंगाल में बांग्ला भाषा में ईसाई मिशनरी जे.सी. मार्शमैन ने *दिग्दर्शन* नामक पत्र प्रकाशित किया। पूर्णतः भारतीयों द्वारा सम्पादित व प्रकाशित प्रथम भारतीय भाषा का पत्र बांग्ला में कलकत्ता से निकलने वाला *बंगाल गजट* है। इसके सम्पादक गंगा किशोर तथा प्रकाशक हरचन्द्र राय थे। हिन्दी के प्रथम पत्र *उदन्त मार्तण्ड* का प्रकाशन पं. युगल किशोर शुक्ल ने 30 मई, 1826 को कलकत्ता से किया।

कम्पनी शासकों और ईसाई मिशनरियों द्वारा प्रारम्भ की गयी भारतीय पत्रकारिता का 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध से तीव्रता से विकास हुआ। 20वीं सदी के प्रारम्भ तक भारत के सुदूर क्षेत्रों में भी पत्रों का प्रकाशन होने लगा। भारत में विभिन्न क्षेत्रों में प्रेस और समाचारपत्रों के उदय और विकास में जिन प्रमुख तत्वों ने योगदान दिया, वे थे—

- पाश्चात्य शिक्षा का विकास
- भारतीय पुनर्जागरण आन्दोलन का प्रभाव
- ब्रिटिश शासन के प्रति असंतोष
- राष्ट्रीय संगठनों का उदय।

अभ्यास प्रश्न

1. 19वीं सदी में भारत में पत्रकारिता के विकास में किन प्रमुख तत्वों ने योगदान दिया?

2. भारत के प्रथम हिन्दी समाचारपत्र तथा उसके प्रकाशक का नाम क्या है?

1.4 उत्तराखण्ड के प्रारम्भिक समाचारपत्र

सन् 1916 में उत्तराखण्ड औपनिवेशिक शासन के अधीन आया। 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में पुनर्जागरण का प्रभाव और औपनिवेशिक शिक्षा के विकास ने यहां भी चेतना का प्रसार किया। परिणामतः स्थानीय स्तर पर समाचारपत्रों का उदय हुआ। उत्तराखण्ड में भी स्थानीय प्रेस और पत्रकारिता ब्रिटिश अधिकारियों और कर्मचारियों की सुविधा हेतु प्रारम्भ की गयी। प्रारम्भ में *द हिल्स*, *मसूरी एडवर्टाइजर* और *मुफ़ेसलाइट* आदि अंग्रेजी समाचारपत्रों का प्रकाशन हुआ। उत्तराखण्ड का पहला देशी समाचारपत्र 1868 में नैनीताल से हिन्दी-उर्दू में प्रकाशित होने वाला *समय विनोद* था। पत्र के स्वामी संपादक वकील जयदत्त जोशी थे। पत्र पाक्षिक था तथा नैनीताल प्रेस से छपता था। 1868 में इसके 17 भारतीय, 15 यूरोपीय कुल 32 ग्राहक थे। 1869 में *समय विनोद* की 30 प्रतियां सरकार, 27 यूरोपीय तथा 11 भारतीय (कुल 68) ग्राहकों के पास जाती थीं। *समय विनोद* का कोई भी अंक उपलब्ध नहीं है। वर्नाक्यूलर प्रेस रिपोर्ट्स में *समय विनोद* के अंतिम अंक के रूप में 1 अप्रैल, 1877 के अंक का जिक्र किया गया है।

उत्तराखण्ड के समाचारपत्रों के इतिहास में 1871 में *अल्मोड़ा अखबार* का प्रकाशन एक महत्वपूर्ण घटना है। *समय विनोद* के बन्द होने के पश्चात *अल्मोड़ा अखबार* उन्नीसवीं सदी के अन्त तक क्षेत्रीय स्तर पर एक मात्र समाचारपत्र रहा। सन् 1870 में अल्मोड़ा के प्रबुद्ध और शिक्षित नागरिकों ने एक संस्था डिबेटिंग क्लब की नींव डाली, जिसका उद्देश्य इस पर्वतीय प्रदेश की आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक समस्याओं पर विचार करना तथा उनके निवारण के लिए प्रयत्न करना था। तत्कालीन प्रान्तीय गवर्नर सर विलियम म्यूर के आगमन पर डिबेटिंग क्लब के सदस्यों ने उन्हें इस संस्था के उद्देश्यों से अवगत कराया। सर विलियम म्यूर ने उन्हें क्लब के कार्यों के विवरण को प्रकाशित करवाने तथा जनता और प्रशासन के मध्य सम्पर्क करने के लिए पत्र प्रकाशित करने का सुझाव दिया। फलतः 1871 में डिबेटिंग क्लब के संस्थापकों में एक बुद्धिबल्लभ पन्त के संपादकत्व में *अल्मोड़ा अखबार* का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। सन् 1891 तक यह लीथो में छपता था, बाद में टाइप में छपने लगा। इसका सरकारी रजिस्ट्रेशन नम्बर 10 था। इसके 48 वर्ष के जीवनकाल में इसका संपादन क्रमशः बुद्धि बल्लभ पंत, मुंशी इम्तियाज अली, जीवनानन्द जोशी, मुंशी सदानन्द सनवाल, विष्णुदत्त जोशी और 1913 के पश्चात बद्रीदत्त पांडे ने किया।

सन् 1899 में रूपानन्द ने अंग्रेजी पत्रिका *प्रबुद्ध भारत* का मायावती आश्रम (चम्पावत) से प्रकाशन किया। इसने स्थानीय शिक्षित समुदाय में रामकृष्ण मिशन के विचारों का प्रचार किया। इसी क्रम में 1893-94 में अल्मोड़ा से *कूर्माचल समाचार* का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ।

अपने समकालीन समाचारपत्रों के समान उत्तराखण्ड के प्रारम्भिक समाचारपत्रों ने स्थानीय समस्याओं और राष्ट्रीय घटनाक्रमों के विषय में जनता को जागृत करने का कार्य किया।

अभ्यास प्रश्न

1. समय विनोद पर टिप्पणी लिखिए।
2. अल्मोड़ा अखबार के उदय के कारण पर प्रकाश डालिए।

1.5. बीसवीं सदी में उत्तराखण्ड की पत्रकारिता का विकास

बीसवीं सदी के प्रारम्भ में राष्ट्रीय आन्दोलन का स्वरूप उग्रवादी हो गया था। सम्पूर्ण राष्ट्र में औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध आक्रोश तीव्र होने लगा। यहां के युवकों पर पाश्चात्य राजनैतिक

विचारों तथा राष्ट्रीय स्तर पर फैल रही चेतना ने अत्यधिक गहरा प्रभाव छोड़ा। इन युवकों ने अपने विचारों के प्रसार हेतु समाचारपत्रों को माध्यम बनाया। फलस्वरूप बीसवीं सदी में स्थानीय प्रेस और समाचारपत्रों का तीव्रता से विकास हुआ।

गढ़वाल में सन् 1902 में लैंसडाउन से गिरिजा दत्त नैथाणी द्वारा संपादित मासिक पत्र *गढ़वाल समाचार* का प्रकाशन हुआ। गढ़वाल से प्रकाशित यह प्रथम समाचारपत्र दो साल में ही बंद हो गया। तत्पश्चात् उदार सरकार परस्त संगठन गढ़वाल यूनियन द्वारा देहरादून से सन् 1905 में *गढ़वाली* पत्र का प्रकाशन किया गया। प्रारम्भ में यह पाक्षिक था, लेकिन सन् 1914 ई. में ब्रिटिश गढ़वाल से प्रकाशित *विशाल कीर्ति* तथा 1913 से दोगडा से पुनः प्रकाशित हो रहे *गढ़वाल समाचार* को *गढ़वाली* में सम्मिलित कर इसे साप्ताहिक बना दिया गया। इसी क्रम में 1918 में गिरिजा दत्त नैथाणी द्वारा कभी दोगडा और कभी नैथाणा से *पुरुषार्थ* का प्रकाशन किया गया।

कुमाऊँ में *अल्मोड़ा अखबार* निरन्तर प्रकाशित हो रहा था। स्थानीय समाज में इसकी लोकप्रियता भी बढ़ती जा रही थी। इसकी प्रसार संख्या भी 50-60 से बढ़कर 1500 हो गयी थी। स्थानीय नौकरशाही की बार-बार आलोचना करने के कारण 1918 में सरकारी दबाव के कारण *अल्मोड़ा अखबार* बंद कर दिया गया। 1913 में ही अल्मोड़ा में थोड़े समय तक हस्तलिखित समाचारपत्र *बाजार बंधु* निकाला गया।

गढ़वाल में *गढ़वाली* और सन् 1918 से प्रकाशित होने वाला *पुरुषार्थ* सरकार विरोधी प्रचार कर रहे थे। *अल्मोड़ा अखबार* के बन्द हो जाने से कुमाऊँ के राजनैतिक तथा सामाजिक जीवन में आयी रिक्तता की पूर्ति तथा राष्ट्रीय संग्राम से स्थानीय जनता को जोड़ने के लिए स्थानीय जागृत व्यक्तियों ने समाचार पत्र की आवश्यकता को महसूस किया। प्रारम्भ में *अल्मोड़ा अखबार* को ही पुनः प्रकाशित करने का प्रयत्न किया गया। किन्तु *अल्मोड़ा अखबार* के संचालकों में आपसी मतभेद के कारण यह सम्भव न हो सका। स्थानीय राष्ट्रवादियों ने एक नवीन समाचारपत्र प्रकाशित करने का विचार किया। अगस्त, 1918 में लखनऊ से लायी गयी एक पुराने प्रेस की सामग्री से बद्रीदत्त पाण्डे ने अल्मोड़ा के झिझाड़ मुहल्ले के एक भवन में प्रेस स्थापित किया और अल्मोड़ा अखबार के दमन के कुछ माह पश्चात् ही 15 अक्टूबर, 1918 को विजय दशमी के पर्व पर बद्रीदत्त पाण्डे के सम्पादन में *शक्ति* का प्रथमांक 'विजय' पत्र के रूप में प्रकाशित हुआ। तब से यह देशभक्त प्रेस से अद्यतन निरन्तर प्रकाशित हो रहा है।

गढ़वाल के लैंसडाउन से बैरिस्टर मुकुन्दीलाल ने *तरुण कुमाऊँ* का 1922 में प्रकाशन किया। अल्मोड़ा से राष्ट्रीय आन्दोलन के जुझारू नेता विक्टर मोहन जोशी ने 1930 में *स्वाधीन प्रजा* नामक समाचारपत्र प्रकाशित किया। अल्मोड़ा से ही 1922 में *जिला समाचार* नामक समाचारपत्र का प्रकाशन हुआ, जो 1925 में *कुमाऊँ कुमुद* नाम से निकलने लगा। 1934 में अल्मोड़ा से हरिप्रसाद टम्टा के संपादन में *समता* समाचारपत्र का प्रकाशन हुआ, जो भारत की दलित पत्रकारिता के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। 1938 में कोटद्वार से *संदेश* नामक साप्ताहिक समाचार पत्र निकला। 1939 में शक्ति से अलग हुए पीताम्बर पांडे ने हल्द्वानी से *जागृत जनता* का प्रकाशन किया। लैंसडाउन से 1939 में *कर्मभूमि* का प्रकाशन ब्रिटिश सरकार और टिहरी रियासत के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए एक ऐसे मंच के रूप में किया गया, जो स्थानीय संघर्ष को स्वर दे सके। गढ़वाल के प्रमुख राष्ट्रवादी भक्तदर्शन और भैरव दत्त धूलिया के प्रयासों से स्थानीय राष्ट्रवादियों ने ढाई-ढाई हजार के शेयर एकत्र कर कुंवर सिंह नेगी के कालेश्वर प्रेस को लेकर हिमालय ट्रेडिंग तथा पब्लिशिंग कम्पनी की स्थापना की और सन् 1939 की बसन्त पंचमी के दिन कर्मभूमि का प्रकाशन प्रारम्भ किया। 1938 में कुमाऊँनी भाषा में *अचल* नामक समाचारपत्र का प्रकाशन हुआ।

उत्तराखण्ड में समाचारपत्र प्रकाशन का क्रम निरन्तर बढ़ता गया। यहां प्रकाशित होने वाले अन्य समाचारपत्रों में *हिमालय* मासिक (रानीखेत, 1918), *कूर्माचल मित्र* साप्ताहिक (अल्मोड़ा, 1918), *ज्योति* साप्ताहिक (अल्मोड़ा, 1919), *क्षेत्रीय हितैषी* साप्ताहिक (नैनीताल, 1928), *युगवाणी* (देहरादून, 1947), *हिमाचल* (मसूरी, 1948), *प्रजाबन्धु* (रानीखेत, 1947), *कुमाऊँ राजपूत* (अल्मोड़ा, 1948), आदि थे।

1. अभ्यास प्रश्न
2. गढ़वाल से प्रकाशित होने वाले प्रमुख समाचारपत्रों के नाम लिखिए।
3. शक्ति पत्र का प्रकाशन करने वाले प्रेस का नाम लिखिए।

1.6. प्रमुख समाचारपत्रों का स्वरूप और विचारधारा

उत्तराखण्ड में प्रारम्भिक समाचारपत्र उदारवादी विचारधारा से प्रभावित थे। *अल्मोड़ा अखबार*, *कूर्माचल समाचार*, *गढ़वाल समाचार* और *गढ़वाली* नरम तथा उदारवादी नीति के समर्थक थे। किन्तु इनके प्रकाशन से दूरस्थ तथा मुख्यधारा से अलग-थलग पड़े क्षेत्रों के समाचार जनता एवं सरकार तक पहुँचने लगे।

बीसवीं सदी में समाचारपत्रों के विकास के साथ उनके स्वरूप में भी परिवर्तन हुआ। स्थानीय पत्रों का स्वरूप अधिक अर्थवान और जनमुखी होने लगा। इस समय राष्ट्रीय राजनीति में उग्रवादी विचारधारा के विकास और स्थानीय प्रतिरोध आन्दोलन ने स्थानीय पत्रकारिता को आक्रामक बना दिया। विभिन्न विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व करते हुए कभी उत्तराखण्ड के समाचारपत्र एक-दूसरे के सहयोगी तो कभी विरोधी बनकर उभरे।

उत्तराखण्ड के प्रथम हिन्दी पत्र *समय विनोद* का कोई भी अंक उपलब्ध नहीं है। अतः पत्र के स्वरूप और भाषा आदि का अंदाज नहीं लगाया जा सकता है। वर्नाक्यूलर रिपोर्ट में इसके कुछ अंश प्राप्त हुए जो भारतीयों के शोषण, बिना वजह उन्हें पीटने तथा उन पर अविश्वास करने, न्यायालयों द्वारा पक्षपातपूर्ण रवैया अपनाने, सरकारी नौकरी में भारतीयों को न रखे जाने आदि के सम्बन्ध में हैं।

1.6.1 अल्मोड़ा अखबार (1871–1918)

प्रारम्भिक चरण में *अल्मोड़ा अखबार* सरकारपरस्त था तथा इसकी नीति अनुनय और उदारता की थी। अपनी नरम पंथी नीति के तहत प्रकाशित होते रहने के लिए अपनी सीमाओं से बाहर जाने के जोखिम से यह बचता रहा, फिर भी इसने औपनिवेशिक शासकों का ध्यान स्थानीय समस्याओं के प्रति केन्द्रित करने में सफलता पाई। प्रत्यक्ष रूप से न सही, अप्रत्यक्ष रूप से ही यह जनान्दोलन के लिए पृष्ठभूमि की तैयारी का काम था। वास्तव में क्षेत्रीय समस्याओं के प्रति जागरण और क्षेत्रीय सीमित जागृति को राष्ट्रीय स्वातन्त्रता संग्राम से जोड़ने का प्रयास सर्वप्रथम *अल्मोड़ा अखबार* के माध्यम से ही प्रारम्भ हुआ।

स्थानीय कुली बेगार की समस्या, ब्रिटिश नौकरशाही द्वारा किए जाने वाले अत्याचारों, अकाल के समय सरकारी दौरो का विरोध, पुलिस के आतंक और दमन आदि पर लिखते हुए *अल्मोड़ा अखबार* ने अपने विभिन्न अंकों में इन समस्याओं को दूर करने का सरकार से निवेदन किया। सरकार द्वारा आर्थिक शोषण और समय-समय पर लगाये गये करों— पटवारी कर, डाक

कर, अकाल कर आदि का विरोध किया। इसके बावजूद वह अंग्रेज सरकार का समर्थक तथा आन्दोलन का विरोधी बना रहा।

सन् 1913 के पश्चात *अल्मोड़ा अखबार* को उत्तराखण्ड का ऐसा पत्र बनने का अवसर मिला, जो पहली बार सरकार की दृष्टि में खतरनाक हो सका। तिलक के उग्रवाद से प्रभावित नवयुवकों के हाथ में *अल्मोड़ा अखबार* का नेतृत्व आ जाने के कारण यह सम्भव हुआ। सन् 1913 में बद्रीदत्त पाण्डे *अल्मोड़ा अखबार* के संपादक बने। उनकी राजनैतिक विचारधारा का स्वाभाविक प्रभाव *अल्मोड़ा अखबार* के ऊपर भी पड़ा। बद्रीदत्त पाण्डे के संपादन में *अल्मोड़ा अखबार* का स्वरूप ही नहीं बदला, बल्कि उसकी प्रसार संख्या भी अत्यधिक बढ़ गयी। अब *अल्मोड़ा अखबार* की ग्राहक संख्या 50-60 से बढ़कर 1500 तक हो गई। फलतः इस क्षेत्र की ग्रामीण जनता भी *अल्मोड़ा अखबार* के प्रगतिशील राष्ट्रीय विचारों के सम्पर्क में आयी।

स्थानीय स्तर पर कुली बेगार तथा जंगलात इस समय उग्र रूप धारण कर चुके थे। बद्रीदत्त पाण्डे के नेतृत्व में *अल्मोड़ा अखबार* ने भी स्थानीय आन्दोलनों में भाग लेकर राष्ट्रीय आन्दोलन से जुड़ने की रणनीति तैयार की। कुली बर्दायश सम्बन्धी आन्दोलन का विस्तृत विवरण *अल्मोड़ा अखबार* ने प्रकाशित किया।

कुली उतार सम्बन्धी लेखों के कारण डिप्टी कमिश्नर पीटर से सम्पादक बद्री दत्त पाण्डे की कई बार बहस भी हुई। नये डिप्टी कमिश्नर लोमस अधिक प्रतिक्रियावादी थे तथा तत्कालीन जंगलात नीति के कट्टर समर्थक थे। *अल्मोड़ा अखबार* में जंगलात कष्ट पर निरन्तर प्रकाशित होने वाले लेखों से कोधित हो लोमस ने सम्पादक बद्रीदत्त पाण्डे को अनेकों बार धमकी दी थी। सरकारी प्रतिरोधों के बावजूद *अल्मोड़ा अखबार* में कुली बेगार, जंगलात कष्ट एवं राष्ट्रीय स्वतन्त्रता पर अनेकों लेख एवं सम्पादकीय प्रकाशित होते रहे। सन् 1913 में पांच अंकों में बद्रीदत्त पाण्डे की लेखमाला 'सबसे पीछे कुमाऊँ क्यों?' प्रकाशित हुई, जिसमें कुमाऊँ की स्थिति का विश्लेषणात्मक वर्णन किया गया। 'स्वराज्य कैसे मिलेगा' संपादकीय में स्वराज्य के लिए स्वयं संगठित हो कार्य करने के लिए भारतवासियों से कहा गया।

अप्रैल, 1918 में डिप्टी कमिश्नर लोमस एक महिला के साथ अल्मोड़ा के स्याही देवी जंगल में शिकार हेतु गये, जहाँ शराब देर से लाने पर कुली को छर्रे से मारकर घायल कर दिया। अप्रैल माह में शिकार खेलना भी कानूनन अपराध था। इस घटना को अत्यधिक आलोचना के साथ प्रकाशित करने के कारण *अल्मोड़ा अखबार* को स्थानीय प्रशासन का कोप भाजन बनना पड़ा। पत्र से एक हजार की जमानत मांगी गई और मुद्रक-प्रकाशक सदानन्द सनवाल से त्यागपत्र लिखवा लिया गया। इस प्रकार अनवरत रूप से उग्रवादी तथा तीव्र विचारों का प्रसार करने वाला *अल्मोड़ा अखबार* 48 वर्षों तक निरन्तर प्रकाशित होकर अप्रैल, 1918 में सरकार विरोधी स्वरूप के कारण दमन का शिकार बना।

अल्मोड़ा अखबार के दमन पर गढ़वाल से प्रकाशित होने वाले *पुरुषार्थ* पत्र ने अपनी प्रतिक्रिया इस प्रकार व्यक्त की - एक फायर से तीन शिकार। कुली, मुर्गी और अल्मोड़ा अखबार।

1.6.2 गढ़वाली (1905-1950)

गढ़वाली पर्वतीय क्षेत्र में राजनैतिक और सामाजिक चेतना के प्रसार का सक्षम माध्यम बना। गढ़वाली के सम्पादक गिरिजादत्त नैथाणी, तारदत्त गैरोला और विशम्भर दत्त चन्दोला मूलतः नरमवादी और सुधारवादी थे। गढ़वाली प्रारम्भ से ही उदारवादी और गोखले शैली का पक्षधर रहा।

गढ़वाली ने स्थानीय और राष्ट्रीय समस्याओं को साथ-साथ उठाया। स्थानीय समस्याओं में कुली बेगार, जंगलात, नायकोद्धार, महिला जागृति, शिक्षा प्रसार, छुआछूत, गाड़ी सड़क आदि पर लेख और सम्पादकीय लिखे। इन सम्पादकीयों में ब्रिटिश सरकार की प्रशंसा करते हुए सरकार से इन समस्याओं का निवारण करने के लिए प्रार्थना की गयी है। सन् 1914 के पश्चात अन्य पत्रों के सम्मिलित होने पर गढ़वाली ब्रिटिश सरकार के शोषक स्वरूप को अधिक प्रभावशाली ढंग से व्यक्त करने लगा।

कुली बेगार के सम्बन्ध में प्रारम्भ में गढ़वाली बेगार उन्मूलन की अपेक्षा बेगार को संशोधित करने, इसकी अधिकता पर रोक लगाने, पटवारियों-ग्रामप्रधानों पर नियंत्रण रखने और अंग्रेज पर्यटकों और सरकारी अफसरों को नरमी बरतने के लिए अनुरोध करने वाले लेखों एवं सम्पादकीयों तक सीमित था। गढ़वाली कुली बेगार प्रथा में सुधार हेतु कुली ऐजेन्सी खोलने का पक्षधर था।

गढ़वाली 1920 तक कुली ऐजेन्सी कायम रखने पर ही जोर देता रहा, किन्तु 1921 में बागेश्वर के उत्तरायणी मेले में कुली बेगार के विरुद्ध जनता की उग्रता ने उसके दृष्टिकोण को बदल दिया। गढ़वाली ने बागेश्वर तथा उसके बाद के घटनाक्रम को विस्तार से प्रकाशित किया और कुली प्रथा का अन्त राजा और प्रजा दोनों के हित में आवश्यक बताया।

जंगलात सुधार के आन्दोलन पर भी गढ़वाली ने पर्याप्त लिखा। सितम्बर, 1917 में जंगलात की सख्ती शीर्षक से जंगलात के प्रबन्ध से उत्पन्न कष्टों का वर्णन किया। गढ़वाली ने शिक्षा, महिला जागृति, अछूतोद्धार और नायक प्रथा जैसे सामाजिक सुधारवादी आन्दोलनों के प्रति अधिक तीव्रता से लिखा। गढ़वाली के सम्पादक विशम्भर दत्त चन्दोला ने कन्या विक्रय पर सर्वप्रथम लेख प्रकाशित किया। बम्बई में बेची गयी पर्वतीय कन्याओं के सम्बन्ध में सूचना एकत्र करने वह बम्बई भी गए। गढ़वाली ने पर्वतीय क्षेत्र को कौंसिल में प्रतिनिधित्व देने के लिए समय-समय पर लिखा।

राष्ट्रीय आन्दोलन में गढ़वाली के सम्पादक उदारवादी कांग्रेसी के रूप में प्रत्यक्ष भागीदारी कर रहे थे। गढ़वाली के प्रकाशन के समय स्वदेशी आन्दोलन चल रहा था। गढ़वाली ने स्थानीय जनता को स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग करने के लिए प्रेरित किया। सन् 1919-20 में ब्रिटिश सरकार की दमनात्मक कार्यवाहियों रौलेट बिल, जालियांवाला कांड आदि का गढ़वाली ने विरोध किया। परन्तु गढ़वाली असहयोग आन्दोलन का पूर्णतः विरोधी था। असहयोग आन्दोलन के पश्चात होने वाले दंगों का कारण गढ़वाली ने असहयोग की नीति को ही माना।

गढ़वाली टिहरी रियासत में भी प्रचलित पत्र था। टिहरी राज्य की समस्याओं को भी वह समय-समय पर उठाता रहा। रियासत की समस्याओं के सम्बन्ध में उसकी खोजबीन और स्पष्टता असाधारण थी। सन् 1930 में चंदोला रंवाई कांड का विस्तृत समाचार प्रकाशित करने के कारण इसे टिहरी रियासत से प्रताड़ित होना पड़ा था।

बाद के वर्षों में गढ़वाली अनियमित रहा। कुछ वर्षों के प्रकाशित अंक भी अप्राप्य हैं। अनियमित प्रकाशन तथा कुछ नये राष्ट्रवादी पत्रों के उदय के कारण स्थानीय राष्ट्रीय आन्दोलन पर इसका प्रभाव भी कम होता गया। तथापि बीसवीं सदी के प्रथम दो-ढाई दशकों में दूरस्थ जनता को राष्ट्रीय चेतना से जोड़ने में गढ़वाली का महत्वपूर्ण स्थान है।

1.6.3 पुरुषार्थ (1918-1923)

गढ़वाल समाचार तथा गढ़वाली के सम्पादक रह चुके गिरिजादत्त नैथाणी का एकाकी प्रयास पुरुषार्थ के रूप में सामने आया। ब्रिटिश गढ़वाल में गढ़वाली की उदारवादी नीति के

विपरीत पुरुषार्थ ने समयानुरूप राष्ट्रीय आन्दोलन के उग्र विकास को जनता तक पहुंचाने का कार्य किया। पुरुषार्थ ने प्रेस एक्ट से लेकर रौलेट एक्ट तक सभी स्तरों पर ब्रिटिश सरकार की आलोचना की। अल्मोड़ा अखबार के बन्द होने पर उसने इसका विरोध किया। सन् 1919 में दमनकारी रौलेट बिल का विरोध किया।

स्थानीय स्तर पर कुली बेगार तथा जंगलात पर पुरुषार्थ ने विचारोत्तेजक लेख लिखे। गढ़वाली के विपरीत पुरुषार्थ ने असहयोग आन्दोलन का समर्थन किया और *शक्ति* के साथ दूरस्थ क्षेत्रों में इसका प्रचार-प्रसार किया। यद्यपि पुरुषार्थ संगठित प्रयास न होने के कारण *शक्ति* के जैसा विकास न कर सका और न ही उतना अधिक लोकप्रिय हो सका, तथापि ब्रिटिश गढ़वाल को नवीनतम प्रवृत्तियों से जोड़ने में विशेष सहायक रहा।

1.6.4 *शक्ति* (1918)

शक्ति प्रारम्भ से ही आक्रामक, प्रखर राष्ट्रवादी और स्पष्टवादी पत्र रहा। उसने राष्ट्रीय आन्दोलन के अन्तिम तीन दशकों में स्थानीय जनता को जागृत करने का महत्वपूर्ण कार्य किया, साथ ही आन्दोलन में स्थानीय सेनानियों का अस्त्र भी बना। उसने स्थानीय कुली बेगार तथा जंगलात के आन्दोलनों को राष्ट्रीय चेतना से जोड़ने हेतु असहयोग आन्दोलन की नीति का प्रयोग किया। बेगार के संबंध में आक्रामक लेखन के कारण ब्रिटिश सरकार द्वारा *शक्ति* पर 6000/-रु. की मानहानि का दावा किया गया तथा इसके कई सम्पादकों को। सविनय अवज्ञा आन्दोलन के दौरान शक्ति स्थानीय स्तर पर राष्ट्रीय आन्दोलन का सर्वाधिक प्रचारक और प्रमुख अस्त्र बन गया था। इस दौरान कुमाऊँ में 'लिखेंगे तख्ती पढ़ेंगे शक्ति' नारा प्रचलित था। 1930 में इससे हजार रूपए जमानत मांगी गयी, जिस कारण यह चार माह तक प्रकाशित नहीं हो सका। 1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन के दौरान सम्भावित खतरा समझ ब्रिटिश सरकार ने अगस्त, 1942 में शक्ति के कार्यालय में छापा मारा तथा सम्पादक को गिरफ्तार कर लिया। जनवरी, 1946 तक लगभग तीन वर्ष पांच माह शक्ति प्रकाशित नहीं हो सका।

शक्ति यद्यपि मूलतः राष्ट्रवादी कांग्रेसी पत्र बना रहा, तथापि वामपन्थ, समाजवाद आदि से सम्बन्धित समाचार भी प्रकाशित करता रहा। कुली बेगार तथा जंगलात के अतिरिक्त शिक्षा के विकास, अछूतोंद्वारा, नायकोंद्वारा, महिला जागृति तथा धर्मनिरपेक्षता पर भी शक्ति ने सम्पादकीय प्रकाशित किये। स्थानीय आर्थिक समस्याओं और साहित्य को भी शक्ति में पर्याप्त स्थान दिया गया। अपने समकालीन अन्य पत्रों की अपेक्षा शक्ति अधिक प्रभावशाली पत्र रहा क्योंकि जितने स्थानीय नेता इससे जुड़े थे, उतने किसी अन्य पत्र से नहीं।

1.6.5 तरुण कुमाऊँ (1922-1923)

उत्तराखण्ड के प्रथम बैरिस्टर तथा स्थानीय राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रमुख संग्रामी मुकुन्दी लाल ने जुलाई, 1922 में लैंसडाउन से तरुण कुमाऊँ का प्रकाशन किया। तरुण कुमाऊँ ने अपने सीमित प्रकाशन काल में राष्ट्रीय और स्थानीय दोनों ही स्तर पर अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करते हुए स्थानीय जनता में उत्साह और विश्वास का संचार किया। तरुण कुमाऊँ ने अपने लेखों और सम्पादकियों द्वारा जनचेतना को जागृत करते हुए घोषणा की कि बिना स्वराज्य के कोई जाति सरसब्ज, गौरवान, प्रभावशाली, *शक्तिशाली* और आदरणीय नहीं हो सकती। परतन्त्र राष्ट्रों का कोई सम्मान नहीं करता और आज हमारी यह शोचनीय दशा भारतवर्ष में स्वराज्य न होने के कारण ही है।

कुली बेगार आन्दोलन के संबंध में तरुण कुमाऊँ का रुख आक्रामक था। आन्दोलन के अंतिम दिनों में ब्रिटिश सरकार द्वारा किए गए दमन और दमन के विरोध में आन्दोलनकारियों द्वारा किये गये जबरदस्त प्रतिरोध के संबंध में तरुण कुमाऊँ ने लगातार समाचार प्रकाशित किए।

स्थानीय आन्दोलन के साथ-साथ राष्ट्रीय आन्दोलन में भी तरुण कुमाऊँ ने आक्रामक सक्रियता दिखायी। स्वराज्यवादी दल का तरुण कुमाऊँ ने प्रारम्भ से ही समर्थन किया। तरुण कुमाऊँ का मानना था कि चुनावों से जनता में राजनैतिक चेतना का प्रसार होगा। 1923 में तरुण कुमाऊँ ने सम्पादक मुकुन्दी लाल के समर्थन में एक प्रचारक पत्र का रूप धारण कर लिया था।

चुनाव प्रचार के दौरान ही मुकुन्दीलाल अपनी व्यस्तता के कारण तरुण कुमाऊँ के प्रकाशन की ओर ध्यान न दे सके और अगस्त-सितम्बर, 1923 में चुनावों से पहले ही तरुण कुमाऊँ बन्द कर दिया गया। तरुण कुमाऊँ ऐसे समय बन्द किया गया, जब गढ़वाल और मुकुन्दी लाल दोनों को ही उसकी आवश्यकता थी।

इस प्रकार तरुण कुमाऊँ लगभग एक डेढ़ वर्ष तक प्रकाशित हुआ। अपने सीमित प्रकाशन काल में भी स्थानीय तथा राष्ट्रीय आन्दोलन में अपनी सक्रियता के कारण तरुण कुमाऊँ स्पष्ट छाप अंकित कर सका।

1.6.6 स्वाधीन प्रजा (1930-1933)

बीसवीं सदी के तृतीय दशक में पर्वतीय जनता को जागृत करने का कार्य समर्पित और सशक्त रूप से स्वाधीन प्रजा ने किया। स्थानीय राष्ट्रीय आन्दोलन के अग्रणी नेता मोहन जोशी ने स्वतन्त्र अभिव्यक्ति के लिए 'स्वाधीन प्रजा' का प्रकाशन किया। मोहन जोशी ने स्वाधीन प्रजा के विज्ञापन में उसके प्रकाशन का उद्देश्य बताते हुए कहा कि :—स्वाधीन प्रजा सच्चे और सही समाचार प्रकाशित करेगी, देश को स्वाधीन बनाने तथा राष्ट्रीय जागरण हेतु जनता को संगठित करेगी, ग्रामों और नगरों में स्वाधीनता के सिद्धान्तों का प्रचार करेगी।

औपनिवेशिक स्वराज्य के स्थान पर स्वाधीन प्रजा ने पूर्ण स्वतन्त्रता का समर्थन किया। स्वाधीन प्रजा का मानना था कि कोई भी व्यवस्था उसके संचालक की ईमानदारी पर ही निर्भर करती है। स्वाधीन प्रजा ने स्थानीय प्रशासन तथा सरकार की दमन नीति पर भी कुठाराघात किया। अपने मार्मिक तथा उत्तेजक लेखों एवं सम्पादकियों के कारण स्वाधीन प्रजा शीघ्र ही लोकप्रिय हो गया।

भगत सिंह को फांसी दिये जाने पर स्वाधीन प्रजा ने सरकार का गुंडापन कहकर आलोचना की। 14 मई, 1930 को कान्ति शीर्षक से उग्र सम्पादकीय प्रकाशित किया। इन लेखों एवं सम्पादकियों के कारण 10 मई, 1930 को स्वाधीन प्रजा से छह हजार रुपये की जमानत मांगी गई। यह जमानत अब तक मांगी गयी जमानतों में सबसे अधिक थी। फलतः उन्नीसवां अंक आधा ही प्रकाशित करके, इसका प्रकाशन बन्द कर दिया गया।

अक्टूबर, 1930 में कृष्णानन्द शास्त्री के संपादन में स्वाधीन प्रजा का पुनर्प्रकाशन किया गया। उनके संपादन में भी स्वाधीन प्रजा पर्वतीय क्षेत्र में निरन्तर जागृति फैलाता रहा और स्थानीय जनसमुदाय को अधिक से अधिक राष्ट्रीय संग्राम से जोड़ने का कार्य करता रहा। सन् 1932 में स्वाधीन प्रजा बन्द हो गया। इसका कारण मोहन जोशी की मानसिक विक्षिप्ता थी। अल्प प्रकाशन काल में स्वाधीन प्रजा पर्वतीय पत्रकारिता जगत में छाया रहा।

1.6.7 कुमाऊँ कुमुद

सन् 1922 में जिला समाचार शीर्षक से प्रकाशित होने वाला पत्र 1925 से कुमाऊँ कुमुद' शीर्षक से प्रकाशित होने लगा। अल्मोड़ा से प्रकाशित होने वाले इस पत्र का सम्पादन प्रेम बल्लभ जोशी, बसंत कुमार जोशी, देवेन्द्र प्रताप जोशी आदि ने किया। प्रारम्भ में इसकी छवि राष्ट्रवादी की अपेक्षा साहित्यिक पत्र की थी। एक राष्ट्रवादी पत्र के रूप में विकसित होने में इसे लगभग छह-सात वर्ष लग गये। सन् 1928 में साइमन कमीशन के आगमन और सन् 1930 में पूर्ण स्वतंत्रता की घोषणा ने सम्पूर्ण राष्ट्र को आन्दोलित कर दिया था। कुमाऊँ कुमुद समय की मांग के अनुरूप साहित्यिक पत्र से राष्ट्रवादी पत्र के रूप में विकसित हुआ।

कुमाऊँ कुमुद ने सन् 1936-37 के पश्चात ही अधिक लोकप्रियता प्राप्त की, जब *शक्ति* से असन्तुष्ट होकर कुछ राष्ट्रवादियों ने कुमाऊँ कुमुद को अपनाया और एक राष्ट्रवादी पत्र के रूप में विकसित किया। इसी कारण राष्ट्रीय स्वतन्त्रता से जुड़ा होने के बावजूद कुमाऊँ कुमुद *शक्ति* से भिन्न नीति वाला था।

कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों की स्थापना के पश्चात *शक्ति* ने मन्त्रिमण्डल की नीतियों और कार्यों का प्रचार करने का कार्य किया, जबकि कुमाऊँ कुमुद ने कांग्रेसी मन्त्रियों को उनकी कमियों से अवगत कराने तथा स्थानीय गम्भीर समस्याओं के प्रति ध्यान आकर्षित करने का कार्य किया। स्थानीय समाज की आर्थिक समस्या के विभिन्न पहलुओं को कुमाऊँ कुमुद ने उठाया और मन्त्रिमण्डल को पर्वतीय प्रदेश की आर्थिक स्थिति पर ध्यान देने को विवश किया। समाजवादी प्रभाव वाले कांग्रेसी देवीदत्त पन्त से प्रभावित हो कुमाऊँ कुमुद ने आर्थिक समस्याओं और सामान्य जन के लिए समाजवाद, पूंजीवाद, साम्राज्यवाद आदि का सरल विश्लेषण प्रस्तुत किया।

1.6.8 जागृत जनता (1939)

सन् 1939 में पीताम्बर पाण्डे ने हल्द्वानी से जागृत जनता का प्रकाशन किया। पीताम्बर पाण्डे राष्ट्रीय संग्राम में नई पीढ़ी का प्रतिनिधित्व कर रहे थे, जो 1930 के आन्दोलन के दौरान तैयार हुई थी। यह पीढ़ी जनता की आन्दोलन में अधिक से अधिक प्रत्यक्ष भागीदारी के पक्ष में थी।

जून, 1938 में जब अल्मोड़ा में प्रान्तीय सरकार के संसदीय सचिव अजीत प्रसाद जैन को मानपत्र दिया जा रहा था, तो पीताम्बर पाण्डे आदि ने रूद्रदत्त भट्ट आदि कांग्रेसी नेताओं के विरुद्ध कुछ कहना चाहा था। बट्टीदत्त द्वारा स्वीकृति न दिये जाने के कारण युवाओं ने नारेबाजी और जुलूस के साथ प्रतिरोध किया था। पीताम्बर पाण्डे *शक्ति* से जुड़े थे, अतः उनपर *शक्ति* के संरक्षकों की ओर से क्षमा मांगने का दबाव डाला गया। पीताम्बर पाण्डे ने *शक्ति* से त्यागपत्र दे दिया और अपने उग्र विचारों के प्रचार हेतु *जागृत जनता* का प्रकाशन किया।

सन् 1939 में द्वितीय विश्व युद्ध प्रारम्भ हो चुका था और ब्रिटिश सरकार ने सुरक्षा की दृष्टि से बहुत से आपातकालीन कानून भारत में लागू कर दिये थे। प्रेस पर भी कई प्रतिबन्ध लगा दिये गये थे। ऐसे समय में एक नये पत्र का प्रकाशन करना और वो भी ऐसे पत्र का जो सरकार विरोधी प्रचार करे, अत्यंत कठिन था। जागृत जनता ने कठोर प्रेस कानूनों के बावजूद भारत को युद्ध में जबरदस्ती शामिल करने के ब्रिटिश सरकार के प्रयासों का तीव्र विरोध किया। युद्ध में सरकार को सहयोग न देने के लिए कांग्रेस द्वारा किए जा रहे व्यक्तिगत सत्याग्रह का प्रचार किया।

नवम्बर, 1940 में गोविन्द बल्लभ पन्त के गिरफ्तार होने का समाचार प्रकाशित करते हुए जागृत जनता ने युद्ध विरोधी नारे प्रकाशित किये। फलतः दिसम्बर, 1940 को उसके सम्पादक पीताम्बर पाण्डे को सजा और 300 रुपया जुर्माना हुआ। फरवरी, 1941 में पीताम्बर पाण्डे के रिहा हो गये परन्तु दिसम्बर, 1941 में एक बार पुनः पीताम्बर पाण्डे को जागृत जनता में प्रकाशित समाचारों के कारण एक माह के लिए जेल जाना पड़ा।

इसके बावजूद जागृत जनता निरन्तर स्वतन्त्रता आन्दोलन का प्रचार और ब्रिटिश सरकार की आलोचना प्रकाशित करता रहा। सम्प्रदायवादियों तथा प्रतिक्रियावादियों को ब्रिटिश सरकार द्वारा प्रोत्साहन देने की नीति का जागृत जनता निरन्तर विरोध करता रहा। अगस्त, सन् 1942 में भारत छोड़ो आन्दोलन के प्रारम्भ होने पर ब्रिटिश सरकार के दमन का सामना देश के सभी प्रमुख राष्ट्रवादी पत्रों को करना पड़ा। पांच वर्ष बन्द रहने के पश्चात मई, 1947 में जागृत जनता का पुनः प्रकाशन हुआ।

1.6.9 कर्मभूमि (1939)

इसने ब्रिटिश गढ़वाल और टिहरी रियासत में राजनैतिक चेतना को फैलाने का कार्य किया। गढ़वाल के प्रमुख कांग्रेसी नेता भैरवदत्त धूलिया, भक्त दर्शन, कमल सिंह नेगी, कुन्दन सिंह गुसाई, श्री देव सुमन, ललिता प्रसाद नैथाणी तथा नारायण दत्त बहुगुणा आदि इसके सम्पादक मंडल में थे। अतः गढ़वाल में *कर्मभूमि* कांग्रेसी नीतियों के प्रचार-प्रसार का प्रमुख साधन बना। इस रूप में यह *शक्ति* का सहयोगी बनकर उभरा। अपने प्रखर और प्रौढ़ सम्पादकियों के कारण *कर्मभूमि* को समय-समय पर ब्रिटिश सरकार और टिहरी रियासत से प्रताड़ित होना पड़ा। वास्तव में सन् 1939 के पश्चात ब्रिटिश गढ़वाल और टिहरी रियासत में *कर्मभूमि* ने *शक्ति* और *गढ़वाली* के कार्यों को ही स्वशैली में पूर्ण किया। वर्तमान में यह पत्र कोटद्वार से प्रकाशित हो रहा है।

1.6.10 समता (1935)

सन् 1935 से लगातार प्रकाशित होने वाला समता पत्र राष्ट्रीय आन्दोलन के युग में स्थानीय स्तर पर दलित जागृति का पर्याय बन गया। दलितोत्थान के लिए दलितों द्वारा किये गये प्रयास का क्रियान्वित रूप समता के रूप में सामने आया। अल्मोड़ा से प्रकाशित होने वाले अन्य पत्रों से समता भिन्न था, क्योंकि यह दलित पत्रिका का उदार प्रारम्भ होने के बावजूद राष्ट्रवादी पत्र नहीं कहा जा सकता था। इसके सम्पादक हरिप्रसाद टम्टा सक्रिय समाज सुधारक और दलितों के उद्धार में रत थे। समता में जातिगत और सामाजिक भेदभाव की तीव्र आलोचना करने के साथ दलितों की आर्थिक समानता पर भी लेख प्रकाशित हुए। समता के सम्पादकों ने शिल्पकारों को ब्रिटिश सरकार का समर्थन कर उससे अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करने को प्रेरित किया। अतः कांग्रेस के साथ-साथ खुशीराम, बचीराम आर्य, बलदेव आर्य आदि राष्ट्रवादी शिल्पकारों की आलोचना की।

1.6.11 युगवाणी

1947 से प्रकाशित युगवाणी टिहरी रियासत के अन्तिम संघर्ष का मंच बना। इसका प्रकाशन टिहरी राज्य प्रजामंडल के नेताओं भगवती प्रसाद पांथरी, आचार्य गोपेश्वर कोटियाल आदि ने किया। टिहरी के संघर्ष को विस्तार से प्रकाशित करने के साथ इसने जनता को आंदोलित करने का कार्य किया।

अभ्यास प्रश्न

1. गढ़वाली पत्र के विचारों और स्वरूप पर टिप्पणी करिये।
2. कुमाऊँ के प्रमुख राष्ट्रवादी पत्रों का नाम लिखो।
3. दलितों के उत्थान हेतु समता पत्र की सोच पर टिप्पणी करिये।

1.7. प्रमुख सम्पादक और पत्रकार

उत्तराखण्ड में पत्रकारिता का विकास राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ-साथ हुआ। स्थानीय नेताओं को जनता तक अपनी बात पहुँचाने और चेतना फैलाने का यह उचित माध्यम लगा। अतः अधिकांश प्रकाशक, सम्पादक और लेखक स्वतंत्रता आन्दोलन से जुड़े नेता अथवा सक्रिय समाजसेवी थे।

अल्मोड़ा अखबार के बुद्धि बल्लभ पन्त, मुंशी इम्तियाज अली, जीवानन्द जोशी, सदानन्द सनवाल स्थानीय उदारवादी नेता थे। बद्रीदत्त पांडे तिलक से प्रभावित थे और लीडर, कास्मोपोलिटन आदि पत्रों में कार्य करके पत्रकारिता का अनुभव प्राप्त कर चुके थे। उनके सम्पादन में स्थानीय पत्रकारिता ने उग्र रूप धारण किया। कुली बेगार और जंगलात आन्दोलन के वह नायक थे। शक्ति पत्र को उन्होंने अपने विचारों के प्रचार का मंच और औपनिवेशिक शासन के खिलाफ अस्त्र बनाया। शक्ति के अन्य सम्पादक दुर्गादत्त पांडे, मनोहर पंत, रामसिंह धौनी, पूरन चंद्र तिवारी, मथुरा दत्त त्रिवेदी ने भी प्रत्यक्ष रूप से स्वतंत्रता आन्दोलन में भाग लिया था। बद्रीदत्त पाण्डे को कुली बेगार, मोहन जोशी को असहयोग आन्दोलन और दुर्गादत्त पाण्डे को वन आन्दोलन के संबंध में सशक्त लेखन के कारण गिरफ्तार किया गया तथा भारत छोड़ो आन्दोलन के प्रारम्भ होते ही मनोहर पन्त *शक्ति* के सम्पादक होने के कारण गिरफ्तार कर लिए गए थे।

स्वाधीन प्रजा के सम्पादक विक्टर मोहन जोशी स्थानीय जनता में विश्वसनीय और जुझारू नेता के रूप में विख्यात थे। जनवरी, 1930 में स्वाधीन प्रजा का प्रकाशन करने से पूर्व वह क्रिश्चियन नेशनलिस्ट (इलाहाबाद) तथा *शक्ति* का संपादन कर चुके थे।

गढ़वाल समाचार, गढ़वाली और पुरुषार्थ के सम्पादक गिरिजा दत्त नैथाणी तिलक के अनुयायी थे। वह औपनिवेशिक शासन की कटु आलोचक और तेज और लड़ाकू प्रवृत्ति के पत्रकार थे। गढ़वाली के सम्पादक तारादत्त गैरोला राजभक्त थे और उदारवादी थे। उन्होंने गढ़वाल की स्थानीय समस्याओं के प्रति शासन और जनता दोनों को जाग्रत किया। गढ़वाली के सबसे लम्बे समय तक सम्पादक रहे विश्वम्भर दत्त चंदोला नरम स्पष्टवादी शैली के पक्षधर थे। उनका लेखन सुधारवादी विचारों से प्रभावित था।

तरुण कुमाऊँ के सम्पादक बैरिस्टर मुकुन्दी लाल कांग्रेस के प्रमुख कार्यकर्ता थे। कुमाऊँ कुमुद से जुड़े देवीदत्त पन्त, जागृत जनता के पीताम्बर पांडे, कर्मभूमि के भैरव दत्त धूलिया, भक्तदर्शन, ललिता प्रसाद नैथाणी, श्रीदेव सुमन आदि तथा युगवाणी के भगवती प्रसाद पांथरी और आचार्य गोपेश्वर कोठियाल सभी राजनैतिक और सामाजिक रूप से सक्रिय थे। उत्तराखण्ड की पत्रकारिता के विकास में इन सभी सम्पादकों का महत्वपूर्ण योगदान रहा।

अभ्यास प्रश्न

1. कुली बेगार, असहयोग तथा वन आन्दोलन सम्बन्धी लेखों के कारण शक्ति के किन सम्पादकों को जेल जाना पड़ा।
2. गढ़वाली समाचारपत्र के सबसे अधिक समय तक कौन सम्पादक रहे।

1.8. आधुनिक प्रेस और समाचारपत्रों का योगदान

समाचारपत्रों ने स्थानीय जनता को अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय घटनाक्रम की जानकारी दे कर चेतना का प्रसार किया और साथ ही राष्ट्रीयता और क्षेत्रीय समस्याओं के प्रति आन्दोलित भी किया। राष्ट्रीय आन्दोलन में उदारवादी आन्दोलन और तिलक के उग्रवाद से लेकर गांधी के विभिन्न आन्दोलनों – असहयोग आन्दोलन, सविनय अवज्ञा आन्दोलन, भारत छोड़ो आन्दोलन तथा कान्तिकारी और समाजवादी विचारधारा से स्थानीय जनता को परिचित कराने और जागृत करने का महत्वपूर्ण कार्य किया। स्थानीय राष्ट्रीय आन्दोलन और सामाजिक आन्दोलनों को दिशा देने का कार्य भी किया। समाचार पत्रों ने सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक मुद्दों को उठाया। स्थानीय सामाजिक समस्याओं कुली बेगार, जंगलात, डोला-पालकी और गाड़ी सडक आदि से सम्बन्धित विचारोत्तेजक लेख और सम्पादकीयों के द्वारा स्थानीय जनता को आन्दोलित करने का श्रेय समाचार पत्रों को ही है। शिक्षा के प्रसार, महिला जागृति, अछूतोद्धार, नायकोद्धार आदि समस्याओं को भी प्रमुखता से उठाया। आर्थिक मामलों में प्राकृतिक संसाधनों के दोहन, कृषि क्षेत्र में फौली विषमताओं, उद्योगों की कमी, बेरोजगारी, अकाल आदि के विषय में सरकार का ध्यान खिचने हेतु सभी समाचार पत्रों ने समय –समय पर लेख प्रकाशित किये।

समाचार पत्रों ने साहित्य और संस्कृति को भी स्थान दिया। सभी प्रमुख स्थानीय कवियों, साहित्यकारों की रचनायें समाचार पत्रों में प्रकाशित होती रहीं। हिन्दी, कुमाऊँनी तथा गढ़वाली के रचनाकारों शिवदत्त सती, सत्य शरण रतूड़ी, आत्माराम गैरोला, चन्द्र मोहन रतूड़ी, तारादत्त गैरोला, गौर्दा, सुमित्रा नन्दन पन्त, रत्नाम्बर दत्त चन्दोला, हेमचन्द्र जोशी, मुकुन्दी लाल, श्यामाचरण दत्त पन्त, पीताम्बर दत्त बड़थवाल, इला चन्द्र जोशी, शिवानी आदि की प्रारम्भिक रचनायें स्थानीय पत्र पत्रिकाओं में ही प्रकाशित हुईं।

अभ्यास प्रश्न

1. उत्तराखण्ड की किन सामाजिक समस्याओं के विषय में समाचार पत्रों ने विस्तार से लिखा?
2. उत्तराखण्ड के प्रमुख साहित्यकारों के नाम लिखें, जिनकी रचनायें वहां के स्थानीय पत्रों में प्रकाशित हुईं।

1.9 सारांश

भारत में पत्रकारिता का प्रारम्भ औपनिवेशिक शासन के परिणामस्वरूप हुआ। कम्पनी के कर्मचारियों की सुविधा हेतु प्रारम्भ पत्रकारिता का पुनर्जागरण और पाश्चात्य शिक्षा के प्रसार के साथ विकास हुआ। उत्तराखण्ड में भी प्रारम्भ में कम्पनी के अधिकारियों और कर्मचारियों हेतु अंग्रेजी समाचारपत्रों द हिल्स, मुफेसलाइट आदि का प्रकाशन हुआ। सन् 1868 में नैनीताल से प्रकाशित समय विनोद उत्तराखण्ड का पहला देशी पत्र था। 1871 में अल्मोड़ा से अल्मोड़ा अखबार का प्रकाशन उत्तराखण्ड के इतिहास की महत्वपूर्ण घटना थी। समय विनोद तो एक दशक बाद बन्द हो गया पर अल्मोड़ा अखबार 48 साल तक प्रकाशित होने के बाद सरकार का विरोध करने के आरोप में बन्द हुआ। इसी क्रम में 1891 में कुमाऊँ समाचार, 1902 में गढ़वाल समाचार, 1905 में गढ़वाली का प्रकाशन हुआ। गढ़वाली लगभग 50 वर्षों तक प्रकाशित हुआ। अल्मोड़ा में देशभक्त प्रेस से 1918 में प्रकाशित शक्ति उत्तराखण्ड का सर्वाधिक प्रभावशाली राष्ट्रवादी पत्र बना तथा अपने तीव्र लेखों से स्थानीय जनता को सामाजिक और राष्ट्रीय मुद्दों पर जागृत और आन्दोलित करता रहा। इससे अनेक बार जमानत मांगी गयी और इसके अधिकांश सम्पादकों और लेखकों को जेल जाना पड़ा। इसके अतिरिक्त पुरुषार्थ, तरुण कुमाऊँ, स्वाधीन प्रजा, जागृत जनता, कुमाऊँ कुमुद, कर्मभूमि, युगवाणी आदि प्रमुख पत्र थे।

उत्तराखण्ड की पत्रकारिता ने राजनैतिक तथा सामाजिक आन्दोलनों को प्रमुख मुद्दा बनाया। विभिन्न राजनैतिक विचारों के साथ साथ आर्थिक, सांस्कृतिक विषयों को भी प्रकाशित किया। स्थानीय साहित्यकारों की रचनायें भी निरन्तर इन समाचार पत्रों में प्रकाशित होती रहीं। इस प्रकार स्थानीय प्रेस और समाचारपत्रों के विकास ने उत्तराखण्ड को राष्ट्रीय घटनाक्रम से परिचित कराने, यहाँ की जनता में राष्ट्रीय मुद्दों और सामाजिक समस्याओं के प्रति चेतना का प्रसार करने का महती कार्य किया।

1.10. अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.3 के अभ्यास प्रश्नों का उत्तर

1. देखिए 1.3 का अंतिम पैराग्राफ।
2. उदन्त मार्तण्ड (30 मई, 1826, कलकत्ता)।

1.4 के अभ्यास प्रश्नों का उत्तर

1. देखिए 1.4 के प्रथम पैराग्राफ की अंतिम तीन पंक्तियाँ।
2. देखिए 1.4 का द्वितीय पैराग्राफ।

1.5 के अभ्यास प्रश्नों का उत्तर

1. गढ़वाल समाचार, गढ़वाली, पुरुषार्थ, युगवाणी, कर्मभूमि, तरुण कुमाऊँ आदि।
2. देशभक्त प्रेस, अल्मोड़ा।

1.6 के अभ्यास प्रश्नों का उत्तर

1. 1 देखिए 1.6.2।
2. अल्मोड़ा अखबार, शक्ति, स्वाधीन प्रजा, जागृत जनता आदि।
3. देखिए 1.6.10।

1.7 के अभ्यास प्रश्नों का उत्तर

1. बद्रीदत्त पांडे, विक्टर मोहन जोशी तथा दुर्गादत्त पांडे।
2. विश्वम्भर दत्त चंदोला।

1.8 के अभ्यास प्रश्नों का उत्तर

1. देखिए 1.8 का प्रथम पैराग्राफ।
2. देखिए 1.8 का द्वितीय पैराग्राफ।

1.11. संदर्भ ग्रन्थ

सकलानी, शक्ति प्रसाद— उत्तराखण्ड में पत्रकारिता का इतिहास
 साह, ज्योति—‘शक्ति’ के तीन दशक— उत्तराखण्ड में राष्ट्रवादी पत्रकारिता का अध्ययन
 शर्मा, भुवन—‘गढ़वाली’ पत्र एक समग्र अध्ययन
 पाठक, शेखर— उत्तराखण्ड में कुली बेगार प्रथा
 पाठक, शेखर—बद्रीदत्त पांडे और उनका युग

1.12 सहायक उपयोगी पाठ्य पुस्तकें

भाकुनी, हीरा सिंह—संग्रामियों के सरताज पं० बद्रीदत्त पांडे
 मनराल, धर्मपाल सिंह— स्वतंत्रता संग्राम में कुमाँऊ—गढ़वाल का योगदान

1.13 निबन्धात्मक प्रश्न

1. उत्तराखण्ड में आधुनिक प्रेस और समाचार पत्रों के उदय और विकास पर विस्तार से लिखिए।
2. उत्तराखण्ड के प्रमुख समाचारपत्रों के विचारों और स्वरूप पर निबन्ध लिखिए।
3. स्वाधीनता संग्राम में उत्तराखण्ड के समाचार पत्रों का क्या योगदान रहा।
4. उत्तराखण्ड के समाचार पत्रों का साहित्य और समाज के प्रति क्या योगदान रहा।

उत्तराखण्ड का स्वतंत्रता संग्राम में योगदान

2.0 प्रस्तावना

2.1 उद्देश्य

2.2 स्वतंत्रता संग्राम और उत्तराखण्ड

2.3 ब्रिटिश कुमाऊँ-गढ़वाल(1885से1919)

2.3.1 कुमाऊँसे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में प्रतिभाग	2.3.2 होमरूल लीग की स्थापना
2.3.3 कुमाऊँ परिषद	2.3.4 कुमाऊँ परिषद का हल्द्वानी अधिवेशन(1918)
2.3.5 कुमाऊँ परिषद का कोटद्वार अधिवेशन(1919)	2.3.6 रौलेट एक्ट का विरोध तथा स्थानीय मुद्दे
2.3.7 कुमाऊँ परिषद का काशीपुर अधिवेशन(1920)	

2.4 ब्रिटिश कुमाऊँ-गढ़वाल(1920से1929)

2.4.1 असहयोग आन्दोलन	2.4.2 कुली बेगार आन्दोलन
2.4.3 वन आन्दोलन	2.4.4 स्वराज्य दल
2.4.5 क्रान्तिकारी और समाजवादी आन्दोलन	2.4.6 साइमन कमीशन का बहिष्कार
2.4.7 गाँधीजी का कुमाऊँ आगमन	

2.5 ब्रिटिश कुमाऊँ-गढ़वाल(1930से1941)

2.5.1 सविनय अवज्ञा आन्दोलन	2.5.2 सविनय अवज्ञा आन्दोलन और महिलाएँ
2.5.3 पेशावर सैनिक विद्रोह	2.5.4 किसान आन्दोलन
2.5.5 1930 के बाद	

2.6 ब्रिटिश कुमाऊँ-गढ़वाल(1942से1947)

2.6.1 व्यक्तिगत सत्याग्रह	2.6.2 भारत छोड़ो आन्दोलन	2.6.3 आजाद हिन्द फौज

2.7 स्वतंत्रता संग्राम और टिहरी रियासत

2.7.1 टिहरी राज्य प्रजामण्डल और श्रीदेव सुमन	2.7.2 श्रीदेव सुमन के बाद

2.8 विभिन्न सामाजिक आन्दोलन

2.8.1 अछूतोद्धार तथा शिल्पकार आन्दोलन	2.8.2 नायक सुधार आन्दोलन

3.0 सारांश

4.0 तकनीकी शब्दावली

5.0 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

6.0 सहायक संदर्भ ग्रंथ

7.0 निबन्धात्मक प्रश्न

2.0 प्रस्तावना

1815 के बाद ईस्ट इण्डिया कम्पनी के उत्तराखण्ड पर अधिकार करने और टिहरी रियासत को सुदर्शन शाह को प्रदान किए जाने के उपरान्त अंग्रेजों को अपने शासन के लगभग सौ वर्षों तक यहाँ जनसाधारण के विरोध का प्रायः सामना नहीं करना पड़ा। 1857 की घटनाओं ने उत्तराखण्ड को भी प्रभावित किया, पर यह प्रत्यक्ष रूप से इससे प्रभावित नहीं हुआ। यहाँ विरोधियों में कालू महारा, आनंदसिंह फर्तुला, बिशनसिंह करायत, माधो सिंह, नूर सिंह, खुशा सिंह के नाम उल्लेखनीय हैं। विद्रोहियों ने अनेक बार पर्वतों की तलहटी तक पहुँच कर कम्पनी के प्रशासनिक केन्द्रों—विशेष रूप से नैनीताल जाने का प्रयास किया। काली कुमाऊँ के कुछ प्रभावशाली लोग विद्रोहियों के संपर्क में थे। कालू मेहरा के पास वाजिद अली शाह का पत्र आने की बात बदरीदत्त पाण्डे ने भी लिखी है। तराई-भाबर का इलाका इससे पूरी तरह प्रभावित हुआ। हल्द्वानी, बाजपुर, रुद्रपुर, कोटाबाग, कालाढूंगी में विद्रोहियों और कम्पनी की सेना का जोरदार संघर्ष हुआ। यह तथ्य भी सामने आए हैं कि 1857 में अल्मोड़ा स्थित आर्टिलरी में बगावत की तैयारियाँ पाई गई थीं और नाना साहब के उत्तराखण्ड में आने की संभावना के बाद अनेक व्यक्तियों को नैनीताल, अल्मोड़ा तथा श्रीनगर में फाँसी दी गई थी। कमिश्नर रैमजे ने पर्वतीय भागों को इसके प्रभाव से रोकने के लिए पर्याप्त उपाय किए। ब्रिटिश गढ़वाल में पुराने वन ठेकेदार पद्मसिंह नेगी तथा कुमाऊँ के प्रवेश मार्गों पर धर्मानन्द जोशी को प्रभार सौंपा गया। श्रीनगर में विद्रोहियों के पहुँचने की संभावना पर बैकेट ने नसीरी बटालियन के गोरखा सैनिकों की चार कम्पनियाँ मंगाई। प्रशासकों को यहाँ स्थिति नियंत्रित करने में संभवतः अधिक कठिनाई इसलिए भी नहीं रही कि चार दशक पहले गोरखों के दमनकारी शासन से मुक्त हुई जनता अभी औपनिवेशिक दासता और उसके विरोध का अर्थ नहीं समझती थी। टिहरी रियासत में राजा ने ब्रिटिश सरकार को सहायता प्रदान की। 1857 की घटनाएं उत्तराखण्ड में आम जनता को उस तरह उद्वेलित नहीं कर सकीं जैसे बेगार और वनों के प्रश्न ने या बीसवीं सदी में राष्ट्रीय संग्राम की विभिन्न लहरों ने किया।

2.1 उद्देश्य

1. जैसा कि आप जानते हैं कि औपनिवेशिक अधिकार के बाद उत्तराखण्ड के दो भाग किए गए थे— ब्रिटिश कुमाऊँ (कुमाऊँ और गढ़वाल) और टिहरी राज्य (राजा सुदर्शन शाह को दिया गया भूभाग)। अध्ययन की सुविधा के लिए आप उत्तराखण्ड में स्वतंत्रता संग्राम के विभिन्न चरणों को इन्हीं भौगोलिक इकाइयों के क्रम में समझने में सक्षम होंगे।

2. इस इकाई के अध्ययन से आप भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन के संदर्भ में उत्तराखण्ड के संघर्षों की प्रकृति को भी समझ पाएंगे।

2.2 स्वतंत्रता संग्राम और उत्तराखण्ड

भारत में औपनिवेशिक सत्ता के खिलाफ राष्ट्रीय जागृति की जो लहर फैली, उससे उत्तराखण्ड भी अछूता नहीं रहा। शेखर पाठक और रामचंद्र गुहा ने 1916-21, 1930-32 तथा 1940-42 के ब्रिटिश कुमाऊँ के आंदोलनों को भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस आंदोलनों का समययुक्त तथा टिहरी के किसान आंदोलन को अखिल भारतीय राज्य प्रजामण्डलों से संबद्ध मानते हुए दो भिन्न धाराओं से संबंधित माना है तथा इस

आधार पर दो अलग-अलग क्षेत्रों में संघर्ष के विशिष्ट संबंधों को उजागर करने पर बल दिया है। औपनिवेशिक शासन की शोषक प्रवृत्तियों के प्रति जागृति लाने, विभिन्न स्थानीय संघर्षों के एकीकरण तथा उन्हें राष्ट्रीय घटनाओं के साथ जोड़ने में स्थानीय समाचार पत्रों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इनमें अल्मोड़ा अखबार(1871-1918), गढ़वाली(1905-51), शक्ति (1918 से लगातार), स्वाधीन प्रजा(1930 से लगातार), कर्मभूमि साप्ताहिक (1937 से लगातार), युगवाणी(1947 से लगातार) के नाम प्रमुख रूप से लिए जा सकते हैं। इनके अलावा कुमाऊँ कुमुद, स्वाधीन प्रजा, जागृत जनता आदि की भी प्रमुख भूमिका रही। उस दौर को अपनी रचनाओं विशेषकर कविताओं से स्वर देने वालों में कृष्ण पाण्डे, 1800-1850, गौर्दा (1872-1949) और गुमानी सहित कई अग्रणी रचनाकार रहे। इन्होंने समकालीन ब्रिटिश शासन, समाज और आन्दोलन को अपने रचनाकर्म का प्रमुख विषय बनाया। 1901 में गढ़वाल यूनियन की स्थापना, 1902 में हैप्पी क्लब(अल्मोड़ा), 1908-09 में युवक संघ(पौड़ी), 1914 में प्रेम सभा (काशीपुर) जैसे स्थानीय संगठनों से भी जागरूकता बढ़ी। राष्ट्रीय नेताओं में प. गोविन्द बल्लभ पंत और कॉमरेड पी.सी. जोशी तथा स्थानीय स्तर पर बदरीदत्त पाण्डे, हरगोविन्द पंत, मुकुन्दलाल, रामसिंह धौनी, अनुसूया प्रसाद बहुगुणा, मोहन जोशी, तारादत्त गैरोला(ब्रिटिश कुमाऊँ), श्रीदेव सुमन, शंकर डोभाल, वीरेन्द्र दत्त सकलानी, परिपूर्णानन्द पैन्थूली आदि(टिहरी) और अन्य महत्वपूर्ण नामों में चन्द्रसिंह गढ़वाली, खुशीराम, हर्षदेव ओली, प्रयागदत्त पंत, रामसिंह आजाद, नागेन्द्र सकलानी के अलावा अनेक अन्य ज्ञात-अज्ञात नाम हैं जिन्होंने इस अंचल में विभिन्न प्रतिरोध आंदोलनों का नेतृत्व किया। इसके अलावा स्वामी दयानन्द सरस्वती, केशवचन्द्र सेन, विवेकानन्द, रामतीर्थ का आगमन उत्तराखण्ड में हुआ। जसपुर(1880), काशीपुर(1881), हल्द्वानी(1898), रामनगर(1904), अल्मोड़ा(1916), रामगढ़(1927) तथा रानीखेत(1932) में आर्य समाज की स्थापना हुई। 1897 में विवेकानन्द के उस भाषण से युवावर्ग प्रभावित हुआ, जिसे अल्मोड़ा के तत्कालीन जिलाधिकारी ने बीच में ही रोक दिया था। 1920 में मोतीलाल नेहरू भी अल्मोड़ा आए। उनके सभापतित्व में बृहद सभा हुई और विदेशी वस्त्रों की होली जली थी।

2.3. ब्रिटिश कुमाऊँ-गढ़वाल (1885 से 1919)

2.3.1 कुमाऊँ से भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में प्रतिभाग

कांग्रेस के दूसरे अधिवेशन से ही उत्तराखण्ड के प्रतिनिधियों का कांग्रेस में शामिल होना शुरू हो गया था। 1886 के कलकत्ता अधिवेशन में अल्मोड़े के ज्वालादत्त जोशी उपस्थित थे। मद्रास, इलाहाबाद तथा बम्बई के अधिवेशनों में भी वह गए। 1890 की कलकत्ता कांग्रेस में हरिराम पाण्डे गए। 1893 में कांग्रेस में बेगार के विरोध में प्रस्ताव पारित हुआ। 1912 में कांग्रेस के प्रयाग अधिवेशन में कुमाऊँ के वाचस्पति पन्त, ज्वालादत्त जोशी, हरिराम पाण्डे, मुंशी सदानन्द सनवाल, शेख मानुल्ला, माधव गुरुरानी, बदरीदत्त जोशी आदि ने भाग लिया। इसके बाद कुमाऊँ में प्रतिवर्ष एक जनसभा आयोजित कर कांग्रेस के संबन्ध में चर्चा की जाती थी। 1916 में कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन में यहाँ के लोगों ने उत्साहपूर्वक भाग लिया।

2.3.2 होमरूल लीग की स्थापना

मोहन जोशी, चिरंजीलाल, हेमचन्द्र, बदरीदत्त आदि नेताओं ने अल्मोड़ा में 'होमरूल लीग की एक शाखा स्थापित की।

2.3.3 कुमाऊँ परिषद

1916 में गोविन्दबल्लभ पंत, हरगोविन्द पंत, चंद्रलाल शाह, बदरीदत्त पांडे, लक्ष्मीदत्त शास्त्री, इन्द्रलाल साह, मोहनसिंह दड़गवाल, प्रेमबल्लभ पाण्डे, भोलादत्त पाण्डे, मोहन जोशी आदि के प्रयासों से कुमाऊँ परिषद की स्थापना हुई। इसका प्रथम अधिवेशन सितम्बर 1917 ई. में जयदत्त जोशी की अध्यक्षता में अल्मोड़ा में हुआ। 1916 से 1926 तक इसके सात अधिवेशन हुए। 1923 से परिषद ने कांग्रेस के कार्यक्रमों को अपना लिया। 1926 में इसे कांग्रेस में सम्मिलित कर लिया गया।

2.3.4 कुमाऊँ परिषद का हल्द्वानी अधिवेशन (1918)

इस अधिवेशन में अध्यक्ष तारादत्त गैरोला ने कुमाऊँ को गैर आङ्ग्रेजी न रखने, बेगार से मुक्ति और जंगलात के अधिकार जनता को लौटाने संबंधी प्रस्ताव रखे (शक्ति: 15 जनवरी 1919)। हरगोविन्द पंत ने दो वर्ष के भीतर कुली उतार नहीं उठाए जाने पर जनता द्वारा सत्याग्रह की चेतावनी दी। यही प्रस्ताव 1919 के 'कुमाऊँ परिषद' के कोटद्वार अधिवेशन में दोहराया गया।

2.3.5 कुमाऊँ परिषद का कोटद्वार अधिवेशन (22–24 दिसम्बर 1919)

रायबहादुर बदरीदत्त जोशी की अध्यक्षता में हुए इस अधिवेशन में उत्तराखण्ड के सैकड़ों प्रतिनिधियों ने भाग लिया, जिनमें गोविन्द बल्लभ पंत, बदरीदत्त जोशी, मोहन सिंह मेहता, इन्द्रलाल साह, जयलाल साह, दुर्गादत्त पंत, रामदत्त ज्योतिर्विद, प्रेमबल्लभ पाण्डे, भोलादत्त पाण्डे, बदरीदत्त पाण्डे, मोहन जोशी, मुकुन्दीलाल, अनुसूया प्रसाद बहुगुणा, गिरिजा प्रसाद नैथानी, प्रताप सिंह, धनीराम मिश्र, विश्वम्भरदत्त चन्दोला, मथुरादत्त नैथानी आदि थे। सुधा जोशी के अनुसार गढ़वाल जिले के प्रतिनिधियों की इतनी अधिक हिस्सेदारी किसी और अधिवेशन में नहीं हुई। इस अधिवेशन से ही सौ से अधिक नेता-कार्यकर्ता अमृतसर कांग्रेस में शामिल होने गए। 26 सितम्बर को जलियांवाला बाग की सभा में भाषण देने वालों में उत्तराखण्ड से बदरीदत्त पाण्डे भी थे।

2.3.6 रौलेट एक्ट का विरोध तथा स्थानीय मुद्दे (1919)

मार्च 1919 में पास हुए रौलेट एक्ट के द्वारा शासन को दमन तथा नियन्त्रण के विशेष अधिकार प्राप्त हुए। कुमाऊँ परिषद के नेतृत्व में भी चोरगलिया (हल्द्वानी) में इस एक्ट के विरोध में एक जनसभा आयोजित की गई। 6 अप्रैल 1919 को काशीपुर की सभा में गोविन्द बल्लभ पंत ने एक्ट के दोषों पर प्रकाश डालते हुए उसे रद्द करने का प्रस्ताव सर्वसम्मति से पारित करवाया। 14 अप्रैल को गाँधीजी की गिरफ्तारी पर अल्मोड़ा में विशाल जुलूस निकाला गया। 11 मई 1919 को नन्दादेवी प्रांगण अल्मोड़ा में हरगोविन्द पंत की अध्यक्षता में सभा हुई। 18 अगस्त 1919 को बानड़ीदेवी (अल्मोड़े) में बेगार तथा जंगलात की समस्याओं पर केन्द्रित विराट सभा का आयोजन हुआ। 31 अगस्त 1919 को कुमाऊँ परिषद की रामगढ़ शाखा की बैठक हुई तथा 6 अक्टूबर 1919 को मझोड़ा शाखा की, जिनमें पारित हुए विभिन्न प्रस्ताव रौलेट एक्ट के विरोध, वन तथा बेगार आदि के प्रश्नों से सम्बन्धित थे। ब्रिटिश गढ़वाल से 1919 में अमृतसर के कांग्रेस अधिवेशन में दो प्रमुख नेताओं बैरिस्टर मुकुन्दीलाल और अनुसूया प्रसाद बहुगुणा ने भाग लिया। वापस लौटने पर दोनों ने गढ़वाल में भी रौलेट एक्ट के विरुद्ध आन्दोलन चलाने का विचार किया, लेकिन

जनता उस समय तक गोरखों के अत्याचारों को नहीं भूली थी। अतः उन्होंने वहाँ कांग्रेस की स्थापना कर कुली बेगार, कुली उतार और कुली बर्दायश को आधार बनाकर असहयोग आन्दोलन चलाने का निश्चय किया। क्योंकि इनके विरुद्ध स्थानीय जनता में बहुत रोष था।

2.3.7 कुमाऊँ परिषद का काशीपुर अधिवेशन(1920)

दिसम्बर 1920 में काशीपुर में कुमाऊँ परिषद का अधिवेशन हरगोविन्द पन्त की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ। वह न सिर्फ कुली उतार को समाप्त करना और जंगलात की नीति में सुधार करना चाहते थे, बल्कि इन समस्याओं के साथ वे स्थानीय आन्दोलन को राष्ट्रीय संग्राम –असहयोग आन्दोलन के साथ जोड़ना आवश्यक मानते थे (शक्ति:11 जनवरी1921 तथा गढ़वाली: 1 जनवरी1921)। बदरीदत्त पाण्डे ने कुली उतार, कुली बेगार और कुली बर्दायश के विरोध में प्रभावशाली व्याख्यान देते हुए उन्हें प्रगति के मार्ग में बाधक और सामाजिक कलंक बताया (शक्ति, 11 जनवरी 1921)। एक प्रस्ताव यह रखा गया कि कोई भी व्यक्ति इन कुप्रथाओं को न माने और वैध उपायों द्वारा उनका विरोध करे। ब्रिटिश सरकार का समर्थक दल तत्काल इनको समाप्त करने के पक्ष में नहीं था। कर्मभूमि साप्ताहिक के अनुसार अधिवेशन में अग्रगामी युवक दल की शक्ति को देखकर वे लोग सभा से उठकर चले गए। परिषद की चामी(कत्यूर–बागेश्वर) शाखा के अध्यक्ष शिवदत्त पाण्डे, मंत्री रामदत्त तथा मोहन सिंह मेहता, केशवदत्त पाण्डे और श्यामलाल साह आदि ने बेगार के विरुद्ध सार्वजनिक निर्णय लेने के लिए बागेश्वर के मेले को उपयुक्त अवसर बताया। अधिवेशन की समाप्ति के बाद बदरीदत्त पाण्डे के नेतृत्व में एक शिष्ट मण्डल महात्मा गांधी से मिलने कांग्रेस के नागपुर अधिवेशन में गया। नवम्बर 1920 में मुरादाबाद में हुए संयुक्त प्रांत कांग्रेस दल के सम्मेलन में गोविन्द बल्लभ पंत और मुकुन्दीलाल बैरिस्टर ने भाग लिया।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न—

निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—

(क) कुमाऊँ परिषद का हल्द्वानी अधिवेशन

(ख)उत्तराखण्ड में रौलेट एक्ट का विरोध और स्थानीय मुद्दे

2. नीचे लिखे प्रश्नों के उत्तर दीजिए

(क) कुमाऊँ परिषद की स्थापना कब हुई?

(ख)कुमाऊँ परिषद के काशीपुर अधिवेशन के अध्यक्ष कौन थे?

(ग) कुमाऊँ परिषद के विभिन्न अधिवेशनों में किन स्थानीय समस्याओं को प्रमुखता से उठाया गया?

2.4 ब्रिटिश कुमाऊँ-गढ़वाल (1920 से 1929)

2.4.1 असहयोग आन्दोलन

कुमाऊँ परिषद के काशीपुर अधिवेशन के संदर्भ में आप पढ़ चुके हैं कि बदरीदत्त पाण्डे, गोविन्दबल्लभ पन्त, आदि बीस पच्चीस कार्यकर्ता कांग्रेस के नागपुर अधिवेशन से उत्साहित होकर लौटे और उन्होंने कुली बेगार उन्मूलन तथा जंगलात सुधार के रूप में व्यापक आन्दोलन चलाया। सरकार ने इसे देखते हुए दमन चक्र तेज कर दिया। रानीखेत, अल्मोड़ा, नैनीताल और पिथौरागढ़ में मार्च 1921 में ही धारा 144 लगा दी गई (शेखर पाठक, उत्तराखण्ड में कुली बेगार प्रथा)। बदरीदत्त पाण्डे, मोहनसिंह मेहता, लक्ष्मीदत्त शास्त्री, कृष्णानन्द उप्रेती आदि गिरफ्तार कर लिए गए। बेगार तथा वन आन्दोलन के अधिकांश कार्यकर्ताओं की गिरफ्तारियाँ हुईं। 'अल्मोड़ा अखबार', 'गढ़वाली' तथा सबसे अधिक शक्ति ने इस युग में आक्रामक रूप लिया। आन्दोलन के प्रमुख तत्व शराब की दुकानों पर धरना, सरकारी अधिकारियों की अवज्ञा, वन नियमों का उल्लंघन, गांधी टोपी पहनना आदि के रूप में दिखाई दिए। 1921 में गिरफ्तारियाँ भी असहयोग आन्दोलन के तहत की गईं, जंगलात या बेगार का नाम लेकर नहीं। इन्हें राष्ट्रीय असहयोग का हिस्सा माना गया। 1926 में कुमाऊँ परिषद का कांग्रेस में विलय हो गया। यद्यपि बेगार का उन्मूलन हो गया था, लेकिन जंगलात, नयाबाद, लाइसेंस, शिक्षा आदि के प्रश्न अभी भी अपनी जगह थे। इसलिए इस विलय के बाद भी उत्तराखण्ड के प्रतिनिधि 1930 में काउंसिल से त्यागपत्र देने तक यहाँ के स्थानीय प्रश्नों को जिम्मेदारी से उठाते रहे।

2.4.2 कुली बेगार आंदोलन

कुमाऊँ परिषद का महत्वपूर्ण कार्य कुली बेगार प्रथा के उन्मूलन के लिए आंदोलन करना था। औपनिवेशिक शासन में कुली उतार, बेगार और बर्दायश की प्रथा अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई थी। इस समय बेगार का विरोध करने वालों के दो वर्ग थे। एक वर्ग संशोधनों से संतुष्ट होकर धीरे-धीरे बेगार उठाने का पक्षधर था और कुली एजेंसी जैसे अस्थायी समाधान स्वीकार करता था, जिनमें तारादत्त गैरोला आदि थे, परंतु दूसरा वर्ग बेगार के पूर्ण उन्मूलन के लिए प्रतिबद्ध था। इनमें बदरीदत्त पाण्डे, हर्षदेव ओली, हरगोविन्द पन्त, मुकुन्दीलाल आदि थे। अन्तिम चरण में दूसरे वर्ग का वर्चस्व स्थापित हो गया। इस संदर्भ में शक्ति पत्र में प्रकाशित लिखा गया—“यदि 50 वर्ष में उठाने का उद्योग हुआ तो किसे सब्र होगा?...ऐसी घृणित प्रथा जितनी जल्दी उठ जाए उतना अच्छा।” शेखर पाठक ने बेगार आन्दोलन की दो स्तरों पर समीक्षा की है। पहला, “काश्तकारों के व्यक्तिगत आक्रोश सामूहिक तौर पर असंगठित विरोधों में रूपान्तरित होने लगे थे। सोमेश्वर के प्रतिरोध से 1903 में खत्याड़ी के ग्रामीणों की सफलता तक इस तरह के विभिन्न प्रसंगों के नायक और अभियन्ता काश्तकार ही थे। दूसरी ओर उत्तराखण्ड के प्रारम्भिक कांग्रेसी, स्थानीय पत्रों के सम्पादक, लेखक, वकील, अध्यापक पदवीधारी कांग्रेसी शिष्टमण्डलों, आवेदनों और पत्रों की टिप्पणी द्वारा बेगार की अति पर रोक लगाने की विनय करने लगे थे। दूसरी ओर उदार जागृत भद्रजन थे। एक ही समस्या से सम्बन्धित इन समानान्तर आन्दोलनों में इस सदी के प्रथम दशक तक अधिक अन्तर्सम्बन्ध नहीं हो पाया था। 1916 में कुमाऊँ परिषद के जन्म के बाद शहरी नेतृत्व और ग्रामीण काश्तकारों में एका करने में सफलता पाई। इस आन्दोलन में आम काश्तकार, सयाणा, थोकदार, भूतपूर्व सैनिक, सरकारी कर्मचारी, शिक्षक तथा छात्र आदि सम्मिलित हुए थे।” आरंभ में स्थानीय जनता बेगार का विरोध प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों तरीकों से करती रही। कई बार ग्राम प्रधान बेगार के लिए बुलाए जा सकने वाले किसानों को छिपा

देते थे, वहीं बेगार को भुगतते हुए किसान अपना विरोध धीरे चलने या देर करने की चालों से प्रकट करते थे। ऊपर आप पढ़ चुके हैं कि 1920 में काशीपुर में हरगोविन्द पंत की अध्यक्षता में परिषद के चौथे अधिवेशन में बेगार प्रथा को समाप्त करने का प्रस्ताव रखा गया। नागपुर से वापसी के बाद बेगार विरोधी पहली बड़ी घटना 1 जनवरी 1921 को कत्यूर के चामी गाँव के हरू मंदिर में 400 लोगों के एक साथ बेगार न देने की शपथ लेने के रूप में हुई। 10 जनवरी 1921 को चिरंजी लाल, हरगोविन्द पंत, बदरीदत्त पांडे, चेताराम सुनार आदि कार्यकर्ता बागेश्वर पहुंचे। 12 जनवरी की दोपहर को 'महात्मा गांधी की जय, 'स्वतंत्र भारत की जय' 'भारत माता की जय' तथा 'कुली उतार बन्द करो', के नारों के साथ जुलूस निकला। मकर संक्रान्ति के अवसर पर बागेश्वर के उत्तरायणी मेले में ग्रामवासियों ने कुली बेगार के खिलाफ प्रतिज्ञा की। इसी दिन सिलोर महादेव (गढ़वाल) में ईश्वरीदत्त ध्यानी के प्रयत्न से बड़ी सभा हुई और उतार न देने का निर्णय लिया गया।

15 जनवरी को संक्रान्ति पर पुनः सभा हुई। बदरीदत्त पाण्डे, हरगोविन्द पंत तथा चिरंजीलाल को डिप्टी कमिश्नर डायबिल द्वारा बागेश्वर छोड़ने के आदेश दिए गए, पर उन्होंने मना कर दिया। आन्दोलन ने व्यापक रूप धारण कर लिया। ग्राम प्रधानों, थोकदारों तथा मालगुजारों ने सरयू में कुली बेगार के रजिस्टर बहा दिये। आन्दोलन की सफलता के तुरंत बाद ब्रिटिश सरकार ने दमन की नीति अपनाई। गढ़वाल में यह उतना उग्र नहीं हुआ क्योंकि 1908 से जोधसिंह नेगी के प्रयत्न से मुख्य सड़कों पर कुली एजेंसी कार्य करने लगी थीं। इनके संचालन हेतु प्रत्येक परिवार से एक रुपया वार्षिक चन्दा लिया जाता था, जिससे ब्रिटिश सरकार के अधिकारियों के सामान ढोने के लिए पक्के और रिजर्व कुलियों की व्यवस्था की जाती थी। 30 जनवरी 1921 को चमेठाखाल में मुकुन्दीलाल की अध्यक्षता में हुई सैकड़ों लोगों की सभा में बागेश्वर की घटना का अनुकरण गढ़वाल के लिए अनिवार्य बताया गया। इसके उपरान्त विभिन्न स्थानों में लगातार सभाएँ और प्रतिरोध होते रहे। गढ़वाल की दशजूला पट्टी के ककोड़ाखाल नामक स्थान पर अनुसूयाप्रसाद गहुगुणा के नेतृत्व में आन्दोलन हुआ और अधिकारियों को कुली नहीं मिले। इस आन्दोलन में ग्राम गजेरा(पौड़ी गढ़वाल) के केशरसिंह का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा।

इलाहाबाद तथा बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में अध्ययनरत छात्रों ने लौटकर इस आन्दोलन में हिस्सेदारी की। इनमें प्रयागदत्त पंत पिथौरागढ़ में तथा भैरवदत्त धूलिया, भोलादत्त चन्दोला, जीवानन्द बडोला, गोवर्धन बडोला, भोलादत्त डबराल गढ़वाल में सक्रिय रहे। आन्दोलन के दौरान गौर्दा ने 'कुली उतार' शीर्षक से 'मुल्क कुमाऊँ का सुणि लिया यारो। झन दिया कुल्ली बेगार।। चाहे पड़ी जा डंडे की मार.....' की रचना की जिसे शक्ति ने प्रकाशित किया।

गढ़वाली, पुरुषार्थ, तरुण कुमाऊँ जैसे समकालीन स्थानीय समाचार पत्रों तथा राष्ट्रीय पत्रों, आज, अभ्युदय, लीडर, वन्दे मातरम, यंग इंडिया, में भी इस प्रथा के उन्मूलन संबंधी लेख प्रकाशित हुए। टिहरी में भी किसानों ने बरा, बेगार तथा करों को देने से इन्कार किया। शेखर पाठक के अनुसार 'शेष उत्तराखण्ड से बेगार उठने, असहयोग, सविनय अवज्ञा और भारत छोड़ो आन्दोलन के बाद भी टिहरी रियासत और अस्कोट में बेगार प्रथा बनी रही। उन्होंने इसका कारण नेतृत्व की उदासीनता माना है।



स्रोत: शेखर पाठक, उत्तराखण्ड में कुली बेगार प्रथा

2.4.3 वन आन्दोलन

इस आन्दोलन को आप 1864 में वन विभाग की स्थापना के बाद देश भर में होने वाले जनजातीय और कृषक वर्ग के वनाधिकारों के लिए किए जाने वाले आन्दोलनों के परिप्रेक्ष्य में देख सकते हैं। 1864 में स्थापित वन विभाग का मुख्य कार्य रेलवे स्लीपर बनाने के लिए मजबूत और टिकाऊ लकड़ी जैसे साल, टीक और देवदार के क्षेत्रों का पता लगाना था (सुधा जोशी)। 1558 में कमिश्नर रैमजे ने कुछ जंगलों में ठेका प्रथा बन्द कर दी और 1861 में जंगलात बंदोबस्त कर दिया। 1874 में ग्रामीणों के परंपरागत वन अधिकारों को समाप्त कर दिया गया। 1878 के वन अधिनियम द्वारा अल्मोड़ा, नैनीताल और रानीखेत के वनों को आरक्षित घोषित कर दिया गया। 1893 में नाप भूमि के अतिरिक्त सम्पूर्ण भूमि को सरकारी घोषित कर दिया गया। 1911 से 1917 तक राज्य द्वारा वनों का अधिग्रहण कर लिया गया। निश्चित सूची के आधार पर ही ग्रामीण वन अधिकारियों की अनुमति से वन अधिकारों का उपभोग कर सकते थे। रामचन्द्र गुहा लिखते हैं कि आरक्षित वनों से एक मील के घेरे में नई घास के जल्दी उगने हेतु लगाई जाने वाली आग का निषेध कर दिया गया, क्योंकि इस प्रक्रिया से सघन वन क्षेत्र में बहुत कम बसासत छोड़ी गई थी। अतः आग लगाने की पद्धति स्वतः गैरकानूनी हो गई।” अधिकांश जनता की दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति इन्हीं वनों से होती थी। अब वनों से प्राप्त होने वाले लाभ पर भी सरकार का एकाधिकार हो गया। बीसवीं शताब्दी के तीसरे और चौथे दशक में वनों पर अधिकार प्राप्त करने के लिए संघर्ष हुए।

समाचार पत्र गढ़वाली ने 1917 में ‘जंगलात की सख्ती’ शीर्षक से वन व्यवस्था से उत्पन्न कष्टों का वर्णन किया और आंदोलन की आवश्यकता बताते हुए लिखा ‘जब तक जंगलात की सख्तियों को कुमाऊँ प्रान्त से दूर करने के लिए नियमपूर्वक दृढ़ आंदोलन नहीं किया जाएगा, तब तक कोई विशेष फल नहीं होगा।’ सरकार की नीतियों से जनता का आक्रोश बढ़ता गया और इसने शीघ्र ही आन्दोलन का रूप धारण

कर लिया । 10-11 अप्रैल 1921 को अल्मोड़ा में कुमाऊँ परिषद के विशेष सम्मेलन में जंगलात नीति पर पुनर्विचार की मांग की गई (शक्ति 12 अप्रैल 1921)। 1921 में कुली बेगार आन्दोलन के समय कुमाऊँ परिषद के नेतृत्व में बदरीदत्त पांडे, अनुसूया प्रसाद बहुगुणा, गोविन्दवल्लभ पन्त, हरगोविन्द पन्त आदि ने इस आन्दोलन में मुख्य भूमिका का निर्वाह किया। आन्दोलन की तीव्रता तथा जनता द्वारा वनों में अग्निकाण्ड आदि की घटनाओं को देखते हुए सरकार ने दमन नीति अपनाई तथा गिरफ्तारियाँ कीं। सरकार द्वारा किसानों को आन्दोलनकारी होने के सन्देह मात्र पर भूमि अधिकारों से वंचित कर दिया गया। जनता में इतना असन्तोष फैल गया कि अल्मोड़े में लोगों ने उत्तेजित होकर ब्रिटिश सरकार द्वारा सुरक्षित घोषित दो सौ पचास एकड़ चीड़ के मूल्यवान जंगलों को आग के हवाले कर दिया। सरकार ने बदरीदत्त पाण्डे, लक्ष्मीदत्त शास्त्री, कृष्णानन्द उप्रेती, मोहन सिंह आदि प्रमुख नेताओं को गिरफ्तार कर लिया। नैनीताल तथा अल्मोड़ा जिलों में दो माह तक धारा 144 लगा दी गई। वनों के मामले में अनेक गिरफ्तारियाँ हुईं। सोमेश्वर में दुर्गादेवी को जंगल में आग लगाने के आरोप में एक माह की सजा हुई। 2.46 लाख एकड़ जंगल नष्ट हुए। अनुसूया प्रसाद बहुगुणा तथा केशरसिंह रावत ने उत्तरी तथा दक्षिणी गढ़वाल में आन्दोलन की कमान संभाल रखी थी। गढ़वाल का डिप्टी कमिश्नर मेसन डायबिल की तरह ही परेशान और लाचार था। 2 मई 1921 को अल्मोड़ा में हेमचन्द्र जोशी, चेताराम वर्मा तथा केदारदत्त शास्त्री के भाषण देने पर प्रतिबन्ध लगा। जून 1921 के बाद गिरफ्तारियाँ, सभाएं सामान्य बात हो गई थी। बेगार तथा वन आन्दोलन के अधिकांश कार्यकर्ताओं की गिरफ्तारियाँ हुईं। 1921 से 1925 तक शक्ति के अनेक सम्पादक गिरफ्तार किए गए। दिसंबर 1921 में कुमाऊँ परिषद के एक और अधिवेशन में वन अधिनियम की धारा 178 रद्द करने और फसल तथा जीवन रक्षा हेतु हथियार प्राप्त करने के अधिकार बहाल करने की मांग हुई। विवश होकर सरकार ने जनता के जंगलात सम्बन्धी कष्टों के निवारण हेतु 1921 में कुमाऊँ वन कष्ट अध्ययन समिति नियुक्त की। इसकी सिफारिशों से आरक्षित वनों का दोबारा वर्गीकरण किया गया और व्यावसायिक दृष्टि से लाभदायक वनों के अतिरिक्त शेष सभी वनों में जनता को घास लकड़ी काटने और पशुओं को चराने की अनुमति दी गई। 1930 में कुमाऊँ फॉरेस्ट कमेटी गठित की गई, जिसमें अल्मोड़ा, नैनीताल और ब्रिटिश गढ़वाल तीनों जिलों की जिला परिषदों के अध्यक्षों को सम्मिलित किया गया। 1923 के प्रान्तीय काउंसिल के चुनावों में बेगार तथा वन आन्दोलनों का व्यापक असर देखा गया। साथ ही पशुचारण, घास काटने से संबंधित कुछ सीमित अधिकार प्रदान किये, जिससे आन्दोलनकारी संतुष्ट नहीं थे। 1930-31 में ग्रामीणों द्वारा सरकार के आरक्षित वनों में लगातार आगजनी की घटनाएँ हुईं। इसके साथ ही नये भूमि बन्दोबस्त के अंतर्गत 30 प्रतिशत की वृद्धि किए जाने का भी विरोध हुआ। 1942 में आंदोलन पुनः तीव्र रूप से उभरा।

टिहरी रियासत की वन नीति जो औपनिवेशिक नीति का ही प्रतिरूप थी, के विरुद्ध हुए 1904, 1906 और 1930 में हुए प्रतिरोधों में जनता द्वारा राजा से जन विरोधी कानूनों को हटाने का आग्रह किया जाता रहा। 1930 में राजा की अनुपस्थिति में 30 मई को टिहरी राज्य के दीवान चक्रधर जुयाल द्वारा रवाई क्षेत्र में वनाधिकारों की बहाली के लिए आयोजित जन सभा पर गोलियाँ चला कर आन्दोलन के दमन का प्रयास किया गया।

2.4.4 स्वराज्य दल और उत्तराखण्ड

1921 में कुमाऊँ कमिश्नरी की जनता को विधान सभा में प्रतिनिधि भेजने का अधिकार प्राप्त हुआ। 1921 के चुनाव में अल्मोड़ा जिले से कुँवर आनन्द सिंह निर्विरोध निर्वाचित हुए। नैनीताल से नारायणदत्त

छिमवाल और गढ़वाल से जोधसिंह चुने गए। 1923 में मोतीलाल नेहरू और चितरंजनदास द्वारा स्वराज्य पार्टी का गठन किया गया। 1923 और 1926 के चुनावों में प्रान्तीय काउंसिल में इस क्षेत्र से चुने गए प्रतिनिधियों का विवरण आप इस तालिका में देख सकते हैं।

प्रतिनिधि		
स्थान	1923	1926
नैनीताल	गोविन्दबल्लभ पन्त	गोविन्दबल्लभ पन्त
अल्मोड़ा	हरगोविन्द पन्त	बदरीदत्त पाण्डे
गढ़वाल	मुकुन्दीलाल	मुकुन्दीलाल

गोविन्द बल्लभ पन्त संयुक्त प्रान्त की विधान सभा में स्वराज्य पार्टी के नेता चुने गए। 1925 में उनके प्रयत्नों से कुमाऊँ कमिश्नरी को 'गैर आइनी' प्रदेशों की श्रेणी से पृथक कर प्रान्त के अन्य जिलों के समान स्थिति प्रदान की गई।

2.4.5 क्रान्तिकारी और समाजवादी आन्दोलन

इस दौर में भारत में चल रही क्रान्तिकारी और समाजवादी गतिविधियों के प्रति भी यहाँ के राष्ट्रवादी नेताओं में सहानुभूति थी। स्थानीय समाचार पत्रों शक्ति आदि ने क्रान्तिकारियों तथा मजदूर आंदोलनों का दमन करने वाले विधेयकों तथा सरकारी नीतियों का विरोध करते हुए लाहौर षडयंत्र केस, भगत सिंह, राजगुरु और सुखदेव की फाँसी की घटनाओं तथा अनेक लेखों को अपने अंकों में प्रकाशित करके जनभावनाओं को उभारने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। अल्मोड़े के नवयुवकों ने इस घटना के विरोध में जुलूस निकाला। क्रान्तिकारी आंदोलन से प्रभावित होकर सशस्त्र संघर्ष में भाग लेने वाले युवकों में टिहरी निवासी इन्द्रसिंह तथा लैंसडाउन के एक समीपवर्ती गाँव के निवासी बच्चूलाल भट्ट की गतिविधियों का उल्लेख शिवप्रसाद डबराल ने भी किया है। (देखें, उत्तराखण्ड का इतिहास, भाग 8, खण्ड 2, पृ. 218-19) भारतीय कम्युनिस्ट आंदोलन में अल्मोड़ा निवासी पी.सी. जोशी का महत्वपूर्ण स्थान है। 1928 में वह उ०प्र० मजदूर किसान पार्टी के सचिव और 1936 में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के महासचिव चुने गए। विभिन्न मंचों को मजबूत करने के अतिरिक्त उन्होंने कांग्रेस के भीतर सोशलिस्ट खेमे को कम्युनिस्ट पार्टी से जोड़ा।

2.4.6 साइमन कमीशन का बहिष्कार और उत्तराखण्ड

1928 में साइमन कमीशन के बम्बई पहुँचने पर सम्पूर्ण देश में उसके विरोध में हड़तालें हुईं। संयुक्त प्रान्त की काउंसिल में साइमन कमीशन के बहिष्कार का प्रस्ताव मुकुन्दीलाल ने रखा था और बदरीदत्त पाण्डे ने इसका अनुमोदन किया। गोविन्दबल्लभ पन्त ने भी इसके विरोध में व्याख्यान देते हुए स्वराज्य की मांग की। लखनऊ में जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में हुए बहिष्कार आयोजन के दौरान पुलिस के लाठी प्रहार से गोविन्दबल्लभ पन्त को काफी चोट आई। हरगोविन्द पन्त के नेतृत्व में सल्ट में साइमन कमीशन के विरोध में सभा हुई और गिरफ्तार कर लिए गए।

2.4.7 गाँधीजी का कुमाऊँ आगमन

गाँधीजी 13 जून 1929 को हल्द्वानी पहुँचे। उनके आगमन के समय नैनीताल में पहली बार महिलाएं जुलूस में आईं। ताकुला में वे गोविन्दलाल साह के घर 'मोती भवन' में रहे। उनके साथ जवाहरलाल नेहरू, कृपलानी, जमनालाल बजाज, मीरा बहन आदि थे। 15 जून को नैनीताल में महिलाओं की सभा हुई। अनेक महिलाओं ने अपने गहने तत्काल उतार कर चन्दे के रूप में गाँधी को समर्पित कर दिए। नैनीताल से भवाली होकर गाँधी ताड़ीखेत और रानीखेत तथा उसके बाद अल्मोड़ा, वहाँ से बोरारौ होकर कौसानी तथा कत्यूर होकर बागेश्वर गए। कौसानी में 14-15 दिन रहकर उन्होंने गीता पर 'अनासक्तियोग' टीका लिखी।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न—

निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—

(क) कुली बेगार आन्दोलन

(ख) वन आन्दोलन

2. नीचे लिखे प्रश्नों के उत्तर दीजिए

(क) कुमाऊँ परिषद का कांग्रेस में विलय कब हुआ?

(ख) मकर संक्रान्ति को बागेश्वर में उत्तरायणी मेले के अवसर पर ग्रामवासियों ने किस कुप्रथा के खिलाफ प्रतिज्ञा की?

(ग) वन विभाग की स्थापना कब हुई?

2.5 ब्रिटिश कुमाऊँ-गढ़वाल (1930 से 1941)

2.5.1 सविनय अवज्ञा आन्दोलन

1929 में गांधी जी के कुमाऊँ आगमन के उपरान्त अछूतोद्धार, सरकारी कार्यालयों और विद्यालयों का बहिष्कार, शराबबन्दी, धरना विदेशी वस्त्रों की होली जलाने आदि कार्यों में तीव्रता आयी। गाँवों में यह जंगलात सत्याग्रह (वन आन्दोलन) के रूप में प्रकट हुआ। गाँधी जी द्वारा आयोजित नमक सत्याग्रह/डांडी मार्च में उत्तराखण्ड से तीन सत्याग्रही जुड़े थे— अल्मोड़ा से ज्योतिराम काण्डपाल, भैरवदत्त जोशी (जो अस्वस्थता के कारण लौट आए) तथा देहरादून से खड्ग बहादुर सिंह। देहरादून की सत्याग्रह कमेटी को नरदेव शास्त्री, महावीर त्यागी, स्वामी विचारानन्द, नारायणदत्त डंगवाल, रामस्वरूप, हुलास शर्मा तथा बिहारीलाल देख रहे थे। देहरादून में खराखेत में नमक सत्याग्रह किया गया। 30 अप्रैल को गिरफ्तारियाँ हुईं। कुमाऊँ में गोविन्द बल्लभ पन्त ने सत्याग्रह का संचालन किया। यहाँ आन्दोलन मुख्यतः विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार, सरकारी कार्यालयों और विद्यालयों का बहिष्कार, शराबबन्दी, राष्ट्रीय ध्वज को सरकारी कार्यालयों में फहराने, जुलूस निकालने और गाँवों में वनों के आन्दोलन के रूप में प्रकट हुआ। नैनीताल के कृष्णापुर नामक स्थान पर सत्याग्रह आश्रम की स्थापना और स्वयंसेवकों की भर्ती की व्यवस्था की गई।

गोविन्द बल्लभ पन्त के साथ भगीरथ पाण्डे, इन्द्र सिंह नयाल, किशोरीलाल साह, बालादत्त, देवकीनन्दन पाण्डे, हर्षदेव ओली तथा परसी साह जैसे कार्यकर्ता थे। महिलाओं को भी संगठित किया गया। गोविन्द बल्लभ पन्त को सत्याग्रह शिविर से ही गिरफ्तार कर लिया गया। उसके बाद इन्द्रसिंह नयाल ने नेतृत्व संभाला, पर शीघ्र ही उन्हें भी गिरफ्तार कर लिया गया। ग्रामीण कार्यकर्ता निरन्तर नैनीताल आकर सत्याग्रह का प्रचार करते रहे। अल्मोड़ा में नमक सत्याग्रह 'झण्डा सत्याग्रह' का रूप ले चुका था। 4 मई को नवयुवकों ने राष्ट्रीय ध्वज हाथ में लेकर जुलूस निकाला और उसके बाद नन्दा देवी प्रांगण में मोहन जोशी की अध्यक्षता में बड़ी सभा हुई। 25 मई को गोविन्द बल्लभ पन्त की गिरफ्तारी पर विरोध सभा तथा 26 मई को शान्तिलाल त्रिवेदी की अध्यक्षता में सभा हुई। झण्डा सत्याग्रह का प्रस्ताव फिर पारित हुआ। नगर में धारा 144 लगा दी गई और नगरपालिका भवन को 80 गोरखा सैनिकों ने घेर लिया। प्रशासन ने जुलूस को अवैध घोषित करते हुए गोली चलाने की धमकी दी। मोहन जोशी, शान्तिलाल त्रिवेदी, गंगा सिंह बिष्ट, पद्मादत्त तिवाड़ी, लाला हरि राम, रवीन्द्र प्रसाद अग्रवाल तथा भुवन चन्द्र को 'झण्डा ऊँचा रहे हमारा' गीत गाते हुए आगे बढ़ता देख कर गोरखा सैनिकों ने खुखरी से हमला किया। मोहन जोशी और शान्तिलाल त्रिवेदी को चोट लगने और इस हमले के विरोध में बदरीदत्त पाण्डे के नेतृत्व में शहीदी जत्था नगरपालिका भवन पर झण्डा फहराने के लिए बढ़ा, पर घायल मोहन जोशी द्वारा उन्हें रोके जाने पर कुन्ती देवी वर्मा, विशनी देवी साह, मंगलीदेवी वर्मा, भागीरथी देवी, जीवन्ती देवी और रेवती देवी ने झण्डा फहराया। 27 जून 1930 को मोहन जोशी की घर-घर झण्डा फहराने की घोषणा के बाद सत्याग्रही सफल हुए। स्थानीय नेताओं ने शक्ति और स्वाधीन प्रजा जैसे पत्रों में लेख प्रकाशित करके और गाँव-गाँव जाकर ग्रामीण जनता को अल्मोड़ा की इस घटना के प्रति जागरूक किया। इसी तरह पौड़ी, चमोली, बागेश्वर, पिथौरागढ़, काशीपुर, हल्द्वानी, रानीखेत व श्रीनगर में सत्याग्रह हुआ। तिरंगा फहराया गया, विदेशी कपड़ों की होली जली तथा नमक बनाया गया। रानीखेत में हरगोविन्द पन्त के नेतृत्व में शराब की दुकानों पर धरने का उल्लेख करते हुए शक्ति ने गांधीजी के द्वारा शराब तथा नशे से संबन्धित सभी चीजों की दुकानों को बन्द करने के आह्वान का पालन करने के लिए हरगोविन्द पन्त तथा रानीखेत के स्वयंसेवकों की प्रशंसा की। हवालबाग, मनान, सोमेश्वर, कपकोट, नन्द प्रयाग, जैहरीखाल, दोगड़डा जैसे कस्बों में भी यह लहर इतनी ही गहरी थी। 1930 में दोगड़डा में हरगोविन्द पन्त की अध्यक्षता में विशाल कुमाऊँ कांफ्रेंस हुई। 28 अगस्त 1930 को जयानन्द भारती तथा साथियों ने जैहरीखाल गवर्नमेंट स्कूल के भवन पर तिरंगा फहराया। उन्हें गिरफ्तार किया गया और सजा हुई। अनेक शहरों में शराब की दुकानों पर धरने हुए। सालम के दुर्गादत्त पाण्डे पर झंडा सत्याग्रह का इतना असर हुआ कि उन्होंने पारंपरिक कथा पुराण के स्थान पर जनता को कांग्रेस का इतिहास बताना शुरू कर दिया।

1930 का सत्याग्रह हर क्षेत्र में चला। सालम में एड़ीद्यो के मन्दिर में प्रताप सिंह के नेतृत्व में जुलूस निकला। अल्मोड़ा जनपद के चार शास्त्री— सालम के दुर्गादत्त पाण्डे, सल्ट के गंगादत्त, पिथौरागढ़ के कृष्णानन्द तथा कपकोट के टीकाराम जेल गए। लोहाघाट, चंपावत, सोमेश्वर, द्वाराहाट आदि क्षेत्रों में जंगल सत्याग्रह चलाया गया। जोहार तथा दारमा.ब्यांस में सभाएं हुईं और गोरी घाटी के अन्तिम गाँव मिलम में भगतसिंह पांगती के प्रयत्नों से तिरंगा फहराया गया, झण्डा जुलूस निकाला गया और सभा हुई। पिथौरागढ़ में प्रयागदत्त पन्त की गिरफ्तारी हुई और उनकी सम्पत्ति कुर्क कर ली गई। 1930 में ही संयुक्त प्रान्त में लगानबन्दी के साथ ही कुमाऊँ तथा गढ़वाल में भी लगानबन्दी आन्दोलन प्रारंभ हुआ। इसका सर्वाधिक प्रभाव सल्ट क्षेत्र में पड़ा। दमन के बावजूद सल्ट के निवासियों ने कमिश्नर को लगान न देने का नोटिस दिया। सल्ट में सविनय अवज्ञा आन्दोलन में सर्वाधिक हिस्सेदारी रही। 1929.30 में सल्ट की पाँच पट्टियों

में कांग्रेस सदस्यों की संख्या 1000 तक पहुँच गई। यहाँ मथुरादत्त जोशी के साथ पानसिंह पटवाल, पुरुषोत्तम शर्मा, लछम सिंह, बचे सिंह, कृष्णसिंह, हरिदत्त शर्मा आदि ने संगठन का काफी काम किया। पूरे सल्ट में 65 में से मात्र 4 गाँव ऐसे रहे, जिनके मालगुजारों ने इस्तीफा नहीं दिया। प्रत्येक गाँव में तिरंगा फहराया गया। लोगों को सभा के लिए रणसिंह बजाकर सूचना दी जाती थी। स्थानीय जनता ने अदालत में मुकद्दमे ले जाना बन्द कर दिया। 17 अगस्त 1930 की रात को सल्ट के सत्याग्रह संचालक हरगोविन्द पन्त को गिरफ्तार कर लिया गया। ग्रामीणों के प्रतिरोध का दमन करने के लिए पुलिस बल का सहारा लिया गया। गिरफ्तारियाँ भी की गईं। सल्ट क्षेत्र में वन नीति के खिलाफ असाधारण आन्दोलन हुआ, जिसमें 404 सत्याग्रहियों के अहिंसक जुलूस पर पुलिस ने लाठी चार्ज किया और 58 आन्दोलनकारियों गिरफ्तार कर लिया गया, जिन्हें गांधी इरविन समझौते के दौरान छोड़ा गया। सल्ट में व्यापक राजनैतिक जागृति देखकर सरकार ने वहाँ के निवासियों को डराने धमकाने के लिए पुलिस टैक्स वसूल करना चाहा। जनता ने इसके विरोध में लगान न देने का निश्चय किया। सरकार ने दमन नीति का आश्रय लिया और सम्पत्ति का नीलाम और अन्य अत्याचारों के माध्यम से लगान तथा पुलिस टैक्स वसूल किया। सल्ट में पुलिस द्वारा किए गए अत्याचारों का समाचार संपूर्ण कुमाऊँ में फैल गया। अतः 'रानीखेत तहसील कांग्रेस कमेटी' द्वारा हरगोविन्द पन्त एवं चिरंजीलाल वकील के अधीन सल्ट में ब्रिटिश सरकार द्वारा हुए अत्याचारों की जाँच के लिए 'सल्ट जाँच कमेटी' नियुक्त की गई। इस कमेटी में गवाहियाँ लेकर तथा परिस्थितियों का गहन अध्ययन कर सल्टवासियों की सम्पत्ति के नीलाम और जनता पर हुए अत्याचारों के आंकड़े प्रस्तुत किए। संपूर्ण कुमाऊँ कमिश्नरी की जनता ने ब्रिटिश सरकार के अत्याचारों के विरोध में 20 सितंबर 1931 को 'सल्ट दिवस' मनाया और सरकार के प्रति अपना तीव्र आक्रोश व्यक्त किया। दमन और प्रतिरोध के कारण सल्ट को उत्तराखण्ड की बारडोली कहा गया।

ब्रिटिश गढ़वाल में 9 जून 1930 को हरगोविन्द पन्त के सभापतित्व में पौड़ी में एक सम्मेलन हुआ, जिसमें प्रतापसिंह नेगी, कृपाराम मिश्र, रामप्रसाद नौटियाल, जगमोहन सिंह नेगी आदि ने भाग लिया। कर्मभूमि के अनुसार ब्रिटिश सरकार के समर्थक नरमपंथी लोग सभा से उठकर चले गए, क्योंकि इसका मुख्य उद्देश्य कांग्रेस का प्रचार प्रसार कर जिला कांग्रेस कमेटी को जन्म देना तथा एक सत्याग्रह कमेटी की स्थापना करना था। इसके बाद जून में कोट महादेव के सम्मेलन में रवाई गोलीकाण्ड, पेशावर सैनिक विद्रोह तथा रचनात्मक कार्यों से संबन्धित कई प्रस्ताव पास हुए। इस अवधि में गढ़वाल के प्रमुख राजनीतिक केन्द्र दोगड़डा में सरकार ने धारा 144 लागू कर दी, जिससे उत्तेजित होकर जनता ने डिप्टी कमिश्नर इबटसन को कोटद्वार तथा पौड़ी में काले झण्डे दिखाए। कर्मभूमि के अनुसार सरकार ने आन्दोलन का दमन करने के लिए कई लोगों को कारागार में बन्द कर दिया। अतः आठ अक्टूबर 1930 को यमकेश्वर में हुई एक सभा में धारा 144 का उल्लंघन करते हुए भाषण दिए गए। पुनः कई लोगों की गिरफ्तारी हुई। इनमें से कई लोग 1931 में गाँधी इरविन समझौते के बाद रिहा हुए। 1931 में ज्वलापुर गुरुकुल के प्रधान नरदेव शास्त्री के सभापतित्व में यमकेश्वर में एक बृहत राजनैतिक सम्मेलन हुआ, जिसमें लगभग छः हजार व्यक्तियों ने भाग लिया।

2.5.2 सविनय अवज्ञा आन्दोलन और महिलाएँ

देहरादून में श्रीमती शर्मदा देवी, विष्णु देवी, सरस्वती देवी, रामदुलारी तथा श्यामादेवी की गिरफ्तारी हुई। नैनीताल में विमला देवी, जानकी देवी साह, शकुन्तला देवी, भगीरथी देवी, पद्मा देवी जोशी तथा सावित्री देवी बहुत सक्रिय थीं। अल्मोड़ा में कुन्ती देवी वर्मा, दुर्गादेवी पन्त, भक्तिदेवी त्रिवेदी, तुलसी रावत,

बच्चीदेवी पाण्डे आदि के नेतृत्व में 100 से अधिक महिलाओं का संगठन बना। अल्मोड़ा में मोहन जोशी तथा शान्तिलाल त्रिवेदी के घायल होने के बाद झण्डा सत्याग्रह में कुन्ती देवी वर्मा, विशनी देवी साह, मंगलीदेवी वर्मा, भागीरथी देवी, जीवन्ती देवी और रेवती देवी की उल्लेखनीय भूमिका रही। जनवरी 1931 में बागेश्वर में एक महिला सम्मेलन का आयोजन हुआ। इस पूरे इलाके में महिलाओं की जागरूकता, विदेशी कपड़ों तथा शराब सुल्फे का विरोध, खादी का प्रचार आदि का निर्णय लिया गया। विदेशी कपड़ों के बहिष्कार हेतु कुन्ती वर्मा के नेतृत्व में महिलाओं का एक दल हल्द्वानी गया, जहाँ विदेशी कपड़ों की दुकानों पर धरना दिया गया। इस क्रम में सरकार ने कुन्ती वर्मा, मंगला देवी, जीवन्ती देवी, भागीरथी देवी, रेवती देवी, पद्मा देवी, पनी देवी आदि को गिरफ्तार किया। यह उत्तराखण्ड में महिला सत्याग्रहियों की पहली गिरफ्तारी थी।

2.5.3 पेशावर सैनिक विद्रोह

अप्रैल 1930 में अन्य स्थानों की तरह पेशावर में भी ब्रिटिश शासन के विरुद्ध आन्दोलन शुरू हुआ। पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त के पठान और कबीलाई लोग लाल कुर्ती के रूप में बादशाह खान (खान अब्दुल गफ्खार खान) के नेतृत्व में खुदाई खिदमतगार बन रहे थे। 20 अप्रैल को यहाँ सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारंभ हुआ। सत्याग्रहियों का दमन करने के लिए गठित 18वीं गढ़वाल रायफल की दो पलटनों ने चन्द्रसिंह गढ़वाली की अपील पर निहत्थे पठानों पर गोली चलाने से इन्कार कर दिया। यद्यपि पेशावर में फिर भी दमन हुआ। 30 नागरिक मारे गए और दर्जनों घायल हुए। चन्द्रसिंह गढ़वाली को आजन्म कारावास की सजा हुई, जो अन्ततः 11 वर्ष ही रही। स्थानीय तथा राष्ट्रीय पत्रों ने गढ़वाली तथा साथियों को मुक्त किए जाने के मुद्दे को निरन्तर उठाया। पेशावर की घटना का देश तथा उत्तराखण्ड में असाधारण असर हुआ। अब पहाड़ी सिपाहियों को विक्टोरिया क्रॉस पाने के लिए नहीं, बल्कि निहत्थों पर गोली चलाने से इनकार करने के लिए याद किया जाने लगा था (शेखर पाठक: चन्द्रसिंह गढ़वाली: परंपरा और प्रासंगिकता: 1991)।

2.5.4 किसान आंदोलन

कुली बेगार तथा वनांदोलन प्रारंभिक किसानों के सफल आंदोलन थे। स्थानीय किसान सरकार से नई पद्धति के आधार पर स्थायी लगान कानून बनाने की मांग कर रहे थे। 1928 में सरकार की लगान वृद्धि योजना का किसानों ने विरोध किया। 1930-31 के देशव्यापी लगानबंदी आंदोलन का प्रभाव यहाँ भी पड़ा, जिसे आप सविनय अवज्ञा आंदोलन वाले खण्ड में सल्ट के संदर्भ में भी पढ़ चुके हैं। दूसरा महत्वपूर्ण आंदोलन अस्कोट के भूमिहीन सिरतानों का था, जो रजवारों द्वारा बेदखल किए जाने के कारण आक्रोशित थे। बेदखली रोकने का सरकारी आदेश जारी होने के बाद भी कुमाऊँ में यह क्रम नहीं रुका था। 1937-38 के बाद इसमें तीव्रता आई और 500 किसानों का जत्था प्रान्तीय राजधानी लखनऊ के लिए पैदल रवाना हुआ, जिसे स्थानीय नेताओं हरगोविंद पंत, हर्षदेव ओली, शान्तिलाल त्रिवेदी आदि स्थानीय नेताओं ने समझा-बुझा कर वापस लौटा दिया। अस्कोट के किसानों के आक्रोश के लिए नेहरू ने प्रान्तीय सरकार को भी दोषी ठहराया। 1939 में द्वितीय विश्व युद्ध आरंभ होने से स्थानीय आंदोलन को आघात लगा। कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों के त्यागपत्र देने से ब्रिटिश नौकरशाही को कुमाऊँ कमिश्नरी के लिए कानून बनाने और नए बन्दोबस्त करने का अधिकार प्राप्त हो गया। 1942 में प्रकाशित अस्कोट के बन्दोबस्त की रिपोर्ट में किसानों और छोटे जमींदारों की मांगों पर ध्यान नहीं दिया गया और लगान में वृद्धि हो गई, जिससे किसानों में

असंतोष बढ़ा। आंदोलन के बावजूद इनकी समस्याएँ दूर नहीं हुई। 1946-47 में किसान आंदोलन का नेतृत्व पाली पछाऊँ के किसानों ने किया।

2.5.5 1930 के बाद

1935 में जोहार में कांग्रेस की स्वर्ण जयन्ती बड़ी धूमधाम से मनाई गई। 1936 में नेहरू दोगड़डा आए। 1937 में चुनावों में संयुक्त प्रान्त में कांग्रेस को बहुमत मिला और उत्तराखण्ड से हरगोविन्द पन्त, रामप्रसाद टमटा, कुँवर आनन्द सिंह, जगमोहन सिंह नेगी, अनुसूया प्रसाद बहुगुणा तथा दो बरेली, पीलीभीत से पं. पन्त निर्विरोध चुने गए। 21 मार्च को पं. पन्त को संयुक्त प्रान्त का पहला कांग्रेसी मन्त्रिमंडल बनाने हेतु बुलाया गया। इस दौर के दो आन्दोलन सर्वाधिक विख्यात रहे। एक गढ़वाल का गाड़ी सड़क आन्दोलन तथा दूसरा अस्कोट का किसान आन्दोलन। जनता के दबाव से दो सड़कों की स्वीकृति मिली—1. लैंसडाउन को पौड़ी तथा 2. कर्णप्रयाग को गरुड़ से जोड़ने वाली सड़क। अस्कोट के किसान आन्दोलन के बारे में आप इसी इकाई के खण्ड 2.5.4 में परिचित हो चुके हैं। 1939 में दो अन्य महत्वपूर्ण सम्मेलन उत्तराखण्ड में हुए। इनमें पहला 30 जून 1939 को दोगड़डा(गढ़वाल) में राजनीतिक सम्मेलन के रूप में हुआ था। इसकी सबसे बड़ी विशेषता थी दो हजार महिलाओं का इसमें सम्मिलित होना। (शक्ति: 18 जुलाई 1939)। दूसरा सम्मेलन 29-30 अक्टूबर को उभ्याड़ी(रानीखेत) में समाजवादी रुझान वाले संग्रामियों द्वारा आयोजित किया गया (कुमाऊँ कुमुद: 2 नवंबर 1939)। 5 मई 1939 को लैंसडाउन की एक सभा में क्रान्तिकारी यशपाल का व्याख्यान हुआ और श्रीनगर में इसी वर्ष जून में केदारी देवी की अध्यक्षता में महिला संघ की स्थापना हुई (कर्मभूमि, 2 जून तथा 17 जुलाई 1939)।

इस प्रकार आपने देखा कि 1939 में द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारंभ होने और कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों के त्यागपत्र के बाद साइमन कमीशन के विरोध के साथ शुरू हुआ युग समाप्त हुआ।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न—

निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—

(क) सल्ट की घटनाएं

(ख) सविनय अवज्ञा आन्दोलन और महिलाएं

2. नीचे लिखे प्रश्नों के उत्तर दीजिए

(क) डांडी मार्च में अल्मोड़ा से जाने वाले तीन सत्याग्रहियों के नाम बताइये?

(ख) उत्तराखण्ड का बारडोली किस किस स्थान को कहा गया?

(ग) चन्द्रसिंह गढ़वाली कौन थे?

2.6 ब्रिटिश कुमाऊँ-गढ़वाल (1940 से 1947)

2.6.1 व्यक्तिगत सत्याग्रह

1940-41 में गाँधीजी के आह्वान पर व्यक्तिगत सत्याग्रह आंदोलन के तहत कुमाऊँ-गढ़वाल से भी गिरफ्तारियाँ हुईं। गोविन्द बल्लभ पन्त, हरगोविन्द पन्त, बदरीदत्त पाण्डे, रामसिंह आजाद, मोहन लाल साह सहित अनेक लोग (कुमाऊँ), नरदेव शास्त्री, महावीर त्यागी आदि (देहरादून), अनुसूया प्रसाद बहुगुणा, भक्तदर्शन आदि सैकड़ों कार्यकर्ता (गढ़वाल) सक्रिय रहे। तत्कालीन स्थानीय समाचार पत्रों ने गिरफ्तार सत्याग्रहियों की एक विस्तृत सूची दी है। सूची को आप शेखर पाठक द्वारा संपादित 'सरफरोशी की तमन्ना' (पृ. 107 से 109) में भी देख सकते हैं। इन अनगिनत नामों को विस्तार से दिया जाना यहाँ संभव नहीं है। 1941 के शेष समय में गिरफ्तारियाँ और रिहाइयाँ साथ साथ चलती रहीं। काश्तकारों, कांग्रेस कार्यकर्ताओं, शिक्षकों, छात्रों की इसमें सक्रिय भागीदारी रही। महिलाओं तथा दलितों की राष्ट्रीय संग्राम में हिस्सेदारी इस दौर में प्रभावशाली रही। महिलाओं में शोभावती मित्तल, भागीरथी देवी, यशोधरा देवी, कुंती देवी वर्मा, भागीरथी देवी साह, भवानी देवी जोशी, सरस्वती देवी, मालती देवी, कुन्ती देवी, चन्दा देवी, धनी देवी, रेवती देवी, सरस्वती पाण्डे, बिसनी देवी आदि के नाम महत्वपूर्ण हैं। 1941 में ही महिला अध्यापिका गोमती देवी ने गंगोलीहाट की प्राइमरी पाठशाला से इस्तीफा दिया था। वे संभवतः पहली महिला अध्यापिका थीं, जिन्होंने अपने पद को छोड़ा (पहाड़, भाग 4, पृ. 221)। 1942 के आरंभ में जब विश्वयुद्ध जारी था, व्यक्तिगत सत्याग्रह में उतार सा नजर आता है। इस समय भारत छोड़ो आन्दोलन का विचार स्पष्ट हो रहा था।

2.6.2 भारत छोड़ो आंदोलन

इस आन्दोलन के दौरान ब्रिटिश कुमाऊँ-गढ़वाल में अत्यधिक गतिशीलता रही। अल्मोड़ा, नैनीताल, गढ़वाल तथा देहरादून जिलों में जगह जगह जुलूस निकले और हड़तालें हुईं। अल्मोड़ा जिले में सालम, सल्ट, चनौदा, खीराकोट, टोटाशिलिंग, देघाट, जोहार तथा नैनीताल जिले में कोटाबाग, मझेड़ा आदि आन्दोलन के प्रमुख केन्द्र थे। उदयपुर, चमोली, गुजडू (गढ़वाल) आदि अधिक प्रभावित इलाके रहे। शीघ्र ही यह आन्दोलन ग्रामीण इलाकों में भी फैल गया। अल्मोड़ा जिले के देघाट में एकत्रित जनसमूह पर पुलिस द्वारा चलाई गई गोली से निहत्थे हरिकृष्ण उप्रेती तथा हीरामणि गडोला मारे गए। ग्रामीणों को बुलाकर पीटने, जेल भेजने की घटनाएँ हुईं। अल्मोड़ा जिले के सालम क्षेत्र में कार्यकर्ताओं को 9 अगस्त 1942 की रात 'भारत छोड़ो आन्दोलन की रूपरेखा बनाने के लिए विचार विमर्श के दौरान पटवारियों ने गिरफ्तार कर लिया। 10 अगस्त को हजारों की संख्या में उपस्थित जनता के दमन के लिए पुलिस के साथ भेजे गए सरकारी कर्मचारियों के दल को जनता ने पीट कर वापस भेज दिया। सरकार के मशीनगनों से लैस सैनिकों के साथ जनता का धामदेव के टीले पर संघर्ष हुआ। दमन चक्र लगातार जारी रहा। रामसिंह आजाद को बाद में कालापानी की सजा हुई। कई अन्य नेता भी गिरफ्तार हुए। 1930-32 में कुमाऊँ का बारडोली माना जाने वाला सल्ट क्षेत्र 1942 में भी आंदोलित रहा और वहाँ कई दिनों तक स्वराज्य कायम रहा। 5 सितंबर को खुमाण गाँव में पाँच हजार लोगों ने सरकार विरोधी सभा की। डिप्टी कमिश्नर ने इस निहत्थी जनता पर गोली चलाने का आदेश दिया। चनौदामें गाँधी आश्रम का मुख्यालय होने के कारण इस क्षेत्र के सभी ग्राम 1942 के दौरान अत्यधिक सक्रिय रहे। टोटाशिलिंग में लीसा डिपो जलाया गया तो लमगड़ा में जंगल सत्याग्रह करने का निश्चय किया गया। गढ़वाल में भी चमोली तहसील का सब पोस्ट ऑफिस जलाने का प्रयास किया गया और टेलीफोन के तार काट दिए गए। खदेड़ पट्टी में स्थित वन

विभाग का बंगला जला दिया गया। छात्रों ने पौड़ी में भारी जुलूस निकाला। देहरादून में डी.ए.वी. कॉलेज के छात्रों ने सक्रियता और जोश के साथ दमन का विरोध और करो या मरो का आह्वान किया।

प्रारंभ में आंदोलन अधिक तीव्र और व्यापक रूप से फैला और कई स्थानों पर हिंसात्मक हो गया, पर सरकारी दमन के कारण यह अन्तिम चरण में धीमा पड़ गया। रामसिंह आजाद, रेवाधर पाण्डे, प्रतापसिंह, हरिकृष्ण पाण्डे आदि आंदोलनकारियों ने भूमिगत रूप से कार्यवाहियाँ प्रारंभ कीं और 1944 में गाँधी जी द्वारा भूमिगत सत्याग्रहियों से आत्मसमर्पण की घोषणा करने पर ही इन्होंने अपनी गिरफ्तारी दी। गढ़वाल में भैरवदत्त धूलिया, रामप्रसाद बहुगुणा, छवाण सिंह नेगी, भगवती चरण निर्मोही आदि ने आंदोलन में सक्रिय भूमिका निभाई। इसके अलावा अनेक स्थानीय नाम हैं, जिन्होंने विभिन्न क्षेत्रों में आंदोलन की कमान संभाली। आन्दोलन का एक महत्वपूर्ण पक्ष महिलाओं की सक्रिय भागीदारी के रूप में भी सामने आया। व्यक्तिगत सत्याग्रह के अन्तर्गत आपको इनमें से अनेक महिलाओं के नाम भी बताए गए हैं।

2.6.3 आजाद हिन्द फौज

आजाद हिन्द फौज की स्थापना के बाद एक नई लहर राष्ट्रीय आन्दोलन में जुड़ी। उत्तराखण्ड से गढ़वाल, गोरखा तथा कुमाऊँ रायफल्स में कार्यरत 3000 से अधिक सैनिकों ने आजाद हिन्द फौज में जाने का साहस किया। कर्नल पितृशरण रतूड़ी, मेजर हरक सिंह, कप्तान बुद्धि सिंह रावत, मेजर पद्म सिंह गुसाई, कप्तान चन्द्र सिंह नेगी, सूबेदार मेजर देबसिंह दाणू तथा ज्ञानसिंह बिष्ट आदि को महत्वपूर्ण काम सौंपे गए थे।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न—

निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—

(क) व्यक्तिगत सत्याग्रह

(ख) स्थानीय स्तर पर भारत छोड़ो आन्दोलन

2. नीचे लिखे प्रश्नों के उत्तर दीजिए

(क) रामसिंह आजाद का नाम किस आन्दोलन से जुड़ा है?

(ख) गाँधी आश्रम का मुख्यालय कहाँ स्थित था?

2.7 टिहरी रियासत और विभिन्न प्रतिरोध आंदोलन

1939 में प्रजामंडल की स्थापना से पूर्व टिहरी में ढंडक के नाम से रियासत की शोषक नीतियों, मुआफीदारों, जागीरदारों तथा राज्य कर्मचारियों के उत्पीड़न के विरुद्ध अनेक स्वतः स्फूर्त प्रतिरोध हुए परन्तु स्थानीय स्तर पर व्यापक जनाधार होते हुए भी वे अधिक प्रभाव नहीं डाल पाए। 1935 में सकलाना के मुआफीदार के विरुद्ध तथा 1851 में बदरी सिंह असवाल के नेतृत्व में मुआफीदारों के विरुद्ध हुआ 'तिहाड़' (फसल का 1/3 जमींदार का हिस्सा) ढंडक राजा के लिए भी एक चेतावनी था। रियासत की वन नीति के

खिलाफ 1906.07 में भी कृषक संघर्ष हुए, पर प्रजा का अभी राजा से मोह भंग नहीं हुआ था। बाद के वर्षों में भी राज कर्मचारियों द्वारा बेगार-बर्दायश के नाम पर किए जा रहे प्रजा के दमन के खिलाफ अनेक ढंडक हुए। 1903-04 में कुजणी के ढंडक में ग्रामीणों ने कर देने से इन्कार करते हुए ढंडक में शामिल न होने वालों को बिरादरी से अलग करने की घोषणा की गई। किसानों ने लगातार प्रतिवेदन दिए। इसके बाद सकलाना 1913 से 1919 तक रीजेंसी के दौर में भी दमन कार्यों में वृद्धि हुई। प्रथम विश्व युद्ध के दौरान जनता अकाल से त्रस्त रही। 1930 में टिहरी रियासत की नई वन व्यवस्था के खिलाफ हुआ रवाई का आंदोलन पिछले सभी ढंडकों से महत्वपूर्ण था। इस दौरान यहाँ समानान्तर सरकार की योजना भी बनी। रियासती पुलिस दमन और हत्याकाण्ड के बाद यह नहीं हो पाया, पर रियासत के भीतर फैल रही चेतना को नहीं रोका जा सका। इस घटना की खबर प्रकाशित करने वाले गढ़वाली पत्र के संपादक विश्वंभरदत्त चंदोला पर भी दीवान चक्रधर जुयाल ने मुकद्मा कायम किया। रवाई प्रतिरोध के किसान नेताओं और कार्यकर्ताओं में हीरा सिंह, दयाराम, बैजराम, लाला रामप्रसाद आदि थे। यह उत्तराखण्ड में एक प्रकार से पहला गोलीकाण्ड था।

2.7.1 टिहरी राज्य प्रजामण्डल और श्रीदेव सुमन

1939 में देहरादून में टिहरी राज्य प्रजामण्डल की स्थापना हुई। 'कर्मभूमि' ने प्रजामण्डल की स्थापना का स्वागत और रियासत द्वारा पारित रजिस्ट्रेशन ऑफ एसोसिएशन एक्ट का विरोध किया। श्रीदेव सुमन के प्रवेश से प्रजामण्डल में सक्रियता आई। 1940 में सुमन द्वारा दिल्ली में रियासत की प्रवासी जनता के सम्मेलन की अध्यक्षता करने के उपरांत उस पर रियासत में जाने पर प्रतिबंध लगा दिए गए। 1941 में देहरादून में बुलाए गए प्रजामंडल के विशेष अधिवेशन में रियासत की प्रतिनिधि सभा के सदस्यों के त्यागपत्र की मांग की गई। सुमन को दो माह तक रियासत में आने से रोकने के बाद हिरासत में लेकर रियासत से बाहर कर दिया गया। प्रजामंडल रियासत के नियमों के अनुसार पंजीकृत होने के लिए प्रयास करता रहा पर रियासत इसे प्रतिबंधित किए जाने में ही अपना हित समझती थी। भारत छोड़ो आन्दोलन के दौरान गिरफ्तारी के बाद 1943 में जेल से रिहा होने पर सुमन ने पुनः आन्दोलन को संगठित करने का प्रयास किया जिसमें उन्हें अपेक्षित सफलता नहीं मिली। बावजूद इसके सुमन ने संघर्ष जारी रखा और राज्य को लिखा कि 'यदि एक भी व्यक्ति अपने आदर्श पर कायम रहेगा तो वह भी प्रजामंडल का प्रतिनिधित्व करेगा.....' 30 दिसम्बर को



श्री देव सुमन

स्रोत: शेखर पाठक, उत्तराखण्ड में कुली बेगार प्रथा

सुमन को गिरफ्तार कर टिहरी जेल में डाल दिया गया और 84 दिन के अनशन के बाद 25 जुलाई 1944 को उनकी शहादत हो गई। 26 जुलाई 1946 को आजाद हिन्द फौज से लौटे हुए सैनिकों ने टिहरी में सुमन दिवस मनाया।

2.7.2 श्रीदेव सुमन के बाद

1945 के बाद श्रीदेव सुमन के प्रयास को कम्युनिस्ट नेता नागेन्द्र सकलानी ने आगे बढ़ाया। नागेन्द्र सकलानी और दौलतराम लखेड़ा के नेतृत्व में चले आन्दोलन में बरा (राशन) और बेगार(अनिवार्य श्रम) की समाप्ति की मांग प्रमुख थी। 21 अगस्त 1946 में प्रजामण्डल का पंजीकरण होने के साथ ही सरकार ने गिरफ्तारियाँ प्रारंभ कर दीं। इस दौर में प्रजामण्डल की सक्रियता तथा रियासती दमन चक्र दोनों साथ साथ चले। दौलतराम, नागेन्द्र सकलानी और परिपूर्णानन्द पैन्थूली ने जमानत स्वीकार न करते हुए जेल में ही अनशन किया। 22 सितंबर को प्रजामण्डल ने सरकार के साथ असहयोग करने की घोषणा की। 1947 में इन्होंने पुनः अनशन किया और जेल से मुक्त होने के बाद बेगार बन्द करवाने हेतु अनशन जारी रखा। मई 1947 में टिहरी में पहली बार प्रजामण्डल का वार्षिक अधिवेशन हुआ, जिसमें मुख्य मांग राजा की छत्रछाया में उत्तरदायी शासन की स्थापना थी। 1947-48 में आजाद पंचायतों का गठन तथा 1948 में ही अंतरिम सरकार बनने के बाद बरा.बेगार जैसी शोषक प्रथाओं की समाप्ति हुई।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न—

निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—

(क) श्रीदेव सुमन का योगदान

(ख) टिहरी रियासत में प्रजामण्डल के कार्य

2. नीचे लिखे प्रश्नों के उत्तर दीजिए

(क) टिहरी रियासत में शोषक नीतियों के खिलाफ हुए स्वतः स्फूर्त स्थानीय संघर्षों को किस नाम से पुकारा जाता है?

(ख) श्रीदेव सुमन के बाद किसने आंदोलन को आगे बढ़ाया?

2.8 विभिन्न सामाजिक आन्दोलन

2.8.1 अछूतोद्धार तथा शिल्पकार आंदोलन

1925 में हरि टम्टा, खुशीराम, बच्चीराम आर्य, रामप्रसाद टम्टा आदि के प्रयास से कुमाऊँ में पहली बार कुछ प्रमुख मांगों जैसे, प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य और निशुल्क किए जाने, नगरपालिका, जिला परिषद आदि में प्रतिनिधि भेजने का अधिकार देने, फौज में भर्ती, भूमि दिए जाने, सामाजिक कुरीतियों पर प्रतिबंध लगाने को लेकर बृहत् शिल्पकार सम्मेलन का आयोजन किया गया। 1929 में गाँधी जी के कुमाऊँ आगमन से अछूतोद्धार कार्यक्रम को बढ़ावा मिला। दोगड़ा में गुणानंद जुयाल आदि की भागीदारी में दलितोद्धार कांग्रेस आयोजित की गई। प्रथम दौर में दलित नेतृत्व की विभिन्न स्थानीय आंदोलनों में उदासीनता और सरकार से सहयोग के रुख को देखते हुए सवर्ण नेतृत्व (हरगोविन्द पंत, हर्षदेव ओली, बदरीदत्त पाण्डे, कृष्णानंद उप्रेती आदि) द्वारा हल जोतने, दलितों के साथ भोजन करने, उनके नौले से पानी पीने जैसी घटनाओं को भी अंजाम दिया गया, लेकिन इन कार्यों के प्रति सवर्णों के बीच ही अन्तर्विरोध था। 1934 से

1940 तक अखिल भारतीय दलित संस्था के उपाध्यक्ष के रूप में हरि टम्टा ने सरकार के साथ सहयोग की नीति अपनाते हुए दलितों के उद्धार के लिए कार्य किया। जयानन्द भारती, खुशीराम, बलदेव सिंह आर्य, बचीराम आर्य आदि ने दलितों की मुक्ति को राष्ट्रीय संग्राम के साथ जोड़ा। गढ़वाल में जयानन्द भारती ने डोला पालकी आंदोलन को विकसित किया, जो उस दौर का एक व्यापक सामाजिक आंदोलन रहा। 1936 में इलाहाबाद हाइकोर्ट द्वारा दलितों के लिए उनके पुत्र-पुत्रियों के विवाह में डोला पालकी का अधिकार वैध घोषित किया गया। 1941 में लैंसडाउन में हुए सर्वदलीय सम्मेलन में सवर्णों ने इस अधिकार को स्वीकार किया। हालांकि विरोध की घटनाएँ फिर भी उभरती रहीं। 1941 तथा 1946 में बागेश्वर के मेले में हुए सम्मेलनों में पुनः दलितों के हितों के लिए आवाज उठाई गई।

2.8.2 नायक सुधार आंदोलन

कुमाऊँ की नायक जाति में कन्याओं में वेश्यावृत्ति की कुप्रथा प्रचलित थी। 1913 में आर्य समाज ने इसके उन्मूलन के लिए सरकार के समक्ष एक पृथक कानून बनाने की मांग रखी। बदरीदत्त पाण्डे, गोविन्दबल्लभ पंत, कृष्णानंद शास्त्री आदि के नेतृत्व में कुमाऊँ परिषद ने इस कार्य को आगे बढ़ाया। गढ़वाली, शक्ति आदि समाचार पत्रों ने इसे प्रमुखता से प्रकाशित किया। 'गढ़वाली' के सम्पादक विश्वम्भरदत्त चंदोला ने 1913 में मुम्बई में वेश्यावृत्ति कर रही पर्वतीय कन्याओं का सचित्र हाल अपने अखबार में दिया। इसी प्रकार कन्या विक्रय के विरुद्ध 1923 में बदरीदत्त पाण्डे ने 'शक्ति' में लिखा 'कुमाउनियों चेतो, तुम्हारे घर में यह क्या हो रहा है।' 1919 में नैनीताल में हुई कुमाऊँ परिषद की सभा में वेश्यावृत्ति रोकने, नायक कन्याओं के लिए शिक्षा की व्यवस्था आदि से संबंधित निर्णय लिए गए। इसके बाद लगातार प्रयास जारी रहे। विभिन्न कानूनों के बनने और सुधार सभाओं के बावजूद भी नायक जाति में यह प्रथा आंशिक रूप में बनी रही।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न—

निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—

(क) अछूतोद्धार तथा शिल्पकार आन्दोलन

(ख) नायक सुधार आन्दोलन

2. नीचे लिखे प्रश्नों के उत्तर दीजिए

(क) डोला पालकी आन्दोलन कहाँ हुआ?

3.0 सारांश

स्वतंत्रता संग्राम में उत्तराखण्ड की भूमिका का समग्र अध्ययन करने के उपरान्त आप समझ पाए होंगे कि विषम भौगोलिक परिस्थितियों से युक्त इस अंचल में किस प्रकार राष्ट्रीय चेतना का प्रसार हुआ और शेष भारत के स्वाधीनता संघर्ष से ऊर्जा प्राप्त कर यह स्थानीय संघर्षों व जन आन्दोलनों को राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ जोड़ने में सफल हुआ। कुमाऊँ परिषद के विभिन्न अधिवेशनों में समय समय पर विभिन्न समस्याओं को मुखरता के साथ उठाया गया। इस अवधि में औपनिवेशिक सरकार तथा टिहरी राज्य की

सामन्तशाही के भूमि बन्दोबस्त, राजस्व, जंगलात, कुली बेगार, बर्दायश और उतार तथा कृषि के वाणिज्यीकरण की नीतियों ने उत्तराखण्ड को प्रभावित किया, जिसकी झलक हमें बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों से शुरू होने वाले प्रतिरोध आंदोलनों में दिखाई देती है। बेगार और बर्दायश के रूप में ग्रामीणों के शोषण और उत्पीड़न की एक लम्बी अवधि का समापन उत्तराखण्ड व्यापी जनान्दोलन के साथ हुआ। राष्ट्रीय आंदोलन के प्रभाव से समाज सुधार के कार्यों में भी गति आई। स्थानीय जनता को राष्ट्रीय जागृति के साथ जोड़ने में स्थानीय समाचार पत्रों, विभिन्न रचनाकारों, नेताओं ने प्रमुख भूमिका निभाई। इसके अलावा आंदोलनों में महिलाओं की सक्रिय भागीदारी की जो शुरुआत हुई, वह आजादी के बाद के वर्षों में होने वाले विभिन्न आंदोलनों में और भी मुखर होकर सामने आई।

4.0 तकनीकी शब्दावली

गैर आइनी— कुमाऊँ को दुर्गम और पिछड़ा क्षेत्र होने के कारण बंगाल प्रेसीडेंसी में लागू रेग्यूलेशन (कानूनों) से मुक्त रखा गया और यहाँ एक नये प्रकार का प्रशासन, जिसे नॉन रेग्यूलेशन (गैर आइनी) कहा गया, लागू किया गया। यहाँ स्टोवेल के नियमों के अनुसार कार्य होता था। गैर आइनी (अर्थात् जहाँ संयुक्त प्रांत के कानून लागू नहीं थे)।

कुली बेगार— बेगार का अर्थ है —मजदूरी रहित जबरन श्रम। शेखर पाठक के अनुसार “उत्तराखण्ड में इसका अभिप्राय मजदूरी रहित या अल्प मजदूरी सहित जबरन कराया गया श्रम और जबरन सामग्री ले जाने की प्रक्रिया से है।

कुली उतार— सरकारी या गैर सरकारी बोझों के ढुलान हेतु जबरन मजदूरी सहित बुलाए जाने का नाम था (शेखर पाठक)।

कुली बर्दायश— विभिन्न पड़ावों पर साहबों, सैनिकों, सैलानियों या उनके दलों को दी जाने वाली सामग्री से था।

5.0 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

- खण्ड 2.3 — 1. (क) देखें 2.3.4 (ख) देखें 2.3.6
 2. (क) देखें 2.3.1 (ख) देखें 2.3.7
 (ग) देखें खण्ड 2.3 के अन्तर्गत विभिन्न उपखण्ड
- खण्ड 2.4 — 1. (क) देखें 2.4.2 (ख) देखें 2.4.3
 2. (क) देखें 2.4.1 (ख) देखें 2.4.2 (ग) देखें 2.4.3
- खण्ड 2.5 — 1. (क) देखें 2.5.1 (ख) देखें 2.5.2
 2. (क) देखें 2.5.1 (ख) देखें 2.3.1
 (ग) देखें 2.5.3
- खण्ड 2.6 — 1. (क) देखें 2.6.1 (ख) देखें 2.6.2
 2. (क) देखें 2.6.2 (ख) देखें 2.6.2
- खण्ड 2.7 — 1. (क) देखें 2.7.1 (ख) देखें 2.7.1
 2. (क) देखें 2.7 (ख) देखें 2.7.2
- खण्ड 2.8 — 1. (क) देखें 2.8.1 (ख) देखें 2.8.2
 2. (क) देखें 2.8.2
-

6.0 सहायक संदर्भ ग्रन्थ

1. एटकिंसन, ई. टी., द हिमालयन गजेटियर, तीन खण्ड, 1882-86 (दिल्ली 1973)

2. डबराल,शिवप्रसाद, उत्तराखण्ड का इतिहास, भाग 8,खण्ड 2, (वीरगाथा प्रकाशन, दोगड्डा, गढ़वाल, 1976)
3. डबराल,शिवप्रसाद,टिहरी गढ़वाल राज्य का इतिहास, भाग 1 —1815-1913(1974)
- 4.डबराल,शिवप्रसाद,टिहरी गढ़वाल राज्य का इतिहास, भाग 2 —1913-1949(1974)
6. जोशी, सुधा, कूर्माचल केसरी,(हैदराबाद,1970)
- 3.पाठक,शेखर,(संपादन), सरफरोशी की तमन्ना, उत्तराखण्ड में स्वतंत्रता संग्राम का दृश्य इतिहास(नैनीताल,नई दिल्ली,2000)
4. पाठक, शेखर, उत्तराखण्ड में कुली बेगार प्रथा(1815-1949),(दिल्ली 1987)
5. पाण्डे, बदरीदत्त, कुमाऊँ का इतिहास (अल्मोड़ा, 1937)
- 6.मनराल, धर्मपाल सिंह, स्वतंत्रता संग्राम में कुमाऊँ.गढ़वाल का योगदान(बरेली,1978)
7. साह, डॉ.ज्योति, शक्ति के तीन दशक—उत्तराखण्ड में राष्ट्रवादी पत्रकारिता का अध्ययन(2009)
8. राष्ट्रीय संग्राम और हिमालयी प्रतिरोध, पहाड़, भाग 4,(नैनीताल,1989)

7.0निबन्धात्मक प्रश्न

- 1.कुमाऊँ परिषद की भूमिका का मूल्यांकन कीजिए।
- 2.सविनय अवज्ञा आन्दोलन के दौर में उत्तराखण्ड में हुई गतिविधियों की चर्चा कीजिए।
- 3.भारत छोड़ो आन्दोलन में उत्तराखण्ड की भूमिका स्पष्ट कीजिए।
- 4.स्वतंत्रता संग्राम में उत्तराखण्ड की महिलाओं की भूमिका का मूल्यांकन कीजिए।
- 5.टिहरी रियासत के विभिन्न प्रतिरोध आन्दोलनों का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।
- 6.उत्तराखण्ड में विभिन्न सामाजिक आन्दोलनों पर चर्चा कीजिए।

3.0 प्रस्तावना

3.1 उद्देश्य

3.2 सामाजिक स्थिति

3.2.1 खशों की सामाजिक परंपराएं तथा समय-समयपर यहाँ बसी मध्यदेशीय जातियों का प्रभाव

3.2.2 जनजातीय समाज

3.2.2.1 भोटान्तिक

3.2.2.2 वनराजि(राजी या वनरौत)

3.2.2.3 थारू

3.2.2.4 बुक्सा

3.2.2.5 जौनसारी

3.2.3 नायक जाति की महिलाएं

3.3 शैक्षिक स्थिति

3.4 जनसंख्या और स्वास्थ्य

3.5 राष्ट्रीय आन्दोलन और महिला जागृति

3.5.1 पर्दा प्रथा

3.5.2 विधवा विवाह

3.5.3 कन्या विक्रय तथा वेश्यावृत्ति/नायक सुधार

3.5.4 महिला शिक्षा

3.5.5 आन्दोलनों के द्वारा सशक्तीकरण

3.6 सारांश

3.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

3.8 सहायक संदर्भ ग्रंथ

3.9 निबन्धात्मक प्रश्न

3.0 प्रस्तावना

भारतीय समाज में महिलाओं की पिछड़ी स्थिति के मूल में समाज में फैले अंधविश्वास और अज्ञान पर आधारित प्रथाएं और मान्यताएं थीं। उन्हें व्यक्तिगत स्वतंत्रता नहीं थी। पर्दा प्रथा थी। बहुविवाह और बालविवाह के कारण समाज में विधवाओं की संख्या भी अधिक थी। सती होना समाज में सम्मानजनक समझा जाता था। सामाजिक और आर्थिक रूप से महिलाएं पूरी तरह पुरुषों पर निर्भर थीं। उच्च वर्ग की महिलाओं की दशा अधिक दयनीय थी क्योंकि उन्हें समाज और धर्म के नियमों का कुलीन वंशीय होने के

कारण कठोरता से पालन करना पड़ता था। महिलाओं को सामान्यतः पढ़ने लिखने का अधिकार भी नहीं था। निम्न वर्गों में कन्या विक्रय और वेश्यावृत्ति जैसी घृणित प्रथाओं को धन अर्जित करने का साधन बनाया गया था (ए. आर. देसाई, भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि)।

स्वतंत्रता पूर्व उत्तराखण्ड का समाज भी शेष भारत से कहीं अलग नहीं था। महिलाएं भी अशिक्षित और उपेक्षित थीं। उनकी सोच का दायरा भी सीमित था। वे रूढ़िवादिता में जकड़ी हुई थीं। सामाजिक स्तर पर भेदभाव था। यहाँ तक कि माहवारी पर भी उनके साथ अस्पृश्यता का व्यवहार होता था। इस अवधि में उन्हें हर माह गोठ(गाय भैंसों के रहने का स्थान) में रहना पड़ता था। चार पाँच दिन जमीन पर सोना पड़ता था। घास पात या पराल पर सोकर रात काटती थीं। उन्हें खाना भी दूर से दिया जाता था। छूना मना था। लेकिन खाना बनाने के अलावा वे घर के बाहर के सारे काम करती थीं। (उत्तराखण्ड में अभी भी इस अवैज्ञानिक परंपरा के अवशेष विद्यमान हैं)। इस अंचल के जनजातीय समाजों में स्त्री अपेक्षाकृत अधिक स्वतंत्र थी। राहुल ने अपने ग्रन्थ 'कुमाऊँ' में भोटान्तिक क्षेत्र की स्त्रियों के संदर्भ में तुलनात्मक विवरण दिया है, जिसे पढ़कर आप स्वतः आकलन कर सकते हैं— ".....पहाड़ी और नीचे की स्त्रियों की भाँति उन्हें पुरुषों का बचा खुचा भोजन नहीं खाना पड़ता....यहाँ की स्त्रियाँ अपनी दक्षिणी पड़ोसियों से अधिक स्वतंत्रता रखती हैं....पर्दा तो वह जानती ही नहीं। अल्मोड़ा के दूसरे भागों की स्त्रियों की स्थिति उनसे बहुत हीन है। हल जोतना छोड़ उन्हें ही खेती का सारा काम करना पड़ता है। सारे पहाड़ में जिस आदमी के पास अधिक खेत हैं, उसके पास एक से अधिक स्त्रियाँ भी होंगी।....पहाड़ी किसान के लिए दो पत्नी तो पहली आवश्यकता है। स्त्रियाँ यहाँ इसीलिए बर्तन भाँडे की तरह खरीदी जाती हैं। उनसे पैदा हुई संतान में लड़कियों को वह नफे में बेच देता है।"

ड उत्तराखण्ड की लोकगाथाओं में भी स्त्रियों के कष्टप्रद जीवन के प्रमाण मिलते हैं। डी.डी. शर्मा के अनुसार "उत्तराखण्ड की स्त्रियों की व्यथा गाथाओं की अनुगूँज खुदेड़ गीतों तथा अन्य कारुणिक गीतों में सुनी जा सकती है। उदाहरणार्थ कुमाउंनी का 'निरौली/निरायली जैंता' का लोकगीत, जिसमें 'खँयारी सास' 'घतियारी' ननद के द्वारा मूर्ख पति को ब्याही गई जैंता की यातनाओं का बखान करती हुई स्वयं गायिकाएं रो उठती हैं। ऐसी अनेक गाथाएं यहां के लोकगीतों तथा लोक गाथाओं में सुनने को मिलती हैं। ट्रेल (स्टैटिस्टिकल स्केच ऑफ कुमाऊँ(1828)) ने लिखा है कि "थोड़े से अकष्टकर कार्यों को छोड़कर कृषि के तथा घर के कार्यों का सारा भार उनके ऊपर होता है, फिर भी उन्हें केवल बचा खुचा भोजन दिया जाता है और वस्त्र देने में भी बड़ी विषमता बरती जाती है।.... सभी जातियों के लोग अपनी पत्नियों की गणना अपनी पशु सम्पत्ति में करते हैं और उनसे अपने पशुओं जैसा व्यवहार करते हैं।" पौ (रिपोर्ट ऑन द टैन्थ सैटिलमेंट ऑफ गढ़वाल डिस्ट्रिक्ट(1896)) ने लिखा है कि पुत्री को उत्तराधिकार में पुत्र के समान अधिकार प्राप्त नहीं था।"दिसंबर 1918 में अल्मोड़ा में एक महिला अपने पति की चिता के साथ सती हो गई थी।

19 वीं सदी के प्रारंभ से होने वाले सामाजिक और धार्मिक सुधार आन्दोलनों के फलस्वरूप महिलाओं की दशा सुधारने के लिए भी प्रयास किए गए। पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त युवकों और ईसाई मिशनरियों ने सबसे पहले महिलाओं की दुर्दशा पर ध्यान दिया। महिलाओं की शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया गया। विभिन्न प्रयासों से बीसवीं सदी के प्रारंभ तक महिलाएं कुछ हद तक रूढ़िवादिता को त्याग कर राष्ट्रीय आन्दोलन में भी सहभागिता करने लगीं। विभिन्न समाचार पत्रों ने भी इसमें महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

उत्तराखण्ड की महिलाओं की दिनचर्या जानने के लिए आपको देवेन मेवाड़ी की पुस्तक 'मेरी यादों का पहाड़' से कुछ उदाहरण देते हैं, जिससे आप समझ पाएंगे कि स्वतंत्रता के बाद अनेक बदलावों के होने

के बावजूद भी सामान्य ग्रामीण पर्वतीय महिला का दैनिक जीवन किस प्रकार कठिन था— “ईजा आती। बुरोंज खिलने के मौसम में मेरे लिए घास के गट्ठर के ऊपर रस्सी में खोंस कर बुरोंज के लाल लाल फूल लाती।....हम बच्चे सोचते रहते, ये ईजाएं इतनी देर से क्यों आती होंगी? इनकी कभी छुट्टी क्यों नहीं होती होगी? घर पर वे तभी होती थीं जब या तो खाना पकाना हो या तबियत खराब हो। ईजा और भौजी सुबह सुबह घास, लकड़ियां या पात पतेल लेने के लिए निकल जातीं। खाने के लिए देर रात दो रोटी बचा लेतीं या सुबह मुंह अंधेरे बना लेतीं। गुड़ हुआ तो गुड़, नहीं तो सिल पर नमक, मिर्च, लहसुन घिसकर रोटी में लपेटतीं और दराती, रस्सी लेकर ये जा, वो जा। घापात या लकड़ियां लेकर दिन दोपहर में आतीं। ईजा या भौजी हम सबके लिए खाना बनातीं। सबको खिलाकर, बर्तन घिस घिसाकर खेतों में काम करने के लिए निकल जातीं। फसल की गोड़ाई करके, बोरी में घोड़े के लिए दूब और कुर घा बटोर कर देर शाम घर आतीं। घोड़ा गोरू बाछों की तरह दूसरी घास नहीं खाता था। घर लौटकर चूल्हे में आग जलाती..... सुबह अंधेरे में उठने पर फिर वही रस्सी दराती लेकर दिन की दौड़ शुरू हो जाती थी।.....”

3.1 उद्देश्य

1. आप इस क्षेत्र के निवासियों के रीति रिवाजों व परंपराओं के अध्ययन से स्त्रियों की स्थिति का आकलन कर पाएंगे। साथ ही वर्तमान में उत्तराखण्ड की स्त्रियों की स्थिति कैसी है तथा उसमें कितना बदलाव आया है, शहरी क्षेत्र और ग्रामीण क्षेत्रों की महिलाओं की दशा और उसमें जो अन्तर है, उसे स्वयं मूल्यांकित करने में सक्षम होंगे।
2. आप कई उदाहरणों से यह भी समझने में सक्षम होंगे कि सशक्तीकरण के लिए जागरूक पुरुषों के सहयोग के साथ ही स्वयं महिलाओं द्वारा आगे आकर किए जाने वाले प्रयासों से भी उनकी स्थिति में सुधार हुआ और आज भी यह आवश्यक है।
3. इस अध्ययन का उद्देश्य आपको स्वतंत्रतापूर्व की महिलाओं की स्थिति के बारे में जानकारी देने के साथ ही वर्तमान में भी उनके प्रति संवेदनशील बनाना है।

3.2 सामाजिक स्थिति

पर्वतीय समाज में स्त्रियों की दशा विशेष अच्छी नहीं थी। ऊपर प्रस्तावना में आप महिलाओं के कठोर और श्रमसाध्य जीवन की एक झलक देख चुके हैं। इसके अलावा वे एक स्वतंत्र व्यक्तित्व के रूप में कहीं नहीं दिखाई देतीं। उत्तराखण्ड से संबन्धित अभिलेखों में जिन स्त्रियों के नाम अंकित मिलते हैं, वे भी शासक वर्ग से संबन्धित हैं। प्रायः इनका उल्लेख शासक की माता या दानदाता के रूप में हुआ है। जनसामान्य की स्त्रियों के बारे में इनसे कोई प्रकाश नहीं पड़ता। विवाहिता स्त्रियों के लिए दानपत्रों में तीन नाम आए हैं— जाया, पत्नी और रानी। दानदाताओं के रूप में भी उच्चवर्गीय स्त्रियों के नाम मिलते हैं। स्वतंत्र रूप से स्त्री का उल्लेख प्रायः कहीं नहीं है। ऐसा लगता है कि उच्च वर्गों और सामान्य वर्ग (कुमारुँ के संस्कार गीतों में किसी व्यक्ति की पहली पत्नी का उसके पति के नाम के साथ सुन्दरी और दूसरी पत्नी का मंजरी विशेषण लगाकर उल्लेख किया जाता था) में भी बहुपत्नी प्रथा थी। निम्न वर्ग के लोगों द्वारा उच्च वर्ग की स्त्रियों के लिए मुख्य रूप से बौराणी (बहू) तथा गुस्याणी (अविवाहित स्त्री) संबोधन प्रचलित थे। देवचेलियों के भी उल्लेख मिलते हैं। गणिकाओं को समाज में सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा जाता था। घरेलू दासियां छ्योड़ी कहलाती थीं।

3.2.1 खशों की सामाजिक परंपराएं तथा समय-समय पर यहाँ बसी मध्यदेशीय जातियों का प्रभाव

एटकिंसन का कथन है कि उत्तराखण्ड की जनता के बड़े भाग का संबन्ध उस जाति या वर्ग से है, जो खश या खसिया नाम से जाना जाता है। डी.डी. शर्मा के अनुसार " यहाँ के कृषक पशुचारक वर्गों की सामाजिक व्यवस्था में स्त्री-पुरुष जैसा कोई विभेद था ही नहीं। जीवन के सभी क्षेत्रों में दोनों को समान अधिकार प्राप्त थे। पुरुष यदि एकाधिक स्त्रियों से विवाह कर सकता था तो स्त्री को भी एकाधिक पुरुषों से एक साथ अथवा क्रमशः विवाह करने का अधिकार था तथा दोनों को ही उनके इन कार्यों के लिए सामाजिक मान्यता प्राप्त थी। छूट(तलाक) का अधिकार दोनों को समान रूप से प्राप्त था। इसी प्रकार यदि पति को स्वेच्छा से पत्नी का परित्याग करने का अधिकार था तो पत्नी को भी यह अधिकार प्राप्त था तथा इसके बाद वह भी पति के समान ही पुनर्विवाह कर सकती थी।" "पर्दा प्रथा नहीं थी। स्त्रियाँ सामाजिक उत्सवों में भाग लेती थीं तथा उनमें होने वाले नृत्य गीतों में पुरुषों के कन्धे से कन्धा मिलाकर अपना योगदान करती थीं।" "खशों के उत्तरकालीन इतिहास को देखने से प्रतीत होता है कि स्त्री भी अन्य मूल्यवान वस्तुओं के समान क्रय-विक्रय की वस्तु समझी जाने लगी थी तथा कन्याशुल्क चुका कर लाई गई पत्नी को परिवार में वही महत्व दिया जाता था जो अन्य मूल्यवान क्रीत वस्तु को। इसीलिए किसी बड़े भाई की मृत्यु के बाद उसके छोटे भाई का उसकी अन्य सम्पत्ति के साथ ही उसकी विधवा पत्नी पर भी वैधानिक अधिकार माना जाता था। यदि वह किसी अन्य को पति बनाना चाहती थी तो तो उसके उत्तराधिकारी देवर को उसके होने वाले पति से अपने भाई या पिता द्वारा चुकाए गए उसके वधूमूल्य के अतिरिक्त उसके विवाह पर किए गए पूरे खर्चे को वसूलने का अधिकार था। कभी-कभी तो उसके विक्रय से भी यह राशि वसूली जाती थी। एटकिंसन के अनुसार गोरखा शासन में विधवा विक्रय पर कर भी लगाया गया था। टिहरी रियासत की प्रशासनिक व्यवस्था में औताली की प्रथा थी, जिसमें पुत्रहीन व्यक्ति की विधवा पत्नी तथा अविवाहित कन्याओं को राज्य की सम्पत्ति समझा जाता था। उन्हें राजपरिवार में या तो दासियों के रूप में जीवन बिताना पड़ता था या राजा के आदेश से उनका 'टके का विवाह' करके प्राप्त राशि को राजकोष में जमा किया जाता था। (एल.डी.जोशी व हरिकृष्ण रतूड़ी)। यह अन्यायपूर्ण नियम सुदर्शनशाह के राज्यकाल तक बना रहा। 1860 में मौन्टेनियर ने इस प्रथा का उल्लेख किया था। भवानीशाह ने अपने राज्यकाल में इस प्रथा को बन्द कर दिया (डबराल)।

मध्ययुग में उत्तराखण्ड में मध्य भारत से प्रविष्ट हुई अनेक जातियों, विशेष रूप से कुमाऊँ में नये राजवंश के साथ-साथ आई मध्यदेशीय जातियों ने अपना वर्चस्व स्थापित कर लिया। इस समाज का मुख्य आधार वर्णाश्रम व्यवस्था थी। इनके रीति-रिवाजों एवं परंपराओं का प्रभाव उत्तराखण्ड के अन्य क्षेत्रों पर भी पड़ा। डबराल ने लिखा है कि "ब्रिटिश शासन की द्वितीय अर्धशताब्दी में गढ़वाली-कुमाउनी समाज में सनातन धर्मका प्रभाव बढ़ रहा था और यहाँ के निवासी शास्त्रीय हिन्दू धर्म की मान्यताओं का अधिकाधिक पालन करने लगे थे।" डी.डी. शर्मा लिखते हैं कि " हिन्दू धर्मशास्त्रों का बारीकी से विश्लेषण किए जाने पर देखा जा सकता है कि स्त्रियों के संदर्भ में खशों तथा स्मृतिशास्त्रों द्वारा विहित विधानों में कोई बड़ा अन्तर नहीं है। दोनों में ही स्त्री को पुरुष की दाययोग्य सम्पत्ति माना गया है तथा उसे उत्तराधिकार से वंचित भी किया गया है। एल. डी. जोशी ने खश और मिताक्षरी हिन्दू परंपराओं में महिलाओं के संबन्ध में कुछ अन्तर बताए हैं, जिनमें से प्रमुख हैं— मिताक्षरी हिन्दू परंपरा में उपपति नहीं रखा जाता और विधवा विवाह का चलन नहीं था। स्त्री के लिए धन देने व तलाक की परंपरा नहीं थी।

3.2.2 जनजातीय समाज

उत्तराखण्ड में प्रमुखतया पाँच जनजातियाँ निवास करती हैं— (1) भोटान्तिक(शौका), (2) वनराजि, (3) थारू (4) बुक्सा (5) जौनसारी

3.2.2.1 भोटान्तिक

उत्तराखण्ड के उत्तरवर्ती भाग के निवासी हैं। इनमें उत्तर में नीती माणा से लेकर जोहार दारमा, ब्यांस तथा चौदांस के भोटान्तिक प्रमुख हैं। इनके रीति-रिवाज आपस में काफी कुछ मिलते-जुलते हैं, परन्तु उत्तराखण्ड के मध्यवर्ती तथा दक्षिणी इलाकों से कुछ भिन्नता लिए हुए हैं। नीती, माणा के लोगों के वैवाहिक संबंध जोहार परगने के लोगों से होते हैं। विवाह के समय वर पक्ष बड़ी शिष्टता एवं विनम्रता से कन्या की मांग करता था। दहेज प्रथा नहीं थी। परिवार के लोग विदाई के समय कन्या को कुछ उपहार देते थे। विवाह में वर पक्ष से वधू के पिता के घर सगाई हेतु स्त्रियाँ जाती थीं और विवाह के दिन भी दूल्हे को लेकर दुल्हन के घर जाती थीं। कन्या विक्रय नहीं था और विधवा पुनर्विवाह मान्य था। इसके अलावा धागा काटने की प्रथा थी। स्त्री के अपने पिता या पतिगृह में व्यभिचार से गर्भवती होने पर संबंधित पुरुष से दण्ड या जुर्माना लेने की प्रथा थी। स्त्री पति के घर में रहती थी, किन्तु जब उपपति किसी की स्त्री को अपने घर में ले जाता था, तो उस स्त्री को उसका पति फिर अपने घर में नहीं लाता था। बदरीदत्त पाण्डे ने लिखा है पंचायत के रूप में विवाह का खर्च उपपति से लेकर धागा काटते हैं। धागा काटना अर्थात् रिश्ता टूटना समझा जाता है और स्त्री दूसरे की पत्नी मानी जाती है। जब तक धागा नहीं काटा जाता, स्त्री और उसका प्रेमी पूर्व पति के सामने नहीं आते, न उनसे उत्पन्न संतान जाति बिरादरी में ली जाती है। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ तक भोटान्तिक प्रदेश के निवासियों की गणना पृथक जातियों में की जाती थी। इन्हें मारछा, तोलछा तथा जोहारी इन वर्गों में बांटा जाता था। इन वर्गों में कई उपवर्ग थे। तोलछा पैनखण्डा की कुछ खसिया जातियों की लड़कियों से विवाह करते थे। पहाड़(पिथौरागढ़ चम्पावत अंक) में प्रकाशित डी. एन. मजूमदार के 1946 के एक लेख के अनुसार विवाह में आदिम गन्धर्व पद्धति थी। घुमन्तू जीवन के अनुरूप वधू अपहरण भी होता था। रडबड (ऐसे घर, जहाँ युवक युवतियाँ उन्मुक्त होकर मिलते थे और प्रेम होने पर बाद में विवाह हो जाता था) की परंपरा भी थी, पर अब हिन्दू परंपरागत ढंग से विवाह होने लगे हैं। रड बड प्रथा ब्यांस व चौदांस में चलन में नहीं है, जोहार के व्यवस्थित समाज में इसके कोई अंश नहीं हैं। राहुल ने लिखा है कि दारमा में समाज सुधारक मोती सिंह जी के प्रयास से बहुत कुछ बन्द हो गई है।

गंगोत्री गर्बाल अपनी पुस्तक यादें में लिखती हैं कि ब्यांस, चौदांस एवं दारमा के निवासी रड कहलाते हैं। स्त्रियाँ रडस्या कहलाती हैं। रडस्या घर बाहर का सब काम बड़े परिश्रम से करती है। अपने ग्रीष्मकालीन निवास में वे कृषि का कार्य करती थीं। वन से लेकर घर, गोठ, खेत, खलिहान तक उसको व्यस्त रखने के लिए अनेक कार्य हैं। इतनी व्यस्तता के बीच वह अपने पैतृक व्यवसाय ऊनी कारोबार को कदापि नहीं भूलती। उसकी पीठ पर भारी बोझ और हाथ में तकली रहती है। वह सरलता से चलते चलते ऊन कातती जाती है। महिलाएं अपने ही हाथ से बहुत महीन ऊन कातकर, बुनकर रंगाकार बेलबूटों से अलंकृत पारंपरिक परिधान च्युंगबाला पहनती थीं। आभूषण के रूप में सिर की पतेली बाली, नाक का स्वर्ण वीरा, कान का जलकछब(सोने का मुंदड़ा), कान के ऊपरी भाग पर चाँदी की छोटी-छोटी बालियाँ, गले में च्युंगच, चाँदी की मोहनमाला, कण्ठी, चम्पाकली, मूंगे की माला, चन्द्रहार एवं रुपयों की लम्बी माला बलडं, हाथ का नड, चाँदी का दागुला(खोंगलै) तथा हँसुली आदि पहनती थीं। राहुल ने लिखा है कि स्त्रियाँ घर में

अपने हाथ से बुने हुए लकीरदार और ऊनी कपड़े की लुंगी, कुरता और चोगा पहनती हैं। छोटी लड़कियां और युवतियां लहंगे और रंग बिरंगे कुरते पहनती हैं। ऊन की बुनाई मुख्यतः स्त्रियों का काम है, जिसमें पुरुष कभी कभी सहायता करते हैं। स्त्रियां अपने बुने कपड़े का जो चाहे कर सकती हैं। तिब्बत में वह व्यापार के लिए नहीं जातीं, किन्तु जौलजीवी जैसे मेलों में क्रय विक्रय में सीधे भाग लेती हैं।

एस.डी. पन्त के अनुसार भोटान्तिक लोगों, विशेषकर दारमा, ब्यांस और चौदांस के लोगों में स्त्रियों का महत्वपूर्ण स्थान है। गर्मियों में सभी कार्यक्षम पुरुष व्यापार के लिए तिब्बत चले जाते हैं और जाड़ों में नीचे बाजारों में। इस समय स्त्रियां अपने ही भरोसे महत्वपूर्ण कार्यों के संदर्भ में स्वयं निर्णय करती हैं। यह जिम्मेदारी उन्हें स्वावलम्बी तथा योग्य गृहस्वामिनी बना देती है।

3.2.2.2 वनराजि(राजी या वनरौत)

प्रयाग जोशी के अनुसार “ राजी पूर्वी कुमाऊँ तथा पश्चिमी नेपाल की एक अल्पसंख्यक आदिवासी जाति है। इसे वनरौत, वनराजी आदि नामों से भी पुकारा जाता है। वर्तमान में इसका मुख्य क्षेत्र उत्तराखण्ड के पूर्वी जनपद पिथौरागढ़ के अस्कोट मण्डल में केन्द्रित है(पहाड़, भाग 1, वनराजियों की खोज में)। परिवार में महिलाओं की उच्च व सम्मानजनक स्थिति थी, जो धीरे-धीरे पड़ोसी अ.जनजातीय समाजों के प्रभाव से कम हुई। मासिक धर्म एवं शिशु जन्म के अवसर पर अस्पृश्यता संबंधी निषेध लागू होने लगे(पहाड़ 16.17 में भगवान सिंह बिष्ट के लेख वनराजि-बदलता परिदृश्य पर आधारित)। बदरीदत्त पाण्डे लिखते हैं कि “राजी नगर और गांव के आदिमियों से अपनी स्त्रियों का परदा करते हैं। इनमें अंधविश्वास, झाड़-फूंक की परंपरा थी, जिसके कारण महिलाओं की स्थिति अस्वास्थ्यकर थी। किसी बाहरी व्यक्ति के संपर्क में नहीं आने की परंपरा थी।” वनराजियों का प्रमुख व्यवसाय काष्ठोपकरण निर्माण का है। पहले ये लोग आयुधजीवी थे। धीरे धीरे इन्होंने कृषि कार्य भी प्रारंभ किया और स्थायी जीवन की ओर उन्मुख हुए। प्रयाग जोशी के अनुसार राजी स्त्रियां बहुत परिश्रमी होती हैं। वे चारा इकट्ठा करना, खेतों में काम करना और दिन भर के काम के बदले दो नाली अनाज प्राप्त कर पाती हैं। उनके आभूषणों में कानों में मुनड़े, नाक में बुलांक, गिलट के आभूषण, चूड़ियां आदि प्रमुख हैं। उनके लेख में एक राजी पुरुष से साक्षात्कार के माध्यम से राजी स्त्रियों की दशा पर विस्तार से प्रकाश पड़ता है— “ जायदाद तो औरत की ही होती है। खाना पीना, जम जमाव तो स्त्री के द्वारा ही होता है। हम तो खोजखाने में निकले। कुछ मिला तो लेकर आए। नहीं मिला तो खाली हाथ लौटे। दोनों स्थितियों में झेलना उसी को पड़ता है। लड़की के लिए वर ढूंढना हो तो क्या करोगे.....जिसको लड़की की जरूरत होगी, वह अपने आप आएगा।.....लड़की के बदले धन लेने की परंपरा थी। प्रयाग जोशी आगे लिखते हैं कि वनराजियों में स्त्रियों की कमी है और जैसा कि जौनसार बावर, जौनपुर, फतेह पर्वत या कुमाऊँ के खशियों में लड़की की कीमत लेने का रिवाज है, कमोबेश वही रिवाज वनराजियों में पनप रहा है। अनेक आदिमजातियों की भांति वनराजियों में भी स्त्री कीमती और संग्रहणीय समझी जाती थी। बड़े भाई की मृत्यु होने पर स्त्री देवर के साथ रहती थी।

3.2.2.3 थारु

ऊधमसिंह नगर की किच्छा तहसील से लेकर शारदा नदी के किनारे तक पाए जाते हैं। बदरीदत्त पाण्डे के अनुसार इनकी स्त्रियां इनको अपने से कम समझती हैं। मर्द को चौके में नहीं जाने देतीं। बाहर परोस कर देती हैं। पति को कम खानदान का तथा अपने को राजवंश का कहती हैं। ये स्त्रियों के रजस्वला होने पर छूत नहीं मानते। स्त्री सब काम धंधा करती रहती है। केवल सिर के बाल खोल लेती है।

इनके विवाह की चार रस्में हैं— 1. अपना पराया— ये एक प्रकार से मंगनी है। इसमें वर पक्ष द्वारा एक गुड़ की भेली या मिठाई व कुछ मछलियां कन्या पक्ष के घर ले जाई जाती थीं। 2. बात कही— लड़के व लड़की के सयाने हो जाने पर विवाह से दस पन्द्रह दिन पहले लड़के का परिवार लड़की के घर जाकर विवाह की तिथि निश्चित करता था, जिसको पिछौंचा भी कहते थे। 3. विवाह—बारात जाती है। कोई देवी देवता भी नहीं पूजते। न ब्राह्मण को बुलाते हैं। एक टोकरी में पाँच कपड़े, मछली, दही तथा एक घड़ा पानी का रखा जाता है। घड़ा लड़की के घर में रखा जाता है, जिसकी सात भांवरें स्त्री पुरुष कर लेते हैं। विवाह के बाद एक दिन को लड़की के वर के जाकर लौट आती है। 4. चाला— दो तीन महीने बाद चैत व वैशाख में स्त्री पति के यहां जाती है। इसे चाला कहते हैं।

थारु स्त्रियों की पोशाक लहंगा, चोली, ओढ़नी व अंगरखी थी। चोटी से पैर के अंगूठे तकचांदी के आभूषण पहनने की परंपरा थी। गोदना गुदवाने का चलन था। पारंपरिक आभूषणों में चांदी की सिकड़ी में लगी बिन्दी, पैरों में बकड़ा, हाथ में खटुवा, चूड़ी, पहुंची, चौणी, नाक में नथुनी, कानों में मुदरी, गले में कथल(सिक्कों की माला), हँसुली, रंग बिरंगे गुरियों की माला आदि पहनने का रिवाज था।

पहाड़ (5.6) में धनसिंह जलाल के लेख के अनुसार “पितृ सत्तात्मक समाज होते हुए भी थारु स्त्रियों की बेहतर स्थिति से इनके मातृसत्तात्मक होने का भ्रम होता है। डी. एन. मजूमदार ने भी इनके मातृसत्तात्मक होने की संभावना व्यक्त की है। आज भी स्त्रियों को व्यावहारिक रूप से क्रय विक्रय के लिए बाजार जाना, स्वतंत्रतापूर्वक घर से बाहर काम करना, मेले उत्सवों में स्वतंत्रतापूर्वक घूमना आदि छूट हैं। हल चलाने के अतिरिक्त अन्य सभी कार्य पुरुष के कन्धे से कन्धा मिलाकर करती हैं। रसोईघर में पुरुषों के लिए प्रवेश वर्जित है। पुरुष बाहर एवं स्त्रियां रसोईघर में खाती हैं। स्त्रियों के कार्यों में पुरुष सहायता तो कर सकते हैं, पर किसी भी कार्य के लिए उन्हें टोक नहीं सकते। स्त्रियों को सम्पत्ति का अधिकार है। पालतू पशुओं, फसलों एवं फलों का स्वामित्व स्त्रियों का है। गहने उनकी व्यक्तिगत सम्पत्ति हैं, यद्यपि अचल सम्पत्ति (भूमि भवन) का स्वामित्व पुरुषों के हाथ में है, लेकिन पत्नियों की सहमति के बिना इसका हस्तांतरण असंभव है। वर्तमान में थारु समाज अपनी स्त्रियों की परंपरागत स्वतंत्रता को सीमित करने की ओर अग्रसर है।”

3.2.2.4 बुक्सा

बुक्सा पीलीभीत के तराई-भाबर क्षेत्र से लेकर गढ़वाल में चाँदपुर तक और कुछ देहरादून में पाए जाते हैं। थारु और बुक्सा दोनों ही स्वयं को राजपूतों का वंशज बताते हैं। बदरीदत्त पाण्डे लिखते हैं कि इनकी स्त्रियों में पर्दा प्रथा नहीं है। विवाह की परंपराएं थारुओं की तरह ही हैं। थारु विवाह में मण्डप नहीं बनाते, पर बुक्सा बनाते हैं। ये लोग विवाह एक गोत्र या रिश्तेदारी में नहीं करते। पहाड़ वालों से भी शादी नहीं करते। औरतें मकानों में हाथी, मोर, घोड़ा आदि की तस्वीरें बनाती हैं।

3.2.2.5 जौनसारी

देहरादून जिले के जौनसार बावर में निवास करने वाली जनजाति है। इनकी विवाह परंपरा मेंबारात कन्यापक्ष की ओर से कन्या को लेकर वर के घर जाती थी और वहीं पुरोहित द्वारा वर वधू का पल्लाजोड़ किया जाता था। बहुपति प्रथा प्रचलित थी, जिसके अन्तर्गत पल्लाजोड़ का अनुष्ठान केवल ज्येष्ठतम पति के साथ ही किया जाता था। अन्य भाई परम्परागत विधान से उसके पति मान लिए जाते थे।

डी.डी. शर्मा ने विस्तार से बहुपति प्रथा के कारण बताते हुए दो मुख्य कारण बताए हैं— 1. स्त्रियों की कमी 2. भू सम्पत्ति को अविभक्त रूप में अगली पीढ़ी को हस्तांतरित करने की कामना। शेरिंग के अनुसार “ इन पहाड़ों में जहां भी बहुपति प्रथा प्रचलित है, वहाँ परिवार छोटे हैं तथा महिलाओं की अपेक्षा पुरुषों की संख्या अधिक है।” यदि चार भाइयों की एक ही पत्नी हो या दो हों और सम्मिलित रूप से उनके चार पाँच बच्चे हों और सबसे छोटा भाई अपने लिए अलग पत्नी ले आया हो तो भी बच्चे सबसे बड़ी पत्नी के पास ही रहते थे। छोटी पत्नी भी पृथक् रूप से छोटे भाई के पास नहीं रह सकती थी, उसे बड़े भाई के पास रहना ही होता था। डी.डी. शर्मा के अनुसार “ इन जनजातियों में शिक्षा के प्रसार, बाहरी जगत से संपर्क, आजीविका के नये स्रोतों की उपलब्धि, विभिन्न रूपों में आ रही नई जागृति के कारण विवाह की यह परंपरा लगातार समाप्ति की ओर अग्रसर है।”

3.2.3 नायक जाति की महिलाएं

नायक जाति नैनीताल जिले में रामगढ़ तथा हल्द्वानी, अल्मोड़ा जिले में पट्टी गिवाड़, नया चौकोट, कटारमल, पिथौरागढ़ के कुछ ग्रामीण क्षेत्र तथा काली कुमाऊँ और गढ़वाल में पट्टी मल्ला व तल्ला कालीफाट, लंगूर और उदयपुर में निवास करती थी। इनमें कन्याओं से वेश्यावृत्ति कराने की प्रथा थी। एक जाति विशेष से संबन्धित होने के कारण इस कुप्रथा की समाप्ति के लिए प्रारंभ में स्थानीय लोगों ने कोई रुचि नहीं दिखाई, पर जब नायक कन्याएं वेश्यावृत्ति करने के लिए मेरठ, मुरादाबाद, बरेली, दिल्ली, लखनऊ, मुरादाबाद आदि मैदानी भागों में भी जाने लगीं, तब स्थानीय समाज का ध्यान इस ओर गया, क्योंकि मैदानों में यह किसी जाति विशेष की कन्या न होकर पहाड़ी कन्या कहलाती थी। नायक कन्याओं को इस कुप्रथा से मुक्ति दिलाने के लिए किए गए प्रयासों के बारे में आप इसी इकाई के खण्ड 3.5—राष्ट्रीय आन्दोलन और महिला जागृति के उपखण्ड 3.5.3—कन्या विक्रय और वेश्यावृत्ति के अन्तर्गत पढ़ेंगे।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न—

निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—

- (क) खशों की सामाजिक परंपराओं में स्त्री
- (ख) भोटांतिक समाज में स्त्रियों की स्थिति
- (ग) थारू जनजाति में स्त्रियों की स्थिति

2. नीचे लिखे प्रश्नों के उत्तर दीजिए

- (क) गंगोत्री गर्ब्याल ने भोटान्तिक महिला के किस पारंपरिक परिधान का उल्लेख किया है
- (ख) राजी जनजाति का निवास किस इलाके में है?
- (ग) जौनसारी जनजाति में बहुपति प्रथा का प्रचलन था। सत्य/असत्य
- (घ) वेश्यावृत्ति की प्रथा किस जाति में प्रचलित थी?

3.3 शैक्षिक स्थिति

केवल उच्च परिवारों के कुछ ही व्यक्ति अपनी बालिकाओं को विद्यालय में भेजते थे। 1901 की जनगणना में गढ़वाल में प्रति दस हजार व्यक्तियों(स्त्री पुरुष) पर शिक्षितों की संख्या केवल 639 थी। 1901 में वॉल्टन ने लिखा था कि जनसंख्या इतनी बढ़ चुकी है कि केवल कृषि से निर्वाह होना संभव नहीं है। गढ़वालियों में अपने बच्चों को शिक्षा देने की जो लगन दिखाई देती है, वह जनसंख्या वृद्धि से प्रेरित है। लेकिन स्त्री शिक्षा का प्रचलन अधिक नहीं था। धीरे-धीरे स्वयं शिक्षित तथा नौकरी कर रहे व्यक्तियों ने अपने पुत्र-पुत्रियों को शिक्षा देना आवश्यक समझा। उनकी देखा-देखी अन्य व्यक्ति भी ऐसा करने लगे। फलतः शिक्षा प्राप्त करने वाली बालिकाओं की संख्या में धीरे धीरे वृद्धि होने लगी। डबराल द्वारा 1896 से 1908-09 तक गढ़वाल के मिडिल स्कूलों में शिक्षा प्राप्त करने वाले छात्र-छात्राओं के आंकड़े दिए गए हैं, जिनसे पता चलता है कि इस अवधि में कुल विद्यार्थियों की संख्या 5,834 थी, जिनमें से 4,928 छात्र तथा 901 छात्राएं थीं। प्रारंभिक वर्षों की अपेक्षा बाद के वर्षों में छात्राओं की संख्या कम दिखाई देती है (1896-97 में 96 तो 1908-09 में 65), जबकि तुलनात्मक रूप से छात्रों की संख्या में लगातार वृद्धि हुई। आधारिक विद्यालयों में 1896-97 से 1901-02 तक किसी भी छात्र-छात्रा के आंकड़े नहीं हैं। 1902-03 से 1908-09 के बीच 32,848 छात्र तथा 638 छात्राएं थीं। बालिकाओं में शिक्षा के प्रचार की दृष्टि से ईसाई मिशनरियों ने 1896 के आस पास गडोली में एक आधारिक विद्यालय की स्थापना की, जिसमें बालक-बालिकाओं को एक साथ शिक्षा दी जाती थी। 1905 में पहली बार इस कन्या विद्यालय से बालिकाओं ने मिडिल की परीक्षा दी। डबराल ने लिखा है कि इसमें मुख्यतः ईसाई बालिकाएं आती थीं। अब तक गढ़वाली ब्राह्मणों और राजपूतों की बालिकाएं शिक्षा के क्षेत्र में बहुत पीछे थीं। जिला बोर्ड द्वारा 1935 से 1948 के बीच शिक्षा के लिए उल्लेखनीय कार्य किए गए। शिल्पकारों और सभी वर्गों की बालिकाओं के लिए अपने विद्यालयों की शिक्षा निःशुल्क कर दी। बालिकाओं के लिए श्रीनगर में एक पृथक बालिका, लघु माध्यमिक विद्यालय की स्थापना की।

नैनीताल में तीन कन्या पाठशालाएं थीं—1. मॉडल गर्ल्स स्कूल 2. मिशन जनाना स्कूल 3. भवानी कन्या पाठशाला। अंग्रेजी कन्या पाठशालाओं में डायोशेसन गर्ल्स स्कूल(1874), सेंट मेरी कान्वेंट रामनी पार्क(1878) तथा वेलेजली गर्ल्स स्कूल थे। बदरीदत्त पाण्डे ने लिखा है कि “इन स्कूलों में यूरोपियन और किरानी पढ़ते हैं। अब वे हिन्दुस्तानी लड़के भी पढ़ सकते हैं, जिनकी सिफारिशें चल गईं और जो अंग्रेजी फैशन में रहते हों।” अल्मोड़ा में वर्नाक्यूलर कन्या मिडिल स्कूल था, जहां पर कक्षा छः तक की पढ़ाई होती थी। इसके अलावा मिशन एडम्स गर्ल्स हाईस्कूल था। 1929 में गंगोत्री गर्ब्याल और उनकी बहिन इन्हीं स्कूलों से शिक्षा प्राप्त करके वर्नाक्यूलर कन्या मिडिल स्कूल की अध्यापिका बन गई थीं। वे लिखती हैं कि “उन दिनों अल्मोड़े में भी लड़कियों की पढ़ाई में ध्यान नहीं दिया जाता था। कम उम्र में ही कन्या दान कर देते थे। धारचूला में उनके ग्रामवासी भी उनके शिक्षित होने पर प्रसन्न नहीं थे। वे कहा करते थे कि लड़कियों को पढ़ाने से क्या लाभ है। ये पढ़कर क्या कर लेंगी। जॉर्ज पंचम की गद्दी पर थोड़ा बैठेंगी।.....”

31 मार्च 1928 को जिला नैनीताल में कुल छात्रों में 9,541 बालक व 1521 बालिकाएं तथा अल्मोड़ा में कुल 23,593 बालक तथा 1587 बालिकाएं थीं। इसी प्रकार 1924-25 तक हल्द्वानी में जिला परिषद द्वारा संचालित एक कन्या पाठशाला थी, जिसमें मार्च 1926 में अपर प्राइमरी में 2 और लोअर प्राइमरी में 41

बालिकाएं थीं। 1940-41 तक नगर में मुस्लिम कन्या पाठशाला की स्थापना हो चुकी थी। 1945-46 में नगर में लड़कियों के तीन स्कूल थे— एक मिडिल, एक अपर प्राइमरी और एक लोअर प्राइमरी। मिडिल स्कूल में 30, अपर प्राइमरी में 49 तथा लोअर प्राइमरी में 179 छात्राएं अध्ययनरत थीं। गर्ल्स मिडिल स्कूल में कुल 145 छात्राएं थीं, जिनमें कक्षा 'अ' में 29, 'ब' में 22, एक में 25, दो में 14, तीन में 14, चार में 19, पांच में 16 और छः में 6 छात्राएं थीं। तराई-भाबर में भी कन्या पाठशाला थी, पर शिक्षा की स्थिति बहुत अच्छी नहीं थी।

टिहरी रियासत में भी कीर्तिशाह के शासनकाल से नये ढंग के विद्यालयों की स्थापना शुरू हुई। राजा ने टिहरी में एक कन्या पाठशाला की भी स्थापना की। घनानन्द खण्डूड़ी ने उत्तरकाशी में कन्या पाठशाला स्थापित की। 1940 तक समस्त आधारीक व मिडिल विद्यालयों में छात्र-छात्राओं की संख्या 7107 थी। 1951 में 25 कन्या पाठशालाएं थीं।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न—

निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—

(क) स्वतंत्रता पूर्व उत्तराखण्ड में स्त्री शिक्षा के बारे में बताइए

2. नीचे लिखे प्रश्नों के उत्तर दीजिए

(क) नैनीताल के सेंट मेरी कान्वेंट की स्थापना कब हुई?

(ख) टिहरी रियासत में कीर्तिशाह ने कन्या पाठशाला की स्थापना की। सत्य/असत्य

3.4 जनसंख्या और स्वास्थ्य

1901 से 1951 के बीच गढ़वाल की आबादी में स्त्रियों की संख्या पुरुषों की अपेक्षा कम है। गढ़वाल की जनगणना आख्या में पौड़ी, लैंसडाउन और श्रीनगर तहसीलों की जनसंख्या के आंकड़ों से यह बात स्पष्ट होती है। पौड़ी में 1921 से 1951 के बीच 6,795 पुरुष और 4,044 स्त्रियां, लैंसडाउन में 1901 से 1951 तक 24,154 पुरुषों की तुलना में 6,129 स्त्रियां तथा श्रीनगर में 1901 से 1951 तक 6,697 पुरुषों की तुलना में 5,143 स्त्रियां थीं। 1841.42 में 71,534 पुरुष व 60,332 स्त्रियां थीं (एटकिंसन, वॉल्टन तथा डबराल,)। ट्रेल की रिपोर्ट के अनुसार 1821 में अल्मोड़ा में 1369 पुरुष व 1178 स्त्रियां थीं। 1852 में यह अनुपात 3,60,011 पुरुषों पर 1,69,808 स्त्रियां तथा 1863-64 में 3,94,922 पर 89,935 स्त्रियों का था। 1872 में भाबर सहित कुमाऊँ की कुल आबादी 4,32,576 थी, जिसमें 201,677 स्त्रियां थीं। देहरादून में 1881 में 20,683 पुरुष व 8,442 स्त्रियां तथा 1901 में 102,826 पुरुष व 75,826 स्त्रियां थीं। इन आंकड़ों से आप समझ गए होंगे कि पुरुषों की तुलना में स्त्रियों की संख्या कम दिखाई देती है। आज भी हमारे देश में यही स्थिति है।

स्त्रियों की मृत्यु दर अधिक थी। समुचित स्वास्थ्य सेवाओं का अभाव था। अशिक्षा व रूढ़िवादिता के कारण संकट बढ़ जाता था। पर्वतीय क्षेत्रों में भौगोलिक दुर्गमता तथा अन्य कारणों से कठिन जीवन स्तर के चलते खतरा बना रहता था। गर्भावस्था, अन्य महामारियां, आत्महत्या, वनों से घास, लकड़ी एकत्र करने के लिए भटकने के दौरान बाघ, भालू आदि हिंसक पशुओं के हमले, बरसात में उफनते हुए नदी नालों में बह

जाने, ईंधन तथा चारे की खोज में चट्टानों तथा वृक्षों से गिरकर घायल होने या मृत्यु होने की संभावना बनी रहती थी। पारिवारिक उत्पीड़न के भी संकेत मिलते हैं। ट्रेल की रिपोर्ट से पता चलता है कि नारियों द्वारा आत्महत्या के अनेक मामले हुए—“इस प्रदेश की नारियों को इतना कष्टकर जीवन बिताना पड़ता है तथा उनकी सुख सुविधाओं की इतनी अवहेलना की जाती है कि उनका अपने जीवन के प्रति निराश हो जाना स्वाभाविक है।” डबराल के अनुसार गढ़वाल में 1850 से 1863 तक पशुओं द्वारा 121 स्त्रियां मारी गईं। चट्टानों और वृक्षों से गिरने से 183 स्त्रियां मरीं। बेकेट ने निवासियों की मृत्यु को अकाल मृत्यु और सामान्य मृत्यु के अन्तर्गत विभाजित किया। 1850 से 1863 तक गढ़वाल में अकाल मृत्यु से मरने वालों में पुरुषों की अपेक्षा आत्महत्या करने वाली नारियों की संख्या कहीं अधिक दर्शाई गई है, जिसमें 47 पुरुष हैं तो 134 स्त्रियां। अर्थात् स्त्रियों की संख्या पुरुषों की तिगुनी थी। राहुल ने भी लिखा है कि उत्तराखण्ड की स्त्रियों का जीवन कठोर है, इसलिए इसमें आश्चर्य नहीं यदि आत्महत्या में 75 प्रतिशत स्त्रियों की संख्या है।

स्थानीय स्तर पर वैद्यों द्वारा चिकित्सा की जाती थी। 1903 के आस-पास पादरी जे.एम.मेस्मोर ने चोपड़ा में डिस्पेंसरी के लिए भवन बनाया, जिसमें 1912 से 1918 तक अमेरिका से आई डॉ. हॉफमैन ने चिकित्सा कार्य किया। निकटवर्ती ग्रामों की स्त्रियां निरन्तर चिकित्सालय पहुंचती रहती थीं। इसके अलावा ट्रेल ने सदावर्त से चिकित्सालयों का निर्माण भी प्रारंभ किया। 1869 में नैनीताल में एक मेडिकल स्कूल बना, जहाँ आठ युवकों तथा चार युवतियों ने चिकित्सा का प्रारंभिक प्रशिक्षण लिया। 1869 में नैनीताल में क्रौस्वेट अस्पताल(वर्तमान बी.डी.पाण्डे चिकित्सालय), 1871 में मैथोडिस्ट मिशन द्वारा एक डिस्पेंसरी तथा 1892 में रामजे अस्पताल(वर्तमान गो.ब.पंत चिकित्सालय) खोला गया। अल्मोड़ा में 1927 में जनाना अस्पताल खुला। टिहरी में भी कीर्तिशाह के राज्यकाल(1887-1913) में महिला अस्पताल व जच्चा बच्चा केन्द्र स्थापित किया गया।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न—

निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—

(क) स्वतंत्रता पूर्व उत्तराखण्ड में महिलाओं के स्वास्थ्य संबंधी संकटों के बारे में बताइए।

(ख) महिलाओं की आबादी तथा चिकित्सा की स्थितियों पर टिप्पणी लिखिए।

2. नीचे लिखे प्रश्नों के उत्तर दीजिए

(क) उत्तराखण्ड की आबादी में पुरुषों के अनुपात में स्त्रियों की संख्या अधिक थी। सत्य/असत्य

(ख) भौगोलिक दुर्गमता, सामाजिक रूढ़ियों तथा अशिक्षा के कारण उत्तराखण्ड की स्त्रियों का जीवन स्तर अत्यंत कठिन था। सत्य/असत्य

3.5 राष्ट्रीय आन्दोलन और महिला जागृति

उत्तराखण्ड में महिला जागृति के क्षेत्र में सर्वाधिक प्रभाव स्वतंत्रता आन्दोलन और राष्ट्रीय स्तर पर महिलाओं की प्रगति से पड़ा। 1905 के बंग-भंग आन्दोलन के बाद राष्ट्रीय स्तर पर महिलाएं आन्दोलन में शामिल होने लगीं थीं। ये महिलाएं शिक्षित, उच्च वर्गीय थीं और रूढ़ियों तथा कुप्रथाओं को त्याग, पर्दे से

बाहर निकल कर पुरुषों के साथ समान रूप से संघर्षों में सहभागिता कर रही थीं। इस सबका प्रभाव उत्तराखण्ड पर भी पड़ा। स्थानीय शिक्षित युवकों की समझ में भी यह आने लगा था कि महिलाओं का शिक्षित होना तथा कुप्रथाओं को त्याग कर घर से बाहर निकलना आवश्यक है। उन्होंने अपने घर की महिलाओं को सभाओं और आन्दोलनों में लाना प्रारंभ किया। जंगल सत्याग्रह से जो जागृति फैली, उससे महिलाओं की सक्रियता धीरे-धीरे बढ़ने लगी। परिवार के पुरुष सदस्यों के जेल चले जाने पर वे घर का सारा कारोबार संभालती थीं। इस दौरान सरकार उन्हें अनेक प्रकार से परेशान करती थी। बच्चों का सामान, महिलाओं के जेवर, बर्तन, बिस्तर आदि नीलाम कर दिए जाते थे। यहां तक कि जमीन भी नीलाम हो जाती थी। महिलाओं ने साहसपूर्वक इन परिस्थितियों का सामना किया। गीतों के माध्यम से वह पुरुषों को उत्साहित करती थीं।

“ अपना गुलामी से नाम कटा दो बलम, तुम स्वदेशी में नाम लिखा लो बलम।

“मैं भी स्वदेशी प्रचार करूंगी, मोहे परदे से अब तो हटा ले बलम।।

इन पंक्तियों से आप समझ गए होंगे कि महिलाएं स्वयं भी तमाम रूढ़ियों को तोड़कर घर की चहारदीवारी से बाहर निकल कर राष्ट्रीय आन्दोलन तथा स्थानीय संघर्षों में अपनी भूमिका के माध्यम से सशक्त होने का प्रयास कर रही थीं। बीसवीं सदी के तीसरे चौथे दशक से सामाजिक राजनैतिक आन्दोलनों में महिलाओं की हिस्सेदारी बढ़ी। शिक्षा, राजनीति, नौकरी आदि में बढ़ती संख्या के साथ ही प्रचार माध्यमों से उनकी समस्याएं भी सामने आईं। शक्ति आदिविभिन्न स्थानीय समाचार पत्रों में धीरे-धीरे पर्दा प्रथा, बाल विवाह जैसी कुरीतियों के विरुद्ध और स्त्री शिक्षा, विधवा विवाह आदि विषयों पर लेख एवं संपादकीय प्रकाशित किए गए।

3.5.1 पर्दा प्रथा

1920 में मुम्बई से अवन्तिका बाई अल्मोड़ा आईं। उन्होंने महिलाओं को संबोधित करते हुए कहा कि “बम्बई में महिलाओं के लिए पर्दा नहीं है। वहां की महिलाएं समाज सेवा में बराबर हिस्सेदारी कर रही हैं। अतः आप लोगों को भी उन्हीं का अनुसरण करना चाहिए।” शक्ति ने एक महिला लक्ष्मी का लेख ‘पर्दा प्रथा और स्त्रियां’ शीर्षक से प्रकाशित किया – “इस समय भारतवर्ष में ऐसा कोई भी घर न होगा, जहां कि पर्दे के विषय में प्रश्न न उठता हो। हर्ष की बात है कि बहुत से शिक्षित पुरुष पर्दे के विरुद्ध हो गए हैं, पर ऐसे मनुष्यों की संख्या पांच सैकड़े से अधिक नहीं है। कुमाऊँ में यह दूसरे प्रान्तों से कम है। पर खेद की बात है कि यहां पढ़े लिखे लोगों में अधिक पर्दा है। यहां देहात में बहुत कम परदा है, इसी कारण देहात की स्त्रियां शहर की स्त्रियों से कहीं अधिक आरोग्य होती हैं। पर फिर भी लज्जा की बात है कि कुमाऊँ में स्त्रियों का बहुत अनादर किया जाता है.....उन्हें चाहिए कि वे स्वयं उठने का प्रयत्न करें, क्योंकि जब तक हम स्वयं अपनी उन्नति का प्रयत्न नहीं करेंगी, हमारा उठना असंभव है.....”

3.5.2 विधवा विवाह

राष्ट्रीय जागृति से प्रेरित होकर स्थानीय समाज सुधारक विधवाओं के उत्थान के लिए प्रयास कर रहे थे। उन्हें अनाथालय में रखने का प्रबन्ध भी किया जा रहा था, पर वास्तविक सुधार विधवा पुनर्विवाह से ही संभव था। ज्योति साह ने शक्ति में प्रकाशित अम्बादत्त पंत के ‘विधवा विवाह’ नामक लेख का

उद्धरण दिया है(देखें, पृ. 186) तथा शक्ति में ही पुनर्विवाह(आवश्यकता है) शीर्षक से प्रकाशित विज्ञापन का भी उल्लेख किया है। यह विधवा पुनरुद्धार की दिशा में एक सराहनीय कदम था। इसके अलावा बाल विवाह को रोकने और विधवा विवाह को बढ़ावा देने के लिए शारदा एक्ट में संशोधन शीर्षक से लेख भी प्रकाशित हुआ, जिसमें कहा गया था कि " यदि विधुर पुरुषों को अविवाहित कन्याओं से विवाह करने पर रोक लगा दी जाय तो इससे समाज सुधारक विधवा विवाह के इच्छुक लोगों के लिए मार्ग प्रस्तुत हो जाएगा।

3.5.3 कन्या विक्रय तथा वेश्यावृत्ति/नायक सुधार

आपने इस इकाई के खण्ड 3.2—सामाजिक स्थिति के उपखण्ड 3.2.3—नायक जाति की महिलाएं के अन्तर्गत पढ़ा कि नायक जाति की कन्याओं में किस प्रकार वेश्यावृत्ति की प्रथा प्रचलित थी। इस यहां आप इस बात से परिचित होंगे कि राष्ट्रीय जागृति के दौर में इस कुप्रथा को दूर करने के लिए क्या प्रयास किए गए? इस कुप्रथा के विरुद्ध सर्वप्रथम आर्य समाज ने बीड़ा उठाया। कुमाऊँ परिषद ने इसे आगे बढ़ाया। 1919 में नैनीताल में नायक सुधार उपसभा की स्थापना हुई, जिसमें नायक जाति में वेश्यावृत्ति रोकने के लिए सुधार कार्य किए जाने का निर्णय लिया गया। समिति के प्रयास से नैनीताल में एक नायक कन्या का विधिपूर्वक विवाह भी किया गया। उस अवधि के स्थानीय समाचार पत्रों में महिलाओं को पहाड़ से भगाए जाने और अन्यत्र बेचने के भी उल्लेख मिलते हैं। गढ़वाली ने 1908 से ही कन्या विक्रय के विरुद्ध लिखना प्रारंभ कर दिया था(शेखर पाठक, उत्तराखंड में सामाजिक आन्दोलन की रूपरेखा, पहाड़-2)। इसके संपादक विश्वभरदत्त चन्दोला 1913 में पर्वतीय कन्याओं की हालत देखने मुम्बई गए और इस पर उन्होंने सचित्र लेख प्रकाशित किया(गढ़वाली, जुलाई 1913)। शक्ति, कुमाऊँ कुमुद, कर्मभूमि और कुमाऊँ राजपूत आदि स्थानीय पत्रों ने कन्या विक्रय पर पर्याप्त लेख तथा संपादकीय प्रकाशित किए। नायक जाति में व्याप्त वेश्यावृत्ति की प्रथा को दूर करने के लिए भी आवाज उठाई गई। 1923 में बेल(पाली पछाऊँ)की हीरा देवी ने, जो स्वयं एक वेश्या थी, मेरठ के एक वकील से विवाह किया और अपने गांव में नायकों की शिक्षा हेतु एक विद्यालय खोला। 1924 में गोविन्दबल्लभ पन्त आदि ने प्रान्तीय काउंसिल में इस कुप्रथा को रोकने के लिए प्रस्ताव पेश किया। इसी वर्ष कुमाऊँ कमिश्नर स्टाइफ की अध्यक्षता में एक कमेटी गठित की गई। फरवरी 1925 में नायक सुधार सभा के अधिवेशन में निर्णय लिया गया कि वेश्याओं को 13 वर्ष से कम उम्र की कन्याओं को अपने पास रखने की अनुमति दी जाय। कानून की अवहेलना करने पर उन पर भारतीय दण्ड संहिता की धारा 372-373 के अन्तर्गत मुकद्मा चलाया जाय। बदरीदत्त पाण्डे ने भी गांव-गांव जाकर इस कुप्रथा को त्यागने के लिए प्रेरित करने हेतु सभाएं कीं। हृदयनाथ कुंजरू, हरगोविन्द पंत, देवीसिंह, कृष्णानन्द शास्त्री आदि भी सक्रिय रहे। 1929 में प्रान्तीय काउंसिल में नायक सुधार कानून पारित हुआ, जिसके अनुसार 18 वर्ष से कम आयु की कन्याओं से वेश्यावृत्ति नहीं कराई जाएगी और प्रत्येक जिला मजिस्ट्रेट नायक कन्याओं का नामजद रजिस्टर रखेगा। नायक कन्याओं की शिक्षा तथा घरेलू उद्योग संबन्धी प्रशिक्षण हेतु केन्द्रों की स्थापना की जाएगी। अधिकांश नेता इससे अधिक व्यापक कानून बनाने के पक्ष में थे। गांधीजी ने भी 1929 में कुमाऊँ आगमन पर इस कुप्रथा की निंदा की। नायक जाति की मैदानी क्षेत्रों में गई हुई कन्याओं की दशा सुधारने का काम भी स्थानीय सुधारकों ने किया। 1930 में बदरीदत्त पाण्डे के नेतृत्व में मेरठ में हंसा देवी के घर में नायक वेश्याओं की सभा हुई। इसमें हीरादेवी, हंसादेवी आदि तथा कुछ पुरुषों ने भाग लिया और इस घृणित कार्य को छोड़ने का प्रण लिया। 1931 में सरकार ने दस नियम बनाए। 1944 में बदरीदत्त पाण्डे, हरगोविन्द पन्त, देवी सिंह कुवार्बी, लाखन सिंह नायक, गंगादत्त पाण्डे तथा राजेन्द्रनाथ मुट्ठू ने अबला रक्षक संघ की स्थापना की। इसी वर्ष एक डेपुटेशन बालिका संरक्षण

कानून को तुरंत लागू कराने के उद्देश्य से प्रान्तीय सरकार के सलाहकार पन्नालाल से मिलने गया था। इस दिशा में जो थोड़ा बहुत सुधार हुआ, वह पीड़ित महिलाओं के द्वारा अपनी मुक्ति के लिए स्वयं जागरूक होने के संबंध में हुआ। हीरादेवी के नेतृत्व में अनेक नायक वेश्याओं ने वेश्यावृत्ति त्याग कर स्वतंत्रता आन्दोलन में भाग लिया। सुधारकों के लगातार प्रयास के बावजूद इस कुप्रथा को पूरी तरह समाप्त नहीं किया जा सका। इसका कारण संभवतः आर्थिक था या फिर बहुत हद तक जमींदार व धनी वर्ग इसे समाप्त करने के विरुद्ध थे। आर्थिक कारणों का लाभ भी दलालों को मिलता था, न कि पीड़ित महिलाओं को। अपनी सामाजिक हीनता और दलालों के दबाव के फलस्वरूप इस प्रथा को त्याग देने वाली महिलाओं को भी पुनः इसे अपनाने पर विवश होना पड़ता था।

3.5.4 महिला शिक्षा

इस अवधि में महिलाओं को शिक्षित बनाने की ओर भी ध्यान दिया गया। उनके सर्वांगीण विकास हेतु सरला देवी द्वारा लिखित 'महिला संसार' शीर्षक लेखमाला को शक्ति समाचार पत्र ने अपने 1946 के अंकों में प्रकाशित किया। इसमें स्त्री शिक्षा, स्वच्छता, रोजगार, महिलाओं में राष्ट्रीयता के प्रसार और आत्मनिर्भरता से संबन्धित विषयों पर अति सरलता से लिखा गया। गांधीजी की शिष्या सरला देवी ने 1938 में चनौदा में गांधी आश्रम की स्थापना के बाद स्थानीय ग्रामीणों में राष्ट्रीय चेतना जगाने तथा रचनात्मक कार्यों— कुटीर उद्योग, शिक्षा आदि के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। 1946 में कस्तूरबा महिला मण्डल की स्थापना की, जिसका केन्द्रीय कार्यालय कौसानी में था। इसका उद्देश्य महिलाओं की उन्नति से ग्रामीण जीवन का पुनरुत्थान करना था। इसके अलावा लड़कियों के लिए एक बेसिक स्कूल और छात्रावास की भी योजना थी, जहाँ वे वर्धा शिक्षा योजना के अन्तर्गत बुनियादी कृषि और गृह उद्योग द्वारा शिक्षा प्राप्त करेंगी। आपने खण्ड 3.3 में शैक्षिक स्थिति के अन्तर्गत भोटानिक गाँवों में महिलाओं की शिक्षा के बारे में गंगोत्री गर्ब्याल के विचार पढ़े थे, पर आगे वह लिखती हैं कि "धीरे-धीरे गाँव में भी लोगों का झुकाव शिक्षा की ओर होने लगा था। अल्मोड़े में रन्दा दीदी के संरक्षण में छात्राओं की संख्या बढ़ती गई।... विभिन्न ग्रामों की विभिन्न वर्ग एवं जाति की बहिनों को एक साथ संगठित कर उन्होंने पर्वतीय स्त्री शिक्षा के क्षेत्र में एक क्रान्ति फैला दी।" उन्होंने छात्रावास में रहने वाली कुछ छात्राओं की सूची भी अपनी पुस्तक में दी है।

3.5.6 आन्दोलनों के द्वारा सशक्तीकरण

ग्रामीण क्षेत्रों में आर्थिक और सामाजिक शोषण के विरुद्ध संघर्षों में महिलाओं ने सक्रिय भूमिका निभाई। जंगलात सत्याग्रह के दौरान किए जा रहे आर्थिक शोषण का सर्वाधिक प्रभाव महिलाओं पर ही पड़ा था। वनों से ईंधन की लकड़ी, पशुओं के चारे से लेकर कृषि के औजारों और मकान के लिए लकड़ी आदि सभी आवश्यकताओं की पूर्ति वनों से ही होती थी। सरकार द्वारा वनों पर प्रतिबंध लगाए जाने के कारण महिलाओं में सरकार के प्रति काफी आक्रोश था। वे वनों में आग लगाने जैसे कार्यों में शामिल होने लगीं। दुर्गा देवी को थकलौड़ी वन में आग लगाने के आरोप में एक माह की सजा हुई। धीरे-धीरे महिलाओं की सक्रियता और उत्साह बढ़ रहा था। विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार और खादी के प्रचार जैसे रचनात्मक कार्यों के द्वारा राष्ट्रीय आन्दोलन में अपनी उपस्थिति दर्ज की।

असहयोग आन्दोलन के दौरान स्थानीय स्तर पर महिलाएं राष्ट्रीय आन्दोलन में पुरुषों के साथ प्रत्यक्ष हिस्सेदारी लेने लगीं। 1922 में भागीरथी देवी और राजेश्वरी देवी ने कहा—“ बहिनो! हम मैदान में

आकर अहिंसक असहयोग के युद्ध में मर्द बनकर खद्दर की वर्दी पहनकर इस अन्यायी सरकार से शान्ति की लड़ाई लड़ें और अपने-अपने घरों के चूल्हे, चौकियों का इन्तजाम अपने कायर खुद्दार मर्दों के सुपुर्द करें।” (शक्ति 14 फरवरी 1922)। 6 अक्टूबर 1923 में अल्मोड़ा के राष्ट्रीय भवन में लगभग 400 महिलाओं की उपस्थिति में बड़ी सभा हुई जिसमें मौलाना मोहम्मद अली की बेगम ने हिन्दू मुस्लिम एकता पर व्याख्यान दिया। असहयोग आन्दोलन की समाप्ति के बाद सरकारी दमन के कारण जेल गए आन्दोलनकारियों के घरों की देखभाल महिला कार्यकर्ता करने लगीं। महिलाएं साइमन कमीशन के विरुद्ध जुलूस में सम्मिलित हुईं तो गाँधीजी के कुमाऊँ आगमन पर अपने आभूषण भी अपने हाथों से खोलकर भेंट किए। नमक आन्दोलन के दौर में महिलाओं ने लकड़ी टाल में विदेशी वस्त्रों की होली जलाई। झण्डा सत्याग्रह में महिलाओं ने सक्रियता से भाग लिया। इसे आप विस्तार से इकाई 2 में उत्तराखण्ड और स्वतंत्रता आन्दोलन के अन्तर्गत पढ़ चुके हैं। 1931 में बागेश्वर में बसंती देवी और मालती देवी के प्रयासों से हुई सभा में लगभग 500 महिलाएं उपस्थित थीं। इसमें तय हुआ कि कूर्माचली महिलाओं की एक सभा खोली जाय तथा उनमें जागृति लाई जाय। 1932 में कुमाऊँ सुधार सम्मेलन में अनेक नेताओं, समाज सुधारकों तथा महिलाओं ने छुआछूत की समस्या पर प्रकाश डालते हुए प्रचलित वर्ण व्यवस्था पर भी कुठाराघात किया। और भी बहुत सारी घटनाएं हैं, जिन्हें विस्तार से यहां देना संभव नहीं है। इनसे आप संबंधित ग्रंथों और पत्र पत्रिकाओं के अध्ययन से परिचित होंगे।

सामाजिक दबावों के बावजूद भी महिलाएं स्वयं आगे बढ़ रही थीं। 1932 में विदेशी वस्त्रों की दूकानों पर धरने के बाद कुंती वर्मा, मंगला देवी, भागीरथी देवी, पद्मा देवी आदि आठ प्रमुख महिलाओं की गिरफ्तारी हुई। सविनय अवज्ञा आन्दोलन के बाद गाँधी जी के रचनात्मक कार्यों अछूतोद्धार, खादी प्रचार, नशाबन्दी जैसे कार्यक्रमों में महिलाओं ने भाग लिया। संघर्षरत महिलाओं ने पुरातनपंथी, रूढ़िवादी पुरुषों से अनुरोध किया कि वे अपने घरों की स्त्रियों को महिला संगठन में आने दें।

1940 में व्यक्तिगत सत्याग्रह आरंभ होने पर महिलाएं पुनः सक्रिय हुईं। कुंती वर्मा, शोभावती मित्तल आदि अनेक महिलाओं की गिरफ्तारी हुई, जिनकी एक लम्बी सूची आपको अध्ययन के दौरान मिलेगी (विस्तार से इन महिलाओं के नाम देखें—शेखर पाठक द्वारा संपादित पुस्तक ‘सरफरोशी की तमन्ना... उत्तराखण्ड में स्वाधीनता आन्दोलन का दृश्य इतिहास’)। अनेक नौकरीपेशा महिलाओं पद छोड़े। गंगोलीहाट की गोमती देवी ने अध्यापिका पद से त्यागपत्र दिया। भागीरथी देवी छः बार जेल गईं। भारत छोड़ो आन्दोलन में भी इन महिलाओं ने भी वही सक्रियता रही और गिरफ्तारियां हुईं। महिलाओं की सक्रियता का परिचय इस बात से भी होता है कि गर्भावस्था के जोखिम भरे दिनों में वे जेल जाने से भी नहीं हिचकीं तथा वहीं बच्चे को जन्म दिया। भागीरथी चौहान ने 6 जनवरी 1942 को बरेली जेल में पुत्र को जन्म दिया। कुंती वर्मा अपने दो बेटों के साथ जेल गईं। इस अवधि में गांधीजी की अंग्रेज शिष्या सरला बहन ने जोहार मुन्स्यारी जैसे सुदूर गांवों से लेकर सालम, लोहारखेत, सल्ट एवं चौखुटिया के गांवों में जाकर लोगों में चेतना का संचार किया।

इस प्रकार महिलाओं ने पुरातनपंथी एवं रूढ़िवादी ताकतों से लड़ते हुए आजादी के आन्दोलन तथा स्थानीय संघर्षों में जिस तरह खुलकर भाग लिया, उससे भविष्य में उनके उत्थान के लिए एक नई दिशा मिली।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न—

निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—

(क) कन्या विक्रय और वेश्यावृत्ति/नायक सुधार

(ख) महिलाओं की विभिन्न आन्दोलनों तथा संघर्षों में भागीदारी

2. नीचे लिखे प्रश्नों के उत्तर दीजिए

(क) कस्तूरबा महिला मण्डल की स्थापना किसने की?

(ख) जंगल सत्याग्रह के दौरान थकलौड़ी के वन में आग लगाने पर किस महिला को एक माह की सजा हुई?

3.6 सारांश

उत्तराखण्ड की महिलाएं इस अंचल की अर्थव्यवस्था की रीढ़ रही हैं। कृषि व पशुचारण आजीविका का मुख्य साधन था। संक्षेप में कहें तो उत्तराखण्ड की जनता प्राचीनकाल से ही वार्ताशस्त्रोपजीवी रही। भौगोलिक दुर्गमता के कारण आजीविका के समुचित साधनों के अभाव में पुरुष सेना में कार्य करते थे तो स्थानीय स्तर पर कृषि एवं पशुपालन का संपूर्ण उत्तरदायित्व महिलाओं पर था। उत्तरवर्ती सीमान्त क्षेत्रों में वर्ष का अधिकांश भाग हिमाच्छादित रहने से मात्र कृषि से भी जीवन यापन संभव नहीं था। अतः इन क्षेत्रों के पुरुष तिब्बत के साथ व्यापार में संलग्न रहते थे और महिलाएं कृषि के अलावा भेड़ बकरी पालने से लेकर उनके ऊन से विभिन्न उत्तम कोटि के हस्तशिल्प उत्पाद तैयार करती थीं। मध्य हिमालयी इलाकों में, जहाँ जलवायु अपेक्षाकृत अनुकूल थी, कृषि की स्थिति कुछ अच्छी थी, इन्हीं इलाकों में महिला की स्थिति भी सबसे प्रतिकूल दिखाई देती है। सामाजिक स्थिति के अन्तर्गत आपको जानकारी मिली कि वर्णाश्रम धर्म को मानने वाली जातियों एवं वर्गों की अपेक्षा जनजातीय समाजों में स्त्री अधिक स्वतंत्र थी। भौगोलिक एवं सांस्कृतिक विविधता से परिपूर्ण इस अंचल के निवासियों के भिन्न-भिन्न रीति-रिवाजों एवं परंपराओं से आप परिचित हुए, जो इस अंचल की स्त्रियों के जीवन को गहनता से प्रभावित करते रहे। अन्य समाजों की तरह ही स्त्री को एक स्वतंत्र व्यक्ति के रूप में यहाँ भी मान्यता नहीं मिली। पितृसत्तात्मक समाज में पुरुष के समकक्ष वह दोयम दर्जे में ही रही। यद्यपि स्वाधीनता आन्दोलन के दौर में राष्ट्रीय जागृति आई, जिसमें महिलाएं भी घर की चहारदीवारी से निकल कर आन्दोलनों में शामिल हुईं। शिक्षा प्राप्त करने के लिए आगे आईं। विभिन्न कुप्रथाओं पर भी रोक लगी। पर समग्र रूप में देखा जाय तो आज भी उत्तराखण्ड की ग्रामीण स्त्री उस मुकाम को प्राप्त नहीं कर पाई है, जिसकी वह हकदार है। आज भी थोड़े बहुत परिवर्तनों के साथ उसकी जीवनचर्या वही है, जो आपने इस इकाई की प्रस्तावना के अन्तर्गत देखी थी।

3.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

खण्ड 3.2 – 1.(क) देखें 3.2.1 (ख) देखें 3.2.2.1 (ग) देखें 3.2.2.3

2.(क) देखें 3.2.2.1 (ख) देखें 3.2.2.2 (सत्य)

(ग) देखें 3.2.2.5 (घ) देखें 3.2.3 (नायक)

खण्ड 3.3 – 1.(क) देखें 3.3 व 3.5.4

2.(क) देखें 3.3 (ख) देखें 3.2.2.2

(ग) देखें 3.2.2.5 (घ) देखें 3.3

खण्ड 3.4 – 1.(क) देखें 3.4 (ख) देखें 3.4

2.(क) देखें 3.4(असत्य) (ख) देखें 3.4(सत्य)

खण्ड 3.5 – 1.(क) देखें 3.5.3(ख) देखें 3.5.6

2.(क) देखें 3.5.4 (सरला बहन)(ख) देखें 3.5.6 (दुर्गा देवी)

3.8 सहायक संदर्भ ग्रंथ

1. ई.टी.एटकिंसन, गजेटियर ऑफ द नॉर्थ वेस्ट प्रोविंसेज, हिमालयन डिस्ट्रिक्ट, खण्ड 3, भाग 1 व 2, दिल्ली, 1973
2. एच.जी.वॉल्टन, गजेटियर ऑफ गढ़वाल, इलाहाबाद, 1921
3. एच.जी.वॉल्टन, देहरादून गजेटियर, इलाहाबाद, 1911
4. एच.जी.वॉल्टन, अल्मोड़ा गजेटियर, इलाहाबाद, 1928
5. एच.आर.नेविल, नैनीताल गजेटियर, इलाहाबाद, 1922
6. शिवप्रसाद डबराल, उत्तराखण्ड का इतिहास, भाग 8 (गढ़वाल में ब्रिटिश शासन), दोगड़डा, गढ़वाल, 1976
7. शिवप्रसाद डबराल, टिहरी गढ़वाल राज्य का इतिहास, भाग 1 व 2, दोगड़डा गढ़वाल, 1974
8. एस. डी.पन्त, सोशियल इकॉनॉमी ऑफ द हिमालयन्स, लन्दन, 1922
9. पन्नालाल, कस्टमरी लॉ ऑफ कुमाऊँ, इलाहाबाद, 1921
10. बदरीदत्त पाण्डे, कुमाऊँ का इतिहास, अल्मोड़ा, 1937
11. राहुल सांकृत्यायन, हिमालय परिचय, भाग 1, गढ़वाल, इलाहाबाद, 1953
12. राहुल सांकृत्यायन, कुमाऊँ, बनारस, 1959
13. डी.डी. शर्मा, हिमालय के खश— एक ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक विष्लेषण, पहाड़, 2006
14. ज्योति साह, शक्ति के तीन दशक, कुमाऊँ में राष्ट्रवादी पत्रकारिता का अध्ययन, पहाड़, 2009
15. शेखर पाठक (संपादन), सरफरोशी की तमन्ना उत्तराखण्ड में स्वाधीनता संग्राम का दृश्य इतिहास, नैनीताल, 2000
16. डी.पी.एस. मनराल, स्वतंत्रता संग्राम में कुमाऊँ गढ़वाल का योगदान, बरेली, 1973
17. पहाड़ (संपादक, शेखर पाठक), अंक 1, 2, 4, 5.6 व 16.17 में प्रकाशित विभिन्न आलेख
18. उत्तरा, वर्ष 8, जुलाई-दिसंबर 1988

3.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1. उत्तराखण्ड में स्वतंत्रता से पूर्व महिलाओं की स्थिति पर एक निबन्ध लिखिए।
2. सामाजिक स्तर पर उत्तराखण्ड की महिलाओं की क्या स्थिति थी?
3. राष्ट्रीय आन्दोलन के दौर में उत्तराखण्ड की महिलाओं की भूमिका की समीक्षा कीजिए।

- 4.0 प्रस्तावना
- 4.1 उद्देश्य
- 4.2 चिपको आन्दोलन(1974)
 - 4.2.1 गौरा देवी और चिपको आन्दोलन
 - 4.2.2 वनों की नीलामी के खिलाफ प्रतिरोध और नैनीताल क्लब काण्ड
 - 4.2.3 आन्दोलन के अधिक प्रभावित क्षेत्र तथा नेतृत्व
- 4.3 नशा नहीं रोजगार दो आन्दोलन (1984), पृष्ठभूमि
 - 4.3.1 आन्दोलन का नेतृत्व तथा उभार
- 4.4 उत्तराखण्ड राज्य आन्दोलन(1994) :पृष्ठभूमि
 - 4.4.1 आन्दोलन का स्वरूप
 - 4.4.2 समाचार पत्रों की भूमिका
 - 4.4.3 आन्दोलन में जन भागीदारी तथा दमन
 - 4.4.3.1 राज्य आन्दोलन और महिलाएं
- 4.5 टिहरी बांध आंदोलन
 - 4.5.1 बांध निर्माण का सांगठनिक विरोध
 - 4.5.2 बांध निर्माण और पुनर्वास के सवाल
- 4.6 आन्दोलनों का सांस्कृतिक पक्ष
- 5.0 सारांश
- 7.0 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर
- 8.0 सहायक संदर्भ ग्रंथ
- 9.0 निबन्धात्मक प्रश्न

4.0 प्रस्तावना

स्वतंत्रता के बाद उत्तराखण्ड में हुए लोकप्रिय आन्दोलनों के अध्ययन के लिए लिखित स्रोत जितने महत्वपूर्ण हैं, उतने ही महत्वपूर्ण मौखिक स्रोत भी हैं, क्योंकि इस अंचल से जुड़ी एक पीढ़ी अभी हमारे सामने इन आन्दोलनों के दृश्य ऐतिहासिक स्रोत के रूप में मौजूद है। इस पीढ़ी के एक हिस्से की जहां इन आन्दोलनों में प्रत्यक्ष भागीदारी रही, तो दूसरी ओर एक हिस्सा उस घटनाक्रम का साक्षी भी रहा। किसी भी क्षेत्र के निवासियों के जीवन स्तर में सुधार लिए जनपक्षीय विकास एक अनिवार्य आवश्यकता है, किन्तु यदि आप विभिन्न क्षेत्रों में होने वाले जनांदोलनों का अध्ययन करें तो जानेंगे कि संबन्धित क्षेत्र की जनता के आन्दोलित होने के कारणों में उन गतिविधियों व योजनाओं का योगदान रहा, जो उस इलाके की विशेष भौगोलिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक परिस्थितियों के अनुरूप नहीं थीं। यह स्थिति किसी क्षेत्र विशेष के संदर्भ में ही नहीं, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में भी देखी जा सकती है। इस इकाई में आप स्वतंत्रता के बाद उत्तराखण्ड में हुए कुछ प्रमुख व लोकप्रिय जनांदोलनों—चिपको आन्दोलन, नशा नहीं

रोजगार दो आन्दोलन, उत्तराखण्ड राज्य आन्दोलन तथा टिहरी बांध आन्दोलन के बारे में पढ़ेंगे। इनके अलावा भी इस अंचल की जनता ने समय.समय पर विभिन्न सवाल को लेकर संघर्ष किए। भूमि का प्रश्न भी उत्तराखण्ड महत्वपूर्ण रहा। कई स्थानों पर इसके लिए आन्दोलन चले, जिनमें प्रमुख रूप से ढिमरी ब्लॉक(तराई) का भूमि संघर्ष, बिन्दुखत्ता का भूमि संघर्ष, कोटखर्वा का भूमि आन्दोलन आदि भूमिहीनों के महत्वपूर्ण आन्दोलन थे। 1971 में अलग विश्वविद्यालय का आंदोलन आरंभ हुआ। 1973 में गढ़वाल और कुमाऊँ विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। इनके अतिरिक्त दलितों(कफल्टा काण्ड, 1980) महिलाओं की अस्मिता पर हुए हमलों (महतोष मोड़ काण्ड, 1989), अवैध खनन के खिलाफ विभिन्न स्थानों पर चले आन्दोलन, गैरसैण को राजधानी बनाने के लिए चला आन्दोलन, विभिन्न जल विद्युत परियोजनाओं के अन्तर्गत बांधों के निर्माण को लेकर वर्तमान तक चल रहे आन्दोलन आदि उल्लेखनीय हैं।

4.1 उद्देश्य

- पूर्व में समाज में लगातार घट रही घटनाओं से ही हमें अपने इतिहास को समझने में मदद मिलती है और वर्तमान को गढ़ने में ये ऐतिहासिक घटनाएं एक मार्गदर्शक की भूमिका लेती हैं। आजादी के बाद उत्तराखण्ड में चले आन्दोलनों के अध्ययन से आपको इस राज्य की राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक परिस्थितियों का आकलन करने में सहायता मिलेगी।
- यह जानने में भी मदद मिलेगी कि किस तरह से इस क्षेत्र की पारिस्थितिकी तथा स्थानीय निवासियों के साथ उसके पारस्परिक अन्तर्सम्बन्ध को समझे बिना संसाधनों का अवैज्ञानिक दोहन किया गया।
- अधिकतम राजस्व प्राप्त करने के लालच में इस क्षेत्र में शराब के व्यवसाय को जिस प्रकार बढ़ाया गया, उसके विरुद्ध स्थानीय लोगों ने ऐतिहासिक प्रतिरोध किया।
- इस प्रकार आप समझेंगे कि समय.समय पर होने वाले इन जनप्रतिरोधों की परिणति कालान्तर में व्यापक स्तर पर चले जनान्दोलन के रूप में हुई, जिसके परिणामस्वरूप पृथक उत्तराखण्ड राज्य का गठन हुआ।
- उत्तराखण्ड में चले विभिन्न आन्दोलनों में आप महिलाओं की विशेष भूमिका को भी रेखांकित करने में सक्षम होंगे।

4.2 चिपको (वन) आन्दोलन(1974)

स्वतंत्रता संग्राम में उत्तराखण्ड का योगदान (इकाई 2, खण्ड 2.4) के अन्तर्गत आपने औपनिवेशिक युग में वनान्दोलन एवं जंगलात सत्याग्रह के माध्यम से जनता द्वारा अपने वन संबंधी अधिकारों की बहाली के लिए किए जाने वाले आन्दोलनों के बारे में जानकारी प्राप्त की। यहां आप स्वतंत्रता के उपरान्त उत्तराखण्ड की जनता द्वारा अपने वनों को बचाने के लिए प्रारम्भ किए गए चिपको आन्दोलन के बारे में पढ़ेंगे। रामचंद्र गुहा एवं माधव गाडगिल के अनुसार “वास्तव में भारतीय पर्यावरण आन्दोलन का प्रारंभ मध्य हिमालय में वन.विवाद से उपजे चिपको आन्दोलन से माना जा सकता है। जंगल के पारंपरिक अधिकार पर जंगलात ठेकेदारों द्वारा किए जा रहे अतिक्रमण पर आपत्ति उठाने वाले चिपको आन्दोलन ने न केवल भारत की वन नीति को कटघरे में खड़ा किया, बड़े पैमाने पर पर्यावरण को राष्ट्रीय बहस के केन्द्र में भी ला दिया। अपने गांधीवादी उदार रवैये के कारण चिपको आन्दोलन को काफी प्रसिद्धि प्राप्त हुई है। लेकिन यह कहीं विस्तृत पैमाने पर वन.विवादों का प्रतिनिधित्व करता है।”

आपको विदित ही है कि हिमालय के पर्वतीय क्षेत्रों के निवासियों की अर्थव्यवस्था का मुख्य आधार वन रहे हैं। उन्होंने वनों को लगाने के साथ-साथ उनकी रक्षा की और पारिस्थितिकीय तंत्र को समझते हुए अपने आजीविका के साधनों का विकास किया। उत्तराखण्ड में सरकारी वनों से परंपरागत अधिकार छिन जाने के बाद 12 हजार से अधिक गांवों में वन पंचायतें गठित कर सरकारी वनों से इतर अपने स्वयं के वन लगाए गए, परंतु सरकार द्वारा विकास की अवधारणा के मूल में यहां की पारिस्थितिकी को न समझकर जिस तरह से वनों का अंधाधुंध दोहन किया गया, उसके अनेक दुष्परिणाम हुए। 1970 में अलकनंदा घाटी में आई प्रलयंकारी बाढ़ के परिणामस्वरूप पूरे इलाके में भयावह तबाही हुई। इससे हरिद्वार तक का 300 किमी. का इलाका प्रभावित हो गया। जान-माल की बहुत क्षति हुई। इस घटना से किसी भी तरह का सबक न लेते हुए चार साल बाद 1974 में रैणी के जंगलों के 2,451 पेड़ों की नीलामी देहरादून में तय की गई। इससे पहले जंगलों के कटान के खिलाफ गढ़वाल के मंडल, गोपेश्वर और रामपुर फाटा में जो प्रतिरोध आन्दोलन हुए उनकी गूंज चमोली जिले के दूरस्थ गांवों में भी फैलनी शुरू हुई, जिसको फैलाने का काम सामाजिक-राजनैतिक रूप से सक्रिय कार्यकर्ताओं और स्थानीय महाविद्यालयों में अध्ययनरत छात्रों द्वारा किया गया। अप्रैल 1973 में चमोली जिले में सर्वोदयी कार्यकर्ता चण्डी प्रसाद भट्ट तथा उनके द्वारा स्थापित दशौली ग्राम स्वराज्य मण्डल(1964) के नेतृत्व में इलाहाबाद की खेल का सामान बनाने वाली कम्पनी सायमण्ड्स को अंगू (1) के 14 वृक्ष गिराने से रोका गया तथा उसी वर्ष दिसंबर में फाटा रामपुर के जंगलों में ग्रामीणों ने कम्पनी को रोका। 1972 में गौरा देवी नामक महिला रैणी (चमोली जिला) में ग्राम प्रधान चुनी गई थीं, जिन्होंने आगे चलकर इस आन्दोलन के एक केन्द्रीय नेतृत्व की भूमिका भी निभाई। देहरादून में जंगलों की नीलामी के बाद 15 और 23 मार्च को जोशीमठ में और 24 मार्च को गोपेश्वर में आंदोलन हुए। बढ़ते प्रतिरोध को देखते हुए प्रशासन ने जनता को धोखे में रखकर रैणी के जंगलों के कटान की रणनीति बनाई और 26 मार्च काजो दिन जंगलों के कटान के लिए निश्चित किया गया था, वही दिन जिला मुख्यालय में मुआवजे के लिए भी निश्चित किया गया। यहां तक कि 1962 में बनी सड़क में कटे खेतों का मुआवजा भी इसी दिन दिया जाना तय किया गया। इस कारण जब जंगलों के कटान के लिए 26 मार्च को ठेकेदार के हिमाचली मजदूर रैणी के जंगल में पहुंचे, तो गांव में कोई पुरुष नहीं था। ऐसी स्थिति में जंगल को बचाने की एकमात्र चुनौती महिलाओं के सामने थी और गांव के प्रधान के रूप में गौरा देवी पर यह ऐतिहासिक जिम्मेदारी आ गई।

4.2.1 गौरा देवी और चिपको आन्दोलन

गौरा देवी अपने साथ गांव में मौजूद महिलाओं—श्रीमती घट्टी देवी, भादी देवी, गोमती देवी, हरकी देवी, डूका देवी, मूसी देवी, नौरती देवी, बाली देवी, उमा देवी, बाटी देवी, इन्द्री देवी, मालमती देवी, बिदुली देवी, रूपसी देवी, चिल्याड़ी देवी, गोमा देवी, फगुणी देवी, मंता देवी, फली देवी, चन्द्री देवी, जूठी देवी के अलावा लड़कियों कु. मैथुली, रमौती, बाली, कल्पति, पार्वती, झड़ी तथा रुद्रा को लेकर अपने जंगल को बचाने निकली। गौरादेवी के नेतृत्व में महिलाओं ने कटान के लिए रणनीति बना रहे ठेकेदार और मजदूरों का डटकर सामना किया। उन्होंने कहा, “यह जंगल



गौरा देवी(फोटो-पहाड़ संग्रह)

भाइयों हमारा मायका है. इससे हमें जड़ी.बूटी.फल.सब्जी.लकड़ी मिलती है। जंगल काटोगे तो बाढ़ आएगी। हमारी खेती नष्ट हो जाएगी....”। इसके बाद भी ठेकेदार और मजदूर नहीं माने और एक ने महिलाओं की ओर बंदूक तान दी। इस निर्णायक स्थिति में गौरा देवी ने मोर्चा लिया और बंदूक के सामने खड़ी होकर ललकारते हुए कहा, “मारो मुझे गोली और ले जाओ हमारा मायका” महिलाओं का यह रूप देखकर उन्हें पीछे हटने के लिए विवश होना पड़ा। इस प्रतिरोध के बाद आंदोलन आगे बढ़ता गया। 1977 में जन.दबाव के परिणामस्वरूप मुख्यमंत्री हेमवती नन्दन बहुगुणा की सरकार ने डॉ वीरेन्द्र कुमार की अध्यक्षता में नौ सदस्यीय रैणी जांच कमेटी गठित की, जिसमें गोविन्द सिंह नेगी(सी.पी.आई.से), चण्डी प्रसाद भट्ट तथा गोविन्द सिंह रावत(जोशीमठ ब्लॉक प्रमुख) भी थे। दो साल बाद आई इस रिपोर्ट के बाद रैणी क्षेत्र तथा अलकनन्दा के ऊपरी प्रवाह क्षेत्र में 12,000 वर्ग किमी. तक वनों के वाणिज्यिक दोहन पर प्रतिबंध लगा।

4.2.2 वनों की नीलामी के खिलाफ प्रतिरोध और नैनीताल क्लब काण्ड

ऊपर आप 1974 में गौरा देवी के नेतृत्व में हुए ऐतिहासिक घटनाक्रम से परिचित हुए। उसके बाद भी गढ़वाल तथा कुमाऊँ के कई स्थानों पर जंगलों की नीलामी के खिलाफ प्रतिरोध हुए। नैनीताल में 6 अक्टूबर 1977 को रिक हॉल में युवकों के प्रबल विरोध के कारण वनों की नीलामी को स्थगित करना पड़ा था। इसके बाद भी प्रदेश सरकार ने नीलामी के लिए 28, 29, 30 नवंबर की तिथियां निश्चित कर दीं। वनों की नीलामी रोकने और वनों को बचाने के संघर्ष में बड़ी संख्या में आन्दोलनकारी नीलामी स्थल (शैले हॉल) के बाहर एकत्र होकर अपना विरोध दर्ज कराने लगे। इन्हें तितर.बितर करने के लिए पुलिस ने बल प्रयोग किया और नेतृत्वकारी युवकों को गिरफ्तार करके जनता के बीच से जबरदस्ती घसीटते हुए पी.ए.सी. के ट्रक में डाला गया। इस दमन को देखते हुए प्रदर्शन में शामिल छात्र.युवा उत्तेजित होकर नीलामी को स्थगित करने की मांग करने लगे। पुलिस ने प्रदर्शनकारियों पर फायर ब्रिगेड से ठण्डा पानी डाला। प्रतिक्रिया में जनता ने फायर ब्रिगेड के पाइप काट डाले। इसी बीच नैनीताल क्लब के परिसर में स्थित नीलामी स्थल शैले हॉल से सटी एक इमारत से धुआं निकलता दिखाई दिया और कुछ ही देर में क्लब की अन्य इमारतों से भी धुआं दिखाई देने लगा। इस ओर गंभीरता से ध्यान न देते हुए नीलामी स्थल पर उपस्थित मजिस्ट्रेट के आदेश से आन्दोलनकारियों पर अश्रु गैस के गोले और हवाई फायर किए गए, जिसमें 26 राउंड गोलियां चलीं। जंगलात के अधिकारी और ठेकेदार नीलामी करवाते रहे। जब आग शैले हॉल के निकट आ गई और पुलिस ने हॉल के भीतर घुसकर लाठीचार्ज कर दिया, तभी नीलामी स्थगित की गई। इस समय तक नैनीताल क्षेत्र के संपूर्ण तथा पिथौरागढ़ क्षेत्र के बारह लॉटों की नीलामी हो चुकी थी। एक अनुमान के मुताबिक क्लब में लगी आग से करीब दो करोड़ की सम्पत्ति स्वाहा हुई। वनों को बचाने की इस लड़ाई में नैनीताल काण्ड को लेकर पूरे पर्वतीय क्षेत्र में गंभीर प्रतिक्रिया हुई। 29 नवंबर को अल्मोड़ा, रानीखेत, रामनगर, हल्द्वानी, पिथौरागढ़, गोपेश्वर, लोहाघाट, देहरादून आदि स्थानों में इस घटना पर तीखा विरोध दर्ज किया गया।

4.2.3 आन्दोलन के अधिक प्रभावित क्षेत्र तथा नेतृत्व

इस प्रकार आपके समझने के लिए यह आवश्यक है कि अपनी ही संपदा से वंचित लोगों ने अपना प्राकृतिक अधिकार पाने के लिए चिपको आन्दोलन शुरू किया था। इसके पीछे जंगलों की हिफाजत और

इस्तेमाल का सहज दर्शन था। इसमें स्थानीय समाज के सभी सक्रिय हिस्सों ने भागीदारी की। इस आन्दोलन के अन्तर्गत चमोली जिले में मण्डल, फाटा, गोपेश्वर, रैणी और बाद में डूंगरी, पैंतोली, भ्यूंडार, बछेर से नन्दीसैण तक, टिहरी की हँवल घाटी, अडवाणी सहित अनेक स्थानों और बडियारगाड़ आदि क्षेत्रों तथा अल्मोड़ा में जनोटी, पालड़ी, ध्याड़ी, चांचरीधार के प्रत्यक्ष प्रतिरोधों में ही नहीं, बल्कि नैनीताल तथा नरेन्द्रनगर में जंगलों की नीलामियों के विरोध में महिलाओं और युवाओं की असाधारण हिस्सेदारी रही। इसके साथ ही सर्वोदयी कार्यकर्ताओं तथा अनेक गैर राजनीतिक व राजनीतिक कार्यकर्ताओं की भी उल्लेखनीय भूमिका रही। चण्डी प्रसाद भट्ट के बारे में आप इसी खण्ड में पढ़ चुके हैं। उन्होंने चमोली जिले में लगातार जनता को इस सवाल पर जागृत किया। जोशीमठ क्षेत्र में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का महत्वपूर्ण योगदान रहा। इसी प्रकार कुमाऊँ में उत्तराखण्ड संघर्ष वाहिनी ने आन्दोलन को एक अलग रूप दिया। सर्वोदयी नेता सुंदरलाल बहुगुणा ने आन्दोलन को आगे बढ़ाने के लिए वनों और पर्यावरण के प्रति चेतना जगाने का कार्य किया और पदयात्राएँ कीं। कालान्तर में उन्होंने आन्दोलन की मांगों को लेकर सरकार और आन्दोलनकारियों के बीच में भूमिका भी निभाई। 1980 में प्रधानमंत्री इन्दिरा गांधी की सरकार द्वारा हरे पेड़ों के कटान पर 15 वर्ष के लिए प्रतिबंध लगाने की घोषणा की गई। अलकनन्दा घाटी में ही नहीं, बल्कि संपूर्ण मध्य हिमालय क्षेत्र में वनों के वाणिज्यिक दोहन पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया, जो आज भी जारी है। चिपको आन्दोलन का संपूर्ण विश्व में प्रचार प्रसार हुआ और चेतना जागृत हुई।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न—

1. निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—

(क) चिपको आन्दोलन में गौरा देवी की भूमिका

(ख) वनों की नीलामी के खिलाफ प्रतिरोध और नैनीताल क्लब काण्ड

2. नीचे लिखे प्रश्नों के उत्तर दीजिए

(क) गौरा देवी का संबंध किस गाँव से था?

(ख) चिपको आन्दोलन स्थानीय निवासियों द्वारा अपनी वन संपदा को बचाने के लिए किया गया। (सत्य/असत्य)

(ग) चण्डी प्रसाद भट्ट ने दशौली ग्राम स्वराज्य मण्डल की स्थापना की। (सत्य/असत्य)

4.3 नशा नहीं रोजगार दो आन्दोलन (1984)—पृष्ठभूमि

भारत में औपनिवेशिक शासन की स्थापना के साथ ही 1880 के बाद सरकारी शराब की दूकानें खुलीं और उत्तराखण्ड में नशे का सवाल भी प्रमुखता से सामने आने लगा। इसे एक आवश्यक बुराई मानकर इस क्षेत्र में शराब के खिलाफ बराबर प्रतिरोध भी होता रहा। जिला समाचार अल्मोड़ा ने 1 जून 1925 के संपादकीय में लिखा “हमें बड़े शोक के साथ लिखना पड़ता है कि कुमाऊँ प्रान्त में दिन पर दिन शराब का प्रचार बढ़ता जाता है। 90 प्रतिशत लोग इसके दास बन गए हैं, सरकार अपनी आमदनी नहीं छोड़ सकती है और दूकानदार अपनी रोजी नहीं छोड़ सकते, तो क्या लोग अपनी आदतें नहीं छोड़ सकते?” आजादी के बाद भी यह स्थिति जारी रही और उत्तराखण्डी नौजवानों के सामने फौज रोजगार के प्रमुख केन्द्र के रूप में

उभरने के कारण इस समस्या ने और विकराल रूप लिया, क्योंकि फौज में जवानों के भोजन के साथ ही शराब भी परोसी जाती थी और प्रत्येक जवान का कोटा भी निर्धारित था। इससे जवानों के अवकाश में आने पर शराब भी उनके साथ आने लगी। फरवरी 1984 में किए गए एक सर्वेक्षण के अनुसार चार लाख पुरुष जनसंख्या वाले अल्मोड़ा जिले में प्रतिमाह 30 हजार बोतल मिलट्री रम की खपत थी। साथ ही अंग्रेजी और देशी शराब की दुकानों से प्रतिमाह 50 लाख की शराब बेची जाती थी। 1965.67 में सर्वोदयी कार्यकर्ताओं ने अल्मोड़ा, पिथौरागढ़, टिहरी, पौड़ी सहित कई जगहों पर शराब के खिलाफ आन्दोलन भी चलाया। 1 अप्रैल 1969 को सरकार ने सीमान्त जनपद उत्तरकाशी, चमोली, पिथौरागढ़ में तथा 1970 को पौड़ी और उत्तरकाशी में शराबबंदी लागू कर दी, लेकिन शीघ्र ही 15 अप्रैल 1971 को इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने इस शराबबंदी को अवैध घोषित कर दिया और उत्तर प्रदेश सरकार ने नए लाइसेंस जारी कर दिए। 20 नवंबर 1971 को टिहरी में बड़ा प्रदर्शन हुआ, गिरफ्तारियां हुईं। 1972 में पांच जिलों में तथा 1978 में आठों जिलों में प्रतिबंध लगा, पर 1980 में नैनीताल, अल्मोड़ा और देहरादून में शराब पूरी तरह खोल दी गई तथा टिहरी, पिथौरागढ़, पौड़ी में परमिट के आधार पर अंग्रेजी शराब उपलब्ध कराए जाने के बावजूद गांव-गांव तक फैला सुरा व्यापार बन्द नहीं हुआ। उत्तराखंड की अर्थव्यवस्था की रीढ़ रहीं महिलाएं इससे सबसे अधिक प्रभावित हुईं, क्योंकि पुरुष वर्ग नशे की लत में आने के कारण परिवार/समाज की आर्थिकी में कोई योगदान नहीं दे रहा था। इस तरह महिलाओं पर आर्थिक रूप से और सभी कामों में कठोर मेहनत की दोहरी मार पड़ रही थी। इन स्थितियों में नशे के खिलाफ जगह-जगह महिलाओं, छात्रों, नौजवानों ने प्रतिरोध किया। उत्तरकाशी की महिलाओं ने उच्च न्यायालय में जहरीले पदार्थों के ऊपर याचिका दर्ज की।

4.3.1 आन्दोलन का नेतृत्व तथा उभार

उत्तराखंड संघर्ष वाहिनी ने इस महत्वपूर्ण सवाल को एकसूत्र में संगठित करने की पहल की और नशे के खिलाफ 'नशा नहीं, रोजगार दो' के नारे के साथ एक संगठित आन्दोलन सामने आया, जिसमें नशे की खिलाफत करते हुए उत्तराखंड (तत्कालीन उत्तर प्रदेश) के नौजवानों के लिए रोजगार दिए जाने के सवाल को उठाया गया था। साथ ही उत्तराखंड में शराब के तंत्र को विकसित करने में राज्य की भूमिका को भी चिन्हित किया गया था। जनवरी 1984 में 'जागर' की सांस्कृतिक टोली ने भवाली से लेकर श्रीनगर तक पदयात्रा की और जनता को सुरा-शराब का षडयंत्र समझाया। 1 फरवरी 1984 को चौखुटिया में जनता ने आबकारी निरीक्षक को अपनी जीप में शराब ले जाते पकड़ा और यहीं से संगठित आंदोलन की शुरुआत हुई। 2 फरवरी को ग्राम सभा बसभीड़ा में उत्तराखण्ड संघर्ष वाहिनी ने एक जनसभा में आन्दोलन की प्रत्यक्ष घोषणा कर दी। फरवरी के अन्त में चौखुटिया में हुए प्रदर्शनों में 5 से 20 हजार जनता ने हिस्सेदारी की। इसके बाद मासी, भिकियासैण, स्याल्दे, द्वाराहाट, गगास, सोमेश्वर, ताड़ीखेत, कफड़ा, गरुड़, बैजनाथ होते-होते यह आन्दोलन अल्मोड़ा जिले की सीमा भी पार कर गया। जनता ने जगह-जगह शराब के अड्डों पर छापा मारा, गाड़ियां रोक कर करोड़ों रुपये की शराब पकड़वाई। इस आन्दोलन में महिलाओं को जनता के बड़े हिस्से का समर्थन मिला। 20 मार्च 1984 को अल्मोड़ा में जनता का ढोल नगाड़ों के साथ विशाल प्रदर्शन हुआ। नीलामी का विरोध करने पर 15 लोगों को गिरफ्तार किया गया। जनता के प्रबल विरोध को देखते हुए सरकार ने गुपचुप तरीकों से टैंडरों के द्वारा नीलामी करवाई। शराब के ठेके शुरू होने पर भट्टियों के आगे धरने हुए। 5 अप्रैल को अल्मोड़ा में धरना दे रही महिलाओं पर असामाजिक तत्वों द्वारा हमला किया गया। इसके बाद लगातार विभिन्न क्षेत्रों में स्थानीय स्तर पर शराब के विरुद्ध प्रतिरोध होते रहे। नैनीताल में आन्दोलन को छात्र-छात्राओं, ट्रेड यूनियनों और अध्यापकों का भी समर्थन प्राप्त था। आन्दोलनकारियों ने यहां क्रमिक और आमरण अनशन करने का निर्णय लिया। अनशन के नौवें दिन तीन

पुरुष व दो महिला आन्दोलनकारियों को गिरफ्तार कर लिया गया। पर्वतीय विकास मंत्री के आश्वासन पर अनशनकारी लखनऊ भी गए, लेकिन कोई ठोस आश्वासन नहीं मिल पाया। इसी बीच शराब लॉबी ने अप्रत्यक्ष रूप से आन्दोलन का विरोध भी शुरू करवा दिया। जून 1984 को मूसलाधार वर्षा के बीच संघर्ष वाहिनी के आह्वान पर एक ऐतिहासिक प्रदर्शन नैनीताल में हुआ, जिसमें पहाड़ के कोने-कोने से आए हजारों लोगों की भागीदारी रही।

संघर्ष वाहिनी इसे केवल शराब के खिलाफ लड़ाई बनाकर नहीं रखना चाहती थी। 'शराब नहीं रोजगार दो' 'कमाने वाला खाएगा लूटने वाला जाएगा' ' फौज. पुलिस. संसद.सरकार, इनका पेशा अत्याचार' जैसे नारे यही बताते हैं। यद्यपि यह आन्दोलन आबकारी नीति को बदलने या परिवर्तन ला सकने में सफल नहीं हुआ, पर इसने शराब के दुष्प्रभाव के विरुद्ध संगठित विरोध की चेतना विकसित करने तथा आबकारी नीति को लेकर राज्य की स्वच्छंद प्रवृत्ति पर अंकुश लगाने में महत्वपूर्ण सफलता हासिल की। आन्दोलन ने क्षेत्र में महिलाओं की सशक्त नेतृत्वकारी भूमिका को भी स्थापित किया। राज्य आन्दोलन के विभिन्न मुद्दों में भी शराब का विरोध एक प्रमुख मुद्दा रहा। इस पर आप खण्ड 4.4 में उत्तराखण्ड राज्य आन्दोलन के अन्तर्गत पढ़ेंगे।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न—

1. निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—

(क) 'नशा नहीं रोजगार दो आन्दोलन के कारण'

(ख) 'नशा नहीं रोजगार दो आन्दोलन में जनता की भूमिका'

2. नीचे लिखे प्रश्नों के उत्तर दीजिए

(क) नशा नहीं रोजगार दो आन्दोलन कब हुआ?

(ख) उत्तराखण्ड संघर्ष वाहिनी ने इस आन्दोलन को संगठित रूप प्रदान किया। (सत्य/असत्य)

4.4 उत्तराखण्ड राज्य आन्दोलन(1994) : पृष्ठभूमि

1815 में औपनिवेशिक शासन की स्थापना के साथ ही उत्तराखण्ड में गोरखा शासन का अंत हुआ और संपूर्ण क्षेत्र को दो भागों में विभाजित किया गया—ब्रिटिश कुमाऊँ, गढ़वाल और दूसरा टिहरी रियासत। एक दौर के बाद राष्ट्रीय आंदोलन की गतिविधियाँ भी इस क्षेत्र में शुरू हुईं। 1912 में कुमाऊँ परिषद की स्थापना हुई और इस क्षेत्र में चले विभिन्न ऐतिहासिक आंदोलनों जैसे कुली बेगार आंदोलन, वनांदोलन आदि को परिषद ने ही नेतृत्व दिया। 1927 में पहली बार इस क्षेत्र के एक प्रतिनिधि मंडल ने संयुक्त प्रांत के गवर्नर को एक ज्ञापन सौंपा, जिसके माध्यम से इस क्षेत्र को स्वशासित करने के लिए गवर्नर द्वारा सरकार से एक समिति के गठन की अनुशंसा करने तथा एक अलग संविधान पर भी विचार करने की मांग की गई। 1936 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के श्रीनगर अधिवेशन में जवाहर लाल नेहरू ने भी कहा "पर्वतीय क्षेत्र के निवासियों को विशेष परिस्थितियों के अनुरूप स्वयं निर्णय लेने और अपनी संस्कृति समृद्ध करने का अधिकार मिलना चाहिए।" देश की आजादी और संविधान निर्माण के समय भी यह सवाल सामने आया। हरगोविंद पंत ने संविधान सभा में पृथक राज्य की आवश्यकता पर एक प्रस्ताव रखा। 1952 में भारतीय

कम्युनिस्ट पार्टी के तत्कालीन महासचिव कॉ. पी०सी० जोशी ने भी इस क्षेत्र के विकास के लिए एक अलग कुमाऊँ प्रांत की अवधारणा प्रस्तुत की। टिहरी रियासत के भारत में विलय के बाद राजा मानवेंद्र शाह ने भी 1956 में पृथक पर्वतीय राज्य की मांग उठाई और राज्य के लिए उत्तरांचल शब्द का प्रयोग किया। 1968 में नारायण दत्त सुंदरियाल, मानवेन्द्र शाह, गोविंद सिंह मेहता, दया किशन पाण्डे आदि ने पृथक राज्य आंदोलन को आगे बढ़ाने के लिए रामनगर में बैठक की, जिसमें हिल काउंसिल गठित करने की मांग की गई और आंदोलन की कार्ययोजना तैयार की गई। इसके बाद दिल्ली के बोट क्लब पर पृथक पर्वतीय राज्य के लिए प्रदर्शन किया गया। 1969 में उत्तर प्रदेश में कांग्रेस के मुख्यमंत्री चंद्रभानु गुप्त ने पर्वतीय विकास परिषद बनाने और पर्वतीय विश्वविद्यालय खोलने की घोषणा की। इस बीच कांग्रेस, सोशलिस्ट पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी और विभिन्न बुद्धिजीवियों, जिनमें अध्यापक, वकील, डॉक्टर और पूर्व सैनिक शामिल थे, ने कुमाऊँ मोर्चा नामक संगठन बनाया, जिसने उत्तर प्रदेश के अंदर रहते हुए अपने लिए अधिकतम स्वायत्तता हासिल करने को अपना लक्ष्य तय किया। इसे जनता का अच्छा समर्थन मिला और पृथक राज्य आंदोलन के विचार ने जनता के बीच ठोस रूप ग्रहण करना शुरू किया। 23.24 अक्टूबर 1971 को कम्युनिस्ट पार्टी से जुड़े गढ़वाल मंडल के कम्युनिस्टों और पृथक राज्य के समर्थकों की देहरादून में बैठक हुई, जिसमें पृथक राज्य के पक्ष में प्रस्ताव पारित किया गया और संघर्ष की रूपरेखा तय की गई।

24 जुलाई 1979 को डी.डी. पंत के नेतृत्व में अलग राज्य स्थापना के लिए उत्तराखंड क्रांति दल का गठन हुआ, जिसका घोषित उद्देश्य हरिद्वार सहित आठ (जो अब बढ़कर 13 हो चुके हैं) पर्वतीय जिलों को मिलाकर पृथक राज्य का गठन करना था। उत्तराखंड क्रांति दल ने 1980 के लोकसभा और विधानसभा चुनावों में भागीदारी की। इन चुनावों में रानीखेत विधान सभा से जसवंत सिंह बिष्ट को जीत हासिल हुई। इसके बाद इस पार्टी ने 1984.85 के लोकसभा और विधान सभा चुनावों में भी भागीदारी की जिसमें विधानसभा चुनावों में डीडीहाट से काशी सिंह ऐरी ने जीत हासिल की। इस बीच क्रांति दल विधानसभा और जनता के बीच में इस सवाल को उभारने में सफल रहा। 1987 से 1989 के बीच उत्तराखंड राज्य आन्दोलन की गतिविधियां काफी प्रभावी रहीं। हिमालयन कार रैली का विरोध, 36 घंटे का सफल उत्तराखंड बंद से लेकर स्थानीय स्तर पर समस्याओं को लेकर विभिन्न आंदोलनों से उत्तराखंड क्रांति दल ने अपने आप को और राज्य आंदोलन के सवाल को राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर स्थापित किया। 1989 में संपन्न लोकसभा चुनावों में उक्रांद को सीट तो हासिल नहीं हुई लेकिन अल्मोड़ा, पिथौरागढ़ और टिहरी लोकसभा सीट पर उसने कांग्रेस को कड़ी टक्कर दी। इसके बाद राष्ट्रीय परिदृश्य में राम मंदिर के सवाल पर भाजपा के उभरने से राज्य आंदोलन के सवाल पर भी जनमानस का समर्थन भाजपा की ओर चला गया। 1991 के चुनावों में भाजपा को लोकसभा की चारों और विधानसभा की 19 में से 15 सीटों पर समर्थन हासिल हुआ। चुनावी पराजय के बाद उक्रांद ने फिर आन्दोलन की ओर ध्यान केन्द्रित करते हुए 15 जनवरी 1992 को बागेश्वर में उत्तराखण्ड राज्य पर महत्वपूर्ण दस्तावेज पेश किया और चन्द्रनगर (गैरसैण) को इसकी राजधानी घोषित किया। 1993 के चुनाव में भाजपा की हार के बाद प्रदेश में मुलायम सिंह के नेतृत्व में समाजवादी पार्टी की सरकार बनी और 1994 का उत्तरार्द्ध राज्य आन्दोलन में प्रबल जनांदोलन तथा कठोर सरकारी दमनका काल रहा।

राज्य आंदोलन के मूल में विषम भौगोलिक स्थितियों वाले इस क्षेत्र में अनियोजित विकास था। संपूर्ण पर्वतीय भूभाग में रोजगार के अवसरों का अभाव तो था ही, शिक्षा, चिकित्सा, सड़क जैसी अन्य नागरिक सुविधाओं का भी दुर्गम पहाड़ी इलाकों में अभाव था। राज्य में (उत्तर प्रदेश) पारित बजट का बड़ा हिस्सा पहाड़ी क्षेत्र के गिने-चुने शहरों में ही खर्च हो रहा था। पर्वतीय क्षेत्र की जनता में धीरे-धीरे यह बात

घर करने लगी कि बिना एक पृथक राज्य के यहां की भौगोलिक, सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक परिस्थितियों के अनुरूप नीतियां नहीं बनाई जा सकती। परिणामस्वरूप सरकार द्वारा मण्डल आयोग की सिफारिशों पर लागू की गई 27 प्रतिशत आरक्षण नीति के खिलाफ 1994 में छात्रों का आरक्षण विरोधी आंदोलन सामने आया। धीरे-धीरे इस आंदोलन में राज्य समर्थक ताकतों की भागीदारी से इसे एक अलग राज्य की मांग की ओर दिशाबद्ध किया गया। उत्तराखंड में छात्रों-नौजवानों द्वारा आरक्षण के विरोध के केन्द्र में पहले से ही सीमित रोजगार के अवसरों का आरक्षण लागू होने के बाद और संकुचित हो जाना था। इस तात्कालिक कारण से ही इस आंदोलन ने राज्य आंदोलन की दिशा ले ली और लंबे समय तक सुसुप्तावस्था में चल रहा पृथक राज्य आंदोलन पूरे उत्तराखंड की जनभागीदारी से एक विराट आंदोलन में बदल गया। दीर्घकालीन आन्दोलन के बाद 9 नवंबर 2000 को उत्तराखण्ड राज्य का गठन हुआ।

4.4.1 आन्दोलन का स्वरूप

इतिहासकार प्रो. शेखर पाठक ने आन्दोलन के दौर में 1994 में लिखा कि “छपी और प्रसारित खबरों से देश-दुनिया को यह लग रहा है कि मामला सिर्फ स्कूल कॉलेजों में प्रवेश अथवा सेनाओं हेतु लागू नव आरक्षण के खिलाफ या इससे आगे उत्तराखण्ड राज्य स्थापना से ही जुड़ा है। दरअसल यह तो आन्दोलन की सतह है। यह आन्दोलन आजादी के बाद देश के दूरस्थ, पर्वतीय, वन्य, जनजातीय और आदिवासी इलाकों, वहां के मनुष्य और प्राकृतिक संसाधनों के खिलाफ भारतीय राज्य व्यवस्था द्वारा किए गए निर्मम शोषक व्यवहार का नतीजा है” (उत्तरा, अंक 1, 1994)। प्रख्यात कवि मंगलेश डबराल के अनुसार “यह मानना एक बड़ी भूल है कि पृथक पर्वतीय राज्य की मांग का विस्फोट अचानक ही हुआ या आरक्षण के मुद्दे को कुछ लोगों ने मौका देखकर उत्तराखण्ड के भावनात्मक मुद्दे में बदल दिया। दरअसल पहाड़ में पिछले कई वर्षों से पृथक पर्वतीय राज्य के लिए छिटपुट आन्दोलन चलते रहे हैं और यह लोगों की सामूहिक चेतना का हिस्सा बन चुका है। इसकी वजहें पहाड़ की ठोस भौतिक, सामाजिक और आर्थिक वास्तविकता में हैं।... अलग उत्तराखण्ड की मांग को पृथकतावादी मानना भी भारी भूल है। इस आन्दोलन को पिछली तमाम पंचवर्षीय योजनाओं के तहत अपनाई गई गलत विकास नीतियों के नतीजों के रूप में देखना चाहिए” (जनसत्ता, अक्टूबर 1994, उत्तरा पत्रिका द्वारा उद्धृत)।

4.4.2 समाचार पत्रों की भूमिका

वरिष्ठ पत्रकार नवीन जोशी ने आन्दोलन में समाचार पत्रों की भूमिका के संदर्भ को रेखांकित करते हुए लिखा कि “उत्तराखण्ड आन्दोलन के दौर में लखनऊ से दिल्ली तक (एक दो अपवादों को छोड़कर) अखबारों ने आन्दोलन के मूल कारणों में झांकने की कोशिश नहीं की।... सत्ताईस फीसदी नव आरक्षण के विरोध से तो सिर्फ आक्रोश फूटा था, वह अभूतपूर्व जन-आन्दोलन बना है तो पुराने दर्दों से जन्मे गुस्से के कारण और पृथक उत्तराखण्ड राज्य का सपना भी उससे जुड़ गया है। वह आरक्षण विरोधी नहीं, लेकिन आरक्षण का तार्किक युक्तीकरण चाहता है। आन्दोलन का स्वरूप स्पष्ट होने के बाद पहाड़ों के कई कस्बों में मुस्लिमों, शिल्पकारों, वाल्मीकियों ने आन्दोलन में शिरकत की है। इन सच्चाइयों के परिप्रेक्ष्य में आन्दोलन को समझे जाने की जरूरत है। उत्तराखण्ड आन्दोलन के संदर्भ में अगर हम वहां बहुप्रसारित दैनिकों के विभिन्न संस्करणों को देखें तो पता चलेगा कि कुमाऊँ के संस्करण में गढ़वाल की खबर नहीं है और गढ़वाल के संस्करण में कुमाऊँ की। यह प्रवृत्ति इतनी तेजी से बढ़ी है कि अब अल्मोड़ा वालों को नैनीताल की खबर नहीं मिलती और उत्तरकाशी वालों को पौड़ी की। आन्दोलन में अखबारों की यह भूमिका

भी आक्रोश का कारण बनी है” (“आन्दोलन, जो खबरों में नहीं है”, नैनीताल समाचार, 15 अक्टूबर 1994)। यह विश्लेषण इस तथ्य को स्पष्ट कर देता है कि पूरे राज्य के भीतर चल रहे इस जन उभार को एक सूत्र में जोड़ने के लिए किसी राष्ट्रीय समाचार पत्र की कोई सचेत भूमिका नहीं रही। लेकिन आन्दोलन से जुड़े और क्षेत्रीय रूप से लगातार जनहित के प्रश्नों को उठाते रहे कुछ स्थानीय समाचार पत्रों (उत्तर उजाला, नैनीताल समाचार, शक्ति, आज का पहाड़, युगवाणी, कर्मभूमि आदि) ने राज्य के भीतर आन्दोलन की सूचना को जनता के बीच ले जाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। नैनीताल समाचार द्वारा किए गए ‘उत्तराखण्ड बुलेटिन’ जैसे प्रयोग भी राज्य में अन्य जगह दोहराए गए।

4.4.3 आन्दोलन में जन भागीदारी तथा दमन

उत्तराखण्ड आन्दोलन में जनता की व्यापक भागीदारी रही। कुमाऊँ और गढ़वाल विश्वविद्यालय तथा उनसे संबद्ध लगभग सभी महाविद्यालयों के छात्र आन्दोलित हुए। उन्होंने गिरफ्तारियां दीं। प्रवासी पहाड़ी और उत्तराखण्ड के शुभचिंतक भी शामिल थे, जिन्होंने देश के कई नगरों में धरने दिए और प्रदर्शन किए। शिक्षक तथा पूर्व सैनिक भी आन्दोलन में उतरे। उत्तराखण्ड के समस्त राज्य कर्मचारी भी हड़ताल पर गए और सीमान्त क्षेत्रों में भी आन्दोलन शुरू हुआ। आन्दोलन को तोड़ने के लिए दमन का सहारा लिया गया। 1 सितंबर को खटीमा तथा 2 सितंबर को मसूरी में प्रदर्शनकारियों पर गोली चलाई गई। प्रशासन के आंकड़ों के अनुसार खटीमा में 3 लोग मरे तथा 29 घायल हुए तथा मसूरी में 4 की मृत्यु हुई और 36 घायल हुए। 1 व 2 अक्टूबर को दिल्ली जा रहे आन्दोलनकारियों को रोका गया और मुजफ्फरनगर में लाठीचार्ज, हत्याकाण्ड एवं बलात्कार की घटनाएं हुईं। रामपुर तिराहा और नारसन में गोली चली और महिलाओं के साथ सबसे अधिक ज्यादतियां हुईं। उत्पीड़ित महिलाओं तथा अन्य आन्दोलनकारियों का कहना था कि पुलिस और अधिकारियों की मौजूदगी में यह सब हुआ। 2 अक्टूबर को ही आन्दोलनकारियों का दिल्ली में विशाल प्रदर्शन हुआ, जिसमें लाठी चार्ज, आगजनी, गोलीकाण्ड के साथ ही गिरफ्तारियां हुईं। दिल्ली रैली और मुजफ्फरनगर काण्ड से सारे उत्तराखण्ड में असंतोष व्याप्त हो गया। इससे उपजे आक्रोश का दमन करते हुए नैनीताल, देहरादून, कोटद्वार, गोपेश्वर, ऋषिकेश आदि में गोलीकाण्ड हुआ। नैनीताल, हल्द्वानी, श्रीनगर, पौड़ी, कोटद्वार, चमोली, ऊखीमठ, अगस्त्यमुनि, गोपेश्वर, कर्णप्रयाग व देहरादून में प्रशासन द्वारा कर्फ्यू लगाया गया। इस आन्दोलन में जनता ने आन्दोलन के कई मौलिक रूपों का प्रयोग किया, जैसे कुछ जगहों पर महिला कर्फ्यू, छात्र कर्फ्यू जैसे कदम उठाए गए, जिनके दौरान सरकारी अफसरों व पुलिस के वाहनों के चलने पर भी रोक थी। जगह-जगह समानान्तर सरकारों का गठन हुआ। पौड़ी व गोपेश्वर में सूचना और जानकारी फैलाने के लिए लगातार प्रयास हुए। बुद्धिजीवियों द्वारा उत्तराखण्ड पर फोल्डर व पर्चे निकाले गए। माणा, मलारी, धारचूला, मुन्स्यारी, पुरोला जैसे सीमान्त क्षेत्रों में भी प्रदर्शन हुए। भूतपूर्व सैनिकों ने वर्दी तमगों के साथ प्रदर्शन किया।

4.4.3.1 राज्य आन्दोलन और महिलाएं

पूर्व में चले जनान्दोलनों की भांति ही इस आन्दोलन में भी महिलाओं की बड़े पैमाने पर भागीदारी रही। मुजफ्फरनगर काण्ड में महिलाओं पर हुई ज्यादतियों की जांच के लिए राष्ट्रीय महिला आयोग का पांच सदस्यों का एक दल उत्तराखण्ड आया। दल की एक सदस्य जयन्ती पटनायक के वक्तव्य से भी सिद्ध होता है कि 1 अक्टूबर की रात रैली में जा रही महिलाओं पर पुलिस का उत्पीड़न हुआ और वे बलात्कार की शिकार हुईं। मुजफ्फरनगर काण्ड के विरोध में जगह-जगह जुलूस निकले, धरने व सभाएं हुईं और ज्ञापन

दिए गए। प्रशासन द्वारा इसके जवाब में जगह-जगह कर्फ्यू लगा दिया गया। इसके बावजूद स्थानीय स्तर पर प्रतिरोध व संघर्ष होते रहे। महिलाओं ने कुमाऊँ स्तर की बैठक बुलाई, जिसमें यह प्रस्ताव रखा गया कि महिलाएं आन्दोलन की केन्द्रीय भूमिका में आकर इसे सही दिशा देंगी। इस निर्णय को क्रियान्वित करने के लिए 15 नवंबर को नैनीताल में महिलाओं ने उत्तराखण्ड स्तरीय प्रदर्शन किया जिसमें महिलाओं के विभिन्न संगठनों के आह्वान पर देहरादून, चमोली, उत्तरकाशी, पौड़ी, टिहरी, अगस्त्यमुनि, पिथौरागढ़, कौसानी, हल्द्वानी, रामनगर, अल्मोड़ा, गंगोलीहाट, चम्पावत, बिन्दुखत्ता, स्याल्दे आदि से महिलाएं बड़ी संख्या में नैनीताल पहुंची और रैली में भाग लिया। इसके अलावा अन्य छोटे-छोटे कस्बों और ग्रामीण क्षेत्रों से भी महिलाओं की सक्रिय भागीदारी रही। दिसंबर में देहरादून में सम्मेलन किए जाने का निर्णय लिया गया। आंदोलन को दीर्घकालिक और संगठित रूप देने के लिए 15 नवंबर 1994 को उत्तराखण्ड महिला मंच का गठन हुआ। महिलाओं ने शराब विरोधी आन्दोलन को भी उत्तराखण्ड आन्दोलन का हिस्सा बनाया, क्योंकि उनके खिलाफ होने वाली हिंसा के कारणों में यह भी एक प्रमुख कारण था। नशा मुक्त राज्य बने, इसी क्रम में शराब की दूकानों के आगे धरने दिए गए एवं शराब की नीलामी का विरोध किया गया, जिसमें गिरफ्तारियां भी हुईं। विभिन्न महिला संगठनों एवं नेतृत्वकर्त्रियों ने दूर-दराज की ग्रामीण महिलाओं को भी संगठित करना शुरू किया। शराब के अलावा महिला संगठनों के अन्य मुद्दों में अच्छी शिक्षा, रोजगार के साधन तथा दूरस्थ क्षेत्रों में भी स्वास्थ्य सुविधाएं उपलब्ध कराना, जल, जंगल और जमीन पर जनता का अधिकार आदि थे। आन्दोलन में अनेक महिलाओं की नेतृत्वकारी भूमिका रही। कुछ के नाम यहां दिए जा सकते हैं—कमला पंत, सुशीला बड़ोनी, कला जोशी, वीणापाणि जोशी, भुवनेश्वरी कटैत व कमला रावत (देहरादून), उमा भट्ट, कमल नेगी, मुन्नी तिवारी, विमला असवाल व बसंती पाठक, शीला रजवार, कौशल्या साह (नैनीताल), विजया ढोंडियाल व सरोज हर्ष (अल्मोड़ा), शान्ति साह व मुन्नी बिष्ट (पिथौरागढ़), राधा बहन (कौसानी), पूर्णिमा राणा, मुन्नी भट्ट व सुलोचना भट्ट (अगस्त्यमुनि), विजयलक्ष्मी (पौड़ी), विमला कोटियाल, सुधा पुरी आदि (श्रीनगर), उषा भट्ट, जयन्ती भण्डारी, चन्द्रकला बिष्ट, सुनीता श्रीवास्तव (चमोली), विद्या रजवार, विमला रौथाण (बिन्दुखत्ता) और भी अनेक नाम हैं, जिन्हें आप आन्दोलन के इतिहास में विस्तार से अन्यत्र पृथक अध्ययन के अन्तर्गत पढ़ेंगे।



(फोटो— उत्तरा महिला पत्रिका, अक्टूबर 1994)

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न—

1. निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—

(क) उत्तराखण्ड राज्य आन्दोलन की पृष्ठभूमि।

(ख) राज्य आन्दोलन में महिलाओं की भूमिका।

2. नीचे लिखे प्रश्नों के उत्तर दीजिए

(क) पृथक उत्तराखण्ड राज्य की स्थापना कब हुई?

(ख) उत्तराखण्ड आन्दोलन के मूल में इस क्षेत्र में होने वाला अनियोजित विकास था। (सत्य/असत्य)

(ग) मुजफ्फरनगर काण्ड किस घटना से संबन्धित है?

4.5 टिहरी बांध विरोधी आंदोलन(बांध निर्माण 1978 से प्रारंभ और 2006 में उद्घाटन)

बांध विरोधी आन्दोलनों को दो भागों में बांटा जा सकता है—1. बांध निर्माण का विरोध 2. विस्थापितों के पुनर्वास से जुड़े आन्दोलन। उत्तराखण्ड का टिहरी बांध हिमालय जैसे संवेदनशील इलाके के अंतर्गत आता है। शेखर पाठक के अनुसार “हिमालय के संसाधनों को जमीन, जंगल, जल, जन.जानवर तथा वन्यता में विभाजित किया जाता रहा है।.....वैज्ञानिक हिमालय को वॉटर टावर्स ऑफ मॉडर्न सिविलाइजेशन कहने लगे हैं। इसमें जो ऊर्जा बहती है, उसे पकड़ा तथा इधर उधर पहुंचाया जा सकता है। उपभोक्ता मनःस्थिति तथा पूंजीवादी दिमाग सिर्फ टिहरी जैसे बांध या बोटल में बंद व्यवसाय या 10 से 15 रु. में बिकने वाले प्लास्टिक में पैक पानी की सोचते हैं। उन्हें न मछली की चिन्ता है न मनुष्य की। पूरे हिमालय में बांधों के निर्माण का सिलसिला जारी है।” (शेखर पाठक, ‘आधुनिक विकास और हिमालय’, समयान्तर, फरवरी 2012, संपादक पंकज बिष्ट, दिल्ली)

सामान्यतः बड़े बांध के निर्माण की योजना के विरोध में जनपक्षीय तर्क— विस्थापन, समुचित मुआवजे, उपजाऊ भूमि, सिंचाई की सुविधाएं, पूर्वजों की भूमि और धार्मिक स्थलों को छोड़ने की अनिच्छा आदि हैं, तो भू वैज्ञानिक पक्ष पारिस्थिकीय तंत्र के आधार की बात करता है, पर इससे इतर बांध निर्माण के पक्षधर वर्ग के लिए सिर्फ विकास का तर्क प्रबल हो जाता है। यही जनता और सत्ता के बीच संघर्ष का कारण बनता है। बांध निर्माण के पक्ष में इंटरनेशनल कमीशन ऑन लार्ज डैम्स के अध्यक्ष सी.वी.जे. वर्मा का तर्क था “सिंचाई और पीने के पानी का समुचित प्रबंध करने के संसाधन पर्याप्त नहीं हैं। बड़े बांधों के बिना हमारी जरूरतें पूरी नहीं हो सकतीं। इस समय दुनिया भर में लगभग 45 हजार बांध हैं। इस शताब्दी के आखिर तक कम से कम 30 हजार और बांधों की जरूरत पड़ेगी। भारत में इस समय 4300 बांध हैं। आने वाले 50 वर्षों में हमें और दस हजार बांध बनाने पड़ेंगे। देश को पानी के संकट से बचाना है तो बांध बनाने पड़ेंगे, चाहे वे छोटे हों या बड़े।” अधूरे अध्ययन से बने बांधों के ध्वस्त होने के अनेक उदाहरण हैं। पहाड़, अंक 2 में कुछ के नाम दिए गए हैं—“भारत में अब तक 14 बांध टूटे, तो भूगर्भीय कारणों से अमेरिका में 117, रूस में 4, ऑस्ट्रेलिया में 11, कनाडा में 7 तथा इंग्लैंड में 10 बांध ध्वस्त हुए। 11 दिसंबर को भूकम्प के बाद कोयना बांध टूटा, जिसमें 200 लोग मरे और 12000 से अधिक विस्थापित हुए।” आपके लिए यह जानना महत्वपूर्ण है कि हिमालय भूगर्भीय हलचलों की दृष्टि से अति संवेदनशील रहा है। यहां तक कि उत्तराखण्ड में समय-समय पर आई प्राकृतिक आपदाओं में छोटी-छोटी जलविद्युत परियोजनाओं को भी नुकसान पहुंचा।

4.5.1 बांध निर्माण का सांगठनिक विरोध

योजना आयोग ने 1972 में इस परियोजना को स्वीकृति दी और 1978 में स्थानीय विरोध के साथ प्रारम्भिक कार्य शुरू हुआ। बांध के विरोध में दिए जाने वाले तर्कों में क्षेत्र का भूकम्प की दृष्टि से संवेदनशील होना, बड़े भूभाग तथा ऐतिहासिक टिहरी नगर का जलमग्न हो जाना, नदी के आस-पास के क्षेत्र में हुए वन कटान के कारण बांध को होने वाले खतरे इत्यादि हैं (के.एस.वाल्दिया)। टिहरी के प्रजामण्डल के संग्रामी तथा वरिष्ठ वकील वीरेन्द्र दत्त सकलानी द्वारा 24 जनवरी 1978 को स्थापित टिहरी बांध विरोधी संघर्ष समिति के नेतृत्व में परियोजना के खिलाफ सर्वोच्च न्यायालय में याचिका प्रस्तुत की, जिसे बाद में खारिज कर दिया गया। उन्होंने एक व्यापक प्रतिवेदन सरकार तथा प्रधानमंत्री को भेजा और टिहरी परियोजना के हर पक्ष पर विशेषज्ञों की राय भी भेजी। संघर्ष समिति की ओर से बताया गया कि भागीरथी

तथा भिलंगना में आने वाले गाद की दर हिमालय की नदियों में सर्वाधिक है और इस हिसाब से टिहरी बांध की उम्र 30.40 साल से अधिक नहीं हो सकती। संघर्ष समिति के प्रतिवेदनों पर ही सन् 1978 में उत्तर प्रदेश की उच्चस्तरीय मंत्रिमण्डलीय समिति तथा 1979 में संसदीय प्रतिवेदन समिति ने बांध के सवाल पर विचार किया। मोरारजी देसाई और इन्दिरा गांधी ने भी इस पर पुनर्विचार की बात की। हेमवतीनन्दन बहुगुणा ने इसे अलाभकारी बताया, पर अपने मुख्यमंत्रित्वकाल में उन्होंने इसके निर्माण के पुनर्निरीक्षण अथवा रुकवाने के लिए कुछ भी नहीं किया (वीरेन्द्र पैन्थूली)। जब अक्टूबर 1991 में एक भीषण भूकम्प के बाद उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री कल्याण सिंह ने विवादास्पद टिहरी बांध के निर्माण को रोकने का प्रस्ताव किया तो केन्द्र सरकार ने इसे मानने से इन्कार कर दिया (गुहा व गाडगिल)। सरकार की इस नीति से विवश होकर 14 दिसंबर 1991 टिहरीवासियों ने प्रत्यक्ष प्रतिरोध प्रारंभ किया। फरवरी 1992 में पुलिस ने आन्दोलनकारियों के पड़ाव पर धावा बोल दिया और उसे उखाड़ कर आन्दोलनकारियों को जेल भेज दिया। बांध निर्माण का कार्य पुलिस सुरक्षा के बीच पुनः शुरू हुआ। बढ़ते दमन के कारण धीरे धीरे जनांदोलन में लोगों की भूमिका घटती गई।

चिपको आन्दोलन से जुड़े सर्वोदयी नेता सुंदरलाल बहुगुणानेभागीरथी नदी के किनारे बांध निर्माण स्थल पर ही धरना और अनशन आरंभ किया। 1995 में तत्कालीन प्रधानमंत्री पी.वी. नरसिम्हाराव द्वारा बांध के पारिस्थितिकीय पक्ष पर पुनर्विचार करने के लिए समिति गठित करने के आश्वासन पर उनका 45 दिन का अनशन समाप्त हुआ। अगले चरण में उन्होंने राजघाट पर गांधी समाधि पर 74 दिन का अनशन किया। 1992, 1995 तथा 1997 में सुन्दरलाल बहुगुणा द्वारा किए गए अनशन के कारण बनाई गई समितियों के अधिकांश सदस्य टिहरी बांध के पक्ष में नहीं थे। लेकिन बांध पर काम जारी रहा। 1992 में आन्दोलन की पराकाष्ठा के दौर में उत्तराखण्ड के सक्रिय संघर्षरत आन्दोलनकारियों के अलावा देश के अनेक पर्यावरणविद, जिनमें नर्मदा बचाओ आन्दोलन की प्रमुख मेधा पाटकर भी थीं, टिहरी पहुंचे। इधर सुंदरलाल बहुगुणा के अनशन की समाप्ति के बाद भी कोई भिन्न परिणाम नहीं निकला। संघर्ष समिति के वीरेन्द्र दत्त सकलानी की मृत्यु, विद्यासागर नौटियाल का टिहरी से देहरादून जाना और धूम सिंह नेगी, कुँवर प्रसून तथा विजय जड़धारी आदि का आन्दोलन से अलग हो जाना इसे कमजोर करता गया। सुंदरलाल बहुगुणा तथा उनकी पत्नी विमला बहुगुणा ने कुछ समर्थकों के साथ आन्दोलन को पुनः खड़ा करने का प्रयास किया। 'हिमालय बचाओ आन्दोलन' कहे जाने के बावजूद आन्दोलन सिमटता रहा। इस दम्पति ने अपने द्वारा 1954-55 में स्थापित नवजीवन आश्रम सिल्यारा भी टिहरी आन्दोलन के कारण छोड़ दिया था। सुंदरलाल बहुगुणा के जुड़ने से इस आन्दोलन की चर्चा और अन्तर्राष्ट्रीय समर्थन में वृद्धि हुई। गुहा एवं गाडगिल ने लिखा है "इन बांध विरोधियों में चिपको आन्दोलनकारियों का सहयोग संयोगवश नहीं है। पहाड़ के वनों का पहले ही जबरदस्त दोहन करने के बाद राजसत्ता पहाड़ के और संसाधनों, जैसे पानी पर भी काबिज होना चाहती है।....."

4.5.2 बांध निर्माण और पुनर्वास के सवाल

टिहरी बांध विरोधी आन्दोलन कई अर्थों में महत्वपूर्ण रहा। इसने पर्यावरण, विस्थापन और बड़े बांधों की सीमाओं और उनके लिए चलने वाली राजनीति को समाज के सामने व्यक्त किया। बांध के विरोध में स्थानीय जनता और पर्वतीय क्षेत्र के प्रति संवेदनशील सभी व्यक्तियों, संस्थाओं व राजनैतिक दलों ने लंबा संघर्ष किया। बांध के निर्माण से किसी भी प्रकार लाभान्वित होने वाले लोगों ने बांध के विरोध को मुख्यतः जमीन, मकान, विस्थापन आदि के मुआवजे तक ही सीमित रूप में प्रचारित किया। धीरे-धीरे बांध विरोधी

आन्दोलन में स्थानीय जनता की भागीदारी कम होती चली गई। इसके अनेक कारण बताए गए हैं, जैसे डूब क्षेत्रों के लोगों द्वारा मुआवजा, राहत या नौकरियां पाना, उनका नई टिहरी या देहरादून के पास पुर्नवासित होना, बांध समर्थकों द्वारा स्थानीय समाज और राजनीति में अपने पक्षधरों की संख्या बढ़ा लेना आदि। फिर भी जनता के एक सचेत हिस्सा इससे लगातार जुड़ा रहा।

उत्तराखण्ड के इतिहास के अध्येता की दृष्टि से आपके लिए यह जानना महत्वपूर्ण है कि पर्वतीय क्षेत्र की भू-संरचना में नदियों से लगी हुई जमीनें ही सबसे उपजाऊ हैं। टिहरी में भी डूब क्षेत्र में आने वाली जमीन ही उस क्षेत्र की सबसे उपजाऊ जमीन थी। अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त भू वैज्ञानिक के. एस. वाल्दिया ने लिखा था "टिहरी बांध बनने से 470 हेक्टेयर वनों की 460 प्रजातियां, जिनमें 60 अत्यंत दुर्लभ हैं, नष्ट हो जाएंगी और प्रतिवर्ष औसतन 20,500 कुन्तल अनाज पैदा करने वाले खेत डूब जाएंगे" (संकट में हिमालय, पहाड़ से प्रकाशित)। यह परियोजना किस तरह से पूरे क्षेत्र के सामाजिक सांस्कृतिक जीवन को प्रभावित कर रही थी, इसका उदाहरण इससे समझा जा सकता है कि 40 वर्ग कि.मी. वाले इस बांध के डूब क्षेत्र में 92 गांवों की करीब 70000 जनता को अपने घरों और भूमि से बेदखल होना था। यही नहीं, बांध बनने के बाद विस्थापन का यह दायरा डूब क्षेत्र के ऊपरी हिस्सों को भी लगातार प्रभावित कर रहा है। 2012 में भारतीय भूगर्भ सर्वेक्षण विभाग के मुताबिक बांध के ऊपरी क्षेत्र में मौजूद एक दर्जन गांवों के 1,336 परिवारों पर कभी भी टिहरी में समाने का खतरा है, इसलिए इन्हें भी पुर्नवासित करने की जरूरत है। हर मानसून में अब यह एक स्थाई परिघटना है।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न—

निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—

(क) टिहरी बांध विरोधी आन्दोलन।

(ख) टिहरी बांध आन्दोलन में सुंदर लाल बहुगुणा का योगदान।

2. नीचे लिखे प्रश्नों के उत्तर दीजिए

(क) टिहरी बांध भगीरथी नदी पर बना है। (सत्य/असत्य)

(ख) टिहरी बांध विरोधी संघर्ष समिति का गठन किसने किया?

4.6 आन्दोलनों का सांस्कृतिक पक्ष

उत्तराखण्ड के आंदोलनों में उसका सांस्कृतिक पक्ष अति महत्वपूर्ण रहा है। इसने आन्दोलनों के वैचारिक पक्ष को मजबूती देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। हर आन्दोलन की विशिष्टता को लेकर विभिन्न जनगीत, कविताओं और नाटकों की रचना हुई। कई स्थानों में क्षेत्र में होने वाले स्थानीय लोक उत्सवों का भी उस दौर में आन्दोलन के पक्ष में सफलतापूर्वक रूपांतरण किया गया। होली और विभिन्न मेले इसके उदाहरण रहे। चिपको आन्दोलन के समय में कई महत्वपूर्ण जनगीत, रचनाएं और प्रभावशाली सांस्कृतिक जुलूस निकले तथा यात्राएं हुईं। 1977-78 में इस आंदोलन के अंग के रूप में नैनीताल समाचार द्वारा होली जुलूस शुरू किया गया। उत्तराखण्ड के एक प्रमुख सांस्कृतिक गिरीश तिवारी 'गिर्दा', ने 1926 में कुमाउनी कवि गौर्दा द्वारा लिखी गई कविता 'वृक्षन को विलाप' का भावानुवाद किया और 1977 में वन आन्दोलन के

दौरान उन्होंने इस कविता की कुछ पंक्तियां लेकर उन्हें तत्कालीन संदर्भों के अनुसार प्रयोग किया। वनों की नीलामी के समय उनका यह गीत 'नी कर दी हालोहमरी नीलामी, नी कर दी हालो हमरो हलाल....' तो निर्मल जोशी का गीत—'दावेदार.दावेदार, सुन जंगल के दावेदार, जाग जंगल के दावेदार...' आन्दोलन की प्रतिनिधि रचना बन गई। 1984 के 'नशा नहीं रोजगार दो' आन्दोलन में भी तत्कालीन संदर्भों में रचनाएं रची गईं और जनगीत गाए जाते रहे। प्रसिद्ध शायर फैज अहमद फैज की रचना 'हम मेहनतकश जग वालों से जब अपना हिस्सा मांगेंगे, एक खेत नहीं एक देश नहीं हम सारी दुनिया मांगेंगे' का भावानुवाद 'हम ओड़, बारूड़ी, ल्वार, कुल्ली कभाड़ी जै दिनों यो दुनि थें हिसाब ल्यूलो, एक हांग नी मांगों एक फांग नी मांगों सब खसरा खत्यूनी किताब ल्यूलो' इसी दौर में निकला आंदोलन का गीत था। सभी आन्दोलनों के वैचारिक एवं सांस्कृतिक स्तंभ के रूप में गिर्दा एक महत्वपूर्ण शख्सियत थे। आन्दोलनों के बीच से ही जन्मी सांस्कृतिक संस्था जागर ने पदयात्रा द्वारा लोगों को नशे के खिलाफ जागरूक किया। 'नशा नहीं रोजगार दो' आन्दोलन के दौर में इस संस्था द्वारा तीन कैसेट निकाले गए, जो क्रमशः जनगीत, लोकसंस्कृति और कविता से संबन्धित थे। प्रदर्शन, नुक्कड़ नाटक एवं सभाएं होती रहीं। पहाड़ संस्था ने 'नशा एक षडयंत्र' नाम से पुस्तिका निकाली। उत्तराखण्ड आन्दोलन के दौर में नैनीताल समाचार के तत्वावधान में 3 सितंबर से 25 अक्टूबर तक सांध्यकालीन उत्तराखण्ड बुलेटिन प्रसारित किया जाता था, जनगीत होते थे और हर दिन उत्तराखण्ड के विभिन्न क्षेत्रों में घटी घटनाओं, राष्ट्रीय समाचार पत्रों की उत्तराखण्ड आन्दोलन पर राय/रपट व आन्दोलन के विभिन्न पहलुओं पर समीक्षा, लाउडस्पीकर के माध्यम से श्रोताओं तक पहुंचाई जाती थी। जनता में जागृति लाने और आन्दोलन के प्रति समझ बनाने के लिए यह एक सफल प्रयोग था। बुलेटिन में प्रतिदिन 'गिर्दा' द्वारा कोरस के रूप में आज हिमालय तुमन कै धत्यूँछ.....' गाया जाता था। (कविता के दोनो रूप देखें, उत्तरा, वर्ष 5, अंक एक, अक्टूबर-दिसंबर 1994)। इसके अलावा राज्य आन्दोलन में गिर्दा का 'जैता एक दिन तो आलो दिन यो दुनी में' बल्ली सिंह चीमा द्वारा लिखित 'ले मशालें चल पड़े हैं लोग मेरे गांव के, अब अंधेरा जीत लेंगे लोग मेरे गांव के', 'चलो कि मंजिल दूर नहीं....' तथा अतुल शर्मा का गीत—'लड़ के लेंगे, भिड़ के लेंगे, छीन के लेंगे उत्तराखण्ड', भी अत्यंत लोकप्रिय था। राज्य आन्दोलन के उभार में गिर्दा लिखा— "उत्तराखण्ड की/आज लड़ाई यह जो/हम लड़ रहे हैं सभी/सीमित हरगिज उत्तराखण्ड तक/ इसे नहीं/ साथी! समझो/यदि संकुचित हुआ कहीं/तो भटक लड़ाई जाएगी/इसीलिए/खुले/दिल औ'दिमाग से/मित्रों!/लड़ना है इसको"। ये पंक्तियां निश्चित रूप से आन्दोलन के प्रति उनके जनपक्षधर विचार को अभिव्यक्त करती हैं। आन्दोलन के ठहराव के दौर में कुमाउनी के प्रसिद्ध कवि शेरदा 'अनपढ़' ने जनता का आह्वान करते हुए लिखा "चार कदम लै नि हिटा, हाय तुम पटै गोछा? के दगड़ियो से गोछा?....."(चार कदम भी नहीं चले, क्या तुम थक गए? क्या साथियो सो गए?...)। जनसंस्कृतिमंच, युगमंच, आदि सांस्कृतिक संस्थाओं ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। जनगीतों के कैसेट जैसे 'कदम मिला के चल' व उत्तराखण्ड आन्दोलन से उपजी कविताओं पर 'चलो कि मंजिल दूर नहीं' आदि पुस्तिकाएं निकाली गईं। नुक्कड़ नाटक व प्रभात फेरी आयोजित किए गए व पोस्टर प्रदर्शनियां लगाई गईं। उत्तराकाशी में सांस्कृतिक संस्था 'कला दर्पण' ने सौ दिन तक लगातार प्रभात फेरी निकाली तथा नुक्कड़ नाटक किए। उत्तराखण्ड आन्दोलन पर ही अबोधबंधु बहुगुणा, गिर्दा तथा नरेन्द्रसिंह नेगी के प्रेरक तथा पठनीय काव्य संग्रह भी आए। टिहरी बांध आन्दोलन के दौर में उत्तराखण्ड के प्रसिद्ध गायक व गीतकार नरेन्द्र सिंह नेगी ने 1980 के दशक में लिखा— "समझौदे अपड़ि सरकार, द्वि-चार दिन ठैरि जावा/बुझेण द्या दानि आंख्यूं, बूढ़-बुढ़यऊँ सणि मन्न द्यावा/ ज्यूँदि आंख्यून कनुक्वे द्यखण, परलै की तसवीर" (अर्थात् अपनी सरकार को समझा दो, वह दो चार दिन रुक जाए। इन बुजुर्ग आंखों को बंद होने दो और वृद्ध जनों को मरने दो। आखिर जिन्दा आंखों से टिहरी डूबने के प्रलय को कैसे देख

सकेंगे')। टिहरी डूबने के दौरान व बाद के छह वर्षों में इस पर लगभग सौ से भी अधिक गीत और कविताएं लिखी गईं।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न—

निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—

(क) आन्दोलनों में गिरीश तिवारी 'गिर्दा' की भूमिका।

2. नीचे लिखे प्रश्नों के उत्तर दीजिए

(क) 'वृक्षन को विलाप' कविता कुमाउनी कवि गौर्दा ने लिखी। (सत्य/असत्य)

(ख) उत्तराखण्ड बुलेटिन नैनीताल समाचार द्वारा जारी किया गया। (सत्य/असत्य)

(ग) शेरदा अनपढ़ कुमाउनी के प्रसिद्ध कवि थे। (सत्य/असत्य)

(घ) संबंधित खण्ड में नरेन्द्र सिंह नेगी की रचना का किस संदर्भ में उल्लेख हुआ है?

5.0 सारांश

आपने इस समग्र अध्ययन में उत्तराखण्ड के चार प्रमुख और बड़े जन. आन्दोलनों के बारे में जानकारी प्राप्त की। वनों को बचाने के लिए किए गए 'चिपको आन्दोलन' ने वनों तथा स्थानीय जनता के पारस्परिक अन्तर्संबन्ध को अभिव्यक्त किया और क्षेत्र विशेष की भौगोलिक परिस्थितियों के प्रतिकूल वनों के वाणिज्यिक दोहन से होने वाले दुष्परिणामों को राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय पटल पर रखा। 'नशा नहीं रोजगार दो' आन्दोलन ने पर्वतीय समाज की बर्बादी का कारण बनी शराब व उससे जुड़े तंत्र के सवाल को विमर्श के मुख्य केन्द्र के रूप में स्थापित किया। उत्तराखण्ड राज्य आन्दोलन को इस क्षेत्र की भौगोलिक और पारिस्थितिकीय संरचना को समझे बिना लागू की जा रही विकास योजनाओं और उनसे आम जनता और संपूर्ण क्षेत्र की बेहतरी न होने के परिणामस्वरूप उत्पन्न हो गए आक्रोश का प्रतिफल कहा जा सकता है। अनियोजित विकास का एक सबसे बड़ा उदाहरण उत्तराखण्ड से भारी मात्रा में युवा पीढ़ी का पलायन है। टिहरी बांध आन्दोलन भी उत्तराखण्ड में विकास के एक ऐसे मॉडल का प्रतिनिधित्व करता है, जिसने अपने स्थापित होने से पारिस्थितिकी और स्थानीय जनता को अपनी जड़ों से ही पृथक कर दिया। उत्तराखण्ड में किसी भी प्रकार के बदलाव या योजनाओं के क्रियान्वयन से यहां की अर्थव्यवस्था की रीढ़ रही महिलाएं सर्वाधिक प्रभावित हुईं। अतः जन आन्दोलनों में हम उनकी नेतृत्वकारी भूमिका पाते हैं। उत्तराखण्ड के जन आन्दोलनों की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह रही है कि इनमें सांस्कृतिक पक्ष भी सशक्त रूप से मजबूत रहा है।

आज जिस तरह प्राकृतिक आपदाओं से पहाड़ी क्षेत्र पारिस्थितिकीय असंतुलन की समस्या से जूझ रहे हैं, उनके मूल में कहीं न कहीं अनियोजित विकास की अवधारणा रही है। मानव समाज हजारों वर्षों से यहां के पारिस्थिकीय तंत्र और यहां की आत्मनिर्भर स्थानीय अर्थव्यवस्था को बचाता आया है। यह सच है कि किसी भी देश और समाज के निवासियों के जीवन स्तर के उन्नयन के लिए विकास एक अनिवार्य

आवश्यकता है, परंतु हमें यह समझना होगा कि इस विकास का स्वरूप क्या हो और उसके केन्द्र में कौन हो?

6.0 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

खण्ड 4.2 – 1.(क) देखें 4.2 तथा 4.2.1 (ख) देखें 4.2.2

2.(क) देखें 4.2 (ख) देखें 4.2 (सत्य)(ग) देखें 4.2 (सत्य)

खण्ड 4.3 – 1.(क) देखें 4.3 (ख) देखें 4.3 व 4.3.1

2.(क) देखें 4.3 (1984) (ख) देखें 4.3.1 (सत्य)

खण्ड 4.4 – 1.(क) देखें 4.4 (ख) देखें 4.4.3 व 4.4.3.1

2.(क) देखें 4.4(9 नवंबर 2000ई.) (ख) देखें 4.4(सत्य) (ग) 4.4.3 व 4.4.4(महिला उत्पीड़न)

खण्ड 4.5 – 1.(क) देखें 4.5, 4.5.1 व 4.5.2 (ख) देखें 4.5.1

2.(क) देखें 4.5.1 (भागीरथी नदी) (ख) देखें 4.5.1 (वीरेन्द्र दत्त सकलानी)

खण्ड 4.6 1.(क) देखें 4.6

2.(क) देखें 4.6 (सत्य) (ख) देखें 4.6 (सत्य)

(ग) देखें 4.6 (सत्य) (घ) देखें 4.6 (टिहरी बाँध)

7.0 सहायक संदर्भ ग्रंथ, पुस्तिकाएं व पत्र पत्रिकाएं

1. रामचंद्र गुहा और माधव गाडगिल, हालात ए हिंदुस्तान, पहाड़ 2004
2. रामचन्द्र गुहा, द अनक्वाइट वुड्स: इकोलॉजिकल चेंज एंड पीजेंट रेजिस्टेंस इन द हिमालया, ऑक्सफोर्ड, 1990
3. ए. मिश्रा तथा एस. त्रिपाठी, चिपको आन्दोलन, दिल्ली, 1978
4. नैनीताल समाचार, पच्चीस साल का सफर, मार्च 2003, नैनीताल समाचार प्रकाशन (25 वर्ष में समाचार पत्र के विभिन्न अंकों में छपे महत्वपूर्ण आलेखों का संकलन)
5. पी. सी. जोशी, उत्तराखण्ड, इश्यूज एंड चैलेंजेज, नई दिल्ली, 1995
6. प्रदीप कुमार, उत्तराखण्ड मूवमेंट : कंस्ट्रक्शन ऑफ ए रीजनल आइडेंटिटी, नई दिल्ली, 2000
7. त्रिलोक चन्द्र भट्ट, उत्तराखण्ड आन्दोलन, तक्षशिला प्रकाशन, दिल्ली, 2000
8. प्रभात कुमार उप्रेती, संघर्षरत उत्तराखण्ड, गोपेश प्रकाशन, अल्मोड़ा, 2000
9. जाकिर हुसैन, उत्तराखण्ड, पृथक राज्य आन्दोलन और क्षेत्रीय राजनीति, प्रकाश बुक डिपो, बरेली
10. शेखर पाठक, नशा एक षडयंत्र, 26 जनवरी 1986
11. उत्तरा, अंक 1, अक्टूबर-दिसंबर 2002'

12. उत्तरा, अंक 1, अक्टूबर दिसंबर 1994 'उत्तराखण्ड आन्दोलन को समय पर समझने की जरूरत' (उत्तराखण्ड आन्दोलन पर विशेष)।
13. , विमला असवाल, 'महिलाओं को संगठित करने की कोशिश,' उत्तरा, अंक 4, जुलाई-सितंबर 2011
14. 'टिहरी की व्यथा कथा', हिमान्तर, अंक 5, 2002, पहाड़ प्रकाशन
15. के. एस. वाल्मिया, हाइ डैम्स इन द हिमालया, पहाड़, 1993
16. वीरेन्द्र पैन्थली, 'टिहरी बांध, लागत-मुनाफे तथा पुनर्वास-मुआवजे की असलियत' पहाड़, अंक दो, 1986
17. चण्डी प्रसाद भट्ट 'गौरा देवी, चिपको का एक पृष्ठ' पहाड़, अंक 5/6, 1992
18. चण्डी प्रसाद भट्ट, फ्यूचर ऑफ लार्ज डैम प्रोजेक्ट्स इन द हिमालया, पहाड़, नैनीताल, 1992
19. प्रेम पुनेठा, 'पहचान के लिए एक शताब्दी का संघर्ष,' आज का पहाड़(पत्रिका), जनवरी मार्च 1999
20. स्थानीय तथा राष्ट्रीय समाचार पत्र तथा पत्रिकाएं, शक्ति(अल्मोड़ा), युगवाणी(देहरादून), कर्मभूमि (कोटद्वार), नैनीताल समाचार(नैनीताल), अमर उजाला, दैनिक जागरण, हिन्दुस्तान, जनसत्ता, दिनमान(दिल्ली 1970-80) आदि

9.0 निबन्धात्मक प्रश्न

1. उत्तराखण्ड के प्रमुख आन्दोलनों पर एक निबन्ध लिखिए।
2. चिपको आन्दोलन पर विस्तार से चर्चा कीजिए।
3. उत्तराखण्ड राज्य आन्दोलन की विवेचना कीजिए।
4. उत्तराखण्ड के विभिन्न आन्दोलनों में महिलाओं की भूमिका के बारे में बताइए।

उत्तराखण्ड के धार्मिक स्थल

2.1 प्रस्तावना

2.2 उद्देश्य

2.3 उत्तराखण्ड के चार धाम

2.3.1 बदरीनाथ 2.3.2 केदारनाथ 2.3.3 गंगोत्री 2.3.4 यमुनोत्री

2.4 पंच बदरी, पंच केदार तथा पंच प्रयाग

2.4.1 बदरीनाथ 2.4.2 योग बदरी (पाण्डुकेश्वर) 2.4.3 ध्यान बदरी(उर्गम) 2.4.4 वृद्ध बदरी(अणिमठ)

2.4.5 भविष्य बदरी 2.4.6 आदि बदरी 2.4.7 केदारनाथ 2.4.8 मध्यमेश्वर(मदमहेश्वर)

2.4.9 तुंगनाथ 2.4.10 रुद्रनाथ 2.4.11 कल्पनाथ(कल्पेश्वर) 2.4.12 विष्णु प्रयाग 2.4.13 नन्द प्रयाग

2.4.14 कर्ण प्रयाग 2.4.15 रुद्रप्रयाग 2.4.16 देवप्रयाग

2.5 हरिद्वार, कनखल, ऋषिकेश तथा अन्य महत्वपूर्ण धार्मिक स्थल

2.5.1 हरिद्वार 2.5.2 कनखल 2.5.3 ऋषिकेश 2.5.4 श्रीक्षेत्र(श्रीनगर)

2.5.5 जोशीमठ 2.5.6 तपोवन 2.5.7 उखीमठ 2.5.8 बाड़ाहाट

2.6 बागेश्वर, जागेश्वर तथा अन्य धार्मिक स्थल

2.6.1 बागेश्वर 2.6.2 जागेश्वर 2.6.3 पाताल भुवनेश्वर 2.6.4 वैद्यनाथ(बैजनाथ)

2.6.5 सीतावनी 2.6.6 देवीधूरा 2.6.7 पूर्णागिरि

2.7 सिख धार्मिक स्थल तथा सूफी दरगाह

2.7.1 देहरा 2.7.2 नानकमत्ता 2.7.3 रीठा साहेब 2.7.4 हेमकुण्ड साहेब

2.7.5 पीरान कलियर

2.8 कुछ लोक प्रचलित धार्मिक स्थल

2.8.1 महासू 2.8.2 ज्योलिंगकांग

2.9 सारांश

2.10 तकनीकी शब्दावली

2.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

2.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

2.13 निबंधात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

एस.एम.अली के अनुसार,पुराणों के भुवनकोष खण्ड में भारत के पाँच भागों—मध्यदेश,उदीच्य या उत्तरापथ,प्राच्य,दक्षिणापथ और अपरान्त का उल्लेख हुआ है (ज्यॉग्रैफी ऑफ पुराणाज)। इनमें उत्तरापथ के उत्तर-मध्य भाग में टौंस नदी से पूर्व में काली नदी तक तथा उत्तर में हिमालय की पर्वत श्रृंखलाओं से दक्षिण में भाबर और तराई तक फैले हिमालयी क्षेत्र के दो उप-विभागों—गढ़वाल और कुमाऊँ को केदारखण्ड एवं मानसखण्ड के नाम से अभिहित किया गया है। विभिन्न युगों में लिखे गए धार्मिक एवं लौकिक साहित्य,यात्रा वृत्तांतों और स्थानीय शासकों के अभिलेखों में इस अंचल के संदर्भ में महत्वपूर्ण सूचनाएँ उपलब्ध होती हैं। इन स्रोतों के आधार पर उत्तराखण्ड के प्रमुख धार्मिक स्थलों का विशद चित्र अंकित किया जा सकता है। महाभारत आदि प्राचीन ग्रंथों के अभिलेखों से पता चलता है कि भारत के विभिन्न भागों के निवासी उत्तराखण्ड की तीर्थयात्रा के लिए बहुत उत्सुक रहते थे। जो व्यक्ति मार्ग की दुर्गमता या अस्वस्थ होने या फिर किसी अन्य कारणवश स्वयं तीर्थयात्रा करने में असमर्थ होते थे, वे अपने प्रतिनिधि के रूप में किसी व्यक्ति को भेज दिया करते थे।ऐसे व्यक्ति को दर्शनार्थी का पक्षपाती कहा जाता था। वह विभिन्न तीर्थों में मन्दिर की दीवारों पर दर्शनार्थी का नाम अंकित करके उसके पक्षपाती के रूप में अपना नाम अंकित करता था (जागेश्वर अभिलेख)। शिवप्रसाद डबराल के अनुसार “उत्तराखण्ड की तीर्थयात्रा तथा उत्तराखण्ड और उत्तर भारत का व्यापार दोनों विक्रम की आरंभिक शताब्दियों से विक्रम की दसवीं शताब्दी तक बहुप्रचलित रहे। उत्तराखण्ड के तंगण व्यापारियों और उनके द्वारा लाये गए स्वर्णचूर्ण की रोचक गाथाएँ तीर्थयात्रियों द्वारा भारत में सर्वत्र प्रचलित हो गईं। तीर्थयात्रामार्ग पर देवप्रयाग,श्रीनगर,कर्णप्रयाग,रुद्रप्रयाग,जोशीमठ में तथा मार्गचटियों में ग्रीष्मकाल में तीर्थयात्रियों द्वारा अन्न आदि सामग्री खरीदी जाती थी।...सामान्य वर्षों में लगभग दस सहस्र यात्री तथा कुम्भ के वर्ष में इससे कुछ अधिक यात्री बदरी-केदार पहुँचते थे। ब्रिटिश शासन में 1820 ई. में जब तीर्थयात्रा पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था, केवल 27 सहस्र यात्री बदरीनाथ पहुँचे थे।”

डी.सी. सरकार ने कुब्जिकातंत्र के आधार पर उल्लेख किया है कि शाक्तों ने उत्तराखण्ड के अनेक तीर्थों— गंगाद्वार, ऋषिकेश, कनखल, श्रीपुर(श्रीनगर),कैलास,केदार,भृगुपंथ और बदरिकाश्रम(विशाला),को अपने सिद्धपीठों में स्थान दिया था। नवीं-दसवीं शताब्दी के दौरान नाथ और सिद्धों का इस क्षेत्र में काफी प्रभाव था। केदारखण्ड के अनुसार केदारनाथ के निकट मंदाकिनी के तट पर गोरखनाथ का आश्रम था।

“तस्माद् दक्षिणतो देवि: गोरक्षाश्रम रक्षकम्,।

गोरक्षो वसतेऽनिशम्।”— केदारखण्ड 42/33-35

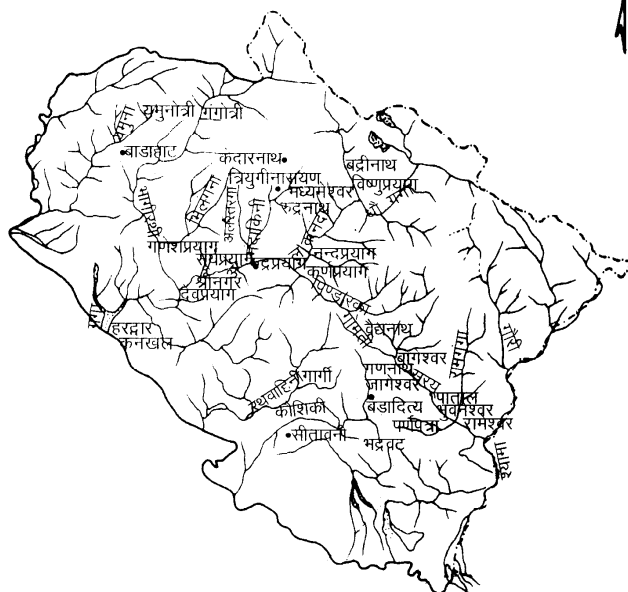
क्षेत्रीय पौराणिक साहित्य के अन्तर्गत (स्कंद पुराण के अंश)— केदारखण्ड में गढ़वाल क्षेत्र के लगभग एक सौ छः तथा मानसखण्ड में कुमाऊँ के दो सौ अठासी तीर्थों के महात्म्य का वर्णन है। इनमें थोड़ा सा भी स्थानीय धार्मिक महत्व रखने वाले स्थलों के महात्म्य का वर्णन करते हुए प्रत्येक क्षेत्र को किसी देवता से जोड़कर उसे महिमामण्डित करने की परंपरा दिखाई देती है।

2.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप जान सकेंगे कि —

- प्राचीन काल से ही उत्तराखण्ड के धार्मिक महत्व के स्थलों की अत्यधिक मान्यता रही है।
- बदरीनाथ, केदारनाथ, गंगोत्री तथा यमुनोत्री जैसे चार धामों की अवस्थिति के कारण देश के विभिन्न भागों से तीर्थयात्री यहाँ आते रहे।
- विभिन्न धार्मिक स्थलों के महत्व के साथ-साथ आप इस क्षेत्र के भूगोल से भी परिचित होंगे।
- आप धार्मिक स्थलों के ऐतिहासिक और पुरातात्विक महत्व से भी परिचित होंगे।
- आगे आप यह भी जान सकेंगे कि धार्मिक महत्व के स्थलों ने प्राचीन काल से ही किस प्रकार व्यापारिक गतिविधियों और पर्यटन को आगे बढ़ाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया।
- आप यह जानने में भी सक्षम होंगे कि धार्मिक स्थल किस प्रकार क्षेत्र की सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक गतिविधियों के महत्वपूर्ण केन्द्र होते हैं और किस प्रकार धीरे-धीरे साझा सांस्कृतिक विरासतें विकसित होती हैं।
- वैष्णव एवं शैव मतों तथा स्थानीय मान्यताओं के आधार पर निर्मित धार्मिक स्थलों के अतिरिक्त सिख व सूफी मत के चिह्न भी यहाँ मिलेंगे।
- कैलास मानसरोवर को जाने वाला यात्रामार्ग होने के कारण भी यह क्षेत्र ऐतिहासिक युगों से ही महत्वपूर्ण रहा और हिन्दू, बौद्ध, जैन आदि विभिन्न धर्मों के मतावलम्बियों के साथ-साथ यात्रा में जाने, शंकराचार्य के उत्तराखण्ड आगमन, बदरीनाथ में रावल (प्रमुख पुजारी) दक्षिण भारतीय होने आदि के कारण भी एक प्रकार का समन्वय और सद्भाव विकसित हुआ।

मानसखण्ड एवं केदारखण्ड में वर्णित
उत्तराखण्ड के प्रमुख तीर्थस्थान



स्रोत: किरन त्रिपाठी, उत्तराखण्ड का ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक भूगोल

2.3 उत्तराखण्ड के चार धाम

2.3.1 बदरीनाथ

जोशीमठ से 51 किमी. दूर विष्णुगंगा के तट पर स्थित बदरीनाथ वैष्णवों का एक प्रसिद्ध तीर्थ स्थल है। यहाँ का मन्दिर काफी प्रचीन है और समय-समय पर इसका जीर्णोद्धार होता रहा। यहाँ विष्णु की द्विभुज मूर्ति है। महाभारत के वन पर्व में इस क्षेत्र को विशालापूरी कहा गया है।

“तस्यातियशसः पुण्यां विशालां बदरीमनु।

आश्रमः रूपायते पुण्यस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः।।”

शिवप्रसाद डबराल का मानना है कि महाभारत और पुराणों के अनुसार पाण्डवों ने बदरीनाथ की तीर्थ यात्रा की थी। अतः ईसा से एक सहस्राब्दि पूर्व ही बदरिकाश्रम को तीर्थ की मान्यता मिल चुकी थी।

केदारखण्ड में उल्लेख है कि “महर्षि कण्व के आश्रम से आरंभ करके जहाँ तक नन्दपर्वत आता है, उस परम पवित्र क्षेत्र बदरिकाश्रम (बदरीनाथ) में अनेक तीर्थ हैं तथा यह क्षेत्र गंधमादन, बदरीवन, नर-नारायण के आश्रम और अनेक तीर्थों से विभाजित है।”

पांडुकेश्वर ताम्रपत्र से पता चलता है कि दसवीं शताब्दी में कत्यूरी शासक पद्मदेव ने बदरिकाश्रम में उपासना आदि से संबंधित विभिन्न परंपराएँ जारी रखने तथा मंदिर के जीर्णोद्धार के लिए उस क्षेत्र के आस-पास के कई गाँव दान में दिए। गढ़वाल के परमार शासन के दौरान भी इस तीर्थ का काफी महत्व था। उनके ताम्रपत्रों में लगी मुहर पर भी “श्री बदरीनाथो दिग्विजयति” को अंकित किया गया है। शिवप्रसाद डबराल ने लिखा है, “मार्ग की कठिनाइयों के कारण बदरी से आगे हुणदेश में कैलाश मानसरोवर की तीर्थयात्रा भी विरले व्यक्ति ही करते थे।...बदरी से कतिपय साहसी तीर्थयात्री कैलाश मानसरोवर पहुँचते थे।”

रेपर के विवरण के अनुसार “19 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तथा इसी शताब्दी के प्रारंभ में बदरीनाथ में केवल 20 या 30 झोपड़े थे, जिनमें कुछ ब्राह्मण तथा मंदिर के अन्य पुजारी रहते थे। मन्दिर एक कोण के आकार का था। इसके आमलक के ऊपर स्थित शिखर को ऊपर से ताँबे के पत्रों द्वारा आच्छादित किया गया था। शिखर में सबसे ऊपर सोने का कलश था। मन्दिर की ऊँचाई 40-50 फुट के लगभग थी। भूकम्प से यह अत्यधिक जर्जर हो गया था। जीर्णोद्धार कराए जाने पर उसका रूप पूरी तरह परिवर्तित हो गया। यहाँ लकड़ी के तख्तों से ढका हुआ 20 या 30 फुट वाला वर्गाकार कुण्ड था, जिसे तप्त कुण्ड कहते थे। इसके गर्म पानी से भाप उठती रहती थी। मन्दिर में बदरीनाथ की प्रमुख प्रतिमा के मस्तक पर एक छोटा सा दर्पण था, जिस पर बाहर की वस्तुओं का प्रतिबिम्ब दिखाई देता था। गर्भगृह में, जहाँ प्रतिमा की स्थापना की गई थी और जहाँ द्वार के अतिरिक्त प्रकाश के पहुँचने का कोई मार्ग न था, प्रतिमा के आगे दो दिए जलते रहते थे और उसे सोने और चाँदी की जरी वाले वस्त्र पहनाए जाते थे।” ओकले ने होली हिमालय में बताया है कि “प्रतिमा के आभूषणों में एक छोटा हीरा था, जो मुकुट पर माथे के मध्य में लगाया गया था। प्रतिमा की सारी सम्पत्ति, जिसमें उसके वस्त्र, भोग के पात्र तथा अन्य वस्तुएँ थीं, पाँच हजार रुपए से अधिक की नहीं रही होगी।”

पुनः रेपर ने लिखा है—“प्रतिदिन सुबह से एक या दो बजे तक मन्दिर दर्शनार्थी के लिए खुला रहता था। उसके बाद मन्दिर के कपाट बन्द कर दिए जाते थे। सूर्यास्त के समय में देर तक कपाट खोलकर रात्रि में भजन आदि के उपरान्त प्रतिमा के शयन की व्यवस्था की जाती थी। मन्दिर में विभिन्न कार्यों को सम्पन्न करने के लिए सेवक-सेविकाएँ रखे जाते थे। शीतकाल में मन्दिर के सभी कर्मचारी जोशीमठ चले जाते थे। मन्दिर के आन्तरिक भागों तक केवल मन्दिर के कर्मचारी ही जा सकते थे और रावल के अतिरिक्त किसी को

भी प्रतिमा के स्पर्श की अनुमति नहीं थी। यहाँ रहने वाले अधिकांश ब्राह्मण दक्षिण के थे। उनकी जीविका मन्दिर के कोष के अधिशेष तथा तीर्थयात्रियों द्वारा दिए गए दान से चलती थी। 1808 में यहाँ 45 से 50 हजार तीर्थयात्री दर्शनार्थ पहुँचे थे, जिनमें से अधिकांश देश के दूरस्थ भागों से आए फकीर थे। ये सब हरद्वार में एकत्र होते थे और मेला पूर्ण होने पर बदरीनाथ के लिए देवप्रयाग-रुद्रप्रयाग मार्ग का अनुसरण करते थे।

हरिकृष्ण रतूड़ी ने गढ़वाल का इतिहास में लिखा है—“प्रति वर्ष यहाँ भारत के अनेक प्रान्तों से लगभग 50 हजार यात्री दर्शनार्थ आते हैं। कुम्भ के साल में यात्रियों की संख्या अधिक बढ़ जाती है। इस क्षेत्र की यात्रा का समय मई के अन्त से सितंबर के अन्त तक होता है। यात्रीगण हरिद्वार में अप्रैल में जमा हो जाते हैं और जब विषुवत संक्रान्ति का मेला समाप्त होता है, तब वे लोग कुछ तो देहरादून, मसूरी के मार्ग होकर और कुछ ऋषिकेश-देवप्रयाग से टिहरी के मार्ग होकर गंगोत्री, यमुनोत्री को जाते हैं।... अधिकांश यात्री ऋषिकेश, देवप्रयाग, श्रीनगर होकर केदारनाथ को जाते हैं और वहाँ से बदरीनाथ को जाते हैं। मन्दिर की आय के दो मुख्य मार्ग हैं—भूमि कर और चढ़ावा।” गूँठ के रूप में अनुदान में दी गई भूमि मन्दिर की आय का प्रमुख स्रोत थी। 1827-28 में ट्रेल ने हरिद्वार से केदारनाथ और बदरीनाथ के तीर्थयात्रामार्ग तथा वहाँ से रामनगर जाने वाले मार्ग का उद्घाटन किया, जो सात वर्षों में पूर्ण हुआ।



बदरीनाथ मन्दिर

2.3.2 केदारनाथ

चमोली जिले में स्थित केदारनाथ शैवों का प्रमुख और अत्यंत पवित्र तीर्थ माना जाता है। यह क्षेत्र बदरीनाथ के पश्चिमोत्तर भाग में 14 या 15 मील की दूरी पर स्थित है। महाभारत के वनपर्व में केदारतीर्थ का उल्लेख मिलता है। योगिनीतंत्र में भी इसका वर्णन है। केदारखण्ड इसे सब क्षेत्रों में उत्तम बताता है—“एवं केदारं नाम यत्प्रोक्तं स्वर्गमोक्षप्रदायकम्।” रेपर के विवरण के अनुसार “बर्फ से आच्छादित पर्वतों के कारण यहाँ पहुँचने में असुविधा होती थी। फलतः यात्रियों को घूमकर जोशीमठ के मार्ग से यहाँ पहुँचने के लिए आठ-नौ दिन की यात्रा करनी पड़ती थी। मार्ग इतना दुर्गम था कि 1807-08 में दो या तीन सौ व्यक्ति यात्रा के दौरान ही काल कवलित हो गए।” शीतकाल में मन्दिर के कपाट बन्द हो जाते थे और मई के अन्त से सितम्बर के अन्त तक इन्हें पूजा-अर्चना तथा तीर्थयात्रा के लिए खोल दिया जाता था। हरिकृष्ण रतूड़ी ने लिखा है कि “केदारनाथ में पण्डे-पुजारियों के घर, धर्मशालाएँ काफी हैं। यहाँ भी मई के अन्त से सितंबर के अंत तक पूजन अर्चन और

यात्रियों का दर्शन होता है....बदरीनाथ की अपेक्षा इस मन्दिर की आय कम है। "राहुल सांकृत्यायन ने अपने ग्रंथ 'गढ़वाल' में उल्लेख किया है कि "केदारनाथ का मन्दिर काफी भव्य और विशाल है। मन्दिर की दीवारों पर दो-तीन अभिलेख हैं।" डबराल इसे कत्यूरी शैली में निर्मित मानते हैं। शिवप्रसाद नैथानी के अनुसार," इस विशालतम छत्रप्रासाद युक्त पंचरथ मन्दिर का निर्माण भूरे पत्थर के बड़े-बड़े काटे,तराशे शिलाखण्डों को जोड़कर किया गया है।...मन्दिर की रचना लगभग 6 फुट ऊँचे चबूतरे पर है,जिसके बाहर चारों ओर बड़ा खुला अहाता है।...गर्भगृह में त्रिकोणाकृति की एक बृहत् ग्रेनाइट शिला का उर्ध्व भाग पर्याप्त ऊँचाई तक उभरा है,जिसका यात्री उदक कुण्ड से ताम्रकलश में जल भरकर अभिषेक करते हैं।...गर्भगृह में वाम भित्ति पर दो लेख हैं.....गर्म पानी से धोकर पोंछने के बाद राहुल सांकृत्यायन ने कुछ गहरे खुदे अक्षरों को कुछ इस प्रकार पढ़ा था—रजदेव के—(इति)।...गर्भगृह को राहुल प्राचीन मन्दिर का गर्भगृह मानते हैं"। वे पुनः लिखते हैं,"केदारनाथ मन्दिर के पीछे पत्थरों के ढेर हैं।ऐसा माना जाता है कि यहीं पर केदारखण्ड के मूल मन्दिर की स्थापना हुई थी। उत्खनन से यहाँ मूर्तियाँ मिली हैं और राहुल को वहीं पर प्राचीन लिपि में एक खण्डित लेख भी मिला, जिसे उन्होंने चौथी-पाँचवीं से लेकर सातवीं शती ई0 के मध्य में किसी युग का माना था। यहीं पर एक छोटा ईशान मन्दिर आज भी है।"



केदारनाथ मन्दिर

2.3.3 गंगोत्री

केदारखण्ड में वर्णन है कि हिमालय पहाड़ के दक्षिण में,जहाँ गंगा की स्थिति है,उस स्थान को गंगोत्तर कहा जाता है। फ्रेजर के अनुसार "यहाँ पहुँचने का मार्ग अत्यंत दुर्गम था। अमरसिंह थापा ने इसका पुनर्निर्माण करवाया। पहले यमुनोत्री की भाँति यहाँ भी मंदिर नहीं था। उसने चार-पाँच सौ रुपया लगाकर मन्दिर का निर्माण करवाया। मन्दिर की ऊँचाई 16 से 20 फुट थी। बाहर लकड़ी के तख्तों से बनाए गए दो-तीन छप्पर थे,जिन्हें धर्मशाला बताया गया था। जिन यात्रियों को उनमें स्थान नहीं मिल पाता था, वे चारों ओर बनी प्राकृतिक गुफाओं में ठहरते थे।" डॉ० नैथानी ने कुछ तथ्यों के आधार पर दौलतराव सिन्धिया को यहाँ के मन्दिर का प्रथम निर्माता बताया है, 1803 के भूकम्प में ध्वस्त हो जाने पर 1807 में जिसे अमरसिंह थापा द्वारा बनवाया गया। गंगोत्री मार्ग में बाड़ाहाट में अनेक प्राचीन एवं ऐतिहासिक मन्दिर थे। कई धर्मशालाएँ भी थीं। हरिकृष्ण रतूड़ी के अनुसार, "गंगोत्री से लगभग 10 या 12 मील ऊपर उत्तर पूर्व को गंगा का उद्गम स्थल गोमुख है। यह स्थान हिमालय के उस सबसे बड़े ग्लेशियर के किनारे है,जो गंगोत्री ग्लेशियर के नाम से

प्रसिद्ध है। धारा का जल गुफा के अंदर से बड़े वेग से बाहर को आता है।...उस स्थल की आकृति से यह भी अनुमान किया जाना अनुचित नहीं कि गंगा का असली उद्गम स्थान उससे भी आगे हिमालय की किसी दरार में अवश्य कोई दूसरा है।...अनुमान और मौके दृश्य से यह विश्वास होता है कि गंगा का असली उद्गम स्थान उस हिमालय से है, जो सतोपथ नामक काँटे से पश्चिमी ढाल पर है, जिसके पूरब ढाल पर माणा की घाटी से बदरीनाथ के ऊपर तक बर्फ से ढका रहता है और यहीं केदारनाथ के काँटे से उत्तर के ढाल से मिला हुआ है।...मन्दिर में कुछ भूमि जागीर में है, शेष चढ़ावे की आय से मन्दिर के सब कार्य निर्वाह होते हैं। गंगोत्री टिहरी राज्य के अन्तर्गत टकनौर परगने में है।”



गंगोत्री



गोमुख

2.3.4 यमुनोत्री

केदारखण्ड के अनुसार, गंगोत्री के बायें भाग में समस्त सिद्धियों को देने वाला यमुनोत्तर तीर्थ है। फ्रेजर ने अपने विवरण में लिखा है कि “यहाँ पत्थरों से एक छोटा सा देवालय बनाया गया था। इसके अंदर किसी देवी-देवता की प्रतिमा नहीं थी। केवल लोहे से निर्मित कुछ नाग और त्रिशूल थे। मध्य में ताँबे का एक छोटा सा छत्र था। मन्दिर में छोटा सा ताँबे का दीपक और एक ताँबे की घंटी थी। हरिकृष्ण रतूड़ी ने लिखा है—“यमुना का उद्गम स्थान यमुनोत्तरी नामक बन्दरपुच्छ हिमालय की तीसरी चोटी अर्थात् यमुनोत्तरी काँठा के अंक में है।...यह तीर्थ भी छः महीने शीतकाल में हिमाच्छादित होकर अगम्य रहता है, छः महीने यहाँ गर्मियों में पूजन अर्चन होता है।...यमुनोत्री तीर्थ टिहरी राज्य के रवाई परगने की गीठ पट्टी में है।”



यमुनोत्री मन्दिर

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

(1) निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।

(क) बदरीनाथ

(ख) केदारनाथ

(2) नीचे लिखे प्रश्नों के उत्तर लिखिये।

(क) राहुल सांकृत्यायन के पाठ में उल्लिखित ग्रन्थ का नाम बताइये।

(ख) गोमुख का संबंध किस नदी से है?

2.4 पंच बदरी, पंच केदार तथा पंच प्रयाग

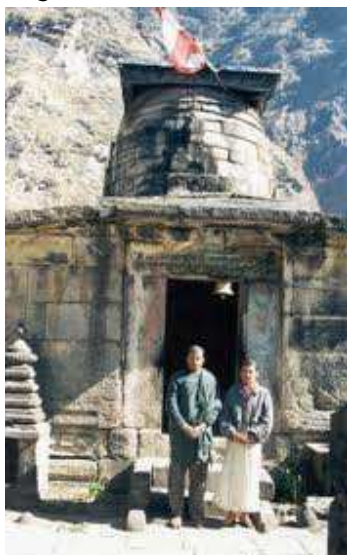
पंच बदरी

2.4.1 बदरीनाथ

इस धार्मिक स्थल के बारे में आप इकाई 2.3 के अन्तर्गत खण्ड 2.3.1 में विस्तार से जान चुके हैं।

2.4.2 योग बदरी (पाण्डुकेश्वर)

जोशीमठ से 8 मील की दूरी पर स्थित पाण्डुकेश्वर में दो मन्दिर हैं—1. योगबदरी मन्दिर 2. वासुदेव मन्दिर। दोनों में विष्णु की कांस्य प्रतिमाएँ हैं। योगबदरी मन्दिर में विष्णु की ध्यानमग्न तपस्वी रूप में मूर्ति है। पूर्व में बदरीनाथ मन्दिर के कपाट बन्द होने पर बदरीनाथ के पुजारी शीतकाल में इस स्थान में निवास करते थे और कपाट खुलने पर इस मूर्ति की पूजा के लिए अपने एक शिष्य को यहाँ छोड़ जाते थे। परवर्ती वर्षों में बदरीनाथ के पुजारियों के शीतकाल में जोशीमठ में निवास करने के कारण इस मन्दिर के लिए एक अलग पुजारी की नियुक्ति की गई। पाण्डुकेश्वर के मन्दिर में कत्यूरी वंश के शासकों ललितशूरदेव, पद्मटदेव, तथा सुभिक्षराजदेव के चार ताम्रपत्र भी उपलब्ध हुए थे।



पाण्डुकेश्वर मन्दिर

2.4.3 ध्यान बदरी (उर्गम)

ऋषिकेश-बदरीनाथ मार्ग पर जोशीमठ के समीप हेलड से 9 किमी. दूर उर्गम का यह तीर्थ स्थान है। वर्तमान मन्दिर प्राचीन मन्दिर के अवशेषों पर निर्मित है। मन्दिर के प्रांगण में यत्र-तत्र बिखरे अवशेष इसकी प्राचीनता की पुष्टि करते हैं।

2.4.4 वृद्ध बदरी(अणिमठ)

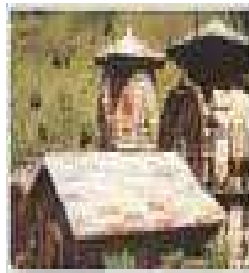
जोशीमठ से 7 किमी. दूर हेलड के समीप अणीमठ नामक स्थान है। यहाँ विष्णु का मन्दिर है, जो वृद्ध बदरी के नाम से प्रसिद्ध है। मन्दिर में विष्णु की लगभग डेढ़ फुट ऊँची, शंख-चक्र-गदा-पद्मधारी चतुर्भुज मूर्ति है, जिसके साथ गरुड़, कुबेर, नारद भी विराजमान हैं। इसके अलावा इसके दाईं ओर शिव का बिना मण्डप वाला एकरथ मन्दिर है।



वृद्ध बदरी(अणिमठ)

2.4.5 भविष्य बदरी

जोशीमठ से नीती घाटी जाने वाली सड़क पर 6 मील पर तपोवन के सुवै नामक स्थान में विष्णु का एक मन्दिर है, जो भविष्य बदरी के नाम से विख्यात है। कहावत है कि भविष्य में जब कभी बदरीनाथ की यात्रा का मार्ग बन्द हो जाएगा, तब यात्री लोग इस स्थान से बदरीनाथ के दर्शन करेंगे।



भविष्य बदरी

2.4.6 आदि बदरी

चौखुटिया-कर्णप्रयाग मार्ग पर कर्णप्रयाग से 14 मील पहले चाँदपुरगढ़ के पास सोलह मन्दिरों का समूह है। इस समूह में नारायण(विष्णु) का मन्दिर प्रमुख है, जहाँ काले प्रस्तर से निर्मित विष्णु की मूर्ति है। इनमें से सात मन्दिर अधिक प्राचीन हैं।



आदि बदरी

पंच केदार

केदारखण्ड में शिव के पाँच क्षेत्र बताए गए हैं, 1. केदार 2. मध्यमेश्वर(मदमहेश्वर) 3.तुंगनाथ 4.रुद्रनाथ तथा 5. कल्पनाथ।

“ केदारं मध्यमं तुङ्ग रुद्रं कल्पेश्वरं प्रियम्।

पंच केदारकं नित्य स्मरेत्पातक नाशनम्।।”

2.4.7 केदारनाथ

केदारनाथ का विवरण आप इकाई 2.3 के खण्ड 2.3.2 में पढ़ चुके हैं।

2.4.8 मध्यमेश्वर(मदमहेश्वर)

रुद्रप्रयाग जिले में स्थित इस क्षेत्र में शिव का एक भव्य मंदिर है। केदारखण्ड के अनुसार “केदार क्षेत्र से दक्षिण की ओर तीन योजन अर्थात् बारह कोस की दूरी पर यह क्षेत्र स्थित है।”



मध्य महेश्वर

2.4.9 तुंगनाथ

“केदारखण्ड के अनुसार “मान्धाता क्षेत्र से दक्षिण की ओर दो योजन चौड़ा और दो योजन लम्बा तुंगनाथ नामक क्षेत्र कैलासधाम में स्थित है।” टिहरी गढ़वाल के रुद्रप्रयाग जिले में स्थित तुंगनाथ केदारनाथ-उखीमठ-गोपेश्वर मार्ग के मध्य में पड़ता है। यहाँ शिव का प्रसिद्ध मन्दिर है। इसे भारत का सर्वोच्च ऊँचाई पर स्थित मन्दिर माना जाता है। नैथानी ने लिखा है, “यह कत्यूरी शैली में बनाये काष्ठ छत्र प्रासाद वाला एक रथ है। सामने तीन फुट ऊँची शंकराचार्य की मूर्ति है, जिसे राहुल ने पद्मासन में स्थित किसी भक्त साधु की मूर्ति की संज्ञा दी है।”



तुंगनाथ

2.4.10 रुद्रनाथ

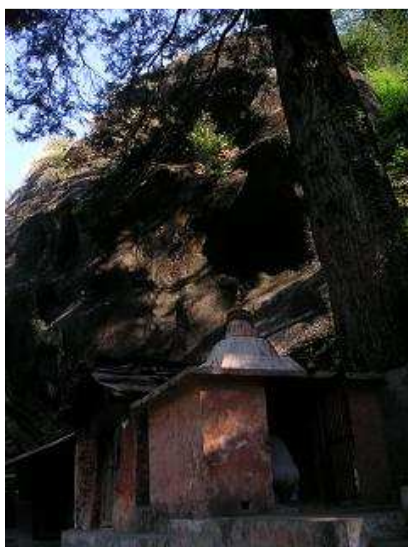
शिव का यह मन्दिर चमोली जिले में स्थित है। केदारखण्ड के अनुसार, "सब तीर्थों में उत्तम यह तीर्थ गिरिराज हिमालय के ऊपर है।" रुद्रनाथ में शिवलिंग के स्थान पर एकमुख लिंग है, जो उत्तराखण्ड में अन्यत्र कहीं नहीं है। दूसरी उल्लेखनीय मूर्ति शेषशायी विष्णु की है। गुफा मन्दिर के बांयी ओर पाँच और छोटे मन्दिर चट्टान के सहारे बने हैं तथा निकट ही भूमिया, क्षेत्रपाल, जाख की धातु मूर्ति भी हैं। कपाट बन्द होने पर उत्सव मूर्ति तथा क्षेत्रपाल को गोपेश्वर लाया जाता है।



रुद्रनाथ

2.4.11 कल्पनाथ(कल्पेश्वर)

केदारखण्ड के अनुसार, "कैलास पर्वत के ऊपर स्थित (उर्गम में) यह शिव का पाँचवाँ आलय था।" चमोली जिले में स्थित यह पंच केदार का अकेला मन्दिर है, जहाँ वर्ष भर यात्री जा सकते हैं। कल्पेश्वर में शिव का मन्दिर एक विशाल चट्टान के नीचे गुफा में है। यहाँ ध्यानबदरी का भी मन्दिर है।



कल्पेश्वर

2.4.12 विष्णुप्रयाग

जोशीमठ-बदरीनाथ मार्ग पर 10 किमी. आगे विष्णुगंगा(माणा पर्वत से निकलने वाली नदी) और धौली(नीती से उद्गम) के संगम पर विष्णुप्रयाग स्थित है। महाभारत में इससे ऊपर गंधमादन क्षेत्र की स्थिति बताई गई है। केदारखण्ड में भी इसका उल्लेख है। 1796 में हार्डविक ने विष्णुप्रयाग को एक बड़ा कस्बा बताया था। 1803 की बाढ़ इसे हानि पहुँची। रेपर ने लिखा है कि "यहाँ 1807-08 में दो या तीन घर थे। एक छोटा सा मठ था, जिसके कपाट बन्द रहते थे तथा मन्दिर में कोई ब्राह्मण या फकीर नहीं था।" वॉल्टन के गढ़वाल गजेटियर(1921) में भी यहाँ संगम पर नदियों के तीव्र वेग के कारण किए गए सुरक्षा प्रबंध का उल्लेख हुआ है—"चट्टान को काटकर विष्णुकुण्ड तक यद्यपि सीढ़ियाँ बनाई गई हैं और स्नानार्थियों के लिए लोहे की जंजीरें तथा छल्ले लगाए गए हैं, फिर भी स्नान के समय कई लोग बह जाते हैं।"



विष्णुप्रयाग

2.4.13 नन्दप्रयाग

केदारखण्ड के अनुसार, "नन्दा(नन्दाकिनी) और अलकनन्दा के संगम पर यह तीर्थ पाँच प्रमुख प्रयागों में विष्णुप्रयाग के बाद सबसे उत्तर की ओर स्थित है।" रेपर ने लिखा है कि "यहाँ पहले एक मन्दिर और एक छोटा सा गाँव था। अब इसके अवशेष नहीं दिखाई देते। कुछ बनियों ने यहाँ अपनी दुकानें खोली थीं। कुछ पत्थरों को एक चबूतरे का आकार दिया गया था। तीर्थयात्रियों के उपासना आदि कार्यों के लिए इसमें कुछ प्रतिमाएँ भी रखी थीं। तीर्थयात्रा के अवसर पर एक ब्राह्मण यहाँ मौजूद रहता था।"



नन्दप्रयाग

2.4.14 कर्णप्रयाग

केदारखण्ड के अनुसार, "गंगा(अलकनन्दा) और पिण्डारका(पिण्डर) के संगम में स्थित देवमन्दिर में कर्ण ने सूर्य की आराधना की, फलतः उसी दिन से इस क्षेत्र का नाम कर्णक्षेत्र हुआ।" 1808 में रेपर की यात्रा के समय यह एक छोटा सा गाँव था, जहाँ छः सात घर थे, कर्ण की मूर्ति से युक्त एक मठ मन्दिर था।



कर्णप्रयाग

2.4.15 रुद्रप्रयाग

कर्णप्रयाग से उत्तर पश्चिम में अलकनन्दा और मन्दाकिनी के संगम पर इसकी अवस्थिति है। महाभारत के वन पर्व तथा केदारखण्ड में इसका उल्लेख है। 1796 में थॉमस हार्डविक की श्रीनगर यात्रा के संदर्भ में तथा 1808 में रेपर के यात्रा वृत्त में रुद्रप्रयाग का उल्लेख मिलता है। यहाँ प्रमुख मन्दिर रुद्रनाथ का है।



रुद्रप्रयाग

2.4.16 देवप्रयाग

भागीरथी और अलकनन्दा के संगम पर स्थित देवप्रयाग उत्तराखण्ड के पंचप्रयागों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। केदारखण्ड के अनुसार—अयोध्या, मथुरा, काशी, द्वारका, सेतुबंध, काँची, गया, कुरुक्षेत्र और बदरिकाश्रम, गंगाद्वार (हरिद्वार), प्रयाग, मायाक्षेत्र (हरिद्वार के आस-पास का क्षेत्र) तथा सब तीर्थों से उत्तम देवप्रयाग की स्थिति गंगाद्वार के उत्तर पूर्व भाग में है, जहाँ गंगा (भागीरथी) अलकनन्दा का संगम है।

देवप्रयाग के ब्राह्मी अभिलेख में विभिन्न तीर्थयात्रियों की नामावली मिलती है, जिसे देखने से पता चलता है कि एक तीर्थ के रूप में देवप्रयाग का अत्यधिक महत्व था। रेपर के अनुसार “यहाँ रघुनाथ या रामचन्द्र का एक मन्दिर था। मन्दिर में काली शिला से निर्मित 6 फुट ऊँची प्रतिमा थी, जिसके चेहरे का रंग धूमिल हो गया था, पर निचले भाग का रंग लाल था। मन्दिर के बाहर पीतल से निर्मित एक गरुड़ की मूर्ति थी। मानव आकृति वाली इस गरुड़ प्रतिमा में नाक के स्थान पर चोंच बनाई थी और कंधों पर फैले हुए पंख थे। श्रीनगर के शासकों ने मन्दिर की आय हेतु 25 गाँव दान में दिए थे, जो गोरखा शासन में भी पूर्ववत् रहे। इनसे प्रतिवर्ष 1200 रुपए की आय होती थी।” 1860 के भूकम्प में ध्वंस होने के बाद ग्वालियर के महाराजा दौलतराव सिन्धिया ने इसका जीर्णोद्धार करवाया। मन्दिर में ऐतिहासिक लेख विद्यमान हैं, जिनमें यात्री नामावलियाँ भी मिलती हैं।



देवप्रयाग

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

(1) निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।

(क) पंच बदरी तथा पंच केदार का विवरण दीजिये।

(ख) पंच प्रयाग के बारे में बताइये।

(2) नीचे लिखे प्रश्नों के उत्तर लिखिये।

(क) योगबदरी(पाण्डुकेश्वर)मन्दिर में जिन शासकों के ताम्रपत्र मिले हैं, वे यहाँ के किस वंश से संबन्धित थे?

(ख) देवप्रयाग किन दो नदियों के संगम पर स्थित है?

2.5 हरिद्वार, कनखल, ऋषिकेश तथा अन्य महत्वपूर्ण धार्मिक स्थल

2.5.1 हरिद्वार (गंगाद्वार)

प्राचीन काल से ही हरिद्वार- गंगाद्वार के नाम से अत्यंत प्रसिद्ध तीर्थ रहा है। महाभारत के वनपर्व में इसे स्वर्ग के द्वार के समान पुण्य कहा गया है—“ स्वर्गद्वारेण यत्तुल्यं गंगाद्वारं न संशयः।” केदारखण्ड में इसे मायाक्षेत्र कहा गया है और हरकी पैड़ी, पंचतीर्थ, अमृतकुण्ड, तप्तकुण्ड, रामकुण्ड, सीताकुण्ड, सरयूकुण्ड आदि पवित्र तीर्थस्थलों का उल्लेख किया गया है। हरिद्वार में मुख्य तीर्थ स्थल हरकी पैड़ी है, जिसको ब्रह्मकुण्ड भी कहते हैं। नील पर्वत और चण्डीघाट भी दर्शनीय स्थल हैं। इनके अतिरिक्त अनेक मन्दिर हैं।



रेपर के अनुसार, “गंगाद्वार या हरिद्वार में प्रति बारहवें वर्ष एक कुम्भ मेला होता था, जिसमें दूर-दूर से तीर्थयात्री आते थे।” मेले के अवसर पर व्यापारिक गतिविधियाँ भी तेज रहती थीं और काबुल, कश्मीर, लाहौर, हुणदेश (तिब्बत), श्रीनगर, कुमाऊँ तथा मैदानी इलाकों के व्यापारी यहाँ उपस्थित होते थे। घोड़े, खच्चर, ऊँट, तम्बाकू की एक किस्म, एंटीमनी, मेवे तथा अनार, शॉल व पट्टू, पगड़ी, दर्पण, खिलौने, पीतल और हाथी दाँत, दालें, धनुष-बाण, लाहौरी नमक, ऊँट आदि विक्रय की प्रमुख वस्तुएँ थीं। रेपर को हरिद्वार की मण्डी में कुछ वेनेशियायी और डच सिक्के तथा यूरोपीय खिलौने विक्रय के लिए देखकर आश्चर्य हुआ था।

2.5.2 कनखल

कूर्म पुराण में इसे दक्ष के यज्ञ का स्थान तथा पद्म पुराण में एक तीर्थ के रूप में बताया गया है। महाभारत में उल्लेख है कि कनखल से ही उत्तराखण्ड की पर्वतमालाएँ प्रारंभ होती हैं। कथासरित्सागर में गंगाद्वार के साथ ही इसका वर्णन है।

“ तीर्थ कनखलं नाम गंगाद्वारास्तिपावनम्,
यत्र काञ्चनवातेन जाह्नवी देवदन्तिना,
उशीनर गिरिवस्थात् भित्वातमवतारिता।”

मानसखण्ड में भी एक प्रमुख और प्रसिद्ध तीर्थ के रूप में इसका उल्लेख है। केदारखण्ड में कनखल को मोक्षप्रदायक तीर्थ बताया गया है।

2.5.3 ऋषिकेश

हरिद्वार से चौदह मील उत्तर पूर्व में गंगा नदी के दाहिने किनारे पर स्थित इस क्षेत्र को महाभारत के वन पर्व में कुब्जाम्रक भी कहा गया है।

“ततः कुब्जाम्रकं गच्छेतीर्थं सेवी यथा क्रम।
गे सहस्रमवाप्नोति स्वर्गं लोकं च गच्छति॥”

डा. शिवप्रसाद नैथानी ने गढ़वाल विश्वविद्यालय के पुरातत्व विभाग द्वारा 1982 में भरत मन्दिर के प्रांगण में किए गए उत्खनन में हुई प्राप्तिओं के आधार पर यह बताया है कि दो हजार वर्ष पहले भी यह तीर्थ जनसंकुल था और उत्तराखण्ड को जाने वाला महापथ यहीं से होकर गुजरता था। (देखें—उत्तराखण्ड के तीर्थ एवं मन्दिर)

तपोवन, मुनि की रेती, स्वर्गाश्रम, भरत मन्दिर, लक्ष्मण झूला आदि प्रमुख तीर्थ स्थल हैं।



2.5.4 श्रीक्षेत्र(श्रीनगर)

केदारखण्ड के अनुसार “ हिमालय के दक्षिणी भाग में जहाँ अलकनन्दा है, वहीं श्रीक्षेत्र नामक तीर्थ है।” श्रीक्षेत्र की पहचान श्रीनगर से की गई है। यह परमार राजाओं की राजधानी भी रहा। श्रीनगर के समीप अलकनन्दा के मध्य में एक टापू को आज भी श्रीयंत्र टापू कहा जाता है। मूरक्राफ्ट ने लिखा है कि “1803 के भूकम्प में यह नगर आधे से अधिक नष्ट हो गया था। नगर में एक धर्मशाला और दो बड़े मन्दिर थे।” परमार शासन में व्यापारिक दृष्टि से भी यह काफी उन्नत रहा। बदरीनाथ के तीर्थ यात्रामार्ग पर होने के कारण इसकी स्थिति अत्यंत महत्वपूर्ण थी। हरिकृष्ण रतूड़ी ने लिखा है— “कमलेश्वर मन्दिर गढ़वाल के प्रतिष्ठित मंदिरों में है, जिसका खर्च चढ़ावे और मन्दिर के गूँठ ग्रामों की आय से अच्छी तरह चलता है।”



2.5.5 जोशीमठ

रेपर ने लिखा है—“विष्णुप्रयाग के समीप स्थित इस क्षेत्र में कई मन्दिर 1803 के भूकम्प में ध्वस्त हो गए थे। विष्णु, गणेश, सूर्य तथा नवदुर्गा के मन्दिर सुरक्षित थे। इनमें विष्णु और गणेश की प्रतिमाओं पर उत्तम अलंकरण किया गया था, जिसमें ताँबे से निर्मित चौकोर छत थी। इनमें नौ विभिन्न रूपों में भैरवी की मूर्तियाँ थीं इन पर इतना मक्खन लगाया जाता था कि वे दिखाई नहीं देती थीं।”



2.5.6 तपोवन

जोशीमठ से सात मील दूर धौलीगंगा के तट पर स्थित तपोवन में गुप्त काल के तीन शाक्त मन्दिर हैं। इनमें चपटी छत वाला एक मन्दिर सबसे पुराना है। मूर्तियों से युक्त कत्यूरी कालीन एक बड़ा मन्दिर है और सड़क के पास विशाल शिलाओं से बने किसी मन्दिर या दुर्ग की दीवारों के अवशेष हैं।

2.5.7 उखीमठ

उखीमठ मन्दाकिनी के बायें तट पर एक ऊँची पहाड़ी पर बसा है। जिस प्रकार बदरीनाथ का शीतकालीन मुख्यालय जोशीमठ है, उसी प्रकार केदारनाथ के लिए उखीमठ है। यह केदारनाथ के रावल, पुजारी तथा मन्दिर समिति का मुख्यालय है। मोटर मार्ग बनने से पूर्व प्रायः यात्री केदार दर्शन के बाद बदरीनाथ को जाते हुए उखीमठ में अवश्य रुककर आगे बढ़ते थे। 1847 में यूरोपियन यात्री हॉफमीईस्टर ने अपने यात्रावृत्तांत में इस क्षेत्र का उल्लेख किया है। यहाँ ओंकारेश्वर मन्दिर प्रमुख है।



2.5.8 बाड़ाहाट (वर्तमान उत्तरकाशी)

रेपर के विवरण के अनुसार “रवाई परगने के एक ताल्लुके की राजधानी बाड़ाहाट 19वीं शताब्दी के प्रारंभ में मूलतः बारह गाँवों का एक प्रमुख बाजार था। गंगोत्री जाने वाले तीर्थयात्री यहाँ ठहरते थे, क्योंकि यहाँ से उनके लिए बारह-चौदह दिन हेतु सामग्री की आपूर्ति हो जाती थी। इसी कारण यह एक महत्वपूर्ण स्थल बन गया था। गाँव के निकट ही मन्दिर के प्रांगण में एक त्रिशूल था, जिसमें राजा गुह का अभिलेख है। 1803 के भूकम्प में मन्दिर का कुछ भाग नष्ट हो गया था। स्तंभ को कोई हानि नहीं हुई।”



2.5.9 गणेशतीर्थ (टिहरी)

केदारखण्ड ने भागीरथी-भिलंगना के संगम पर स्थित टिहरी गणेशतीर्थ (गणेशप्रयाग) नाम देते हुए एक उत्तम तीर्थ बताया है।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

- (1) निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।
 - (क) गंगाद्वार या हरिद्वार का महत्व बताइये।
 - (ख) श्रीक्षेत्र(श्रीनगर) और बाड़ाहाट पर एक टिप्पणी लिखिये।
- (2) नीचे लिखे प्रश्नों के उत्तर लिखिये।
 - (क) कथासरित्सागर में गंगाद्वार के साथ किस तीर्थ का वर्णन मिलता है?
 - (ख) गणेशतीर्थ को वर्तमान में किस नाम से जाना जाता है?

2.6 बागेश्वर, जागेश्वर तथा अन्य

2.6.1 बागेश्वर

कत्यूर घाटी में गोमती और सरयू के संगम पर स्थित बागेश्वर प्राचीन काल से ही उत्तराखण्ड का एक महत्वपूर्ण धार्मिक एवं व्यापारिक स्थल रहा है। कुमाऊँ में मान्यता है कि 'यदि देव मूर्तियाँ देखनी हों, तो जागेश्वर जाना चाहिये और यदि गंगा नहानी हो तो बागेश्वर जाना चाहिये' (दयाप्त(देवता) देखण जागेसर गंग नाणी बागेसर,)। इसी प्रकार कत्यूरी लोकगाथा में "जै लै जागेश्वर जागनाथ, बागेश्वर बागनाथ...." का संदर्भ मिलता है। मानसखण्ड में इसे दूसरी वाराणसी के रूप में चित्रित करते हुए उल्लेख किया है कि शिव के गणों द्वारा वागीश्वर के नाम से यहाँ शिव की स्तुति की गई। कत्यूरी शासक भूदेव के अभिलेख में व्याघ्रेश्वर के नाम से इसका उल्लेख मिलता है "श्रीव्याघ्रेश्वरदेवाय गन्धपुष्पस्तु....."

" यहाँ व्याघ्रेश्वर(बागेश्वर) मन्दिर प्रमुख है, जिसे वर्तमान में बागनाथ भी कहा जाता है। इसके पार्श्व में ही बाणेश्वर का मन्दिर है। बागेश्वर प्राचीन काल से ही एक महत्वपूर्ण तीर्थ के अलावा हुणदेश या तिब्बत से भोटान्तिक व्यापारियों द्वारा लाई जाने वाली सामग्री के लिए पहाड़ की सबसे बड़ी मण्डी भी रहा तो राष्ट्रीय आंदोलन के दौर में कुली बेगार आंदोलन का चरम रूप भी यहीं दिखाई दिया। तारादत्त पाण्डे ने भूगोल कूर्मचल(अपने मुलुक का भूगोल) में लिखा है कि " अब यह तीर्थ मण्डी हो गया है। अल्मोड़े के बहुत से व्यापारी कार्तिक से वैशाख पर्यंत सपरिवार वहाँ रहते हैं। बागेश्वर में वर्ष में तीन मेले लगते थे। एक माघ की संक्रान्ति को, दूसरा फाल्गुन में शिव चतुर्दशी को, तीसरा ज्येष्ठ के दशहरे को। इनमें पहला मेला बड़ा होता है। भोटिये लोग भोट के बहुत से पदार्थ लाते हैं। भोटिये घोड़े, और कस्तूरी, सुहागा, पशमीने वहाँ बहुत बिकते हैं। बहुधा भोटियों से सुहागा बनिये मोल ले लेते हैं और फिर उनसे फल्दाकोटी मोल लेकर रामनगर में बेचते हैं।" वॉल्टन के अल्मोड़ा गजेटियर में उल्लेख है कि "यहाँ लगने वाले वर्ष के तीन मेलों में भोटान्तिक एवं अन्य पर्वतीय जन कस्तूरी, चँवर, टट्टू



बकरी,भेड़,फर,लकड़ी के कटोरे,लोहे-पीतल तथा ताँबे के बर्तन और तंबाकू,चटाई,टोकरियाँ,वनों की उपज जैसी सामग्री विक्रय के लिए जाती थी।” बागेश्वर के विवरण में आपने देखा कि धार्मिक स्थलों में होने वाली गतिविधियाँ किस प्रकार क्षेत्र के आर्थिक विकास को प्रभावित करती हैं।

2.6.2 जागेश्वर

अल्मोड़ा-पिथौरागढ़ मोटर मार्ग पर 36 किमी. दूर, सरयू की सहायक जटागंगा की उपत्यका में देवदार के घने वनों के बीच स्थित जागेश्वर आठवीं से चौदहवीं शताब्दी के बीच निर्मित अपने मन्दिर समूह के लिए विशेष प्रसिद्ध है। यहाँ महामृत्युंजय तथा जागेश्वर या जागनाथ मन्दिर विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं। महामृत्युंजय के मन्दिर को इतिहासकार और पुरातत्वविद् जागेश्वर का सबसे महत्वपूर्ण मन्दिर मानते हैं, जो यहाँ का सबसे पुराना विशाल मन्दिर है और इसके प्रवेशद्वार से लेकर भित्तियों तक महत्वपूर्ण अभिलेख अंकित हैं। महामृत्युंजय मन्दिर के निकट



जागनाथ या जागेश्वर मन्दिर में अन्य देवी-देवताओं की प्रतिमाओं के साथ ही कुमाऊँ के चन्द नरेशों त्रिमलचंद तथा दीपचंद की प्रतिमाएँ भी हैं। जागेश्वर मुख्य मन्दिर से लगभग 2 किमी. उत्तर की ओर वृद्ध जागेश्वर का मन्दिर है तथा इससे दो किमी. की दूरी पर देवदार के सघन वृक्षों के बीच दण्डेश्वर का भव्य मन्दिर है। दण्डेश्वर के अगल-बगल में आठ-नौ छोटे-छोटे देवकुल (दिवंगत पितरों के नाम पर बने हुए प्रतीक) भी हैं। के. पी. नौटियाल ने जागेश्वर के मन्दिरों को उनके शिखरों और विमानों के आधार पर तीन कालखण्डों—पूर्व कत्यूरी (आठवीं से दसवीं सदी), उत्तर कत्यूरी (11वीं से चौदहवीं सदी के मध्य), तथा चन्द काल (15वीं से 18वीं सदी के मध्य) में विभाजित किया है।

मानसखण्ड के अनुसार—“दारुपर्वत और टंकणपर्वत के बीच में जटागंगा नदी तथा दारुकानन के मध्य ही भगवान यागीश्वर के क्षेत्र में अलकनन्दा नदी भी है। इन दोनों नदियों के संगम में ही भगवान यागीश्वर विद्यमान हैं।”

“टंकणस्य महाभागाः कुक्षौ वै दारुकाननम्।
तत्र जागीश्वरो देवो पूज्यते देवनायकैः॥”

2.6.3 पाताल भुवनेश्वर

पिथौरागढ़ जिले के गंगोलीहाट क्षेत्र से 6 किमी. दूरी पर स्थित पाताल भुवनेश्वर अपने मन्दिर समूह तथा प्राकृतिक गुफा मन्दिरों के लिए प्रसिद्ध है। इनमें बहुत सी यात्री नामावलियाँ और शिल्पियों के नाम अंकित हैं। ये सब दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी के जान पड़ते हैं। मन्दिर की दीवारों पर अंकित शिलालेखों में इस स्थान का नाम भुवनेश्वर अंकित है और इस गहरी प्राकृतिक गुफा का आकर्षण बढ़ जाने के कारण लोगों ने इस स्थान का नामकरण



(c) ajay jain / kunzum.com

भुवनेश्वर के स्थान पर पाताल भुवनेश्वर कर दिया। मानसखण्ड में उल्लेख है कि “सरयू और रामगंगा के मध्य स्थित इस तीर्थ में पाताल भुवनेश्वर की पूजा होती है।”

2.6.4 बैजनाथ

बागेश्वर के उत्तर पश्चिम में गोमती के तट पर स्थित बैजनाथ (मानसखण्ड में वैद्यनाथ) में वैद्यनाथ महादेव के प्राचीन मन्दिर के अवशेष हैं। शिव,पार्वती तथा अन्य देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ विद्यमान हैं।



बैजनाथ

2.6.5 सीतावनी

कोटाबाग के समीप स्थित है। मानसखण्ड के अनुसार यहाँ शेष पर्वत से निकली देवकी नदी(दाबका नदी) है। यहाँ मन्दिर में प्राचीन मूर्तियाँ हैं।

2.6.6 देवीधूरा

लोहाघाट,हल्द्वानी,नैनीताल और अल्मोड़ा को जाने वाले राष्ट्रीय राजमार्ग में पश्चिम दिशा की ओर लोहाघाट से 45 किमी. की दूरी पर स्थित देवीधूरा कुमाऊँ का एक प्रमुख धार्मिक स्थल है। यहाँ बाराही देवी(देवी का पृथ्वी स्वरूप) का मन्दिर है। मन्दिर में पशुबलि का भी विधान है।रक्षाबंधन पर यहाँ एक मेला लगता है ,जो बगवाल के नाम से प्रसिद्ध है। डा.रामसिंह के अनुसार, “प्रत्येक वर्ष श्रावण की पूर्णमासी को ‘बगवाल’ का प्रसिद्ध रोमांचक पत्थरों की मारामारी का प्रदर्शन होता है। पूर्णिमा के दिन द्यौकों(द्यौका अर्थात देवी को समर्पित –बगवाल में भाग लेने वाला व्यक्ति)के झुंड अपने-अपने टोली नायकों की अगुवाई में देवीधूरा को पैदल चल पड़ते हैं। बगवाल में भाग लेने वाले प्रत्येक व्यक्ति के पास एक मजबूत लकड़ी का डण्डा और बाँस या रिंगाल की खपच्चियों से बनी छतही के आकार की बड़ी सी ढाल होती है,जो बगवाल के समय पड़ने वाले पत्थरों से बचाने में सहायक होती है। बगवाली देवी के भक्त अपने सिर को किसी मोटे कपड़े से अच्छी प्रकार लपेटे रखते हैं,ताकि पत्थरों से सिर की रक्षा की जा सके।...चारों दिशाओं से चारों खामों के द्यौका लोग अपने-अपने परंपरागत निश्चित स्थानों में डेरा बाँधकर बगवाल की घोषणा की प्रतीक्षा करने लगते हैं। लमगड़िया खाम को गढ़वाल खाम से और वोल्किया खाम को चमियाल खाम से जूझना पड़ता है। ऐसा नहीं है कि जो चाहे किसी पर पत्थरों की मार करने लगे।.....दोनों पक्षों की खामों के लोग प्रतिपक्षी खाम वालों के फरें



व लाठियाँ छीने का प्रयास करते हैं। जिस पक्ष की लाठियाँ तथा फर्रे छीने जाते हैं, उसे हारा हुआ माना जाता है। यद्यपि यहाँ हार जीत का कोई महत्व नहीं है।... बगवाल की समाप्ति पर सभी पक्षों के लोग आपस में गले मिलते हैं। “.....वे आगे लिखते हैं—” अंग्रेजों ने अपने शासन काल के प्रारंभिक दौर में बगवाल की उग्रता को कम करने की दृष्टि से उसका समय कम कर दिया।... अब यह कौतिक अर्थात् मेला सिमट कर केवल दो-तीन दिन का रह गया है। मुख्यतः बगवाल को ही मेला चरम में होता है। ”



इस मेले का व्यापारिक महत्व भी है। डा.रामसिंह लिखते हैं—पहले यहाँ तरह-तरह के व्यापारी दूर-दूर से आकर अपनी दूकानें सजाते थे।...मेला केवल धार्मिक न रहकर पहाड़ और मैदान की एक बड़ी व्यापारिक मण्डी बन जाता था।...कुमाऊँ की सांस्कृतिक विविधता का बहुरंगा स्वरूप कई दिनों तक देखा जा सकता था, जिनमें झोड़े, चांचरी, बैरे, भगनौले..., नृत्य एवं गीत के अनेक कार्यक्रम हुआ करते थे।...” उनके अनुसार मेले में अब वह बात नहीं रही।

धार्मिक महत्व के अलावा देवीधूरा पुरातात्विक दृष्टि से भी अत्यंत समृद्ध स्थल है।

2.6.7 पूर्णागिरि

पिथौरागढ़ जिले में, टनकपुर के पूर्वोत्तर में लगभग 16 किमी. की दूरी पर पूर्व की ओर शारदा नदी के पश्चिमी तट पर स्थित पूर्णागिरि धार्मिक रूप से काफी प्रतिष्ठित शक्तिपीठ माना जाता है। चैत्रमास की नवरात्रियों में यहाँ काफी संख्या में तीर्थयात्री आते हैं। डा.रामसिंह के अनुसार— “पूर्णागिरि की पहाड़ी के निचले धरातल से कुछ दूरी पर ब्रह्मदेव मण्डी है, जो सैकड़ों वर्षों से काली नदी के दोनों तटों कुमाऊँ तथा नेपाल स्थित भू-खण्डों के दोनों क्षेत्रों तथा मैदानी और पहाड़ी क्षेत्रों के निवासियों के व्यापारिक और सांस्कृतिक आदान-प्रदान की पहचान थी, उसे बाढ़ से क्षति पहुँची।” 1888 में मण्डी की कमी को पूरा करने के लिए टनकपुर की स्थापना की गई। मन्दिर तक पहुँचने के लिए लगभग छः किमी. की पहाड़ी चढ़ाई पैदल तय करनी पड़ती थी।



स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

- (1) निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।
 - (क) बागेश्वर के धार्मिक तथा व्यापारिक महत्व पर चर्चा कीजिये।
 - (ख) देवीधूरा के बगवाल पर एक टिप्पणी लिखिये।
- (2) नीचे लिखे प्रश्नों के उत्तर लिखिये।

(क) बागेश्वर के मन्दिर में किस कत्यूरी शासक का अभिलेख है?

(ख) पाताल भुवनेश्वर अपनी किस विशेषता के लिए प्रसिद्ध है?

2.7 सिख धार्मिक स्थल तथा सूफी दरगाह

2.7.1 देहरा

परमार शासकों फतेपतिशाह तथा प्रदीपशाह ने सिक्खों के गुरु रामराय को खुड़बुड़ा, राजपुर, धामूवाला आदि कुछ गाँव जागीर के रूप में दिए। गुरु का डेरा खुड़बुड़ा में होने तथा उसी के पास धामूवाला में गुरु दरबार की स्थापना होने के कारण उनके अनुयायी यहाँ आकर बसने लगे। दून घाटी में बसा होने के कारण वह डेरा दून कहलाया। 1808 में रेपर ने इसे एक बड़ा और सुंदर स्थल बताया था। होली के अवसर पर यहाँ एक मेला लगता था, जिसमें पंजाब और पश्चिमी भागों से तीर्थयात्री आते थे।

2.7.2 नानकमत्ता

सिक्ख धार्मिक इतिहास के अनुसार गुरु नानक 1507 ई. से लेकर 1515 तक उत्तर भारत की यात्रा के दौरान वर्तमान नानकमत्ता भी पहुँचे। डा. रामसिंह लिखते हैं—“चन्द राजाओं के अभिलेखों में इसे ‘छिनकी का परगना...’ कहा गया है। यह स्थान नाथों का पुराना गढ़ था। वे अनेक प्रकार के अलौकिक चमत्कारों के कारण प्रसिद्ध थे और स्थानीय लोगों में उनका भारी आतंक था। कहा जाता है कि नानकदेव के सामने नाथों की सिद्धियों और अलौकिक चमत्कारों की कुछ भी नहीं चली। ..यह स्थान नानकमत्ता नाम से आगे चलकर प्रसिद्ध हो गया।



2.7.3 रीठा साहेब

लोहाघाट से सड़क मार्ग द्वारा 62 किमी. आगे द्यूरी/द्यूड़ी गाँव की बस्ती के दक्षिण-पश्चिमी छोर के खुले चौरस खेतों के समूह से घिरे लध्या और रतिया के संगम से कुछ पूर्वोत्तर की ओर का स्थान रीठा साहेब (गुलिया रीठा या मीठा रीठा साहेब) के नाम से जाना जाता है। यहाँ गुलिया अर्थात् मीठे स्वाद वाले रीठे का भी पेड़ है। संभवतः इसके पीछे गुरु नानक के चमत्कार जुड़े होने की कथा के कारण इसे रीठा साहेब कहा गया। यहाँ एक गुरुद्वारा है। तीर्थयात्री फाल्गुन से वैशाखी तक इस स्थान पर पहुँचते हैं। डॉ. रामसिंह के अनुसार—“यहाँ पहुँचने के लिए अधिक सुगम मार्ग



नानकमत्ता, टनकपुर, लोहाघाट से भिंगराड़ा ओर उसके बाद 8 किमी. पैदल चलने पर द्यूड़ी में गुरुद्वारा के दर्शन होते हैं। ...स्वतंत्रता से पूर्व तक महाराजा पटियाला प्रतिवर्ष सौ रुपया गुरुद्वारे में धूप-बत्ती, पूजा-पाठ के निमित्त भेजा करते थे, जो अब बन्द है। ...इस स्थान पर आने वाले तीर्थयात्रियों को मीठे रीठे का प्रसाद वितरण किया जाता है। पास-पड़ोस की हिन्दू जनता की भी इस स्थान के प्रति बड़ी श्रद्धा है।”

2.7.3 हेमकुण्ड साहेब

उत्तराखण्ड के चमोली जिले में 15,200 फुट की ऊँचाई पर स्थित सिखों का एक प्रमुख धार्मिक स्थल है। ऋषिकेश-बदरीनाथ मार्ग पर ऋषिकेश से 275 किमी. आगे गोविन्दघाट से घंगरिया गाँव तक 13 किमी. का पैदल मार्ग द्वारा यहाँ पहुँचा जा सकता है। यहाँ स्थित गुरुद्वारा श्री हेमकुण्ड साहेब के नाम से जाना जाता है और सिखों के दसवें गुरु, गुरु गोविन्द सिंह (1666-1708) को समर्पित है। उन्नीसवीं शताब्दी में पं. तारासिंह नरोत्तम ने हेमकुण्ड की भौगोलिक स्थिति का पता लगाया। उन्होंने 1884 में प्रकाशित श्री गुरुतीर्थ संग्रह में हेमकुण्ड साहेब को सिखों के 508 पवित्र स्थलों में से एक बताया। 1930 में भारतीय सेना से अवकाश प्राप्त एक ग्रंथी संत सोहन सिंह को प्रथम इमारत की नींव डालने और इस स्थल को गोविन्दघाट होकर जनता के लिए सुलभ कराने में हवलदार मोदन सिंह की सहायता मिली। मोदनसिंह 1960 में अपनी मृत्यु तक वहाँ रहा।



अक्टूबर से अप्रैल तक बर्फ के कारण हेमकुण्ड साहेब पहुँचना संभव न हो पाने के कारण प्रत्येक वर्ष सिख तीर्थ यात्रियों का पहला जत्था मई में पहुँच कर शीतकाल में क्षतिग्रस्त हो गए मार्ग की मरम्मत करता है, जिसे कार सेवा कहा जाता है।

2.7.4 पीरान कलियर

हरिद्वार से 20 किमी. दूर गंगा के किनारे स्थित इस दरगाह की कब्र इब्राहीम लोदी ने बनवाई। हजरत मखदूम अलाउद्दीन अली अहमद साबरी की इस दरगाह पर भारत तथा विदेशों से बड़ी संख्या में श्रद्धालु प्रतिवर्ष आते हैं। प्रतिवर्ष इस्लामी कलेंडर के रबीउल महीने में चाँद दिखने के पहले दिन से सोलहवें दिन तक दरगाह पर उर्स होता है।



स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

(1) निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।

(क) हेमकुण्ड साहेब

(ख) पीरान कलियर

(2) नीचे लिखे प्रश्नों के उत्तर लिखिये।

(क) रीठा साहेब में एक गुरुद्वारा है—हाँ/नहीं।

(ख) पीरान कलियर में किस सूफी संत की दरगाह है।

2.8 कुछ लोक प्रचलित धार्मिक स्थल

2.8.1 महासू

देहरादून से 180 किमी. तथा मसूरी से 78 किमी. की दूरी पर टौंस नदी के पूर्वी किनारे पर चकराता के निकट हनोल के लक्शियर गाँव में 9 वीं शताब्दी में निर्मित महासू देवता का मन्दिर है। उत्तराखण्ड के

पर्वतीय क्षेत्र में यमुना के पश्चिमी भाग में रहने वाले जौनसार के निवासियों के लिए एक प्रमुख तीर्थ है। महाभारत के आख्यान के आधार पर दुर्योधन के पुरोला आने तथा महासू देवता द्वारा उसे भूमिदान देकर उस इलाके का राजा बनाने की लोककथा प्रचलित है। दुर्योधन ने जखोली को अपनी राजधानी बनाया और महासू देवता के मन्दिर का निर्माण करवाया। प्रति वर्ष अगस्त में महासू देवता का मेला जौनसारी जनजाति द्वारा आयोजित किया जाता है और अन्य समुदायों के लोग भी इसमें सम्मिलित होते हैं। इसके अलावा यहाँ महासू देवता के लिए जागर लगाने का भी प्रावधान है।



2.8.2 ज्यौलिंगकांग (छोटा कैलास या आदि कैलास)

इस क्षेत्र में भोटांतिकों का धार्मिक स्थल है। यहाँ एक मन्दिर है। लोग अपने परिवार, खच्चर, घोड़े और जिब्बू, तम्बू, खाद्य सामग्री आदि के साथ ज्यौलिंगकांग की ओर प्रस्थान करते हैं। जन्माष्टमी भी मनाई जाती है। वर्तमान में मुन्स्यारी के निवासी श्री जगत मर्तोल्या के अनुसार "ब्यांस घाटी में स्थित इस स्थल में गुंजी, गर्ब्यांग, कुटी आदि स्थानों से लोग जाते हैं। मन्दिर मूलतः शिव का है, पर जन्माष्टमी से संबंधित चित्र भी हैं। ज्यौलिंगकांग मूल रूप से तिब्बती नाम है। भारतीय क्षेत्र में छोटा कैलास या आदि कैलास नाम ही प्रचलित है। पहले तिब्बती व्यापारी भी यहाँ आया करते थे, पर 1962 के भारत-चीन युद्ध के उपरान्त स्थितियों में परिवर्तन हुआ। "बारह वर्ष के उपरांत कुम्भ का उल्लेख गंगोत्री गर्ब्याल ने भी अपनी पुस्तक 'यादें' में किया है।"



छोटा कैलास या आदि कैलास क्षेत्र में देश के सभी भागों से तीर्थयात्रियों के जाने की परंपरा रही है।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

(1) निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।

(क) महासू

(ख) ज्यौलिंगकांग

3.0 सारांश

उत्तराखण्ड के धार्मिक स्थलों के संदर्भ में विभिन्न युगों में लिखे गए धार्मिक एवं लौकिक साहित्य, यात्रा-वृत्तांतों और स्थानीय शासकों के अभिलेखों से धार्मिक स्थलों के संदर्भ में महत्वपूर्ण सूचनाएँ

उपलब्ध होती हैं। प्राचीन काल से ही उत्तराखण्ड को देवभूमि की संज्ञा दी जाती रही है। कैलास-मानसरोवर की यात्रा का यह प्रमुख पड़ाव रहा है। भारत के विभिन्न भागों के निवासी मार्ग की कठिनाइयों के बावजूद भी इस क्षेत्र की तीर्थ यात्रा के लिए अत्यंत उत्सुक रहते थे। यहाँ तक कि जो व्यक्ति सक्षम नहीं होते थे, वे अपने प्रतिनिधि के रूप में किसी व्यक्ति को भेज दिया करते थे। प्रमुख धार्मिक स्थलों में उत्तराखण्ड के चार धाम—बदरीनाथ, केदारनाथ, गंगोत्री तथा यमुनोत्री का विशेष महत्व रहा है। हरिद्वार प्राचीन समय से ही महत्वपूर्ण धार्मिक केन्द्र रहा। नदियों के संगम के कारण पंच प्रयाग जैसे तीर्थ इस अंचल में हैं। उत्तराखण्ड से जुड़े स्कन्द पुराण के अंश मानसखण्ड और केदारखण्ड ग्रंथों में इस अंचल के विभिन्न महत्वपूर्ण तीर्थों के साथ-साथ थोड़े से धार्मिक महत्व के स्थलों का भी महात्म्य वर्णन मिलता है। वैष्णव तथा शैव एवं स्थानीय स्तर पर लोक में प्रचलित देवी-देवताओं के अलावा सिख तथा सूफी मान्यताओं से संबन्धित धार्मिक स्थल भी इस अंचल में विद्यमान हैं। उत्तराखण्ड के प्रमुख धार्मिक स्थलों के अध्ययन से हमें पता चलता है कि ये न केवल धार्मिक अपितु इस क्षेत्र की सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक व राजनीतिक गतिविधियों के केन्द्र भी रहे हैं। एक साझा सामाजिक-सांस्कृतिक पहचान विकसित करने में भी इन्होंने महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

4.0 तकनीकी शब्दावली—

शिखर/विमान—मन्दिर का शीर्ष स्थल

आमलक— मन्दिर के शिखर के ऊपर का भाग

गर्भगृह—मन्दिर का वह भाग, जहाँ देवी-देवता की मूर्ति विद्यमान रहती है।

चट्टी— तीर्थ यात्रा मार्गों पर लगने वाले छोटे-छोटे बाजार, जहाँ यात्रियों की आवश्यकता की सामग्री मिलती थी।

काँठा—सीधा खड़ा पहाड़, जिसमें वृक्षों की संख्या काफी कम होती है।

द्यौका—(द्यौका अर्थात् देवी को समर्पित —बगवाल में भाग लेने वाला व्यक्ति),

खाम—देवीधूरा मेले के बगवाल अर्थात् पत्थरबाजी में भाग लेने वाली चार **कौमें**—लमगड़िया, गढ़वाल, वोल्किया, चमियाल।

झोड़े—समूह नृत्य गान। **चांचरी**— सामूहिक नृत्य गान। **बैरे**—जटिल प्रश्नोत्तरी वाली लोक गायकी।

5.0 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

इकाई 2.3 के स्व मूल्यांकित प्रश्न

1. (क) देखिए 2.3.1 बदरीनाथ
(ख) देखिए 2.3.2 केदारनाथ
2. (क) गढ़वाल
(ख) गंगा

इकाई 2.4 के स्व मूल्यांकित प्रश्न

1. (क) देखिए 2.4.1 से 2.4.11 तक, पंच बदरी तथा पंच केदार
(ख) देखिए 2.4.12 से 2.4.16 तक, पंचप्रयाग
2. (क) कत्यूरी वंश
(ख) भागीरथी-अलकनन्दा

इकाई 2.5 के स्व मूल्यांकित प्रश्न

1. (क) देखिए 2.5.1 गंगाद्वार(हरिद्वार)
(ख) देखिए 2.5.4 और 2.5.7 श्रीक्षेत्र(श्रीनगर) व बाड़ाहाट
2. (क) कनखल
(ख) टिहरी

इकाई 2.6 के स्व मूल्यांकित प्रश्न

1. (क) देखिए 2.6.1 बागेश्वर
(ख) देखिए 2.6.6 देवीधूरा
2. (क) भूदेव
(ख) मन्दिर समूह तथा प्राकृतिक गुफाओं के लिए

इकाई 2.7 के स्व मूल्यांकित प्रश्न

1. (क) देखिए 2.7.3 हेमकुण्ड साहेब
(ख) देखिए 2.7.4 पीरान कलियर
3. (क) हाँ
(ख) मखदूम अलाउद्दीन अली अहमद साबरी

इकाई 2.8 के स्व मूल्यांकित प्रश्न

1. (क) देखिए 2.8.1 ज्यौलिंगकांग

6.0 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. महाभारत—गीता प्रेस संस्करण
2. मानसखण्ड—सं. गोपालदत्त पाण्डे, चौखम्भा, वाराणसी, 1990
3. केदारखण्ड—महेशानन्द, नन्दप्रयाग, 1910
4. एशियाटिक रिसर्च—भाग 11, नई दिल्ली, 1979
5. एटकिंसन—गजेटियर ऑफ द हिमालयन डिस्ट्रिक्ट, खण्ड 3, भाग.2, दिल्ली, 1973
6. शिवप्रसाद डबराल— उत्तराखण्ड का इतिहास, भाग 1 व 2, दोगड़डा, गढ़वाल, 1965.86
7. राहुल सांकृत्यायन— हिमालय परिचय, 1, गढ़वाल, इलाहाबाद, 1953
8. हरिकृष्ण रतूड़ी—गढ़वाल का इतिहास, देहरादून, 1918
9. डॉ रामसिंह—राग.भाग काली कुमाऊँ, पहाड़, नैनीताल, 2002
10. शिवप्रसाद नैथानी, उत्तराखण्ड के तीर्थ एवं मन्दिर(श्रीनगर, 1994)
11. किरन त्रिपाठी—उत्तराखण्ड का ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक भूगोल, नैनीताल, 2006
12. उत्तराखण्ड रहस्य— शालिग्राम वैष्णव, पहाड़, नैनीताल, 2010(1926)

7.0 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. एटकिंसन—गजेटियर ऑफ द हिमालयन डिस्ट्रिक्ट, खण्ड 3, भाग.2, दिल्ली, 1973
2. शिवप्रसाद डबराल— उत्तराखण्ड का इतिहास, भाग 1, 10 व 12, दोगड़डा, गढ़वाल, 1965.86

3. राहुल सांकृत्यायन— हिमालय परिचय, 1, गढ़वाल, इलाहाबाद, 1953
4. हरिकृष्ण रतूड़ी—गढ़वाल का इतिहास, देहरादून, 1918
5. डॉ रामसिंह—राग-भाग काली कुमाऊँ, पहाड़, नैनीताल, 2002
6. किरन त्रिपाठी—उत्तराखण्ड का ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक भूगोल, नैनीताल, 2006
7. शिवप्रसाद नैथानी, उत्तराखण्ड के तीर्थ एवं मन्दिर (श्रीनगर, 1994)
8. उत्तराखण्ड रहस्य— शालिग्राम वैष्णव, पहाड़, नैनीताल, 2010 (1926)
9. छायाचित्र—तुंगनाथ (पंकज पंत), शेष— गूगल से

8.0 निबंधात्मक प्रश्न

1. उत्तराखण्ड के चार धामों पर एक निबंध लिखिये।
2. पंच बदरी, पंच केदार तथा पंच प्रयाग के बारे में बताइये।
3. हरिद्वार और बागेश्वर के धार्मिक और आर्थिक महत्व की विवेचना कीजिये।
4. निम्न पर टिप्पणी लिखिये।
 1. देवीधूरा
 2. पूर्णागिरि
 3. पाताल भुवनेश्वर
5. उत्तराखण्ड के सिख तथा सूफी तथा कुछ अन्य लोक प्रचलित धार्मिक स्थलों के विषय में लिखिये।

- 3.1 प्रस्तावना
- 3.2 उद्देश्य
- 3.3 धातु शिल्प
 - 3.3.1 ताम्रशिल्प 3.3.2 लौह शिल्प
- 3.4 मूर्ति शिल्प
 - 3.4.1 प्रस्तर मूर्तियाँ 3.4.2 धातु मूर्तियाँ 3.4.3 काष्ठ मूर्तियाँ
- 3.5 प्रस्तर शिल्प
 - 3.5.1 मूर्तियाँ 3.5.2 प्रस्तर शिल्प पर आधारित अन्य निर्मितियाँ
- 3.6 काष्ठ शिल्प
 - 3.6.1 देवालय से संबन्धित काष्ठ शिल्प
 - 3.6.2 आवासीय भवन 3.6.3 काष्ठ उपकरण
- 3.7 रिंगाल, बाँस, बेंत आदि से संबन्धित हस्तशिल्प
- 3.8 तंतुओं से संबन्धित हस्तशिल्प तथा वस्त्र निर्माण
 - 3.8.1 सूती वस्त्र 3.8.2 भंगेला व अन्य उत्पाद
 - 3.8.3 ऊनी वस्त्र 3.8.3.1 पट्टू 3.8.3.2 थुलमा
 - 3.8.3.3 पंखी 3.8.3.4 चुटका 3.8.3.5 दन 3.8.3.6 आसन
 - 3.8.3.7 करबोजा 3.8.3.8 पश्मीना 3.8.3.9 ऊनी जूते
- 3.9 मृदा से संबन्धित हस्तशिल्प
- स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न
- 3.10 शीशे का सामान
- 3.11 चर्म शिल्प
- 3.12 कागज से संबन्धित हस्त शिल्प
- 3.13 सारांश
- 3.14 तकनीकी शब्दावली
- 3.15 स्व मूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर
- 3.16 सहायक संदर्भ ग्रंथ
- 3.17 उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 3.18 निबंधात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

उत्तराखण्ड में कृषि एवं पशुचारण जनता की आजीविका के मुख्य साधन रहे हैं। स्थानीय आवश्यकता की सभी वस्तुओं का निर्माण कुटीर उद्योगों के रूप में होता था। हस्तशिल्प से जीवन यापन करने वाले अधिकतर लोग समाज के निम्न वर्ग का प्रतिनिधित्व करते थे। भारत के अन्य

भागों की तरह ही इस क्षेत्र में भी प्रायः सभी व्यवसायियों को उनके व्यवसाय के नाम के आधार पर अभिहित किए जाने की परंपरा रही। औपनिवेशिक काल में इन शिल्पों में पिछली शताब्दियों से बहुत अधिक परिवर्तन नहीं हुआ था। प्रायः अधिकांश निर्मितियों की खपत स्थानीय स्तर पर ही हो जाती थी। अधिशेष उत्पादन अधिक नहीं होता था। इनमें से कुछ लकड़ी के बर्तनों, पहाड़ी कागज तथा कुछ ऊनी वस्त्रों का मैदानी भागों को निर्यात किया जाता था, पर यह काफी कम मात्रा में था। शिल्पकार तथा दस्तकार अपनी पूरी दक्षता के साथ विभिन्न वस्तुओं तथा उपकरणों का निर्माण करते थे। 1891 की जनगणना आख्या (कुमाऊँ प्रभाग) से पता लगता है कि इस क्षेत्र में ये काफी अच्छी संख्या में थे। 1891 में अल्मोड़ा जिले में इनकी संख्या कुल 4,087 थी तो गढ़वाल में 13,742 थी। कुमाऊँ भाबर में 5,323 तथा तराई के सात परगनों में कुल 14,085 शिल्पी व दस्तकार थे। तराई में सर्वाधिक संख्या काशीपुर (5,525) में थी। नैनीताल जिले (पर्वतीय क्षेत्र तथा भाबर-तराई) में इनकी कुल आबादी 19,381 थी, जो कुमाऊँ प्रभाग में सबसे अधिक थी।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई में आप उत्तराखण्ड में हस्तशिल्प के विभिन्न आयामों का अध्ययन करेंगे।

- उत्तराखण्ड में स्थानीय आवश्यकता की सभी वस्तुओं का निर्माण कुटीर उद्योगों के रूप में होता रहा है। इस संदर्भ में आप यहाँ के शिल्पियों के कला कौशल से परिचित होंगे।
- इस इकाई को पढ़ने के बाद आप यह आकलन करने में भी सक्षम होंगे कि उत्तराखण्ड के हस्तशिल्प की इस मूल्यवान विरासत का संरक्षण करने तथा विलुप्तप्राय होते जा रहे ऐसे कई शिल्पों को प्रोत्साहन दिये जाने की आवश्यकता है, जिनकी वर्तमान समय में भी उपादेयता है, ताकि कला के संरक्षण के साथ-साथ स्थानीय स्तर पर रोजगार का सृजन भी संभव हो।

3.3 धातुशिल्प

उत्तराखण्ड में धातु पर आधारित शिल्प की परंपरा काफी प्राचीन रही है। यशोधर मठपाल का मानना है कि “कुमाऊँ में तामाढौन व आगर जैसे स्थान नाम तथा उससे संबद्ध परंपरागत व्यावसायिक जातियाँ—टमटा (ताम्रत्रोटक), आगरी (अयस्करी), लोहार आदि इस तथ्य के स्पष्ट संकेत हैं कि यहाँ पर ताम्रयुगीन एवं लौहयुगीन संस्कृति का भी विकास हुआ था।” इसके साथ ही उनका यह भी मत है कि “बनकोट (पिथौरागढ़) तथा हल्द्वानी से प्राप्त ताँबे की चपटी मानवाकृतियों की उपलब्धि से सिद्ध होता है कि लगभग साढ़े तीन हजार वर्ष पूर्व भी उत्तराखण्ड में टमटा लोग थे।” ताँबा अनेक स्थानों पर प्राप्त होता था, जिनमें से गढ़वाल में धनपुर, नागपुर तथा पोखरी और कुमाऊँ में गंगोली और सीरा की खानें प्रमुख थीं। कुमाऊँ में खरही की ताँबा खान भी प्रसिद्ध थी। एशियाटिक रिसर्च भाग 11 में उल्लेख है कि “अयस्क को कूटकर गोबर के साथ मिलाकर गोले बनाते थे और उन्हें भट्ठी में रख देते थे। पर्याप्त मात्रा में गर्म करके धातु को को एक ठोस आकार दिया जाता था। व्यावसायिक ज्ञान के अभाव तथा खनन की अवैज्ञानिक पद्धतियों के कारण ताँबे, लोहे आदि का उत्पादन केवल स्थानीय उपभोग के लिए ही हो पाता था। लोहा अनेक भागों में पाया जाता था, परंतु उत्खनन में अत्यधिक श्रम की आवश्यकता होती थी।” ट्रेल के अनुसार, “अयस्क से लोहा प्राप्त करने के लिए खनिक इसके छोटे-छोटे टुकड़े करके आग में तब तक गर्म करते थे, जब तक संपूर्ण लोहा एक साथ संयुक्त होकर एक पिण्ड के रूप में न बदल

जाय। विभिन्न खानों का उत्पाद चालीस से पचास प्रतिशत था। अगली प्रक्रिया के लिए इस पिण्ड को लोहार के पास दिया जाता था, जो इसके और छोटे-छोटे टुकड़े करके इसे गलाने के लिए बर्तन में रखकर तेज आँच के संपर्क में लाता था। धातु को पीटकर छोटी छड़ों के रूप में बाजार के लिए तैयार किया जाता था। यह तीन से आठ रु० प्रति मन के हिसाब से बिक जाता था।” बदरीदत्त पाण्डे के अनुसार “रामगढ़ में लोहा लगभग सभी स्थानों पर उपलब्ध होता था। इस कारण यहाँ के निवासियों को ही आगरी कहा जाने लगा था।” राईआगर, काला आगर, मणि आगर जैसे अनेक स्थान नामों से पता चलता है कि कहीं-कहीं अन्य रत्न भी उपलब्ध होते थे। आदि ताँबे, लोहे, सोने, चाँदी, काँसे आदि सभी प्रकार की धातुओं से आभूषण, बर्तन, कृषि उपकरण, मूर्तियाँ आदि आदि बनाई जाती थीं।

3.3.1 ताम्र शिल्प

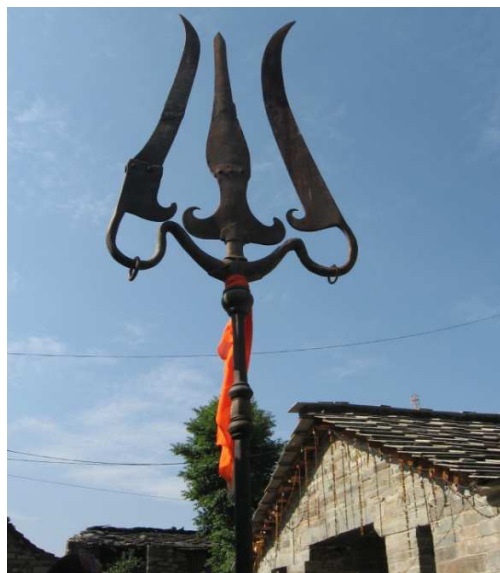
ताम्रकार (टमटा) मुख्य रूप से सिमलखेत और श्रीनगर (गढ़वाल), अल्मोड़ा, खरही और अस्कोट (कुमाऊँ) में बसे थे। पौ ने गढ़वाल सैटिलमैट रिपोर्ट में उल्लेख किया है कि सिमलखेत गाँव (घुड़दौड़स्यूँ) के सभी लोग ताम्रकार थे तथा जिले से बाहर दूसरे क्षेत्रों में दूर-दूर तक जाते थे और कई वर्षों बाद लौटते थे। वे ताँबे के बर्तन बनाते थे। अल्मोड़ा तथा श्रीनगर में ताँबे की गागरें, कूने, परात आदि बनाए जाते थे। डी.डी. शर्मा ने ‘उत्तराखण्ड की लोक कलाएँ एवं शिल्प कौशल’ में लिखा है कि “गागरें बनाने के लिए ताँबे के चक्के को पहले हथौड़े से पीट-पीटकर इस प्रकार चपटा किया जाता है कि उसमें से गागर का आकार उभर आता है। इसके उपरान्त उसे चमकाने के लिए भट्टी के साथ ही बनाए गए गड़दे में डाल कर तथा उसके ऊपर धान की भूसी डाल कर उस पर आग लगा दी जाती है अथवा भट्टी की आग में खूब तपा कर उसे उस गड़दे की भूसी में डाल दिया जाता है। इससे उस पर ऐसा चमकदार रंग निखर आता है कि बार-बार धोने या प्रयोग में लाते रहने पर भी उसकी वह फीका नहीं पड़ता और न ही उसकी चमक कम होती है। इस प्रकार इस प्रक्रिया से उसे निखार लिए जाने के बाद ताम्रशिल्पी अपनी कत्री, छेनी, हथैड़ी आदि उपकरणों के प्रयोग से किए गए कलात्मक आरेखनों के माध्यम से उसे आकर्षक कलात्मकता प्रदान करता है। उसके मुँह (ऊपरी सिरे) पर पर्वतीय देवालयों के ऊपर बनाई जाने वाली चन्द्रिका की प्रतिकृति को उभार कर अन्त में उसे उठाने हेतु उस पर ताँबे के ही एक मोटे कड़े को लगा दिया जाता है, जिसे पर्वतीय बोली में ‘मुनड़ा’ (मुद्रिका, कड़ा) कहा जाता है।” गागर, / फुआलों के अतिरिक्त भोजन पकाने के पात्र, जैसे तौले, तौली, कुनेले आदि के अलावा ताम्रकार दैनिक तथा धार्मिक उपयोग की वस्तुओं— अर्घ्य, पंचपात्र, दिए आदि का भी निर्माण करते थे। पारंपरिक वाद्ययंत्रों में हुड़के, डौरिये, ढोल, दमामे, नगाड़े की नालियाँ, तुरही, नागफनी, रणसिंघा, भोंकर आदि का भी निर्माण होता था। राजवंशों के युग में शासनादेश के लिए ताम्रपत्रों का निर्माण भी इन्हीं शिल्पियों द्वारा किया जाता था। ताम्रशिल्पियों के प्रमुख उपकरण थे— निहानी, छेनी, हथौड़ा, हथौड़ी, खराद, संडासी, कत्ती आदि।



ताम्र उपकरणों के साथ ताम्र शिल्पी

3.3.2 लौह शिल्प

के.पी नौटियाल के अनुसार—“ ई0 सन् से कई सौ वर्ष पूर्व ही यहाँ लौह अयस्कों का उपयोग तथा उन्हें भट्टी में तपाकर विभिन्न रूपों में ढालने की प्रक्रिया शुरू हो चुकी थी।” परवर्ती युगों में लोहे का प्रयोग विभिन्न उपकरण बनाए जाने लगे । डी.डी. शर्मा के अनुसार,“आठवीं शती के आस-पास निर्मित गोपेश्वर का ऐतिहासिक त्रिशूल तथा बाड़ाहाट के विश्वनाथ मन्दिर के प्रांगण में स्थापित 14 फीट से भी अधिक ऊँचा त्रिशूल तथा उसकी क्षितिजाकार पट्टियों पर एवं उसके तीन शूलों पर किए गए अलंकरण इस तथ्य के जीवन्त उदाहरण हैं कि इस काल से पूर्व ही यहाँ पर लौह शिल्प अपना विशिष्ट स्थान बना चुका था।”



लौह शिल्प का उपयोग कृषि उपकरणों, जैसे— दराती, गैंती, हल, कुटले (कुदाल), मय, डिलारा, दुर्मट, जौल, डंडाला, फावड़ा, घन, कुल्हाड़ी, फाला, छेनी आदि कृषि उपकरण, सार्वजनिक घरेलू उपयोग के लिए तवा, कड़ाही, भदेला, डाडू (बड़ी करछी), चिमटा, संडासी, तालू, सगड़, जांती, सांकल, कुण्डे, देवताओं के गजा, त्रिशूल, लोहे के दीपक, शनि, नाग आदि देवताओं की प्रतिमाएँ आदि बनाया करते थे। कृषि उपकरणों तथा गृहोपयोगी पात्रों के अतिरिक्त युद्ध से संबंधित अस्त्र-शस्त्रों जैसे—तलवार, तीर, कमान, भाला, बरछी आदि का भी निर्माण

होता था। अल्मोड़े में लोहे के भाले, बाण आदि उपकरण बनते थे। तीरों का निर्माण करने वाला तिरुवा लोहार वर्ग का ही सदस्य था। लोहाघाट में लोहे के उपकरण बनाने का उद्योग काफी उन्नत अवस्था में था।



लोहे के उपकरण



लोहे के उपकरणों का निर्माण

नीचे लिखे गये प्रश्नों के उत्तर दीजिये

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

- 1.(क) अल्मोड़ा और श्रीनगर में ताँबे की गागरें, कूने, परात आदि बनाये जाते थे। (हाँ/ नहीं)
- (ख) लोहाघाट में लोहे के उपकरण बनाने का उद्योग अत्यंत उन्नत स्थिति

में था। (हाँ/नहीं)

2.(क) उत्तराखण्ड में ताम्रशिल्प पर टिप्पणी लिखिये।

(ख) उत्तराखण्ड के लौह शिल्प के बारे में संक्षेप में बताइये।

3.4 मूर्ति शिल्प

उत्तराखण्ड के विभिन्न क्षेत्रों से प्राप्त मूर्तियों को उनमें प्रयुक्त सामग्री के आधार पर प्रस्तर,काष्ठ एवं धातु शिल्प से संबद्ध किया जा सकता है।

3.4.1 प्रस्तर मूर्तियाँ

यशवंत सिंह कटोच के अनुसार,“यहाँ के उत्खनित पुरातात्विक साक्ष्यों एवं सर्वेक्षण से प्राप्त शिल्पकृतियों में निश्चित है कि मध्य हिमालय में प्रस्तर आधारित मूर्तिशिल्प का प्रारंभ प्राक् गुप्त काल में ही हो चुका था।” मूर्तियों में अधिकतर भूरी,नीली या हरित झाई वाली बालुज शिलाओं का प्रयोग किया गया है। अनेक स्थानों पर काले लेप के प्रयोग के कारण ये काले पत्थर से निर्मित सी लगती हैं (डी.डी. शर्मा)। विशेषज्ञों का मत है कि जिस सामग्री से इनका निर्माण किया गया है,वह केवल इसी क्षेत्र में पायी जाती हैं। डी.डी. शर्मा के अनुसार—“उन विशाल प्रतिमाओं को देखते हुए यह अनुमान करना भी संगत ही है कि इन्हें संबद्ध देवालियों के निकट ही तराशा गया होगा,क्योंकि उस युग में परिवहन की यांत्रिक सुविधाओं तथा प्रशस्त मार्गों के अभाव में इन विशाल शिलाओं को दूरस्थ प्रदेशों से सर्वथा सुरक्षित ले आना संभव नहीं था।” शिवप्रसाद डबराल के अनुसार—“ इन प्रतिमाओं की शैली में मिलने वाली समानता से निश्चित है कि प्रतिमा निर्माता शिल्पियों की बस्तियाँ रही होंगी तथा उनके परिवारों में वंश परंपरागत शिक्षा दी जाती होगी।”

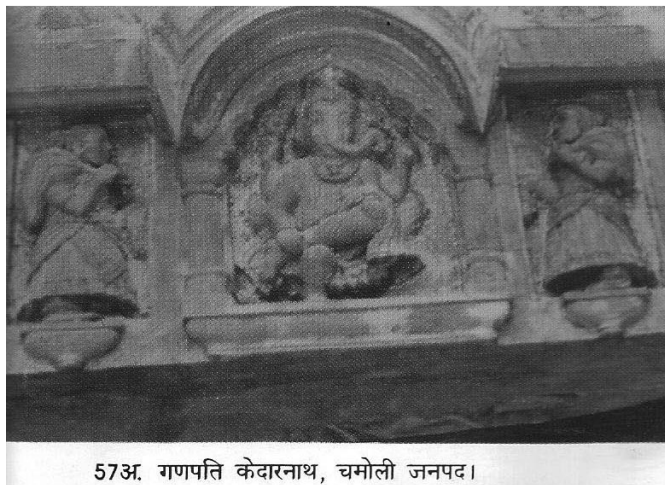
3.4.2 धातु की मूर्तियाँ

डी.डी.शर्मा—“उत्तराखण्ड की धातु आधारित प्रतिमाओं के संदर्भ में उल्लेखनीय है कि गढ़वाल की अपेक्षा कुमाऊँ के देवालियों में इनका निर्माण एवं स्थापना अधिक रही है।” शिवप्रसाद डबराल के अनुसार “प्रायः सभी मन्दिरों में शिला प्रतिमाओं के साथ बौद्ध,जैन और हिन्दू देवी. देवताओं की कांस्य,पीतल,ताम्र,अष्टधातु की तथा कुछ में रजत,सुवर्ण,स्फटिक,रत्न आदि से बनी छोटी-छोटी प्रतिमाएँ भी थीं। इन प्रतिमाओं में से कुछ का निर्माण स्थानीय शिल्पकार करते थे। भव्य प्रतिमाएँ संभवतः नेपाल,दक्षिण या तिब्बत से मंगाई जाती थीं।” अधिकांश धातु प्रतिमाएँ रुहेलों के आक्रमणों तथा मूर्ति तस्करों की गतिविधियों के कारण गायब हो चुकी हैं। डी.डी. शर्मा के अनुसार “देवालयी धातु मूर्तियों में ,जिनमें से अधिकतर तस्करों द्वारा विदेशों में पहुँचायी जा चुकी हैं, कटारमल की पौणराज व जागेश्वर के जागनाथ मन्दिर की राजा त्रिमलचंद्र की मूर्तियाँ।” पाताल भुवनेश्वर में महिषमर्दिनी की भव्य कांस्य मूर्ति है। जागेश्वर में राजा दीपचंद और रानी दिलीपमंजरी की अष्टधातु की मूर्तियों के साथ ही डी.डी.शर्मा ने उत्तराखण्ड के विभिन्न देवालियों में स्थित धातु मूर्तियों का विवरण दिया है(देखें ‘उत्तराखण्ड की लोक कलाएँ एवं शिल्प कौशल’ पृ.178-79)

3.4.3 काष्ठ की मूर्तियाँ

उत्तराखण्ड में जौनसार-बावर,रवाई,जौनपुर,चमोली,उत्तरकाशी के कुछ प्राचीन मन्दिरों में काष्ठ मूर्तियाँ हैं। डी.डी.शर्मा के अनुसार उत्तरकाशी के देववन(बंगाण) के देवालय में

सुग्रीव, हनूमान, सिंह, गाय, बैल आदि तथा मोरी क्षेत्र के सभी गाँवों के देवालयों में देवदारु तथा कैल की लकड़ी की प्रतिमाएँ हैं। इसके अलावा फिताड़ी (जखोल) के सोमेश्वर मन्दिर में, कोटगाँव, देवरा के कर्ण मन्दिर की काष्ठ प्रतिमाएँ, तथा जोशीमठ में गरुड़ तथा बाड़ाहाट में नागराज की काष्ठ प्रतिमाएँ उल्लेखनीय हैं। के.पी.नौटियाल के अनुसार "कुमाऊँ में एकमात्र दारु प्रतिमा चम्पावत से प्राप्त हुई है।"



57अ. गणपति केदारनाथ, चमोली जनपद।

(‘उत्तराखण्ड का काष्ठशिल्प’ से साभार)

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

- 1.(क) उत्तराखण्ड में धातु की मूर्तियों के शिल्प के बारे में संक्षेप में बताइये।
- (ख) उत्तराखण्ड में काष्ठ की मूर्तियों के बारे में संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।

3.5 प्रस्तर शिल्प

3.5.1 मूर्तियाँ

प्रस्तर आधारित मूर्तियों के संबन्ध में आप इकाई 3.4 के अन्तर्गत 3.4.1 में पढ़ चुके हैं।

3.5.2 प्रस्तर शिल्प पर आधारित अन्य निर्मितियाँ

ट्रेल ने लिखा है कि "घट (पनचक्की)–अनेक स्थानों में घट का पत्थर तैयार किया जाता था। अनाज पीसने के लिये बड़ी नदियों से गूल निकाल कर छोटी नदियों और गधेरों के किनारे लगाई गयी पनचक्कियों में से प्रत्येक में एक व्यक्ति नियुक्त रहता था और एक दिन में तीन या चार मन अनाज की पिसाई होती थी।" पौ के अनुसार "कण्डारस्यूँ के कुछ गाँवों में ढाड़जूली गधेरे की घाटी में पाये जाने वाले पत्थर से चक्की के पाट का निर्माण किया जाता था।" बैकेट के अनुसार "नदियों के किनारे-किनारे अनेक छोटी-छोटी पनचक्कियाँ लगी थीं, जिन्हें घट या घराट कहते थे।" एस.डी. पंत के विवरण से पता चलता है कि "कुमाऊँ में सोमेश्वर और बाँसुली सेरा के निकट कोसी और गगास नदियों में आधे मील के अन्दर दर्जनों पनचक्कियाँ थीं। इनके सभी उपकरणों का निर्माण स्थानीय स्तर पर हो जाता था।" टिहरी में पत्थर के बर्तन भी बनाये जाते थे।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

- 1.(क) नदियों के किनारे-किनारे लगी छोटी-छोटी पनचक्कियों को घट या घराट कहते थे। (हाँ/नहीं)
2. (क) उत्तराखण्ड के प्रस्तर शिल्प पर एक नोट लिखिये।

3.6 काष्ठ शिल्प

यशोधर मठपाल ने अपने ग्रंथ 'उत्तराखण्ड का काष्ठशिल्प' में काष्ठशिल्प की आधारभूत सामग्री के रूप में अखरोट, अमलतास, अमरुद, आम, इमली, उत्तीस, कक्कड़, किरमोला, कुकाट, कुम्भी, कुरा, खड़िक, खरसू, खैर, गमहर, गूलर, गेठी, गोसम, चीड़, जामुन, तिलौंज, तुन, तैदू, दुधी, देवदार, निंगाल, पडल, पांगर, बबूल, बहेड़ा, बाँकली, बाँज, बाँस, बेल, मेहल, मेहन्दी, शीशम, सागौन, साल, सानण, सुरई, सेमल, सैन, हर, हल्दू तथा आंगू, कौल, चड़्यों, ड्योड़ी, थुनेर, पया, बरगद आदि कई वृक्षों के काष्ठ नित्योपयोगी वस्तुएँ बनाने में ग्रामवासियों द्वारा लम्बे समय से प्रयुक्त होते रहने का उल्लेख किया है। इसके साथ ही उन्होंने काष्ठशिल्पियों द्वारा प्रयोग किए जाने वाले औजारों का भी विवरण उन्हीं की शब्दावली में दिया है। बरमा, गिलमत, नाहा, साका, छेनी, पतेसी, राफी, हथौड़ी, हथौड़ा, गुनिया, रन्दा खांच वाला रन्दा जोड़ी वाला रन्दा दो फुटा, रेती, जम्मूर, पलास, पेचकस, सिकन्द, सान और सुतुर (देखें, उत्तराखण्ड का काष्ठ शिल्प)।



उत्तराखण्ड में काष्ठशिल्प के अत्यंत सुंदर नमूने मिलते हैं। डॉ. यशोधर मठपाल ने अपने ग्रंथ में पूर्व से पश्चिम की ओर जनपदीय क्रम में विभिन्न स्थानों की काष्ठशिल्पगत विशेषताओं का विशद चित्र अंकित किया है। उनके अनुसार " उत्तराखण्ड में काष्ठशिल्प का कार्य मुख्यतः तीन प्रकार का होता रहा—देवालयों, आवासगृहों तथा अन्य चल सामग्री में"। (इनमें से देवालयों के अन्तर्गत काष्ठमूर्तियों के बारे में आप इकाई 3.4 के खण्ड 3.4.3 में पढ़ेंगे।)

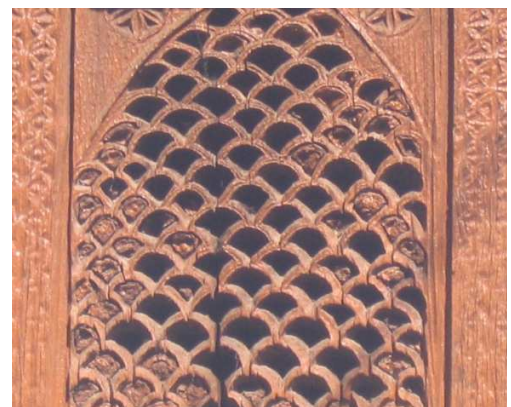
3.6.1 देवालय से संबंधित काष्ठशिल्प

देवालय से संबंधित सबसे सुंदर नमूने राष्ट्रीय संग्रहालय दिल्ली में स्थित कटारमल के सूर्यमन्दिर के कपाट हैं। "इनमें देवदार के एक स्तम्भ पर एक पूर्ण पुरुषाकृति के साथ मकर वल्लरी तथा नागवेष्टित पूर्णघट का अत्यंत सुंदर अंकन किया गया है। शीशम के काष्ठकपाटों पर, जिनका समय 12वीं-13 वीं शताब्दी आंका गया है, उमामहेश व लक्ष्मीनारायण के साथ व्यालकृतियों सहित कीर्तिमुखों का उत्तरमध्यकालीन काष्ठशिल्प जीवन्त हो उठा है।" (अग्रवाल, रे. चं., अनपब्लिशड कटारमल वुडन रिलीफ्स इन द नेशनल म्यूजियम, न्यू दिल्ली—डी.डी.शर्मा द्वारा उद्धृत)। हनोल में महासू देवता का मन्दिर काष्ठकला का उत्तम उदाहरण है। भागीरथी, यमुना और टौंस की घाटियों में काष्ठकला का सर्वोत्तम रूप है। यहाँ के शेष उत्तराखण्ड से भिन्न मन्दिरों को डॉ. यशवन्त कटोच ने पैगोडा शैली का माना है। डॉ. मठपाल के अनुसार "यहाँ किलेनुमा तिमंजिले तथा पैगोडानुमा कई छत्रों और छत्रियों वाले मन्दिर हैं। इनमें किलेनुमा तिमंजिले

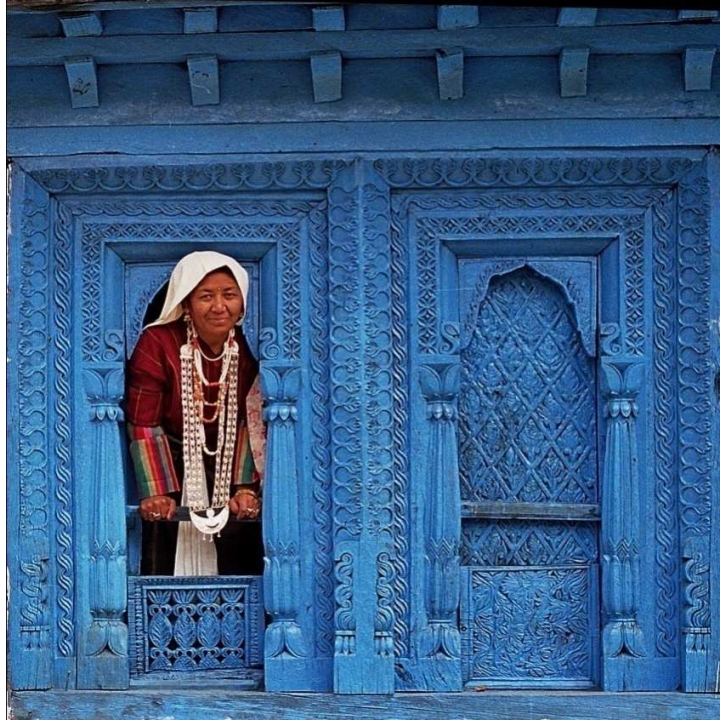
मन्दिरों में भूतल वाले प्रमुख प्रवेशद्वार व खुले मण्डप पर तथा तीसरी मंजिल में स्थित देवकक्ष के चारों ओर सबसे अधिक नक्काशी पायी जाती है। प्रवेशद्वार वाले पार्श्व में तिर्मंजिले के आगे खुले मण्डप की ढालदार छत और चारों ओर गयी छत की मुंडेर में काष्ठ झालरों की कतारें और बीच-बीच में लट्ठुओं के गुच्छों से की गई सजावट मिलती है। अत्यंत कलात्मक प्रवेश द्वार पर रामायण, महाभारत व भागवत के दृश्य, दशावतार, अनेक देव-देवियाँ, नवग्रह आदि अंकित हैं। छत के कोनों पर पशु मुख बने होते हैं। गढ़वाल की मन्दाकिनी और अलकनन्दा घाटियों के चोकोर छत्र वाले मन्दिरों में तथा कुमाऊँ क्षेत्र के ऐसे ही मन्दिरों में काष्ठकला मुख्यतः छत्रों में ही देखने को मिलती है।” लाखामण्डल का काष्ठछत्र एक सुंदर नमूना है। प्रमुख अलंकरणों में मानव, पशु-पक्षी, वृक्ष, पुष्प ज्यामितीय आलेखन, आदि हैं। उत्तराखण्ड के मन्दिरों में काष्ठ पर उत्कीर्ण देवाकृतियों में प्रमुख हैं—विष्णु के दस अवतार तथा इन्द्र, शिव, ब्रह्मा, हनुमान, आदि। गणेश का सबसे विशाल संग्रह अस्कोट तथा सर्वाधिक कलात्मक संग्रह चम्पावत में है। अन्य अंकनों में भैरव, लक्ष्मी, काली, गंधर्व तथा दैवी द्वारपालों की मूर्तियाँ, सूर्य-चन्द्र, नवग्रह, रामायण, महाभारत के कथानक आदि हैं। गंगा-यमुना का अंकन हनोल में भी है। मानवाकृतियों में राजपुरुषों से लेकर द्वारपालों तक तथा विभिन्न श्रेणी के सैनिकों, त्रिशूलधारी नारियों के अलावा जन-जीवन से जुड़े यथा जल भरती नारियाँ, पगड़ी, घाघरा पहनी स्त्रियाँ भी हैं। करगेत के मन्दिर में 68 मानवाकृतियाँ हैं, जिनमें 16 महिलाएँ हैं। वे आगे लिखते हैं “दसवीं शताब्दी से पूर्व के मन्दिरों के प्रवेश द्वारों की चौखटों को विभिन्न प्रकार के अलंकरणों, यथा अर्धकमल, लतावल्लरियों, नागयुवतियों, बेल-बूटों, किन्नर-गन्धर्वों, घटपल्लवों आदि से अलंकृत किया गया है। इसके अतिरिक्त मांगलिक प्रतीकों के रूप में मकर-कच्छपवाहिनी गंगा-यमुना का परंपरागत रूप में अंकन किया गया है। कार्तिकेय आदि अन्य देवताओं का उत्कीर्णन भी है। दसवीं शताब्दी के बाद के देवाल्यों में गणेश का अंकन विशेष रूप से पाया जाता है। पशु आकृतियों में हाथी, बाघ, शेर, तेंदुआ, बैल, घोड़ा, गाय व बछड़ा, गधा, मृग, बकरी, बन्दर, सुअर, मेढा और खरगोश, हैं। सर्पों तथा शेषनाग का कलात्मक अंकन भी मिलता है। मछली भी काष्ठशिल्पियों के अंकन में विद्यमान है। वृक्ष, पौधों तथा पत्र-पुष्प को भी आलेखन का माध्यम बनाया गया है। पत्तियों, पुष्पों तथा गुलदस्तों के अनेक प्रतिरूपों और लता वल्लरियों का अंकन अत्यंत कलात्मकता के साथ हुआ है। देवाल्यों तथा आवासीय भवनों के प्रतीक चिह्नों में स्वास्तिक का प्रमुख स्थान है।”

3.6.2 आवासीय भवन

उत्तराखण्ड के पुराने आवासीय भवनों में काष्ठकला के अत्युत्तम नमूने दिखाई देते हैं। डॉ मठपाल के विवरण से स्पष्ट होता है कि इनमें प्रवेश द्वार काष्ठकला के सर्वोत्तम उदाहरण हैं और पुराने भवनों में सामाजिक प्रतिष्ठा और जातीय उच्चता के अनुरूप ही इनके निर्माण की परंपरा दिखाई देती है। विशाल प्रवेशद्वार के अगल-बगल में बड़ी-बड़ी सुघड़ खिड़कियाँ, मुख्य मार्ग की ओर खुलने वाली कलात्मक छोटी खिड़कियाँ, मकान के मुख भाग पर प्रवेश द्वार और बड़ी खिड़कियों के अगल-बगल सपाट दीवारों की नीरसता भंग करने हेतु बनाई गयी कलात्मक नकली खिड़कियाँ, अलंकृत



मौनपालक खिड़कियाँ, छजली अलंकरण (द्वाराहाट के नौगाँव, चौकोट के जसपुर तथा अल्मोड़ा नगर में सुंदर उदाहरण हैं), प्रमुख प्रवेशद्वार के दोनों ओर बड़ी खिड़कियों को सहारा देने तथा भूतल वाले कमरों को पर्याप्त प्रकाश प्रदान करने हेतु बनाये गये काष्ठ के भारी भरकम चतुष्फलकी शहतीर अर्थात् धरणी, जो अपने ऊपर दुमजले भवन का सारा भार उठाकर और भूतल वाले कमरों को चौड़ा प्रवेश द्वार देकर मण्डप का रूप देती है (चम्पावत, बागेश्वर, उदयपुर, पगन्ना, मवड़ा आदि में इनके उत्तम अलंकृत नमूने हैं और गढ़वाल की अपेक्षा कुमाऊँ में इनकी परंपरा अधिक दिखाई देती है), छत को सहारा देने के लिये बनाया जाने वाला मध्यवर्ती स्तम्भ, (जिनमें गढ़वाल के ग्रामीण घरों की तिवारियों के प्रयुक्त स्तम्भ तथा गढ़वाल सीमावर्ती कुमाऊँनी गाँवों के गरिमामय स्तम्भ हैं), कलात्मक उल्टी छतें (जिसमें सर्वोत्तम नमूना अल्मोड़ा के गंगोला मोहल्ले में गोपाल लाल शाह के मकान का है) आदि प्रमुख विशेषताएँ हैं।



“भवनों/बाखलियों के मुख्य प्रवेश द्वारस्तंभों/खोलियों, उनके शीर्षपटों पर उत्कीर्ण गणपति की कलात्मक मूर्तियाँ, खिड़कियों अथवा छज्जों की चौखटों पर उत्कीर्ण गवाक्षों, लताओं, पुष्पों, पशु-पक्षियों की आकृतियाँ, विभिन्न काष्ठफलकीय आधारों पर सूर्य, चन्द्र, धनुर्धारी राम तथा वंशीधारी कृष्ण, शिव-पार्वती, यक्ष, गन्धर्व आदि की आकृतियों के अलावा अर्धनारीश्वर शिव अथवा मत्स्यांगना का भी अंकन मिलता है। दानपुर (बागेश्वर क्षेत्र) के दुमंजिले-तिमंजिले भवनों का संपूर्ण अग्रभाग काष्ठशिल्प का अद्भुत नमूना है और यह ढांचा बिना किसी कील-काँटे की सहायता के बनाया जाता था। “भवनों की खोलियों, छज्जों/चौबारियों तथा खिड़कियों के चौखटों में की गयी नक्काशी का उत्कृष्टतम रूप भवन की खोलियों के द्वारस्तंभों पर पाया जाता है। पत्र वल्लरियों से रचित द्वारस्तंभों वाली ये खोलियाँ मध्य में ऊपर की ओर मेहराबों से संयुक्त होती थीं। द्वारपटों का योजन दहलीज के ऊपर-नीचे की काष्ठपट्टियों पर बनाये गये छिद्रों तथा उनके मूल में बनाये शृंगों के माध्यम से किया जाता था। इनमें लोहे के कब्जों का प्रयोग नहीं होता था। कभी-कभी द्वारस्तंभों के समान ही कपाटपटलों पर भी विभिन्न देवी-देवताओं, मानवों, पशु-पक्षियों एवं पत्र-पुष्पों की आकृतियों तथा खोली के ऊपर गणेश को उत्कीर्ण किया जाता था। छज्जों/खिड़कियों का लगभग एक-तिहाई भाग काष्ठपट्ट से ढका रहता था। उसके ऊपर बनी मेहराबें प्रायः अर्धचन्द्राकार होती थीं, जो कई खण्डों को संयुक्त करके बनाई जाती थीं और उन्हें छज्जे/खिड़की की चौखट में इस कुशलता से जोड़ा जाता था कि उनके ये जोड़ ऊपर से देखने में बिलकुल नहीं दिखाई देते थे। मेहराबों पर पत्र-पुष्पों अथवा लता-वल्लरियों के रूप में नक्काशी भी की जाती थी (डी.डी.शर्मा)।

दानपुर,काली कुमाऊँ तथा चम्पावत के पुराने आवासीय भवनों के अवशेषों में अभी भी काष्ठशिल्प के अद्भुत अलंकरणात्मक अवशेष देखे जा सकते हैं। इनमें उल्लेखनीय हैं— 1. पिथौरागढ़ जनपद में असकोट का राजप्रासाद(जिसके समान काष्ठपट पर बड़ी आकृतियाँ अन्यत्र नहीं दिखाई देती),लोहाघाट,चंपावत,मुन्स्यारी,गर्वांग तथा विभिन्न गाँवों के कलात्मक आवासीय भवन, काष्ठकला में कुमाऊँ में सबसे धनी अल्मोड़ा जनपद ,जिनमें अल्मोड़ा के कई पुराने भवन, बागेश्वर का पुराना बाजार(जिसका 25 प्रतिशत भी नहीं बचा है), सौनी,स्याल्दे,मासी,द्वाराहाट,सयानामानुर आदि,नैनीताल जनपद में ढोलीगाँव तथा कुछ अन्य स्थल, चमोली जनपद में जोशीमठ का नम्बूदरीपाद भवन,बदरीनाथ मन्दिर तथा अनेक गाँवों के पुराने मकान,पौड़ी में शिवप्रसाद डबराल के कलात्मक आवासीय भवन के अलावा टिहरी के कुछ भवनों का विवरण है।

3.6.3— काष्ठ उपकरण

लकड़ी से विभिन्न आकार-प्रकार के बर्तन, कृषि से संबंधित तथा अन्य उपकरण बनाये जाते थे। मिट्टी और धातु के बर्तनों की अपेक्षा लकड़ी के बर्तनों का प्रयोग अधिक होता था। इन्हें लकड़ी के एक ही टुकड़े से बनाया जाता था। ट्रेल के अनुसार "बारुड़ी लकड़ी के एक ही टुकड़े से विभिन्न आकार-प्रकार के बर्तन बनाता था। कालीफाट,मैखण्डा एवं असकोट में निर्मित बर्तनों को विक्रय के लिये भेजा जाता था।"पौ ने लिखा है कि " गढ़वाल में कालीफाट तथा मैखण्डा में यह विशेष रूप से उन्नत था।" शेरिंग (वेस्टर्न तिब्बत एंड ब्रिटिश बॉर्डरलैण्ड,1906) के अनुसार " असकोट के



82ब-काष्ठ उपकरण, लोक संग्रह, भीमताल, नैनीताल।

राजी लोगों का व्यवसाय ही लकड़ी के बर्तन बनाने का था। यह उद्योग उन्हीं क्षेत्रों में था,जहाँ अच्छी इमारती लकड़ी उपलब्ध थी और जल शक्ति प्रचुर थी। उदाहरण के लिये गोरीछाल(असकोट) के लकड़ी के बर्तनों की मांग सारे जिले में थी।" यशोधर मठपाल के अनुसार "राजी जनजाति के सदस्य गेठी की लकड़ी से बर्तन बनाने वाले आधिकारिक लोग हैं।" डी.डी. शर्मा के विवरण में घरेलू उपयोग के काष्ठ पात्रों की एक विस्तृत सूची मिलती है—इनमें प्रमुख थे—ठेकी/कठिया(दूधनिकालने व दही जमाने का पात्र),हड़पिया/हड़पुली(घी रखने का पात्र),कुहड़ी(तेल रखने का छोटा पात्र) (परात की भाँति का छितरा पात्र), डोहरा (गरम दूध आदि के लिये प्रयुक्त किया जाने वाला दस्ते वाला लकड़ी का डडुवा), डोबसिया/डोबा/फरुवा (चटनी आदि रखने के लिये कटोरानुमा पात्र), पिण्डा/ठेका/डौकोला/डकोई(मट्ठा बिलोने का बड़ा पात्र), आदि। पाली इनमें मट्ठा बिलोने का बर्तन,कुसड़ी,हड़पुली,हड़पिया,ठेकी,डौको आदि।" तरल पदार्थों को मापने के पात्रों को क्रमशः कुहड़ी,सेर (आठ छटांक) कहा जाता था। इसके अतिरिक्त वाद्य उपकरणों के निर्माण में काम आने वाले ढोल, ढोलक, हुड़का आदि के खोल(नाली), एवं घराटों (पनचविकियों) के काम में लाये जाने वाले लकड़ी के ऊखल, मूसल आदि भी बनाये जाते थे। घरेलू उपयोग में आने वाले कांडले (जूँ निकालने के कंधे) तथा काडुलियाँ (कंधियाँ) भी बनायी जाती थीं। इनके अलावा धार्मिक अनुष्ठान के कार्यो, हवन,यज्ञ,नामकरण आदि संस्कार के समय उपयोग में लाये जाने वाले लकड़ी के सुवा,सुची,प्रणितापात्रों,प्रोक्षणीपात्रों आदि का भी निर्माण

होता था। कृषि कार्य में प्रयोग में लाये जाने वाले हल, नस्यूड़े (भूमि जोतने का काष्ठफलक), जुआ, दनेला आदि बनाया करता था। डी.डी. शर्मा का यह कथन उचित ही है कि “धीरे-धीरे काष्ठ उपकरणों का प्रयोग कम होता जा रहा है। पर्वतीय ग्रामों में अभी भी काष्ठ निर्मित पुराने बक्से एवं अन्य उपकरण दिख जाते हैं, पर बढ़ते हुए प्लास्टिक के प्रयोग के कारण ये चलन से बाहर हो गये हैं।”

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1.(क) ‘उत्तराखण्ड का काष्ठशिल्प’ नामक ग्रन्थ के लेखक का नाम बताइये।

(ख) हनोल में महासू देवता का मन्दिर काष्ठशिल्प का एक उत्तम उदाहरण है। (हाँ/नहीं)

2.(क) देवालियों से संबंधित काष्ठशिल्प पर एक टिप्पणी लिखिये।

(ख) आवासीय भवनों में काष्ठकला के प्रयोग पर संक्षेप में बताइये।

3.7 रिंगाल, बाँस, बेंत आदि से संबंधित हस्तशिल्प

शीतकाल में रिंगाल, बाँस आदि के हरे, मुलायम तनों को काटकर कई दिनों के लिए किसी शैलाश्रय में रखने के उपरान्त इनके बाहर की पतली पर्त को निकाल कर एक घंटे तक पानी में भिगा दिया जाता था, जिससे वह मुलायम तथा उपकरण निर्माण के लिए सुविधाजनक हो जाता था। बधाण, दसौली तथा कालीफाट में रिंगाल और बाँस से छोटे पैमाने पर चटाई और टोकरियाँ बनायी जाती थीं और स्थानीय स्तर पर ही इनका विक्रय किया जाता था। पौ के अनुसार “पहले चाँदपुर में इस उद्योग को कुछ प्रमुखता प्राप्त थी, पर उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में लोहबा को छोड़कर, जहाँ रिंगाल बधाण से लाया जाता था, यह उद्योग प्रायः समाप्त हो चुका था। इसका प्रमुख कारण दूधातोली में अत्यधिक पशुचारण के कारण रिंगाल का समाप्त हो जाना माना जाता था।” कपकोट, दानपुर, पिण्डर (कुमाऊँ) में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होने के कारण यह इस क्षेत्र का एक प्रमुख शिल्प रहा। रिंगाल दानपुर में ऊपरी तथा मध्य जंगलों में प्रचुरता से उपलब्ध होता था। चटाइयों का निर्माण हाथ से होता था। पहाड़ी लोग इसको मोस्टा भी कहते थे। दानपुर के मोस्टे बहुत प्रसिद्ध थे। एस.डी. पंत के अनुसार “प्रयुक्त रिंगाल के रिंगाल आधार पर चटाइयों की दो किस्में थीं— 1. नाकुरी या सफेद चटाइयाँ 2. दानपुरी चटाइयाँ (कुछ स्लेटी रंग की)। ये नाकुरी से गुणवत्ता में उत्तम थीं। प्रतिवर्ष बीस हजार के लगभग चटाइयाँ बागेश्वर के मेले में बिक जाती थीं। इनसे तीन प्रकार की टोकरियाँ – पिटार, डोका तथा डाला भी बनती थीं। पिटार प्रायः लकड़ी के बने आयताकार बक्से तथा टोकरियाँ थीं। बुनकर के कौशल से यह उसी के नाम से प्रसिद्ध होता था, जैसे लछमा या नाकुरी का पिटार। कुछ पिटारों में हिरन या चीते की खाल मढ़ी रहती थी। ये साधारण पिटार से महंगे थे।” डोका तथा डाला विभिन्न आकार-प्रकार की टोकरियाँ थीं, जिन्हें फल-फूल, कृषि उत्पाद, फसलें, खाद आदि एकत्र करने तथा ले जाने के काम में लाया जाता था। इनका निर्माण तथा बिक्री कार्य बागेश्वर में अधिक होता था। प्रमुख वस्तुओं में बैठने, बिछाने एवं अन्न आदि को सुखाने के लिए बनाये जाने वाले मोस्टे/मानिरे (चटाइयाँ), डाले, टोकरे, टोकरियाँ, अन्न के भण्डारण के लिए टुपरे/डालियाँ, बच्चों के चंगोरे (पालने), सामान रखने व ले जाने की कण्डियाँ, खलिहानों में अनाज को मांडते समय बैलों के मुँह पर लगाये जाने वाले मुआल/मुहाल, खेतों में खाद डालने या जंगल से घास-पत्तियाँ लाने वाले डाले/डालियाँ, रोटी आदि रखने आदि की छापरियाँ, ग्वत (मछली पकड़ने के जाल), कपड़े रखने की

पिटारियाँ(पिटार), डोके (पीठ पर सामान ढोने के पिट्टू),देवी-देवताओं की छंतोलियाँ(छत्र),बगवाल में पाषाणी प्रहारों से बचने के फर्रे आदि। रूड़िया बाँस तथा रिंगाल से अन्न आदि रखने के बर्तनों और टोकरियों का निर्माण करता था। अल्मोड़ा गजेटियर में उल्लेख है कि बागेश्वर के उत्तरायणी मेले में 50,000 कण्डियाँ प्रतिवर्ष बिकती थीं। जिन स्थानों में रिंगाल उपलब्ध नहीं था,वहाँ पर मोस्टा और पिटारों को छोड़कर अन्य सभी वस्तुओं का निर्माण बाँस के डण्डों को छीलकर निकाले गये बाहरी छिलकों की पट्टियों से किया जाता था। तराई के क्षेत्र में नरकुल को फीणे(चटाई) बनाने के लिये उपयोग में लाया जाता था तथा हल्द्वानी,रामनगर,टनकपुर आदि की मण्डियों में इनका विक्रय होता था। इनके अलावा गेहूँ,धान आदि खद्यान्नों के सूखे तनों,पराल आदि का उपयोग भी 'मानिरे'(बड़ी मोटी चटाइयाँ) एवं टोकरे आदि के निर्माण में किया जाता था। पाली पछाऊँ आदि में गेहूँ की सूखी नलिकाओं से बिछाने तथा अन्न आदि सुखाने के लिए बड़े,बड़े मोटे मानिरे,जिन्हें फीणी या म्वट(मोस्ट) भी कहा जाता है,बनाये जाते थे। डबराल के अनुसार "वाल्डकटूड़ में रिंगाल की टोकरी,कण्डी, चटाई आदि का निर्माण स्थानीय आवश्यकता की पूर्ति आदि के लिए होता था। रमोली में रिंगाल की वस्तुएँ स्थानीय आवश्यकता की पूर्ति तथा विक्रय के लिए बनती थीं। परगना भिलंग में रिंगाल की वस्तुएँ बनाई जाती थीं। "



स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

- 1.(क) दानपुर के मोस्टे बहुत प्रसिद्ध थे।(हाँ/नहीं)
- (ख) एस.डी.पन्त ने रिंगाल की चटाइयों की किन दो किस्मों का उल्लेख किया है?
2. (क) रिंगाल, बाँस, बेंत से संबंधित हस्तशिल्प पर एक टिप्पणी लिखिये।

3.8 तंतुओं से संबंधित हस्तशिल्प तथा वस्त्र निर्माण

कोलियों (बुनकरों) द्वारा बनाये गये कपड़े को घर बुण कहते थे। ट्रेल के अनुसार पैनखण्डा,नागपुर,दसौली,बधाण,जोहार,दारमा,ब्यांस,चौदांस,अस्कोट आदि क्षेत्रों में भेड़ पालन अधिक होता था और ऊन तैयार की जाती थी। इसके अतिरिक्त हुणदेश(तिब्बत)से भी ऊन का आयात होता था। इससे कम्बल, पंखी,कालीन,पट्टू,थुलमे आदि बनाये जाते थे। सभी वर्गों की महिलायें बुनाई का कार्य करती थीं और पुरुष धागा तैयार करते थे। विक्रय के लिये इन्हें बरमदेव मण्डी,रामपुर,बागेश्वर,श्रीनगर,देहरा,हरद्वार और नजीबाबाद तक भेजा जाता था। मोटा सूती कपड़ा छोटे पैमाने पर बनाया जाता था। चन्द राजाओं तथा बाद में गोरखाओं द्वारा करघे पर कर लगाये गये थे।टांडकर से पता चलता है कि वस्त्र व्यवसाय काफी उन्नत रहा होगा। रेशमी वस्त्रों का भी थोड़ा,बहुत निर्माण होता था। रेशम के बुनकरों को पटुवा भी कहते थे। बदरीदत्त पाण्डे के अनुसार "राजा इन्द्रचंद ने रेशम का कारखाना खोला। नेपाल से रेशम कुमाऊँ में

लाया गया। रेशम के कीड़ों के चारे के लिये शहतूत (कीमू) के पेड़ लगाये गये। कीड़े रखने के लिये एक बड़ा मकान बनाया गया। ये कीड़े शहतूत खाकर मकड़ी के सदृश जाले लगाते थे। जब वह पक्का हो जाता था तो पट्टे उस जाले को निकाल कर साफ करते और रेशम बनाते थे।” ब्रिटिश युगीन उत्तराखण्ड में पूर्ववर्ती युगों की भाँति सूती वस्त्र,भंगेले तथा ऊनी वस्त्र तैयार किये जाते थे। कपास कहीं-कहीं उगाई जाती थी।

3.8.1 सूती वस्त्र

बिशप हैबर के विवरण से पता चलता है कि खददर और गाढ़ा दोनों प्रकार के कपड़े बनते थे। काशीपुर और जसपुर में रंगाई का काम होता था।” बैकेट ने लिखा है कि “ सूती वस्त्रों के निर्माण से संबंधित शिल्प यहाँ उल्लेखनीय स्थिति में नहीं था। सूती कपड़ा बहुत ही कम बनता था और वह भी मोटे प्रकार का था।”

3.8.2 भंगेला एवं अन्य उत्पाद

पौ ने लिखा है कि “भांग का उत्पादन गढ़वाल के चाँदपुर परगने में सर्वाधिक होता था। यहाँ खशिया जाति के लोग, जिन्हें प्रायः पबीला के नाम से जाना जाता था,इसके उत्पादन और निर्माण पर अधिक ध्यान देते थे। गाँवों के समीपवर्ती अच्छे भूखण्डों में भांग उगाई जाती थी। पहले इसे जंगलों में उगाते थे,परंतु इससे होने वाली हानि को देखते हुए इस कार्य को हतोत्साहित किया जाने लगा।” वॉल्टन के अनुसार “कुमाऊँ के गंगोली और चौगर्खा परगनों में मुख्य रूप से भांग का उत्पादन होता था। थोड़ी-बहुत भांग काली कुमाऊँ के कुछ भागों में भी उगाई जाती थी।” 1840 में कैप्टन किर्क ने देहरादून में भी भांग उगाने का प्रयास किया,परंतु वह सफल नहीं हो पाया।

गढ़वाल के मध्य भागों में भांग के रेशे से भंगेला नामक वस्त्र तैयार किया जाता था,जो काफी मोटा होता था। इससे भंगेले की पट्टियाँ,कुथले(लंबे थैले),दरियाँ,रस्सियाँ आदि का निर्माण किया जाता था। वॉल्टन ने गढ़वाल गजेटियर में उल्लेख किया है कि “भांग के तनों को कच्ची अवस्था में ही काटकर धूप में सुखाया जाता था। इसके बाद गट्टरों में बाँधकर पन्द्रह या सोलह दिन पानी में डुबाते थे।जिससे वे काफी मुलायम हो जाते थे। फिर पानी से निकालकर लकड़ी के डंडों से पीटकर पुनः धूप में सुखाया जाता था। तत्पश्चात् तने के मोटे सिरे से धागा(लम्फा) खींच लिया जाता था।” डी.डी.शर्मा ने लिखा है“बाहर का छिलका गल जाने पर इन रेशों को अन्दर की लकड़ियों से अलग करके उनके मुट्ठे बनाकर,किसी बड़े पटाल पर पटक कर या लकड़ी के मुद्गरों से कूटकर उन्हें और अधिक मुलायम और साफ कर लिया जाता था। धूप में सुखाने के बाद उन्हें तसेरा नामक एक द्विशृंगी काष्ठपट्ट पर सूत की भाँति बट कर लपेट लिया जाता था।फिर गुच्छे बनाकर लकड़ी के कोयलों की राख के साथ पानी में पकाकर रुई की भाँति मुलायम करने के बाद साफ पानी में धो लिया जाता था,जिससे वे सूत के रेशों के समान सफेद हो जाते थे। इसके बाद गोले बनाकर लकड़ी के करघे पर चौड़ी पट्टियाँ बनाई जाती थीं। इनको जोड़कर गातियाँ,भूमि पर बिछाने की चटाइयाँ,कुथले आदि तैयार किये जाते थे। कुमाऊँ में गंगोली,दानपुर,दसौली आदि के पूर्वोत्तरी क्षेत्रों तथा गढ़वाल सलाण,उरगम,डांगू,चाँदपुर आदि क्षेत्रों में ये अधिक प्रचलित थे। इन लोगों को ‘कुथलिया बोरा’ कहा जाता था। ” एस.डी. पंत ने ‘द सोशियल इकोनॉमी ऑफ हिमालयन्स में उल्लेख किया है “कि धागे को एक काफी मजबूत और मोटे कैनवस पर बुना जाता था। तैयार वस्त्र को भंगेला कहते थे और इसे अधिकतर निर्धन वर्ग के लोग धारण करते थे। कोटद्वार और रामनगर के मार्ग से भाबर के बाजारों में इस कपड़े का कुछ निर्यात भी होता था।” कंपनी शासन में भांग के रेशे के व्यापार के

लिये काशीपुर के पास अपना एक डिपो खेल लिया था और इसके व्यापार के बहाने उन्होंने अपने एजेंटों के माध्यम से कुमाऊँ की आन्तरिक स्थितियों को जानने के लिये पूरे प्रयास किए।

20वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भांग के रेशों से गाती, कुथले बनाने का व्यवसाय समाप्तप्राय था, पर रस्से, घास, लकड़ी आदि बाँधने की रस्सी (घस्यारी), हल जोतते समय बैलों के कंधों पर रखे हुए जुए को बाँधने की रस्सियाँ (जोत्यूडे), पालना (चडोरा) लटकाने की रस्सी, सामान को ऊँचा लटकाकर रखने के छींके, जंगल से पिरुल या सूखी पत्तियाँ लाने का जाल (किंजारी), दूध निकालते समय लात मारने वाली गाय की पिछली टांगों को बाँधने की रस्सी (सेली), अनाजों को माँडते समय उनके मुँहों पर बाँधने की जाली (मुहाल), मछली पकड़ने के लिये बनाये जाने वाले जाल की रस्सियाँ आदि बनाने के लिये भांग के रेशों का प्रयोग किया जाता रहा।

स्थानीय उपलब्धता के आधार पर भांग, मालू, रामबाँस, भिमल, अलो, उदाल आदि वनस्पतियों का प्रयोग इस कार्य के लिये किया जाता था। इनमें सबसे उपयोगी रेशा भांग का था। भांग के अलावा मालू, उदाल आदि के रेशों के लिये भी भांग की ही प्रक्रिया अपनायी जाती थी। रस्से, रस्सी, छींके, मुहाल की जालियाँ तो सभी प्रकार के तंतुओं से बन सकती थीं, पर मछली पकड़ने के जाल केवल भांग के रेशों अथवा सूत की डोरियों से ही बनाये जाते थे।

3.8.3 ऊनी वस्त्र

हिमालयी क्षेत्र में प्राचीन काल से ही भेड़-बकरियों के ऊन से बनाये जाने वाले वस्त्रों के प्रमाण महाभारत आदि ग्रंथों में भी मिलते हैं। डी.डी. शर्मा के विवरण से पता चलता है कि “भेड़ों के शरीर से उतारी गयी ऊन से वस्त्र आदि के निर्माण के लिये उसे तन्तुओं के रूप में त्रिवर्तित करने की प्रक्रिया के अन्तर्गत पहले उसे गरम पानी में डुबो कर तथा बाँस के डण्डे से भली-भाँति कूट-पीस कर उसके परस्पर चिपके हुए बालों के रेशों को अलग-अलग कर लिया जाता है। इसके बाद आवश्यकतानुसार मोटे-पतले रूप में तकली में कातकर गोले बना लिये जाते हैं। पुनः इनकी लच्छियाँ बनाकर उन्हें एक चर्खी के माध्यम से अपने देशी राँच (करघे) में बुना जाता है। अपेक्षित होने पर इन धागों को स्वनिर्मित स्वदेशी रंगों से रंग कर इन्हें बनाने वाली कुशल कलाकार महिलाओं के द्वारा अपनी शिल्पकला के माध्यम से यथाभिलषित रूपों में बुन लिया जाता है।” कलाशिल्प की दृष्टि से कालीन का निर्माण सबसे अधिक जटिल एवं कलात्मक होता है। कौशल किशोर सक्सेना के अनुसार इसे बनाने के लिए पहले कालीन की अपेक्षित लम्बाई के अनुसार 25 सेमी. लम्बी तथा 1 सेमी. व्यास की लकड़ी या लोहे की छड़, जिन्हें स्थानीय बोली में पुसिङ् कहा जाता है, ली जाती है, कम से कम 6 होती है। इन्हें एक विशेष व्यवस्था के अन्तर्गत, अर्थात् एक ओर जो तीन पुसिङ् गाड़े जाते हैं, उनमें से दूसरे और तीसरे को अन्त में बीच की ओर गाड़ा जाता है। कालीन, चुटका, दन या आसन के अपेक्षित आकार के हिसाब से इन पर मोटे सूत को आधार भूमि प्रदान करने के लिये मोटे धागे के क्रासिंग फन्देनुमा धरातल डाले जाते हैं। उपलब्ध विवरण के अनुसार 45 सेमी. वर्गाकार आसन के लिये 130 से 140 तक क्रासिंग डाले जाते हैं, किन्तु 180 सेमी. लम्बे तथा 90 सेमी. चौड़े कालीन के लिये 250 से 260 क्रासिंग तक (फन्दे) डालना आवश्यक होता है।

बुनाई के दौरान राँच (खड्डी) पर चढ़ाने से पूर्व एक नियत व्यवस्था के अन्तर्गत प्रथम क्रासिंग को निकालने के बाद उसमें एक मोटा सूत डाल दिया जाता है, द्वितीय के बाद एक जुम्पर (निंगाल की डंडी) तथा तृतीय के बाद एक मोटी लेड़ी डाल दी जाती है। इस प्रकार इन्हें व्यवस्थित कर दिये जाने के बाद

इन सबको बुनाई करने वाली लड़की के उस यंत्र में डाल देते हैं, जिसे राँच कहा जाता है तथा जिसमें लगी 10 सेमी. मोटी दो बेलनें (चीरा) धुरी पर घूमती हुई गलीचे की बुनाई करती हैं। बुनाई को ठोस/सघन करने के लिए पतले बाँस या उसी के समान 'मेस' नामक वनस्पति की लकड़ी का प्रयोग किया जाता है, जिसे कांसना कहते हैं। ऐसे ही राँच पर कालीन को बुनते हुए तानों को ककसने तथा उन्हें सघन करने के लिये जानवरों के नाखून की तरह मुड़े हुए वाले ब्रुश का प्रयोग किया जाता है।



कालीनों, दनों/चुटकों की बुनाई में प्रयोग लायी जाने वाली राँच एक स्थान पर स्थिर भी हो सकती है, स्थानान्तरणीय भी। सामान्यतः मुन्स्यारी (जोहार) में यह प्रथम प्रकार की तथा धारचूला के पूर्वी क्षेत्रों में यह द्वितीय प्रकार की होती है। व्यावसायिक दृष्टि से प्रथम प्रकार की राँच पर बने कालीनों को अधिक अच्छा माना जाता है। कालीनों में विशेष प्रकार की डिजाइनों को बनाने तथा किनारों पर पट्टियाँ डालने के लिये रंगीन तंतुओं का प्रयोग किया जाता है।"

ऊन तिब्बत से आयातित तथा स्थानीय दोनों प्रकार की थी। वाल्टन ने अल्मोड़ा गजेटियर में उल्लेख किया है कि " इसे गर्म पानी में डुबाकर कूटने के बाद बुना जाता था। बुनाई हाथ से होती थी, जिसमें तकली या कतुवा की सहायता ली जाती थी। दो किस्म का धागा बुना जाता था। मोटे वस्त्र के लिए इकहरा और पतले वस्त्र के लिए दो धागे बँटे जाते थे। बुनाई का काम स्त्रियाँ करती थीं। भोटांतिक क्षेत्र में ऊनी वस्त्र बुनने की कला अत्यधिक विकसित हुई। यहाँ विशेष प्रकार के चबूतरे या राँठ होते थे, जिनमें आस-पास की स्त्रियाँ तथा बालिकाएँ एकत्र होकर अपने वस्त्र बुनना सीखती थीं। 1909 में अल्मोड़ा में बुनाई का एक विद्यालय खोला गया, जहाँ प्रारंभ में तीस छात्र थे। कुछ भोटान्तिक भी इसमें प्रशिक्षण के लिए शामिल हो रहे थे।"

एस. डी. पंत ने उत्तरी क्षेत्रों, विशेषकर भोटान्तिक क्षेत्र में बुनी जाने वाली प्रमुख ऊनी वस्तुओं का विवरण दिया है—

3.8.3.1 पट्टू

इसकी लम्बाई प्रायः चार हाथ होती थी। इसे अधिक चौड़ा नहीं बनाया जाता था, क्योंकि इसके लिए बुनकर को अधिक श्रम करना पड़ता था। एक पट्टू का मूल्य 6 से 10 रु० तक था। अन्य धागों की अपेक्षा पट्टू को बुनने में अधिक समय लगता था।

3.8.3.2 थुलमा

मोटे ऊनी कम्बल थे। इन्हें पट्टू की तरह ही बुना जाता था। एक थुलमा बनाने में छः से आठ दिन लगते थे तथा छः से लेकर बारह सेर तक ऊन लग जाती थी। काले थुलमे अधिक महंगे थे। ऊन की चमक, किस्म आदि के आधार पर इनका मूल्य भी भिन्न-भिन्न होता था।

3.8.3.3 पंखी

कम्बल से मोटाई में कुछ कम होता था। इसकी रंगाई प्रायः नहीं की जाती थी। वजन तथा मूल्य थुलमे से कम होता था और प्रायः मध्यवर्गीय स्त्री-पुरुष इसका उपयोग करते थे।

3.8.3.4 चुटका

ये मोटे दन (Rugs) होते थे। इनका आकार थुलमे के बराबर होता था, पर मूल्य थुलमे से कुछ कम था। धागे को पहले धोकर फिर बुना जाता था। दारमा और ब्यांस के भोटान्तिक इसे अधिक बुनते थे।

3.8.3.5 दन

छोटे गलीचे थे। इन्हें विभिन्न रंगों से रंगा जाता था। धागे को बुनने से पहले धोकर रंग लेते थे। रंगों का निर्माण वनस्पतियों से किया जाता था। इनका मूल्य 10 रु० से 20 रु० प्रति जोड़ा था। इनका प्रयोग बड़े गलीचों के ऊपर बिछाने या धूप में बैठने के लिए करते थे।

3.8.3.6 आसन

प्रायः चौकोर होते थे और लम्बाई दन की आधी होती थी। मूल्य 3 रु० से 6 रु० प्रति जोड़ा था।

3.8.3.7 करबोजा

छोटा थैला था, जिसमें ऊन की दो जेबें होती थीं। इसका प्रयोग भेड़ तथा बकरियों की पीठ पर सामान लादने के लिए किया जाता था। बनाने से पहले ऊन को दुहरा कर लेते थे।

3.8.3.8 पश्मीना

कभी-कभी पश्म ऊन (पश्मीना नामक बकरी से प्राप्त) से अच्छे किस्म के शॉल भी बुने जाते थे, जिनका मूल्य 20 रु० से 60 रु० तक था।

3.8.3.9 ऊनी जूते

दारमा और ब्यांस के लोग घुटनों तक पहुँचने वाली ऊनी जूते भी बुनते थे। इन्हें विभिन्न रंगों और आकृतियों से सजाया जाता था। इनका मूल्य 4 रु० से 6 रु० तक था।

शिवप्रसाद डबराल के अनुसार “दारमा-ब्यांस तथा अन्य उत्तरी परगनों के अलावा टिहरी राज्य में भी ऊनी वस्त्रों का निर्माण किया जाता था। नेलङ्, जाड़ङ् और बागौरी के जाड़ जनजाति के लोग ऊन के उत्तम वस्त्र, कम्बल, चुटका, दुमकर, गुदमा, कालीन, आसन आदि का निर्माण करते थे। टकनौर के गाँवों में भी दुमकर, गुदमा, कालीन, कम्बल आदि बनते थे। रवाई में बनाए गये कम्बल, दुमकर, गुदमा, चुटका

तथा पट्टू अपनी बारीकी और सुन्दरता के लिए विशेष प्रसिद्ध थे। बंगाण मे 'ढावली' या एक विशेष प्रकार कम्बल, बनाये जाते था। भंकोली तथा रवाँई में बिछाने की कौटू, प्यौरी (मांदरी) बनती थीं। सूती, ऊनी तथा भंगेला वस्त्रों के अलावा . मालू की हरी छाल, उदाला तथा भिमल की छाल और बाबड़ घास से भी कपड़ा बनता था। बाबड़ घास सबसे कम मजबूत होती थी। परगना जौनपुर (टिहरी) के निवासी भिमल की टहनियों की छाल से रेशा निकालकर बिछाने के लिए 'खारचा' या एक प्रकार के टाट बनाते थे।"

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1.(क) भांग के रेशों से बनाये जाने वाले वस्त्र को क्या कहा जाता था?

(ख) 'द सोशियल इकॉनॉमी ऑफ द हिमालयन्स' के लेखक का नाम बताइये?

2..(क) भांग के रेशों से संबंधित हस्तशिल्प पर एक टिप्पणी लिखिये।

(ख) उत्तराखण्ड के ऊनी वस्त्र शिल्प के बारे में आप क्या जानते हैं?

3.9 मृदा से संबंधित हस्तशिल्प

उत्तराखण्ड के पर्वतीय क्षेत्रों में भोजन आदि बनाने तथा दूरस्थ जलीय स्रोतों से जल लाने के लिये मृत्तिका पात्रों के स्थान पर काष्ठपात्रों के प्रयोग की परंपरा अधिक दिखाई देती है। अनेक स्थानों पर की गयी पुरातात्विक खुदाइयों से प्राप्त मृत्तिकापात्रों के अवशेष इस क्षेत्र में इनके प्रयोग की पुष्टि करते हैं। के. पी. नौटियाल के अनुसार—“इन खुदाइयों में चाक पर बने मिट्टी के विभिन्न पात्र—हाँडियाँ, कलश/घट, अन्न भण्डारण के पात्र, कुण्डियाँ, तश्तरियाँ, प्याले एवं धूसर मृद्भाण्ड पाये गये हैं।” हनकिया मिट्टी के बर्तन बनाते थे, पर इनकी संख्या अधिक नहीं थी। पौ के अनुसार “मुख्यतः श्रीनगर, कांडा (असवालसूँ), उज्याड़ी (गगवाडसूँ), कैन्थूर, पैज्याणा (लोहबा), पैज्याणा (सीली चाँदपुर) और कुछ अन्य स्थानों में कुम्हार मौजूद थे।” कुमाऊँ में भी कुम्हारों की संख्या कम थी। ताकुला, पाटिया, नौला, जैनल, पाली पछाऊँ आदि क्षेत्र मृद्भाण्ड निर्माण के प्रमुख केन्द्र थे। मिट्टी को पकाकर जलागम हेतु नलिकाएँ भी बनायी जाती थीं। अल्मोड़ा तथा चम्पावत में कुछ स्थान हनकियों (कुम्हारों) द्वारा बनायी जाने वाली परंपरागत वस्तुओं जैसे, गगरी, पाली (कुण्डा), सुराही, मटकी, दीपक, हुक्का, फूलदान, गुल्लख, खिलौने आदि के लिये जाने जाते रहे हैं। डी.डी.शर्मा के अनुसार—“कुछ स्थानों के शिल्पकार अपनी वस्तुओं के लिये दूर-दूर तक प्रसिद्ध रहे हैं, जैसे, सुनौली (कफड़ा) के हुक्का बनाने वाले, कांडला (गढ़वाल) के कुम्भकार, अल्मोड़ा से 22 किमी. दूर पाटिया गाँव के 'पजै', जो अपनी ब्लैक पॉटरी के लिये बड़े प्रसिद्ध थे, जो हाथ या पैर से घुमाये जाने वाले हनकिया (कुम्हार) चाकों (छोटे-छोटे) चाकों पर गीली मिट्टी को इच्छित आकार देकर घड़े, सुराही, हुक्के आदि बड़ी सुघड़ता के साथ बनाते थे। काला चमकदार बनाने के लिये वे इन्हें पकाने के लिये जमीन के अन्दर बनाये गये आवों में लकड़ी के कोयलों के बजाय चीड़ के बकलों का प्रयोग करते थे। इनकी बनायी गयी सुराहियों, चिलमों, फूलदानों व 'टेराकोटा' की दूर-दूर तक मांग होती थी। यहाँ के सभी प्रसिद्ध मेलों में इनकी खूब बिक्री होती थी।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1.(क) हनकिया मिट्टी के बर्तन बनाते थे। (हाँ/नहीं)

2.(क) उत्तराखण्ड में मृदा आधारित शिल्प के बारे में संक्षेप में बताइये।

3.10 शीशे का सामान

पौ के अनुसार " काँच की चूड़ियाँ बनाने वाले निम्न जाति के मुसलमान श्रीनगर, फलदा (पटवालस्यूँ), धनाई (तैली चाँदपुर) तथा कुछ अन्य स्थानों में रहते थे।" अतुल सकलानी (द हिस्ट्री ऑफ ए हिमालयन प्रिंसली स्टेट एण्ड अवेकनिंग) के अनुसार " काँच मैदानों से अनगढ़ रूप में लाया जाता था और पहाड़ी उद्योग इसे केवल पिघलाकर आकार देने तथा रंग करने तक सीमित था।" पौ ने पुनः उल्लेख किया है कि " देहरादून के राजापुर में 1904 में स्थापित हिमालयन ग्लास वर्क्स में शीशे के बर्तन, बोतलें तथा अन्य उपकरण तैयार किये जाते थे।"

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. हिमालयन ग्लास वर्क्स की स्थापना कब हुई?

3.11 चर्मशिल्प

वॉल्टन ने लिखा है कि "चमड़े का काम करने वाले काफी लोग श्रीनगर, डेंग (खाटली), गडोली (चाँदपुर), सुवाली (तल्ली दसौली), बीरों (तल्ला कालीफाट), तथा नाला (मल्ला कालाफाट) में रहते थे। इसके अतिरिक्त अन्य गाँवों में भी कुछ परिवार थे। इन्हें बाड़ी कहा जाता था।" बदरीदत्त पाण्डे के अनुसार "कुमाऊँ में वे स्वयं को वेशुवा भी कहते थे।" चर्मशिल्प के क्षेत्र में उत्तराखण्ड में विशेष कलात्मक विविधता के निदर्शन नहीं होते। "इसका उपयोग एक विशेष प्रकार के जूते बनाने, युद्ध में उपयोग में लायी जाने वाली अथवा खेतों को जोतते समय हल और जुए को संयुक्त रखने वाले नाड़े अथवा अनाज को माड़ते समय खलिहान के मध्य स्थित स्तंभ पर बैलों के गले की रस्सियों को संयुक्त रखने के उपकरणों को बनाने के लिये ही किया जाता था।" कुमाऊँ के पिथौरागढ़ जनपद में लोहाघाट, मदगाँव, मिलम, बिल्लज, नाचनी, बागेश्वर, सोमेश्वर, चनौदा, कनालीछीना आदि क्षेत्र चर्मशोधन के लिये विशेष रूप से जाने जाते थे। चर्मशोधन की प्रक्रिया में मृत पशु की खाल को निकाल कर तीन-चार दिन तक सूखने के लिये धूप में लटका दिया जाता था। फिर पानी से उसकी धुलाई करने के बाद उसे 1:5 के अनुपात से तैयार किये गये चूने के पानी में डाला जाता था। दो-तीन दिन तक प्रतिदिन तीन-चार घंटे इसमें भिगाते रहने के बाद उसे फिर स्वच्छ पानी से साफ कर लिया जाता था। फिर काफल नामक वृक्ष की छाल वाले पानी में सात-आठ दिन तक भिगा कर रखने के बाद ताजे पानी से धोकर पुनः उसी पानी में डाल दिया जाता था। दो-तीन बार इस प्रक्रिया को दोहराने के बाद उसे धूप में सुखा कर पत्थर के बेलन से दबा दिया जाता था। कुछ समय बाद पुनः दस दिन तक पानी में भिगाकर रखने के बाद उससे निकाल कर एक भारी पत्थर के बीच दबा कर रख दिया जाता था। तीन महीने तक चलने वाली इस लम्बी प्रक्रिया के बाद यह उपयोग के लिये तैयार हो जाता था। इसके अलावा जूतों के लिये प्रयुक्त किए जाने वाले चमड़े का एक अन्य रूप 'साँभर' या 'धौड़ी' भी होता था, जिनकी कुमाऊँ तथा पश्चिमी नेपाल में बहुत मांग थी। इस कार्य में लोहाघाट के शिल्पकार विशेष कुशल थे। (डी.डी. शर्मा)

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1.(क)चमड़े का काम करने वालों को बाड़ी कहा जाता था।(हाँ/नहीं)

2.(ख)उत्तराखण्ड में चर्मशिल्प की स्थिति को संक्षेप में बताइये।

3.12 कागज से संबंधित हस्तशिल्प

डी.डी.शर्मा ने इसे कर्गल हस्तशिल्प का नाम दिया है। बडुवा के पौधे की छाल (वानस्पतिक नाम—*Daphne papyraccae*) से बनाया जाने वाला बडुवा कागज बहुत मजबूत होता था और पानी पड़ने पर भी सरलता से नहीं गलता था। इस पर घरेलू स्याही से लिखे गये अक्षर तथा घरेलू रंगों से चित्रित चित्र(फूल,पत्तियाँ) आदि वर्षों तक यथावत बने रहते थे। यशोधर मठपाल ने अपने एक लेख में कागज बनाने की प्रक्रिया का विवरण दिया है(कुमाऊँ में ताम्र संस्कृति—पुरवासी,2002)—“कागज बनाने के लिये बाँज की लकड़ियों की राख को घनी बुनी टोकरी में रखकर उसमें पानी डालने से निथर कर आने वाले गहरे नारंगी सत्व को मिट्टी की हाँडी में इकट्ठा किया जाता था। फिर पत्तीली में उबाल कर उसमें आधा घंटे तक बडुवे की छाल के टुकड़े राख का सारा पानी सोख कर मोटे और कोमल हो जाने तक पकाए जाते थे। फूले हुए टुकड़ों को ऊखल में कूटा जाता था और जब कर गुंधे हुए आटे के समान लुगदी बन जाती थी तो उससे कागज बनाया जाता था। लुगदी की एक पन्ना कागज बनाने भर की लोई को मोटी छलनी में रखा जाता था और छलनी के नीचे इच्छित कागज के आकार की कपड़ा लगी चौखट को भी साथ में पकड़ा जाता था। फिर दोनों को पानी भरे गड्ढे में ले जाकर हल्कर-हल्का डुबाते थे। पानी को हिला-हिला कर लोई को छलनी में फैलने छोड़ देते थे। एक समान फैल जाने पर धीरे से छलनी को दायें हाथ से अलग कर बाह की तरह चावलर निकाला जाता था। इसमें लुगदी का मोटा कचरा जमा हो जाता था और पतला सत्व चौखट को पानी में हल्का डुबा कर लुगदी को समान रूप से कपड़े पर फैलने देते थे। धीरे-धीरे चौखट को निकाल कर पानी निथार लेते और खड़ी करके पास में जलते चूल्हे के पास ले जाकर सुखा देते थे। सूखे कागज को सावधानी से मोड़ कर अलग कर लेते थे। इसी प्रकार और पन्ने बनाये जाते थे।” चावल के माँड से भी कागज बनाया जाता था। यशोधर मठपाल ने पुनः लिखा है—“चावलों का माँड उबाले जाने पर जब लेई की तरह हो जाता था तो उसे एक हाथ चौड़ी तथा दो फुट लम्बी बिछाई गयी सूखी घास पर फैला दिया जाता था। कई परतों में मोड़ते हुए इसे नीचे की ओर कपड़े या बाँस के कागज का अस्तर लगा कर धूप में सूखने के लिए रख दिया जाता था। सूख कर पापड़ के समान हो जाने के बाद इसे लकड़ी के एक चिकने पट्टे पर रखकर शंख या बोटल से इसकी इतनी घुटाई की जाती थी कि वह समतल हो जाता था। डबराल के अनुसार “कण्डारस्यूँ, पश्चिमी नयार की ऊपरी घाटी,चोपड़ाकोट,ढाईज्यूली तथा पिण्डरवार में शिल्पकार बड़ी संख्या में कागज का निर्माण करते थे। टिहरी के परगना भिलंग में सतपुड़ा के पौधे से उत्तम और टिकाऊ पहाड़ी कागज बनाया जाता था।” पौ के विवरण से पता चलता है कि “उन्नीसवीं शताब्दी तक गढ़वाल में इसका निर्माण लगभग समाप्तप्राय हो चुका था। कण्डारस्यूँ की पश्चिमी नयार घाटी के ऊपरी भाग,ढाईज्यूली तथा चोपड़ाकोट के समीपवर्ती भागों में यह छोटे स्तर पर विद्यमान था। पिण्डरवार के कुछ ऊपरी गाँवों में हरिजनों द्वारा अल्प मात्रा में इसका निर्माण किया जाता था।”

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1.(क)बडुवा के पौधे की छाल से बनाया जाने वाला कागज बहुत मजबूत होता था।

(हाँ/नहीं)

(ख)टिहरी के भिलंग परगने में सतपुड़ा के पौधे से उत्तम और टिकाऊ पहाड़ी

कागज बनाया जाता था। (हाँ/नहीं)

2(क).उत्तराखण्ड में कागज निर्माण पर एक टिप्पणी लिखिये।

3.13 सारांश

इस प्रकार आपने इस इकाई के अन्तर्गत अध्ययन किया कि उत्तराखण्ड में हस्तशिल्प की एक अत्यंत उन्नत परंपरा रही है। आवश्यकता की सभी वस्तुओं का निर्माण कुटीर उद्योगों के रूप में होता था। प्रायः अधिकांश निर्मितियों की खपत स्थानीय स्तर पर ही कर ली जाती थी। कुछ लकड़ी के बर्तनों,पहाड़ी कागज तथा कुछ ऊनी वस्त्रों का निर्यात मैदानी भागों को किया जाता था,पर यह काफी कम मात्रा में था। लोहे व ताँबे के बर्तन तथा अन्य कृषि उपकरण बनाने का व्यवसाय विभिन्न युगों से ही उन्नत अवस्था में रहा। गोपेश्वर का त्रिशूल लौह शिल्प का एक उत्तम उदाहरण है। धातु की मूर्तियों में स्थानीय हस्तशिल्पियों के अद्भुत कला कौशल का निदर्शन होता है। प्रस्तर शिल्प के अन्तर्गत मूर्तियों के अलावा पनचविकियों (घट)के पत्थर स्थानीय स्तर पर तैयार किये जाते थे।

काष्ठ से संबन्धित निर्मितियाँ उत्तराखण्ड के हस्तशिल्प का एक अद्भुत उदाहरण हैं। यह कला अपने उन्नत रूप में यहाँ के देवालयों तथा आवासीय भवनों की निर्मितियों तथा अलंकरणों अत्यंत खूबसूरती से उभर कर आयी है। घरेलू उपयोग में लाये जाने वाले काष्ठ उपकरण, रिंगाल, बाँस आदि से बनने वाली चटाइयों, पिटार, डोका,डाला तथा अन्य निर्मितियों में हस्तशिल्पियों की कला के नमूने आप आज भी देख सकते हैं। वस्त्र निर्माण के अन्तर्गत भोटांतिक क्षेत्रों में निर्मित किये जाने वाले ऊनी वस्त्रों में हस्तशिल्पियों के कला कौशल का अत्युत्तम रूप उभर कर आया है। इसके अलावा कागज का निर्माण भी यहाँ के शिल्पी कुशलता से करते थे।

इस अध्ययन में उत्तराखण्ड के हस्तशिल्प के अन्तर्गत विभिन्न निर्मितियों के साथ-साथ आपको शिल्पियों द्वारा अपनायी जाने वाली तकनीक को भी जानने का अवसर मिलेगा। उत्तराखण्ड के हस्तशिल्प की इस मूल्यवान विरासत को संरक्षित तथा वर्तमान तकनीक के साथ तादात्म्य स्थापित करते हुए संवर्धित किये जाने की आवश्यकता है।

3.14 तकनीकी शब्दावली

1..छजली अलंकरण— परंपरागत भवनों के मुख भाग पर छत की मुडेर के ठीक नीचे तोड़ों की की कतार के साथ-साथ स्थित अलंकृत पट्टियाँ।

2.धरणी— प्रमुख प्रवेश द्वार के दोनो ओर, बड़ी खिड़कियों को सहारा देने तथा भूतल वाले कमरों को पर्याप्त प्रकाश प्रदान करने हेतु प्रयोग किए जाने वाले काष्ठ के भारी-भरकम चतुष्फलकी शहतीर।

3.खोली— मुख्य प्रवेश द्वार

3.15 स्व मूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

इकाई 3.3 के स्व मूल्यांकित प्रश्न

1.(क) हाँ .(क) हाँ

2..(क)देखें 3.3.1 ताम्रशिल्प देखें 3.3.2 लौह शिल्प

इकाई 3.4 के स्व मूल्यांकित प्रश्न

1.(क) देखें 3.4.2 धातु की मूर्तियाँ (ख) देखें 3.4.3 काष्ठ मूर्तियाँ

इकाई 3.5 के स्व मूल्यांकित प्रश्न

1.(क)हाँ 2.(क) देखें 3.5.2 प्रस्तर शिल्प पर आधारित अन्य निर्मितियाँ

इकाई 3.6 के स्व मूल्यांकित प्रश्न

1.(क) यशोधर मठपाल (ख) हाँ

2.(क) देखें 3.6.1 देवालय से संबन्धित हस्त शिल्प

(ख) देखें 3.6.2 आवासीय भवन

इकाई 3.7 के स्व मूल्यांकित प्रश्न

1.(क)हाँ (ख) नाकुरी या सफेद चटाइयाँ तथा दानपुरी चटाइयाँ (कुछ स्लेटी रंग की)

2.(क) देखें 3.7 रिंगाल,बाँस,बेंत आदि से संबन्धित हस्तशिल्प

इकाई 3.8 के स्व मूल्यांकित प्रश्न

1.(क) भंगेला (ख) एस.डी. पंत

2.(क) देखें 3.8.2 भंगेला एवं अन्य उत्पाद

(ख) देखें 3.8.3 ऊनी वस्त्र

इकाई 3.9 के स्व मूल्यांकित प्रश्न

1.(क) हाँ

2.(क) देखें मृदा से संबन्धित हस्तशिल्प

इकाई 3.10 के स्व मूल्यांकित प्रश्न

1.(क) 1904

इकाई 3.11 के स्व मूल्यांकित प्रश्न

1.(क) हाँ

(ख) देखें 3.11 चर्मशिल्प

इकाई 3.12 के स्व मूल्यांकित प्रश्न

1.(क) हाँ (ख) हाँ

2. (क) देखें 3.12 कागज से संबन्धित हस्तशिल्प

3.16 सहायक संदर्भ ग्रंथ

1. ए स्टैटिस्टिकल स्केच ऑफ कुमाऊँ , जॉर्ज विलियम ट्रेल (एशियाटिक रिसर्चेज,भाग 16 (1828)

2. रिपोर्ट ऑन द रिवीजन ऑफ कुमाऊँ डिस्ट्रिक्ट, जे.ओ.बी. बेकेट (इलाहाबाद 1886)
3. रिपोर्ट ऑन द टैन्थ सैटिलमेंट ऑफ द गढ़वाल डिस्ट्रिक्ट, ई.के. पौ (इलाहाबाद 1896)
4. जनगणना आख्या-1891
5. ई.टी.एटकिंसन, गजेटियर ऑफ द हिमालयन डिस्ट्रिक्ट, खण्ड 3, भाग-1 व 2 (दिल्ली, 1973)
6. वॉल्टन, एच.जी., अल्मोड़ा गजेटियर (इलाहाबाद, 1928)
7. बदरी दत्त पाण्डे, कुमाऊँ का इतिहास (1937)
8. एस.डी. पंत, द सोशियल इकोनॉमी ऑफ द हिमालयन्स (लन्दन 1922)
9. यशोधर मठपाल, उत्तराखण्ड का काष्ठ शिल्प (देहरादून 1997)
10. डी.डी.शर्मा, उत्तराखण्ड की लोककलाएँ एवं शिल्प कौशल (हल्द्वानी 2009)
11. शिवप्रसाद डबराल, उत्तराखण्ड का इतिहास, भाग 6 (1965), 10 व 12 (1986-87) तथा टिहरी गढ़वाल राज्य का इतिहास, भाग 2, (1974) (दोगड़डा, गढ़वाल)
12. डॉ रामसिंह- राग भाग काली कुमाऊँ, पहाड़, नैनीताल, 2002
13. कौशल किशोर सक्सैना-कुमाऊँ : कला शिल्प और संस्कृति, अल्मोड़ा, 1994
14. किरन त्रिपाठी, उत्तराखण्ड का ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक भूगोल (नैनीताल 2006)

3.17 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. ई.टी.एटकिंसन, गजेटियर ऑफ द हिमालयन डिस्ट्रिक्ट, खण्ड 3, भाग-1 व 2 (दिल्ली, 1973)
2. वॉल्टन, एच.जी., अल्मोड़ा गजेटियर (इलाहाबाद, 1928)
3. बदरी दत्त पाण्डे, कुमाऊँ का इतिहास (1937)
4. एस.डी. पंत, द सोशियल इकोनॉमी ऑफ द हिमालयन्स (लन्दन 1922)
5. यशोधर मठपाल, उत्तराखण्ड का काष्ठ शिल्प (देहरादून 1997)
6. डी.डी.शर्मा, उत्तराखण्ड की लोककलाएँ एवं शिल्प कौशल (हल्द्वानी 2009)
7. शिवप्रसाद डबराल, उत्तराखण्ड का इतिहास, भाग 6 (1965), 10 व 12 (1986-87) तथा टिहरी गढ़वाल राज्य का इतिहास, भाग 2, (1974) (दोगड़डा, गढ़वाल)
8. डॉ रामसिंह- राग भाग काली कुमाऊँ, पहाड़, नैनीताल, 2002
9. कौशल किशोर सक्सैना-कुमाऊँ : कला शिल्प और संस्कृति, अल्मोड़ा, 1994
10. किरन त्रिपाठी, उत्तराखण्ड का ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक भूगोल (नैनीताल 2006)

3.18 निबंधात्मक प्रश्न

1. उत्तराखण्ड में धातु शिल्प की समीक्षा कीजिये।
2. उत्तराखण्ड के मूर्ति शिल्प के बारे में आप क्या जानते हैं?
3. उत्तराखण्ड के काष्ठ शिल्प पर एक निबंध लिखिये।
4. उत्तराखण्ड में तंतुओं से संबन्धित हस्त शिल्प की विवेचना करते हुए वस्त्र निर्माण पर प्रकाश डालिये।

इकाई तीन

उत्तराखण्ड की स्थापत्य कला

- 3.1 प्रस्तावना
- 3.2 इकाई के उद्देश्य
- 3.3 उत्तराखण्ड का मंदिर स्थापत्य निर्माण सामग्री
- 3.4 उत्तराखण्ड का मंदिर स्थापत्य : शैली
 - 3.4.1 चपटी छतयुक्त मन्दिर
 - 3.4.2 रेखा शिखर युक्त (लतिन एवं शेखरी) मन्दिर
 - 3.4.3 फाँसणा शिखर युक्त मन्दिर
 - 3.4.4 वलभी शिखरयुक्त मन्दिर
 - 3.4.5 बहुकोणीय मन्दिर
 - 3.4.6 मिश्रक शैली
- 3.5 मन्दिर : नियोजन एवं वास्तुशिल्प
- 3.6 मन्दिर वास्तुशिल्प : विकास-क्रम
 - 3.6.1 आदि युग
 - 3.6.2 परिपक्व युग
 - 3.6.3 रूढ़िवादी युग
- 3.7 सारांश
- 3.8 तकनीकी शब्दावली
- 3.9 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर
- 3.10 संदर्भ ग्रंथ सूची
- 3.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 3.12 निबंधात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

उत्तराखण्ड की स्थापत्य कला का अध्ययन करने के लिए प्रमुख रूप से हमारे पास प्राचीन मंदिर प्रमुख स्रोत हैं, भवन स्थापत्य कला की तकनीक भी ऐसा प्रतीत होता है कि मंदिर स्थापत्य कला की तकनीक से ही विकसित हुई। चूंकि प्राचीन भवन अब लुप्तप्रायः हैं और जो मिलते भी हैं वे स्थानीय प्रभावों से ग्रस्त हैं और उनके आधार पर संपूर्ण उत्तराखण्ड की स्थापत्य कला को समझना कठिन है, अतः इस इकाई में हम उत्तराखण्ड की स्थापत्य कला को समझने के लिए मूलतः यहां की मंदिर स्थापत्य कला को समझने का प्रयास करेंगे। वर्तमान में प्राप्त अवशेषों के आधार पर यह माना जा सकता है कि उत्तराखण्ड में सातवीं सदी ईस्वी से लेकर सोलहवीं सदी ईस्वी तक निरन्तर मन्दिरों का निर्माण एवं नवीनीकरण होता रहा है। इस लगभग एक सहस्राब्दी के कालखण्ड में अनेक भव्य एवं कलात्मक मन्दिर तथा मन्दिर समूह अस्तित्व में आये। इन मन्दिरों में से वर्तमान में उत्तराखण्ड में ज्ञात प्राचीनतम मन्दिर पलेठी का सूर्य मन्दिर तथा अल्मोड़ा का कपिलेश्वर-मन्दिर माने जाते हैं। ये दोनों ही मन्दिर सातवीं सदी ईस्वी के उत्तरार्द्ध में निर्मित माने गये हैं, इनमें से कपिलेश्वर-मन्दिर को तुलनात्मक रूप से अधिक प्राचीन माना गया है।

यदि हम वाई.आर. गुप्ते के कथनानुसार तालेश्वर ताम्रपत्रों को छठी सदी ईस्वी से सातवीं सदी ईस्वी के द्वितीय चतुर्थांश के मध्य निर्मित और इनमें प्रयुक्त मूल मुद्रा को पांचवी सदी ईस्वी का मानें तो यह स्पष्ट है कि, सातवीं सदी ईस्वी से पहले भी उत्तराखण्ड में मन्दिर-विद्यमान थे, क्योंकि

तालेश्वर-पत्रों में मन्दिरों तथा देवपूजा-विभाग के प्रधान (देवद्रोण्याधिकृत) का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। लेकिन ताम्रपत्रों में वर्णित ये मन्दिर हमें प्राप्त नहीं हुए हैं, संभवतः ये मन्दिर या तो काष्ठादि शीघ्र नष्ट होने वाली सामग्री से निर्मित किये गये थे अथवा इन मन्दिरों के निर्माण में प्रयुक्त तकनीकी हिमालय के इस भूकम्पग्रस्त क्षेत्र के अनुकूल नहीं थी।

उत्तराखण्ड को देवभूमि के नाम से भी जाना जाता है, इसका एक प्रमुख कारण यहां पर स्थान-स्थान पर मंदिरों की विद्यमानता एवं यहां के निवासियों का सदैव से अत्यधिक धार्मिक प्रवृत्ति का होना है। यहां के प्रत्येक गांव में प्राचीन मंदिरों का होना तथा लोगों में वर्तमान में भी मंदिर निर्माण के प्रति विशेष अनुराग का होना यह साबित करता है कि यहां मंदिर निर्माण की सुदीर्घ परंपरा रही है।

3.2 इकाई के उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको उत्तराखण्ड की स्थापत्य कला का परिचय देना है, इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप अग्रांकित जानकारी प्राप्त कर सकेंगे

- उत्तराखण्ड में प्राचीन काल में मंदिर निर्माण में प्रयुक्त सामग्री
- उत्तराखण्ड में विद्यमान प्राचीन मंदिरों की शैलियां
- उत्तराखण्ड में विद्यमान प्राचीन मंदिर-नियोजन एवं वास्तुशिल्प
- उत्तराखण्ड में विद्यमान प्राचीन मंदिर-वास्तुशिल्प का विकासक्रम

3.3 उत्तराखण्ड का मंदिर स्थापत्य : निर्माण सामग्री

आइये अब जानते हैं कि उत्तराखण्ड में मंदिर निर्माण में प्रयुक्ति निर्माण-सामग्री कौन सी थी-

उत्तराखण्ड में वर्तमान में विद्यमान सभी मन्दिर निर्विवाद रूप से प्रस्तर निर्मित हैं। इसका एक प्रमुख कारण प्राचीन काल से ही सभी प्रकार के श्रेष्ठ प्रस्तर-‘कटौ, कमरस और सागर’ का यहाँ आसानी से प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होना है। उत्तराखण्ड में स्थानीय खानों से निकाले गये प्रस्तर खण्डों को आवश्यकतानुसार तराश कर मन्दिर-निर्माण में प्रयुक्त किया गया है। उल्लेखनीय है कि भवनों के विपरीत यहाँ मन्दिरों की चिनाई में किसी प्रकार के ‘गारे’ का उपयोग नहीं किया गया है। मन्दिरों में प्रयुक्त बड़े-बड़े शिलाखण्डों को जोड़ने के लिए यहाँ लौह-शलाकाओं का प्रयोग किया गया है। यह तकनीक विशेष दृष्टव्य है क्योंकि लौह-शलाकाओं के बन्धन ने मन्दिरों में प्रयुक्त प्रस्तर-खण्डों को इतनी सुद्रढ़ता प्रदान की है कि हिमालय के इस भूकम्पग्रस्त क्षेत्र में स्थिति होने के बावजूद भी ये मन्दिर शताब्दियों से अपने मूल रूप में खड़े रह सके हैं।

उत्तराखण्ड में सभी प्रकार की श्रेष्ठ इमारती लकड़ी प्राचीन काल से ही प्रचुर मात्रा में आसानी से उपलब्ध रही है। यहाँ के अनेक मन्दिरों के शीर्ष पर वर्षा एवं हिमपात से सुरक्षा के लिए लकड़ी के छत्र लगाये गये मिलते हैं। कटारमल मन्दिर-समूह से 9वीं सदी ईस्वी के काष्ठ-निर्मित मन्दिर-स्तंभ और 14वीं-15वीं सदी ईस्वी के लकड़ी के दरवाजे प्राप्त हुए हैं। उपरोक्त तथ्यों से 7वीं सदी ईस्वी के उत्तराखण्ड में काष्ठ निर्मित मन्दिरों के निर्माण की कल्पना की जा सकती है। यह कल्पना तब और भी पुष्ट होती है जब यह तथ्य उद्घाटित होता है कि उत्तराखण्ड के उत्तरकाशी जनपद में अनेक प्राचीन काष्ठ-निर्मित मन्दिर विद्यमान हैं।

जहाँ तक मन्दिर-निर्माण में ईंटों के प्रयोग का प्रश्न है यह परिकल्पना की जा सकती है कि उत्तराखण्ड में भी प्राचीनकाल में मन्दिरों के निर्माण में ईंटों का प्रयोग किया जाता रहा होगा। पुरातात्विक उत्खननों में उत्तराखण्ड के अनेक स्थानों—वीरभद्र, मोरध्वज, काशीपुर से इस प्रकार के प्रमाण मिले हैं। इसके अलावा उत्तराखण्ड के अनेक स्थानों से ईंटों की ऐसी संरचनाएँ प्रकाश में आयी हैं, जो सम्भवतः मन्दिर रही हों। उत्तराखण्ड के अनेक गांवों में खेतों की जुताई के समय ईंटों के टुकड़े आदि का मिलना प्राचीनकाल में यहाँ ईंट निर्माण का संकेत देता है। प्रस्तर और काष्ठ के अतिरिक्त यहाँ के मन्दिरों में अति अल्प मात्रा में लोहे का प्रयोग लौह-शलाकाओं के रूप में मिलता है। उपरोक्त सामग्री के अलावा किसी प्रकार के गारे या पलस्तर का प्रयोग यहाँ के मन्दिरों में नहीं हुआ है।

3.4 उत्तराखण्ड का मंदिर स्थापत्य : शैली

कुछ अपवादों को छोड़कर, उत्तराखण्ड के मन्दिर मोटे तौर पर विशिष्ट उत्तर-भारतीय मन्दिर शैली में ही बने हैं, जिसे मालु-प्रतिहार, नागर अथवा इण्डो-आर्यन शैली कहा जा सकता है। हिमांचल और उत्तराखण्ड के मन्दिरों का विश्लेषण करते हुए इन्हें सम्मिलित रूप से 'हिमांचल शैली' के नाम से अभिहित किया गया है। इस सन्दर्भ में एम.पी.जोशी 'वास्तुशिरोमणि' नामक ग्रन्थ का उल्लेख करते हुए बताते हैं, कि उत्तराखण्ड में इस प्रकार के ग्रन्थ के अस्तित्व से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है, कि उत्तराखण्ड में भी वास्तुशिल्प की अपनी परम्परा थी, और वास्तुशिल्प का स्थानीय विकास शास्त्रीय आधार पर भारत के अन्य क्षेत्रों की तरह गुप्तकाल के पश्चात् हुआ। प्रतीत होता है, कि गुप्तोत्तर काल में जिस स्थानीय वास्तुशिल्प का विकास उत्तराखण्ड में प्रारंभ हुआ वह कत्यूरी काल में पूर्ण विकसित होकर उत्तराखण्ड की सर्वमान्य शैली के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। कत्यूरी शासकों के विषय में अनुश्रुति है, कि वे प्रतिदिन सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक एक मन्दिर का निर्माण करवाते थे। वर्तमान में विद्यमान सर्वाधिक भव्य, कलात्मक और उच्चकोटि के मन्दिर वस्तुतः कत्यूरी-काल से ही सम्बन्धित हैं। कत्यूरियों के उत्तराधिकारी चन्दों और पंवारों ने भी मूलतः कत्यूरी-वास्तुशिल्प के आधार पर ही अपने मन्दिरों का निर्माण किया था। अतः कत्यूरी काल में विकसित उत्तराखण्ड के मन्दिर-वास्तुशिल्प को 'कत्यूरी वास्तुशिल्प' के नाम से अभिहित किया गया है। इस काल में निर्मित उत्तराखण्ड के मन्दिरों को विश्लेषण की सुविधा की दृष्टि से मन्दिरों के तल-छन्द, ऊर्ध्व-छन्द तथा शिखर के स्वरूप के आधार पर एम.पी.जोशी ने अग्रांकित प्रकारों में विभाजित किया है –

3.4.1 चपटी छतयुक्त मन्दिर

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है इस शैली के मन्दिरों की प्रमुख विशेषता उनकी छत का चपटी या सपाट होना है। इसी आधार पर इन मन्दिरों को चपटी छतयुक्त मन्दिर कहा गया है। इस शैली को समझाने के लिए एक प्रतिनिधि उदाहरण उचित प्रतीत होता है। प्रतिनिधि उदाहरण नारायणकाली मन्दिर समूह स्थित शिव मन्दिर को लिया जा सकता है। इस मन्दिर का गर्भगृह लगभग 1.20 मीटर X 1.40 मीटर तथा मन्दिर की ऊँचाई लगभग 2.00 मीटर है। मन्दिर का मण्डोवर दो सादे भिट्ट-पट्टिकाओं के ऊपर उठाया गया है, मण्डोवर की दीवारें चारों ओर से घट-पल्लव अलंकरण युक्त रुचक कूटों के मध्य बनी हैं, जिसके ऊपर वर्गाकार एक ही पत्थर की चपटी छत है। छत के ऊपर क्रमशः कण्ठ, आमलक और आकाशलिंग शोभायमान हैं। मन्दिर का उत्तराभिमुख प्रवेश-द्वार, पत्र-शाखा, नाग-शाखा और मणिबन्ध-शाखा द्वारा सज्जित है। प्रवेश-द्वार की पेद्या में नीचे मकरवाहिनी-गंगा और कूर्मवाहिनी-यमुना का अंकन मिलता है। शैली की दृष्टि से एम.पी.जोशी ने इस मन्दिर को सातवीं सदी ईस्वी का माना है। उत्तराखण्ड के अन्य

स्थानों में भी चपटी छतयुक्त मन्दिर मिलते हैं । उल्लेखनीय है कि गुप्तकालीन भारत में प्रारम्भिक मन्दिरों की छतें चपटी थीं, अतः उत्तराखण्ड के चपटी छतयुक्त मन्दिरों को इसी भाँति के गुप्त मन्दिरों से प्रभावित माना जा सकता है ।

3.4.2 रेखा शिखर युक्त (लतिन एवं शेखरी) मन्दिर

इस प्रकार के मन्दिरों को अन्दर की ओर हल्की आवृत्ति लिए शिखरयुक्त मन्दिर भी कहा जा सकता है । इस भाँति के मन्दिरों में शिखर को चारों ओर से ऊपर की ओर आवृत्ति लिए उठाया जाता है, इसके साथ ही मन्दिर के मूलप्रासाद के तल छन्द और ऊर्ध्व छन्द में एक-एक प्रक्षेप दिया जाता है, इस प्रक्षेप को 'रथ' कहा जाता है, इस 'रथ' से ऐसा प्रतीत होता है मानो एक 'रेखा' बन गयी है, इसीलिए ओडिसी शिल्पशास्त्र में इसे 'रेखादेउल' कहा गया है। रेखाशिखरयुक्त मन्दिरों को 'त्रिरथ' एवं 'पंचरथ' श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। 'त्रिरथ' मन्दिर से तात्पर्य ऐसे द्विअंगी मन्दिर से है, जिसमें भद्ररथ एवं कर्णरथ होते हैं जो मिलकर त्रिरथ बनाते हैं, जबकि त्रि-अंगी मन्दिर में भद्ररथ एवं कर्णरथ के बीच प्रतिरथ मिलता है जिससे इस प्रकार के मन्दिरों को पंचरथ मन्दिर की श्रेणी में रखा जाता है।

उत्तराखण्ड के अधिकांश बड़े आकार के मन्दिर रेखा शिखर युक्त ही हैं। इस शैली के प्रतिनिधि उदाहरणों में से एक नवदेवल मन्दिर समूह में स्थित सबसे पूर्वी छोर पर विद्यमान मन्दिर है।, इस मन्दिर की तल छन्द योजना वर्गाकार है । मन्दिर के गर्भगृह की भीतरी माप लगभग 1-50 मीटर x 1-50 मीटर है। गर्भगृह की भीतरी दीवारें सादी हैं । इस मन्दिर का मण्डोवर; खुर, कुम्भ, कलश, सादी चन्द्रशाला पट्टी और सादे जंघा से निर्मित है। यह मन्दिर द्विअंगी है, अर्थात् इस मन्दिर के शिखर में भद्ररथ एवं कर्णरथ का प्रावधान मिलता है जिससे इसे त्रिरथ मन्दिर की श्रेणी में रखा जा सकता है। इसका कर्ण चार भूमि-आमलकों से सज्जित मिलता है। मन्दिर के शीर्ष में चन्द्रिका के ऊपर आमलसारिका का प्रावधान मिलता है। इस मन्दिर का प्रवेश-द्वार सादा है । यह मन्दिर शैली के आधार पर लगभग 12वीं सदी ईस्वी में बना प्रतीत होता है। उपरोक्त मन्दिर के अलावा उत्तराखण्ड के सभी प्रमुख मन्दिर-समूहों में रेखा शिखरयुक्त मन्दिर देखे जा सकते हैं।

3.4.3 फाँसणा शिखर युक्त मन्दिर

फाँसणा शिखरयुक्त मन्दिर से तात्पर्य ऐसे मन्दिर से है, जिसके शिखर में एक के ऊपर एक क्षितिजाकार पट्टिकाएँ इस प्रकार रखी जाती हैं जिससे पिरामिड का जैसा आभास होता है। ऐसे मन्दिरों का शिखर क्रम से घटते आकार की क्षितिजाकार पट्टिकाओं से निर्मित चतुर्भुजाकार होता है। इस प्रकार के मन्दिरों में सामान्यतः चतुर्भुजाकार तल छन्द और ऊर्ध्व छन्द में कोई प्रक्षेप नहीं मिलता है। प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में प्रारंभ में फाँसणा शैली अधिक लोकप्रिय थी। समस्त उत्तराखण्ड में अधिकांश प्राचीनतम मन्दिर इसी शैली के अन्तर्गत निर्मित मिलते हैं। समझाने के लिए प्रस्तुत अध्ययन में इस शैली का प्रतिनिधि उदाहरण सिमल्टी ग्राम स्थित कपिलेश्वर मन्दिर समूह के मुख्य मन्दिर को लिया गया है। इस मन्दिर की तलछन्द योजना में वर्गाकार गर्भगृह मिलता है, जिसकी लम्बाई-चौड़ाई (वर्गाकार) बाहर से लगभग 5.5 मीटर x 5.5 मीटर है। मन्दिर का गर्भगृह सादा है, जिसके सामने एक आयताकार अन्तराल निर्मित है, इस अन्तराल की बाहरी माप लगभग 3.35 मीटर x 1.50 मीटर है। इस मन्दिर की ऊर्ध्वछन्द योजना में तीनों प्रमुख भाग- मण्डोवर, शिखर एवं मस्तक-पर्याप्त विकसित हैं। मन्दिर का मण्डोवर तीन भागों - वेदीबन्ध,

जंघा एवं वरण्डिका—में विभाजित है। वेदीबन्ध को तीन सादी गढ़नों, एक सादे अन्तर्पत्र और एक सादी गढ़न से सजाया गया है। जंघा भाग के मध्य में उत्तर, पूर्व और दक्षिण दिशाओं में एक-एक उदगमयुक्त रथिका का प्रावधान मिलता है। वरण्डिका के स्थान पर एक सादी पट्टी द्वारा जंघा और शिखर को विभक्त किया गया है।

इस मन्दिर का फाँसणा शिखर, सत्रह दण्डछाद्य सदृश पीढ़ाओं से अपेक्षाकृत कम आवृत लिए उठाया गया है। इस मन्दिर के मूल प्रासाद का मस्तक शिखर के स्कन्ध के ऊपर एक विशाल ग्रीवा तथा आमलसारिका से निर्मित है जिसके ऊपर काष्ठ छत्र एवं बिजौरा शोभायमान है। मन्दिर का प्रवेश-द्वार अलंकृत हैं इसके निचले पार्श्वों में कलशधारी मकरवाहिनी गंगा और कलशधारी कूर्मवाहिनी यमुना तथा उसके पार्श्वों में स्त्री-पुरुष और प्रवेश-द्वार के उत्तरंग में सात ग्रहों का अंकन मिलता है। इस अभिप्राय को एम.पी.जोशी प्राचीनता का द्योतक मानते हैं और पलेठी के सूर्य मन्दिर से इस मन्दिर की तुलना करते हुए कपिलेश्वर मन्दिर को 650 ईस्वी-700 ईस्वी के मध्य निश्चित करते हैं। अलंकरण की दृष्टि से यह मन्दिर उच्चकोटि का है, मन्दिर के जंघा भाग में प्रदर्शित उदगमयुक्त उत्तरी रथिका में महिषमर्दिनी, दक्षिणी रथिका में गणेश और पूर्वी रथिका में लकुलीश की प्रतिमाएँ उच्चकोटि की प्रतिमा-कला की परिचायक हैं। रथिकाओं के पार्श्वस्तम्भों में घट-पल्लव एवं अर्द्ध-पद्म अभिप्रायों से अलंकरण मिलता है। कला की दृष्टि से इस मन्दिर की चन्द्रशाला भी उल्लेखनीय है, यद्यपि वर्तमान में यह आंशिक रूप से भग्न हो गयी है तथापि इसमें प्रदर्शित नटराज, गंगा-यमुना, मुरली वादक, उड़ते हुए विद्याधर, मयूर और नर्तक तथा अन्य अनेक ज्यामितीय अभिप्राय इस काल की कला के सर्वश्रेष्ठ उदाहरण कहे जा सकते हैं। उपरोक्त मन्दिर के अलावा फाँसणा शैली के अन्य प्रमुख मन्दिरों में उत्तराखण्ड के जागेश्वर मन्दिर समूह में स्थित बालेश्वर, केदार एवं लकुलीश मन्दिर, तथा बमनसुयाल, नारायणकाली, बौणसि, कटारमल एवं महारुद्रेश्वर समूह के कुछ छोटे मन्दिरों को शामिल किया जा सकता है।

3.4.4 वलभी शिखरयुक्त मन्दिर

वलभी का एक अर्थ धनुष होता है, अतः वलभी शिखरयुक्त मन्दिर से तात्पर्य ऐसे मन्दिर से है जिसमें मन्दिर के ऊर्ध्व छन्द में मन्दिर का शिखर धनुषाकार दिखाई देता है। इस प्रकार के मन्दिरों का तल और ऊर्ध्व छन्द चतुर्भुजाकार होता है और अनेक उदाहरणों में इनमें भद्र प्रक्षेप भी मिलता है। इस प्रकार के मन्दिरों में दो आवृतियों में उठाया गया धुरीदार छतयुक्त शिखर मिलता है जिसके कारण पहलू से देखने पर इसका ऊर्ध्व छन्द शूरसेनक सदृश त्रिपर्णी आकार का होता है। इन मन्दिरों की धुरीदार छत के कारण इन्हें धुरीदार छतयुक्त मन्दिर भी कहा जा सकता है। कलाविद् इस धुरीदार छत युक्त मन्दिरों को दक्षिण भारतीय गोपुरम् का पूर्वगामी रूप बताते हैं।

उत्तराखण्ड में वलभी शैली में निर्मित मन्दिर सीमित संख्या में हैं। प्रस्तुत इकाई में इनका प्रतिनिधि उदाहरण बमनसुयाल स्थित भगवती मन्दिर को लिया गया है। इस मन्दिर की तल छन्द योजना में आयताकार गर्भगृह, उसके सामने अन्तराल और फिर वर्गाकार मण्डप का विधान मिलता है। गर्भगृह अन्दर से लगभग एक मीटर लम्बा और पौना मीटर चौड़ा है। ऊर्ध्व छन्द योजना में मन्दिर के मण्डोवर या कटि में निर्मित वेदीबन्ध तीन सादी पट्टियों और एक अन्तर्पत्र से सज्जित मिलता है। मण्डोवर का जंघा भाग, वेदीबन्ध के ऊपर कर्णों पर सादे स्तम्भों से युक्त सादा है। जंघा के ऊपर निर्मित स्कन्ध-वेदी के उत्तरी और दक्षिणी पार्श्वों में अलंकृत चन्द्रशाला का विधान मिलता है। चन्द्रशालाओं के जाल के मध्य में शिवलिंग एवं

ऊपरी भाग में त्रिमुखी शिव का अंकन विशेष दृष्टव्य है । स्कन्ध वेदी के ऊपर निर्मित वलभी आकार के शिखर के ऊपर उत्तर-दक्षिण दिशा में पीठ से पीठ सटाये दो गज-सिंह प्रदर्शित हैं। शिखर के ऊपर एक विशाल काष्ठ निर्मित ढाँचा मन्दिर की सुरक्षा की दृष्टि से बनाया गया है। मन्दिर का प्रवेश-द्वार पूर्व दिशा की ओर निर्मित है, इसमें कोई अलंकरण नहीं मिलता है। उपरोक्त मन्दिर के अलावा अल्मोड़ा जनपद के जागेश्वर मन्दिर समूह में स्थित पुष्टिदेवी मन्दिर एवं नवदेवी मन्दिर भी वलभी शैली के श्रेष्ठ उदाहरण कहे जा सकते हैं।

3.4.5 बहुकोणीय मन्दिर

उत्तराखण्ड के द्वाराहाट स्थित गूजरदेवल मन्दिर एकमात्र ऐसा उदाहरण है, जिसे बहुकोणीय मन्दिर की श्रेणी में शामिल किया जा सकता है। मध्य भारत एवं गुजरात के बहुकोणीय मन्दिरों से अत्यधिक मिलता-जुलता यह मन्दिर समस्त उत्तराखण्ड में अपनी शैली का एकमात्र उदाहरण है । एम.पी. जोशी इस मन्दिर के स्थापत्य का विश्लेषण कर बताते हैं कि यह मन्दिर उत्तराखण्ड का एक ऐसा मन्दिर माना जा सकता है जिसकी पीठ पूर्णतः विकसित है, एम.पी.जोशी के अनुसार इस मन्दिर की पीठ क्रमशः दो भिन्न पट्टिकाओं, जाड्यकुम्भ, कर्णक, अन्तरपत्र, छाद्यकी, ग्रासपट्टी, गजपीठ तथा नरपीठ से मिलकर बनी है, मन्दिर का वेदीबन्ध – कुम्भ, कलश, अन्तरपत्र तथा कपोतपाली— से निर्मित है कुम्भ में उदगमयुक्त रथिकाओं के भीतर दैवी-आकृतियाँ उत्कीर्ण मिलती है । रथिकाओं के बीच में भी अनुचरों का अंकन मिलता है । मण्डोवर के जंघा भाग में भी रथिकाओं के अन्दर दैवी आकृतियाँ और अप्सराओं का अंकन मिलता है । जंघा के ऊपर उठाये गये वर्तमान में उपलब्ध क्षतिग्रस्त भाग के आधार पर जोशी मानते हैं कि मूल रूप में जंघा के ऊपर कपोतपाली, अन्तरपत्र एवं खुरछाद्य के ऊपर श्रृंग एवं उरःश्रृंग का प्रावधान रहा होगा, आन्तरिक तल छन्द जो वर्तमान में नष्ट हो चुका है उसके अवशिष्ट साक्ष्यों के आधार पर जोशी का यह भी कहना है कि इस मन्दिर का गर्भगृह एवं मुखमण्डप चतुर्भुजाकार थे और रंगमण्डप वर्गाकार था, जिसमें भद्रावलोकन बनाये गये थे । मन्दिर का सम्पूर्ण बाह्य एवं आन्तरिक भाग अलंकृत था ।

3.4.6 मिश्रक शैली

उत्तराखण्ड में ऐसे अनेक मन्दिर मिलते हैं जो दो या अधिक शैलियों के मिश्रण से मिलकर बने हैं । ऐसे मन्दिरों को मिश्रक-शैली के अन्तर्गत सम्मिलित किया जा सकता है। उत्तराखण्ड के ऐसे मन्दिरों के प्रमुख उदाहरणों में विभाण्डेश्वर का शिव-मन्दिर, जागेश्वर स्थित चण्डिका-मन्दिर एवं दण्डेश्वर मन्दिर को शामिल किया जा सकता है। इनमें विभाण्डेश्वर का शिव-मन्दिर, रेखा एवं फाँसणा शैली के शिखरों के मिश्रण से बना है, इसका भद्र 'लतिन' एवं कर्ण 'फाँसणा' शैली का है । जागेश्वर का चण्डिका मन्दिर; वलभी, रेखा एवं फाँसणा शिखरों के लक्षणों से युक्त है, इसमें वलभी शैली के शिखर में फाँसणा एवं रेखा शैली के मिश्रक शिखर की आकृतियुक्त 'भद्र' निर्मित किया गया है। इसी प्रकार जागेश्वर स्थित दण्डेश्वर मन्दिर के शिखर में फाँसणा शैली के शिखर के लौछन हैं, क्योंकि इसके आवृत लिए शिखर में क्रमशः तीन और चार कन्धर दिये गये हैं, जिसके ऊपर क्षितिजाकार कुम्भ की आकृति की चौड़ी पीढ़ा बनायी गयी है । दण्डेश्वर मन्दिर एक ऐसा मन्दिर है जिसमें शिखर को एक मीनार सदिस तरीके से चारों ओर से हल्की आवृत्ति देकर उठाया गया है । यह मन्दिर एक ऊँचे मीनार सदिस मन्दिर का आभास देता है।

स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न

- 1- मंदिर –निर्माण हेतु सर्वप्रमुख निर्माण सामग्री कौन सी थी ?
- 2- उत्तराखण्ड के मंदिरों को प्रमुख रूप से कितनी शैलियों में बांटा गया है?

3.5 मन्दिर:नियोजन एवं वास्तुशिल्प

उत्तराखण्ड के मन्दिरों के नियोजन एवं वास्तुशिल्प को प्रमुख मन्दिरों के उदाहरण देकर स्पष्ट किया जा सकता है। यहाँ के मन्दिर अपने आप में पूर्ण और एकीकृत भवन हैं, जिनमें कोई अहाता आदि नहीं बनाया गया है। ये या तो जमीन से सीधे उठा दिये गये हैं (जैसे जागेश्वर मन्दिर), या फिर इनमें हल्की बुनियाद दी गयी है (जैसे मृत्युंजय मन्दिर), अथवा कुछ ऊँची बुनियाद युक्त मन्दिर (जैसे गूजर देवल) भी उत्तराखण्ड में विद्यमान हैं। इन मन्दिरों की तल-छन्द योजना में कुछ मन्दिरों में गर्भगृह और कपिली, कुछ में केवल गर्भगृह, कुछ उदाहरणों में गर्भगृह के सामने अर्द्धमण्डप, कुछ में कपिली और मण्डप तथा कुछ अन्य में गर्भगृह, कपिली, तथा अर्द्धमण्डप का प्रावधान मिलता है। जागेश्वर स्थित महामृत्युंजय मन्दिर, जागनाथ मन्दिर एवं दण्डेश्वर मन्दिर तथा बमनसुयाल स्थित त्रिनेत्रेश्वर मन्दिर जैसे उदाहरणों में गर्भगृह और अन्तराल के साथ गूढमण्डप/रंगमण्डप का प्रावधान भी मिलता है। उत्तराखण्ड के मन्दिरों में सामान्यतः प्रदक्षिणा-पथ, तोरण, मन्दिर के चारों ओर प्राचीर आदि का विधान नहीं मिलता है।

उत्तराखण्ड में जो रेखा शिखरयुक्त मन्दिर मिलते हैं, उनमें अधिकांश त्रिरथ और द्वि-अंगी हैं अर्थात् इनमें 'भद्ररथ' एवं 'कर्णरथ' का प्रावधान मिलता है। जागेश्वर, कटारमल और बैजनाथ मन्दिर समूहों में इनके कलात्मक उदाहरण देखे जा सकते हैं। यहाँ पर द्वाराहाट समूह के बद्रीनाथ मन्दिर का उल्लेख करना प्रासंगिक है, क्योंकि यह उत्तराखण्ड का एक प्रमुख पंचरथ श्रेणी का मन्दिर है, इसमें भद्ररथ, कर्णरथ एवं प्रतिरथ का प्रावधान मिलता है। उत्तराखण्ड के फाँसणा और वलभी शैली के मन्दिरों में तल छन्द की योजना में प्रायः 'भद्ररथ' का प्रावधान नहीं मिलता है। यहाँ के जागनाथ मन्दिर (जागेश्वर) को छोड़कर जिसके मूल प्रासाद और गूढमण्डप का आन्तरिक तल छन्द धन-चिह्न के आकार का है शेष सभी मन्दिरों के मूल प्रासाद का आन्तरिक तल छन्द आयताकार या वर्गाकार है।

उत्तराखण्ड के मन्दिरों की ऊर्ध्व छन्द योजना में तीन प्रमुख भाग—मण्डोवर, शिखर एवं मस्तक—का प्रावधान सामान्यतः दिखाई देता है। जहाँ तक मन्दिरों में पीठ की योजना का प्रश्न है, कुछ मन्दिरों में इसका विधान मिलता है लेकिन जहाँ तक पूर्ण विकसित पीठ का संबंध है इसका एक प्रमुख उदाहरण द्वाराहाट स्थित गूजरदेवल मन्दिर है। उत्तराखण्ड के मन्दिरों का मण्डोवर क्रमशः तीन भागों — बेदीबन्ध, जंघा एवं वरण्डिका में निर्मित मिलता है। उत्तराखण्ड में लगभग 9वीं सदी ईस्वी तक के मन्दिरों के वेदीबन्ध अलंकृत हैं, ये— खुर, कुम्भ, कलश और अन्तर्पत्र अथवा खुर, कुम्भ, कलश और कपोतपाली गढ़नों द्वारा सज्जित मिलते हैं। वेदीबन्ध के ऊपर निर्मित जंघा भाग सामान्यतः सादा मिलता है यद्यपि 9वीं सदी ईस्वी में निर्मित कुछ मन्दिरों के जंघा भाग अलंकृत मिलते हैं, इनके अन्तर्गत कुटुम्बड़ी देवी मन्दिर, बमनसुयाल के कुछ मन्दिर तथा कपिलेश्वर एवं महारुद्रेश्वर समूहों के कुछ मन्दिरों को सम्मिलित किया जा सकता है। इसके बाद के काल में निर्मित मन्दिरों के जंघा भाग सादे ही मिलते हैं। उत्तराखण्ड के मन्दिरों में जंघा के ऊपर निर्मित वरण्डिका भी वेदीबन्ध की भांति क्षितिजाकार पट्टिकाओं से निर्मित मिलती है।

उत्तराखण्ड के मन्दिरों के शिखर भाग का ऊर्ध्व छन्द इन मन्दिरों के प्रकारों पर आधारित मिलता है। रेखा शिखरयुक्त मन्दिर का शिखर द्वि-अंगी होने पर एक लता और त्रि-अंगी होने पर तीन लताओं से

युक्त मिलता है। एकाण्डक शिखर के आवृत लिए बाहरी भाग या कर्ण में बीच-बीच में भूमि आमलक मिलते हैं। सामान्यतः भूमि-आमलकों की संख्या चार-पाँच होती है तथापि छोटे मन्दिरों में दो-तीन भूमि आमलक भी मिलते हैं। भूमि आमलकों की संख्या के आधार पर ही किसी एकाण्डक मन्दिर का तल ज्ञात किया जाता है। उत्तराखण्ड में एक अनेकाण्डक शिखरयुक्त मन्दिर का आकर्षक उदाहरण भी मिला है, यह द्वाराहाट स्थित गूजरदेवल मन्दिर है। उत्तराखण्ड के फाँसणा शिखरयुक्त मन्दिरों का ऊर्ध्व छन्द क्षितिजाकार पट्टिकाओं से निर्मित मिलता है जबकि वलभी शिखरयुक्त मन्दिरों में ऊर्ध्व छन्द दो आवृत लिये हुए चरणों में विकसित मिलता है। प्रथम चरण सूर्य या कपोत के सदृश स्कन्ध वेदी से निर्मित होता है, जिसके ऊपर क्रमशः कन्धर और वलभी शिखर मिलते हैं। उत्तराखण्ड में मिश्रक शैली के शिखरों का ऊर्ध्व छन्द, रेखा प्रकार, फाँसणा और वलभी प्रकार के शिखरों के लक्षणों से मिश्रित मिलता है।

उत्तराखण्ड के मन्दिरों के मूलप्रासाद का मस्तक वलभी प्रकार के मन्दिरों को छोड़कर शेष सभी प्रकारों में एक ही भाँति का है। यहाँ के मन्दिरों में मस्तक, शिखर के स्कन्ध के ऊपर क्रमशः ग्रीवा, आमलक, चन्द्रिका या कर्परी, कलश और देवता के आयुध भागों से मिलकर बना मिलता है। अनेक मन्दिरों में मस्तक के ऊपर लकड़ी के ढाँचे, मन्दिरों की सुरक्षा के लिए बनाये गये मिलते हैं।

उत्तराखण्ड के मन्दिरों में गूढमण्डप/रंगमण्डप में प्रवेश द्वार सामने की ओर ही बना मिलता है, इसका एकमात्र अपवाद जागेश्वर का मुख्य मन्दिर है जिसमें सामने के प्रवेश-द्वार के अतिरिक्त दाँयी ओर से भी एक अन्य प्रवेश-द्वार की योजना मिलती है उत्तराखण्ड के मन्दिरों में प्रवेश-द्वार के तीन भाग — उदुम्बर, पेद्या एवं उत्तरंग—मिलते हैं। 10वीं सदी ईस्वी से पूर्व के मन्दिरों के प्रवेश-द्वार सामान्यतः अलंकृत मिलते हैं, लेकिन इसके उपरान्त निर्मित मन्दिरों के प्रवेश-द्वार सादे ही हैं। अलंकृत प्रवेशद्वार—युक्त मन्दिरों में कपिलेश्वर, जागेश्वर, बमनसुयाल, बैजनाथ एवं कटारमल के मन्दिर प्रमुख हैं। कपिलेश्वर स्थित मुख्य मन्दिर के प्रवेश-द्वार के निचले पार्श्वों में गंगा—यमुना तथा उत्तरंग में सात ग्रहों का अंकन दृष्टव्य है। बमनसुयाल के हर-हर महादेव मन्दिर में प्रवेश-द्वार के बाहरी स्तंभों पर भद्रमुखों और चन्द्रशालाओं का अलंकरण उल्लेखनीय है। इस काल के अलंकृत प्रवेश द्वारों की पेद्या के मूल में दैवी—आकृतियाँ, गंगा—यमुना, ऊर्ध्वपट्टिका में अनेक दैवी—आकृतियाँ, और ललाट—बिम्ब में गणेश, लक्ष्मी, शिव आदि की मूर्तियों/प्रतिमाओं से अलंकरण मिलता है।

उत्तराखण्ड में 9वीं सदी ईस्वी तक के प्रायः सभी मन्दिरों की द्वार शाखा के ऊपर अलंकृत शूरसेनक मिलता है। अलंकृत शूरसेनकयुक्त मन्दिरों में कपिलेश्वर का मुख्य मन्दिर, खूँट ग्राम स्थित महारुद्रेश्वर मन्दिर, बमनसुयाल स्थित त्रिनेत्रेश्वर महादेव मन्दिर, जागेश्वर स्थित मृत्युंजय मन्दिर प्रमुख हैं। इन उदाहरणों में शूरसेनक के निचले भाग में विभिन्न देवी—देवता तथा ऊपरी भाग में शिव के विविध स्वरूपों और लकुलीश का अंकन अत्यधिक उदाहरणों में मिलता है। 9वीं सदी ईस्वी के बाद निर्मित मन्दिरों में शूरसेनक प्रायः सादा ही मिलता है।

3.6 वास्तुशिल्प:विकास—क्रम

उत्तराखण्ड के मन्दिरों के विकास—क्रम को उनकी कला शैली के आधार पर एम.पी.जोशी ने तीन चरणों में विभाजित किया है, यथा—

3.6.1 आदि युग

जोशी ने इस कालखण्ड के अन्तर्गत 600 ईस्वी से 700 ईस्वी के मध्य निर्मित मन्दिरों को रखा है। आदि युग से तात्पर्य उस काल से है जब उत्तराखण्ड में वर्तमान में विद्यमान प्रारम्भिक मन्दिर अस्तित्व में आये थे। इस युग का सबसे महत्वपूर्ण उदाहरण सिमल्टी ग्राम स्थित कपिलेश्वर मन्दिर है, इसका उल्लेख पिछले पृष्ठों में फाँसणा शिखरयुक्त मन्दिरों के अन्तर्गत किया जा चुका है। जोशी, कपिलेश्वर मन्दिर की तुलना पलेठी के सूर्य मन्दिर से करते हुए कपिलेश्वर मन्दिर को तुलनात्मक रूप से अधिक प्राचीन बतलाते हैं और इसका काल 650–700 ईस्वी के मध्य निर्धारित करते हैं, उल्लेखनीय है कि अभिलेखीय साक्ष्य एवं कला शैली की दृष्टि से कृष्णदेव ने पलेठी के सूर्य मन्दिर को 675 ईस्वी से 700 ईस्वी के मध्य ठहराया है। जोशी, नारायणकाली स्थित शिव-मन्दिर को भी सातवीं सदी ईस्वी की रचना मानते हैं। इस मन्दिर का विश्लेषण उत्तराखण्ड के 'चपटी छतयुक्त' मन्दिर शीर्षक के अन्तर्गत किया गया है। यह मन्दिर भूमरा, नचना जैसे आरम्भिक गुप्तकालीन मन्दिरों की भाँति सपाट छतयुक्त है।

आदियुग का एक अन्य महत्वपूर्ण उदाहरण कटारमल मन्दिर समूह का मुख्य मन्दिर है। यह मन्दिर गुप्तकालीन मन्दिरों की भाँति ही एक ऊँचे चबूतरे पर निर्मित है, मन्दिर के गर्भगृह में मूर्ति की स्थापना भी लगभग 1 फीट ऊँचे और 2मीटर x 2मीटर के वर्गाकार चबूतरे में की गयी है। मन्दिर अपने अनेक लक्षणों में गुप्तकालीन मन्दिरों, विशेषकर भीतरगाँव के मन्दिर से साम्यता रखता है।

3.6.2 परिपक्व युग

आठवीं सदी के आरम्भ के साथ ही उत्तराखण्ड भी मन्दिर-स्थापत्य की दृष्टि से परिपक्व युग में प्रवेश करता है। उत्तराखण्ड में इस चरण में जागेश्वर समूह के अनेक मन्दिर, बैजनाथ समूह के मन्दिर, तिलाड़ी ग्राम का बौणसि मन्दिर, नारायणकाली का नारायण मन्दिर, बमनसुयाल का भगवती मन्दिर जैसे अनेक कलात्मक मन्दिर अस्तित्व में आये। इस चरण में विभिन्न शैली के मन्दिरों में आठवीं और नौवीं सदी में जो प्रमुख परिवर्तन आये उन्हें कुछ उदाहरणों की सहायता से समझा जा सकता है।

इस चरण का लतिन शैली का एक प्रमुख उदाहरण जागेश्वर समूह का महामृत्युंजय मन्दिर है। आठवीं सदी में निर्मित इस मन्दिर में लतिन शैली का चौत्य अलंकरण युक्त त्रिरथ शिखर है। इस मन्दिर की तीन या पाँच शाखाओं से युक्त अलंकृत द्वारशाखा और कपिली के ऊपर अलंकृत शूरसेनक दृष्टव्य है। यहीं स्थित जागनाथ मन्दिर भी इसी भाँति का है लेकिन इसके त्रिरथ शिखर में चौत्य अलंकरण केवल प्रथम भूमि आमलक तक तथा सीमित संख्या में निर्मित हैं। 9वीं सदी के लतिन शैली के मन्दिरों के शूरसेनक 8वीं सदी ईस्वी में निर्मित मन्दिरों की तुलना में कम अलंकृत मिलते हैं, यद्यपि इनके वेदीबन्ध और जंघा समान ही हैं। 9वीं सदी ईस्वी के अनेक मन्दिरों के शिखर भी पर्याप्त भारी-भरकम दिखाई देते हैं, इनमें बैजनाथ मन्दिर समूह के रकसिदेवाल का उदाहरण विशेष दृष्टव्य है।

परिपक्व युग में फाँसणा शैली में निर्मित मन्दिरों के प्रमुख उदाहरण जागेश्वर स्थित बालेश्वर एवं केदार मन्दिर, नारायणकाली का नारायण मन्दिर तथा तिलाड़ी ग्राम स्थित बौणसि मन्दिर हैं। इनमें से बालेश्वर एवं केदार मन्दिरों को आठवीं सदी तथा नारायण मन्दिर एवं बौणसि मन्दिर को नौवीं सदी ईस्वी की रचना माना गया है। आठवीं सदी के फाँसणा शैली के मन्दिरों के वेदीबन्ध इसी काल में निर्मित लतिन शैली के मन्दिरों के समान ही हैं हाँलाकि इनके जंघा भाग में उद्गमयुक्त रथिका तथा कहीं-कहीं घट-पल्लव एवं कीर्तिमुख अभिप्रायों से अलंकृत रूचककूट भी निर्मित मिलते हैं। इस शैली के मन्दिरों के

प्रवेश द्वार अलंकृत हैं और उनके ऊपर शुकनास में भी अलंकृत शूरसेनक का प्रावधान मिलता है । फाँसणा शैली के नौवीं सदी ईस्वी में निर्मित मन्दिर आठवीं सदी ईस्वी में निर्मित इसी शैली के मन्दिरों की तुलना में कम अलंकृत हैं ।

इस चरण के वलभी शैली में निर्मित मन्दिर भी अत्यन्त आकर्षक हैं। अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर वलभी प्रकार के आठवीं सदी ईस्वी में निर्मित प्रमुख मन्दिरों के अन्तर्गत जागेश्वर समूह के नवदेवी एवं पुष्टिदेवी मन्दिर तथा बमनसुयाल के भगवती मन्दिर को सम्मिलित किया जा सकता है। इनमें नवदेवी मन्दिर का वेदीबन्ध, खुर-कुम्भ, कन्धर एवं कपोतकाली से अलंकृत मिलता है। वेदीबन्ध के ऊपर जंघा भाग भी घट-पल्लवयुक्त रुचक कूटों के बीच सादी कटि से निर्मित है। इस मन्दिर का दो चरणों में उठे शिखर का निचला भाग सूर्पाकार पीढ़ा और ऊपरी भाग वलभी से बना है। सामने से सादे शिखर के दोनों पार्श्वों में शूरसेनक सदृश अलंकरण मिलता है। पुष्टिदेवी मन्दिर भी नवदेवी मन्दिर की भाँति ही है, यद्यपि इसके जंघा भाग के तीनों ओर रुचक कूटों पर आधारित एक-एक उद्गम और रुचक कूटों पर घट-पल्लव अलंकरण मिलता है। इस मन्दिर में कपिली में निर्मित प्रवेश-द्वार एवं शुकनास का प्रावधान मिलता है । इस काल में निर्मित बमनसुयाल का भगवती मन्दिर भी महत्वपूर्ण है। इसके स्थापत्य की विशेषताओं को 'वलभी शिखरयुक्त मन्दिर' शीर्षक के अन्तर्गत स्पष्ट किया गया है।

9वीं सदी ईस्वी के वलभी शैली के मन्दिरों के प्रतिनिधि उदाहरणों में जागेश्वर स्थित कालिका मन्दिर एवं चण्डिका मन्दिर को शामिल किया जा सकता है। कालिका मन्दिर के मण्डोवर में निर्मित वेदीबन्ध—खुर-कुम्भ, कन्धर एवं कपोतपाली—से मिलकर बना है, इसके ऊपर निर्मित जंघा सादी है। इस मन्दिर का शिखर दो आवृत्तों में उठाया गया है, शिखर के दोनों पार्श्वों में शूरसेनक सदृश अलंकरण मिलता है। मन्दिर का प्रवेश-द्वार कपिली में निर्मित है और अलंकरण रहित है । मन्दिर स्थापत्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण है, क्योंकि इसमें रूढ़िवादिता के प्रारम्भिक लक्षण देखे जाते हैं। 9वीं सदी ईस्वी का वलभी शैली का एक अन्य महत्वपूर्ण उदाहरण जागेश्वर स्थित चण्डिका मन्दिर है इस मन्दिर के तल छन्द एवं ऊर्ध्व छन्द में भद्र की योजना तथा शिखर में मिश्रक शिखरकूट का अंकन एवं मन्दिर के सभी भागों में अद्भुत आनुपातिक सन्तुलन इस काल की कला के चरमोत्कर्ष के परिचायक हैं।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि परिपक्व युग के सभी प्रकार के मन्दिरों के विभिन्न भागों के आकार-प्रकार में एक रुचिकर सन्तुलन दिखाई देता है। अनेक मन्दिरों के मूलप्रासाद के विभिन्न भागों में सुनियोजित अलंकरण मिलता है । इस चरण के फाँसणा और रेखा शिखर युक्त मन्दिरों के शिखरों में आकर्षक आवृत्त लिए हुए उठान मिलती है । मन्दिरों के शिखरों के निर्माण में कुछ नये प्रयोग भी मिलते हैं । वलभी और मिश्रक शिखरयुक्त मन्दिर संभवतः इन प्रयोगों के तहत ही बनाये गये प्रतीत होते हैं । इस काल के मन्दिरों के अलंकरण में भी परिपक्वता दिखाई देती है । विभिन्न प्रकार के पत्र-पुष्प ज्यामितीय-अभिप्राय, देवी-देवता, मानवाकृतियाँ आदि का अलंकरण मन्दिरों में दिखाई देता है ।

3.6.3 रूढ़िवादी युग

लगभग 900 ईस्वी से लेकर 1500 ईस्वी तक के काल को मन्दिर-स्थापत्य की दृष्टि से 'रूढ़िवादी युग' के नाम से अभिहित किया है । वास्तव में 10वीं सदी ईस्वी से लेकर 15वीं सदी ईस्वी तक का काल मन्दिर-स्थापत्य की दृष्टि से स्थिरता का काल है। यद्यपि इस काल में विभिन्न शैली के अनेक मन्दिरों का

निर्माण हुआ लेकिन कुछ अपवादों को छोड़कर वास्तुशिल्प प्रायः स्थिर रहा। इस चरण के प्रारम्भिक काल में बने मन्दिरों और अन्तिम काल में बने मन्दिरों में प्रायः एक से ही लक्षण मिलते हैं, कहीं-कहीं पर तो पूर्व युग के मन्दिरों की नकल करने का प्रयास भी किया गया मिलता है। इन सभी कारणों के आधार पर इस चरण को उत्तराखण्ड के मन्दिर-स्थापत्य की दृष्टि से रूढ़िवादी युग के नाम से पुकारा जा सकता है। रूढ़िवादी युग के प्रारम्भिक चरण में फाँसणा और वलभी प्रकार के मन्दिरों का निर्माण मिलता है, लेकिन 11वीं सदी के उपरान्त ये दोनों ही शैलियाँ लुप्तप्रायः हैं।

इस युग का प्रतिनिधित्व मूलतः रेखा शिखर शैली के मन्दिर करते हैं। प्रायः लतिन श्रेणी के इन मन्दिरों का वेदीबन्ध-जगति, कुम्भ, कन्धर, कलश और कपोतपाली युक्त है। कहीं-कहीं वेदीबन्ध में बसन्तपट्टिका का प्रावधान भी मिलता है। इन मन्दिरों की द्वारशाखा प्रायः अलंकरण रहित है जबकि पेद्या और ललाट-बिम्ब में सामान्यतः दैवी-आकृतियों को उत्कीर्ण करने की परम्परा मिलती है। 11वीं सदी ईस्वी और उसके उपरान्त निर्मित लतिन श्रेणी के मन्दिरों में अलंकरण बहुत कम मिलता है और प्रायः सभी मन्दिर पूर्णरूपेण रूढ़िवादी दिखाई देते हैं। इन मन्दिरों में कपिली या अन्तराल के ऊपर शुकनास का प्रावधान भी सामान्यतः मिलता है। ऐसे मन्दिर भी इस युग में पर्याप्त संख्या में निर्मित हैं। जिनमें सपाटछतयुक्त प्राग्ग्रीव बना है। इन मन्दिरों में अलंकरण नाममात्र का मिलता है। इस युग के प्रचलित स्थापत्य का एक महत्वपूर्ण अपवाद द्वाराहाट स्थित गूजरदेवल मन्दिर है, इसका विवरण 'बहुकोणीय मन्दिर' के अन्तर्गत दिया गया है। यह मन्दिर स्थापत्य की दृष्टि से पूर्णरूपेण विकसित और सम्पूर्ण उत्तराखण्ड में अपनी शैली का एकमात्र मन्दिर माना गया है।

उपरोक्त अध्ययन से पता चलता है कि यद्यपि अभिलेखीय साक्ष्य प्राचीन काल से ही मन्दिरों के अस्तित्व की जानकारी देते हैं तथापि उत्तराखण्ड में वर्तमान में विद्यमान प्राचीनतम मन्दिर सातवीं सदी ईस्वी के पूर्व के नहीं है। इस अध्ययन से उत्तराखण्ड के मन्दिरों के निर्माण में प्रयुक्त सामग्री, मन्दिरों की कला-शैली, उनका नियोजन एवं वास्तुशिल्प, मन्दिरों में प्रयुक्त अलंकरण तथा स्थापत्य के विकास क्रम की जानकारी भी होती है।

स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न

- 1- उत्तराखण्ड के मन्दिरों की ऊर्ध्व छन्द योजना में तीन प्रमुख भाग कौन से हैं ?
- 2- रूढ़िवादि युग का प्रतिनिधित्व मूलतः किस शैली के मन्दिर करते हैं ?

3.7 सारांश

उत्तराखण्ड में भी वास्तुशिल्प की अपनी परम्परा थी और वास्तुशिल्प का स्थानीय विकास शास्त्रीय आधार पर भारत के अन्य क्षेत्रों की तरह गुप्तकाल के पश्चात् हुआ। प्रतीत होता है कि गुप्तोत्तर काल में जिस स्थानीय वास्तुशिल्प का विकास उत्तराखण्ड में प्रारंभ हुआ वह कत्यूरी काल में पूर्ण विकसित होकर उत्तराखण्ड की सर्वमान्य शैली के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। कत्यूरी शासकों के विषय में अनुश्रुति है कि वे प्रतिदिन सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक एक मन्दिर का निर्माण करवाते थे। वर्तमान में विद्यमान सर्वाधिक भव्य, कलात्मक और उच्चकोटि के मन्दिर वस्तुतः कत्यूरी-काल से ही सम्बन्धित हैं। कत्यूरियों के उत्तराधिकारी चन्दों और पंचारों ने भी मूलतः कत्यूरी-वास्तुशिल्प के आधार पर ही अपने मन्दिरों का निर्माण किया था। अतः कत्यूरी काल में विकसित उत्तराखण्ड के मन्दिर-वास्तुशिल्प को 'कत्यूरी वास्तुशिल्प' के नाम से अभिहित किया गया है।

3.8 तकनीकी शब्दालवली

गर्भगृह : मुख्य कक्ष जहां देव प्रतिमा स्थापित होती है ।

मण्डगपः गर्भगृह के सामने स्थित कक्षनुमा स्थान ।

मण्डोवरःमंदिर के ऊर्ध्वछन्द में स्थित भाग जो सामान्यतः तीन भागों—वेदीवन्द,जंघा एवं वरण्डिका में विभाजित होता है ।

प्रक्षेपः बाहर को निकला भाग ।

त्रिरथः ऐसा मंदिर जिसमें भद्ररथ तथा कर्ण रथ का प्रावधान मिलता है ।

पंचरथः जिस मंदिर में भद्ररथ और कर्णरथ के अतिरिक्त प्रतिरथ भी मिलता है ।

स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

इकाई 1.4.7 के प्रश्न 1 के लिए देखिए 1.3

इकाई 1.4.7 के प्रश्न 2 के लिए देखिए 1.4,1.4.2, 1.4.3, 1.4.4, 1.4.5, और 1.4.6

इकाई 1.6.4 के प्रश्न 1 के लिए देखिए 1.5

इकाई 1.6.4 के प्रश्न 2 के लिए देखिए 1.6.3

3.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

1— जोशी एम० पी० 1994 : 'उत्तरांचल के देवालयों का वास्तु-शिल्प' उत्तरांचल हिमालय 'ऋषि' सम्पा० जोशी एम० पी० एवं कु० ललितप्रभा जोशी प्रका० श्री अल्मोड़ा बुक डीपो अल्मोड़ा पृ० 32—52 एवं चित्र ।

2— जोशी, मदन मोहन, 2003 : 'अल्मोड़ा जनपद का पुरातत्त्व', अप्रकाशित पीएच० डी० शोध प्रबन्ध, कुमाऊँ विश्वविद्यालय, नैनीताल ।

3- Joshi, M.P. 1976 : The Katarmal temples of Kumaon, Vishveshwaranand Indological Journal XVI (i)

4- Joshi, M.P. 1986 : "Kapileshvar Temple Kumaon" in Kalyan Kumar Ganguli and S.S. Biswas (eds.) Rupanjali, O.C. Gangoli Memorial Society, Calcutta.

5- Ram, Sadhu. 1950: " Ancient temples and inscriptions at Palethi (Tehri Garhwal)" in Visva Bandhu (ed.) Siddha Bharti, -77.V.V.R. Institute, Hoshiarpur.

3.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1— जोशी एम० पी० 1994 : 'उत्तरांचल के देवालयों का वास्तु-शिल्प' उत्तरांचल हिमालय 'ऋषि' सम्पा० जोशी एम० पी० एवं कु० ललितप्रभा जोशी प्रका० श्री अल्मोड़ा बुक डीपो अल्मोड़ा पृ० 32—52 एवं चित्र ।

2- Goetz, H. 1955 : The Early Wooden Temples of Chamba, E.J. Brill & Co. Leiden.

3- Brown, Percy, 1959 : Indian Architecture (Buddhist & Hindu) Fourth Edition, D.B. Taraporevala Sons & Co. Pvt. Ltd., Bombay.

3.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. उत्तराखण्ड के मंदिरों का प्रारंभिक मध्यकालीन उत्तर भारतीय मंदिरों के साथ तुलनात्मक अध्ययन कीजिये ।

उत्तराखंड के लोक नृत्य, लोक कला एवं संगीत

- 1.1 प्रस्तावना
- 1.2 उद्देश्य
- 1.3 उत्तराखंड के लोक नृत्य
 - 1.3.1 लोक नृत्य एक सर्वेक्षण
 - 1.3.2 छपेली नृत्य
 - 1.3.3 झोड़ा नृत्य
 - 1.3.4 चांचरी नृत्य
 - 1.3.5 झूमैलो नृत्य
 - 1.3.6 छोपती नृत्य
 - 1.3.7 तांदी नृत्य
 - 1.3.8 थड़या नृत्य
 - 1.3.9 चौफुला नृत्य
 - 1.3.10 होली नृत्य
 - 1.3.11 दुसका नृत्य
 - 1.3.12 दन्याला तथा चम्फुली नृत्य
 - 1.3.13 खेल
 - 1.3.14 पांडव नृत्य
 - 1.3.15 जागर नृत्य
 - 1.3.16 छोलिया या सरौं नृत्य
 - 1.3.17 हिरन चित्तल नृत्य
- 1.4 उत्तराखंड की लोक कला
- 1.5 उत्तराखंड की संगीत परंपरा
 - 1.5.1 प्रमुख वाद्य यंत्र
 - 1.5.2 ढोल की तालें
- 1.6 सारांश
- 1.7 स्व मूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर
- 1.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची
- 1.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

उत्तराखण्ड की विशेष भौगोलिक परिस्थितियों एवं उससे प्रभावित उत्पादन के स्वरूप और उत्पादन की प्रणालियों ने यहाँ के सांस्कृतिक स्वरूप को तो निर्धारित किया ही साथ ही समय-समय पर यहाँ आई अनेक लघु समाज-संस्कृतियों, राजवंशों, प्रवासियों, आप्रवासियों एवं चार धाम तीर्थ यात्रा पथ ने भी यहाँ के सांस्कृतिक स्वरूप को निर्धारित किया और ये समाज अपने भूगोल एवं वातावरण के अनुरूप अपने गीत, संगीत, चित्रकला, नृत्य, खानपान, पहनावा तथा स्थापत्य आदि को विकसित करते चले गये।

1.2 उद्देश्य

- उत्तराखण्ड के लोक नृत्यों का वर्णन।
- उत्तराखण्ड की लोककला का वर्णन।
- उत्तराखण्ड की सांगीतिक विरासत का वर्णन।

1.3 उत्तराखण्ड के लोक नृत्य

उत्तराखण्ड के अधिकांश लोक नृत्यों के साथ लोकगीत एवं संगीत अनिवार्य रूप से जुड़े हुए हैं। लोक गीतों पर विचार करते हुए स्पष्ट होता है कि उनका मूल मानव प्रवृत्तियों से अधिक सीधा व प्रत्यक्ष संबंध है। प्राकृतिक पदार्थों का सौन्दर्य देखने से भाव विभोर होकर यदि मनुष्य गाता है तो उसका भयंकर रूप देखकर स्तुति भी करता है। लोकगीतों के मूल में वस्तुतः भावों के साथ संगीत और नृत्य के तत्व भी मिले हुए हैं। तीनों को एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता, क्योंकि तीनों मिलकर लोक मानस की पूर्ण अभिव्यक्ति करते हैं।

1.3.1 लोक नृत्य एक सर्वेक्षण

उत्तराखण्ड के सर्वाधिक प्रचलित गीत यहां के नृत्य गीत हैं। इन नृत्य गीतों को अलग-अलग क्षेत्रों में अलग-अलग नामों से पुकारा जाता है। जैसे थड़या, चौफुला झूमैलो, तांदी आदि नृत्य झोड़ा-चांचरी के सादृश्य होते हैं। नृत्य का पदक्रम भी लगभग एक सा होता है, परंतु इसमें नामभेद अवश्य है। इसी तरह झोड़ा सदृश्य नृत्य को मुन्स्यारी में 'दुस्का' कहते हैं तो पिथौरागढ़ में 'खेल' तो ओखलकांडा, धारी, सालम आदि जगहों में 'भैनी' तो दानपुर में "चांचरी", तथा जनपद चमोली के अनेक जगहों में चांचड़ी, दाँकुड़ी और झूमैला। हालांकि अनेक विद्वान इन नृत्य गीतों को एक ही गीत झोड़ा का रूप न मानकर अलग-अलग श्रेणियों में रखते हैं। डॉ० त्रिलोचन पांडेय लिखते हैं—

“‘चांचरी’ अनुमानतः ‘झोड़े’ का मूल व प्राचीन रूप है। अनेक स्थानों पर ‘चांचरी’ को ‘झोड़ा’ भी कहते हैं। किन्तु नृत्य की दृष्टि से दोनों में अन्तर है। ‘चांचरी’ में पद संचालन अधिक मंद होता है, स्वरों के आरोह-अवरोह में भिन्नता होती है, लय अधिक जटिल होती है तथा धुनों का खिंचाव दीर्घ होता है।”

1.3.2 छपेली नृत्य

हाँ निश्चित ही छपेली नृत्य का रूप झोड़ा-चांचरी, झूमैलो, झड़या आदि से भिन्न होता है। क्योंकि यह तेज गति का नृत्य है। ये नृत्य शैली के गीत विवाह, मेलों, उत्सवों और त्यौहारों के अवसरों पर गाये जाते हैं। छपेली में एक मुख्य गायक, एक नर्तक गायक समूह होता है।

डॉ० त्रिलोचन पांडेय “छपेली” नृत्य के बारे में लिखते हैं—

“छपेली नृत्य गीत दो प्रेमियों का होता है। दो व्यक्ति प्रेमी—प्रेमिका, पिता—पुत्र, भाई—बहन, कोई भी हो सकते हैं, यद्यपि अब यह शब्द प्रेमी—प्रेमिका के नृत्य गीत के अर्थ में रुढ़ सा हो चला है। अवसर के अनुकूल विषय परिवर्तन किया जा सकता है,

किंतु भाव सरल व उल्लासपूर्ण होते हैं। प्रेमी या प्रेमिका के एक हाथ में रंगीन रुमाल तथा दूसरे हाथ में दर्पण रहता है। कुछ लोग हुड़का-बांसुरी लेकर अलग से गीत गाते हैं, या नृत्याकार पुरुष ही हुड़का लेकर नृत्य करता हुआ गाता है और स्त्री अंग संचालन व भाव भंगिमा द्वारा उसे स्पष्ट करती है। छपेली के अतिरिक्त अन्य लोक नृत्यों का वर्णन निम्नवत् किया जा रहा है—

1.3.3 झोड़ा नृत्य

नृत्य प्रधान युक्तक गीतों का संबंध नृत्य के साथ इतना घनिष्ठ है कि इनका नामकरण ही नृत्य-शैलियों की विविधता के आधार पर हुआ है। गीतों की लय तथा स्वरों के आरोह-अवरोह नृत्यों की मंद व तीव्र गति पर निर्भर हैं, अतः इसके स्वरूप निर्धारण में पद संचलन का विशेष महत्व है।

उत्तराखण्ड का सर्वाधिक प्रचलित सामूहिक नृत्य गीत 'झोड़ा' है। जिसमें स्त्री और पुरुष दोनों सम्मिलित होकर भाग लेते हैं। वे वृत्ताकार घेरा बनाते हुए परस्पर एक दूसरे के कंधों में हाथ रखकर धीमे व सरल पद संचलन के साथ गीत आरंभ करते हैं। वृत्त के बीच मुख्य गायक गीत की प्रथम पंक्ति कहता है तथा अन्य व्यक्ति उसको दुहराते हुए अंगों के संतुलित संचालन द्वारा लहरों की भाँति प्रभाव उत्पन्न करते हैं। पूर्व में दो तीन मंजिले झोड़ों के आयोजन का भी प्रमाण पुस्तकों में मिलता है। झोड़ों की विषयवस्तु धार्मिक, भावप्रधान, सामयिक, राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, पारिवारिक, व्यक्तिगत आदि कुछ भी होती रही है।

विषय वस्तु के संबंध में लोकविद् गिरीश तिवाड़ी 'गिर्दा' कहा करते थे—

“उत्तराखण्ड में मेलों-ठेलों, तीज-त्यौहारों की समृद्ध परंपरा रही है। इन्हीं मेलों में हुड़के की थाप पर लोक गायकों की तानें गूँजा करती थीं। जो लोग मेलों में नहीं जा पाते थे वे मेले से वापस लौट कर आये लोगों से पूछते थे कि इस बार मेले में कौन सा गीत रहा। अर्थात् कौन सा गीत चर्चित रहा। लोक महेशा प्रवाहमान रहता है अतः लोक गायक इन मेलों में समसामयिक प्रसंगों/विडम्बनाओं को लोक गीतों के माध्यम से प्रदर्शित करते थे—

जैसे निम्न नृत्य गीत का अंश—

रतिया हूँछो खानापूरी, ब्याव रबरै घिस
अमीरु है री चैन-चुपड़ा, गरीबू पिसा-पीस

यह गीत 60 के दशक में उत्तराखण्ड में हुयी पैमाइस (जमीन की नाप-जोख) के समय बना गीत है। जब अमीन (जमीन की नापजोख करने वाले कर्मचारी) दिन में तो खानापूरी के लिए गरीबों के नाम पर जमीन चढ़ा दिया करते थे परंतु रात को थोकदार या गाँव के प्रधान के कहने पर उसको मिटाकर (रबर से घिसकर) थोकदार प्रधान या प्रभावशाली व्यक्ति के नाम पर कर दिया करते थे। इसी तरह राष्ट्रीय आंदोलन के दौर में भी महात्मा गांधी, भगत सिंह व जवाहर लाल नेहरू पर झोड़े बने।

1.3.4 चांचरी नृत्य

चांचरी को झोड़े का प्राचीन रूप माना जाता है। यह गीत कुमाऊँ-गढ़वाल के मिले हुए क्षेत्रों में बहुत प्रसिद्ध है। जैसा कि पहले उल्लेख हो चुका है कि इस नृत्य को झोड़े का ही एक प्रकार माना जा सकता है।

1.3.5 झूमैलो गीत

यह नृत्य गढ़वाल के विभिन्न जनपदों में गाये जाने वाले नृत्य गीतों का नाम है और यह लगभग झोड़ा नृत्य के ही सादृश्य है। झूमैलो गीत बसंत पंचमी से आरंभ होकर विषुवत संक्रान्ति तक चलते हैं। इन गीतों में मायके की स्मृति एवं प्रकृति के सौंदर्य का विशेष वर्णन मिलता है। नृत्य का पदक्रम झोड़े-चांचरी के ही समान दो कदम आगे, दो कदम पीछे बढ़कर आगे को बढ़ाया जाता है।

1.3.6 छोपती गीत

उत्तराखण्ड के रवाई-जौनपुर क्षेत्र में छोपती नृत्य गीत गाया जाता है।

1.3.7 तांदी गीत

यह गीत भी कमोवेश झोड़े, चांचरी का ही एक रूप है। यह नीती घाटी में गाये जाने वाले गीत का नाम है।

1.3.8 थड़या गीत

गढ़वाल में ये गीत प्रायः मेलों, तमाशों के अवसर पर गाये जाते हैं। ग्रामीण जन एक दूसरे के कंधों में हाथ रख एक सूत्र में बंधकर इस नृत्य गीत का आनंद लेते हैं।

1.3.9 चौफुला नृत्य गीत

थड़या गीतों की तरह ही चौफुला गीत भी गढ़वाल के अधिकांश क्षेत्रों में प्रचलित है। यह नृत्य भी उल्लास का नृत्य है।

1.3.10 होली नृत्य

वसंत ऋतु में होली का विशेष महत्व है। यहाँ की होली में ब्रजमंडल गीत शैली का प्रभाव है। बैठ होली जहाँ किसी कमरे में बैठकर गायी जाती है तो वहीं खड़ी होली आंगन में या रस्ते में चलते हुए गायी जाती है। खड़ी होली जब अपने चरम पर होती है तो उसका आकर्षक पद संचलन सबका मन मोह लेता है।

1.3.11 दुसका नृत्य

कुमाऊँ में प्रचलित सामूहिक चांचरी नृत्य को जनजातीय क्षेत्र मुन्स्यारी में दुसका कहा जाता है।

1.3.12 दन्याला तथा चम्फुली नृत्य

एक विशेष ताल और छड़ी की चोट के साथ वृत्ताकार घेरे में समूह बनाकर दन्याला नृत्य किया जाता है। परन्तु चम्फुली नृत्य में हाथ और पाँव की विभिन्न मुद्राओं द्वारा नृत्य करते हुए गीत गाया जाता है। उक्त दोनों नृत्य मुन्स्यारी क्षेत्र में प्रचलित हैं।

1.3.13 खेल

उत्तराखण्ड के पूर्वी सीमान्त क्षेत्र में नृत्य गीतों का जो प्रमुख रूप व्याप्त है उन्हें “खेल” नाम से जाना जाता है। सोर क्षेत्र में कहीं इनको ‘हज्वड़ा’ कहीं ‘न्यौल्या’ आदि नामों से जाना जाता है। मेलों-ठेलों के अतिरिक्त ‘खेल’ लगाने का प्रमुख पर्व भादो मास में होने वाला ‘आंठू’ पर्व है।

1.3.14 पांडव नृत्य

गढ़वाल के चमोली, उत्तराकाशी जिलों में महाभारत के आख्यानों पर आधारित धार्मिक नृत्य पांडव नृत्य किया जाता है।

1.3.15 जागर नृत्य

जागर नृत्य एक धार्मिक रहस्यमयी नृत्य है। उत्तराखण्ड में विविध देवी-देवताओं जैसे नंदा, गढ़देवी, गोलू, गंगनाथ, भोलानाथ, गोरखनाथ, मलैनाथ, कलबिष्ट, ऐड़ी आदि के जागर प्रचलित हैं। यहाँ स्थानीय शासकों जैसे— धामदेव, बिरमदेव, जियारानी आदि के जागर लगाने की भी प्रथा है। जागर का शाब्दिक अर्थ “जागरण” अर्थात् देवता को जागृत करने से है। यह एक ऐसी प्रक्रिया है कि लोकगायक अपने गायन के उतार-चढ़ाव और लोक वाद्यों हुड़का, डौर, थाली, ढोल आदि की तरंगति करने वाली संगीत की लय और ताल से ऐसा वातावरण रचता है कि उसके प्रभाव से व्यक्ति विशेष का शरीर कम्पित होने लगता है। जागर की शुरुआत कुछ इस तरह के बोलों से होती है—

धरती माता तुम्हारा ध्यान जगे
उंचे आकाश तुम्हारा ध्यान जगे
दिन के सूर्य रात की चन्द्रमा तुम्हारा ध्यान जगे।

1.3.16 छोलिया या सरौंनृत्य

यह प्राचीन और परंपरागत लोक नृत्य है। कुमाऊँ का छोलिया तथा गढ़वाल का ‘सरौं’ नृत्य एक ही तरह के नृत्य हैं। इस नृत्य में नर्तक को स्थानीय बोली में ‘छलेर’, ‘छुलेती’, ‘छुलोरिया’ या ‘छलिया’ कहा जाता है।

यह कहा जा सकता है कि एक दूसरे के साथ कपटपूर्वक, धोखे का आश्रय लेकर विविध प्रकार की पैतरेबाजी, प्रहार एवं आत्मरक्षा की विविध भंगिमाओं को प्रकट करते हुए दो नर्तकों के मध्य ढाल-तलवार द्वारा होने वाला शस्त्र युद्ध ही “छोलिया नृत्य” है।

इस नृत्य में दोनों नर्तक छली होते हैं, जो ढाल-तलवारों के संचालन में पारंगत होते हैं। वादक गण भी प्रायः ढोल दमाऊ गले में लटकाकर उन पर ताल देते हुए छलियों के साथ एक विशिष्ट पदक्रम और सुनिश्चित शैली में नृत्य करते हैं। इसमें मसकबीन व झांझ ताल वाले भी योग देते हैं।

1.3.17 हिरनचित्तल नृत्य

कुमाऊँ की अस्कोट पट्टी में भादो मास में होने वाले ‘आंदू’ पर्व के दौरान हिरनचित्तल नामक मुखौटा नृत्य होता है। इसी तरह आंदू पर्व के दौरान ही वैलों का मुखौटा लगाये “हिलजात्रा” मुखौटा नृत्य भी होता है जिसमें कि लखियाभूत का अभिनय आकर्षण का केन्द्र होता है।

इसके अतिरिक्त जौनपुर-रवाँई का लामण नृत्य, सयनालोक नृत्य आदि यहाँ के प्रमुख लोक नृत्य हैं।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. झोड़ा-चांचरी के सदृश्य नृत्य को मुनस्यारी में क्या कहते हैं ?
2. छपेली पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये ?
3. ‘खेल’ नृत्य गीत उत्तराखण्ड में कहां प्रचलित है ?
4. नर्तकों के मध्य ढाल-तलवार द्वारा होने वाला नृत्य क्या कहा जाता है ?
5. झूमैलो नृत्य पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये ?

1.4 उत्तराखण्ड की लोक कला

लोक कला की प्रवृत्तियों का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि इसके समस्त तत्व श्रमिक जीवन की विभिन्न अनुभूतियों से भरे पड़े हैं। प्रत्येक अंचल की लोक कला की अपनी विशेष प्रवृत्ति होती है जिसे वहाँ के चित्रांकन, वास्तुकला, शिल्पकला आदि में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

यहाँ की लोक कला के अंतर्गत आंकिक, अभिव्यक्ति चित्र, ऐपण, रंगोली, अल्पना, चौकी, वस्त्रछपाई, पर्व, उत्सवों, पर रेखित की जाने वाली विविध आकृतियों के साथ ही पेशेवर कला, काष्ठ कला, बुनने की कला, आभूषण बनाने की कला, बर्तन बनाने की कला, मूर्तिकला, भोजन कला आदि निहित है।

आंकिक चित्र के रूप में पर्व, त्यौहार, शादी-ब्याह आदि शुभ अवसरों पर मंगल चिह्न दिवारों व भूमि पर अंकित किये जाते हैं। ऐपण गेरू और बिस्वार से अंकित किये जाते हैं। बिस्वार भीगे चावलों को महीन पीसकर उससे बने घोल को कहते हैं। धरती पर अंकित किये जाने वाले चित्रों को 'चौका' तथा दिवारों पर अंकित किये जाने वाले चित्रों का 'थापा' कहते हैं। दिवारों पर अंकन की एक कला "बरबूंद" भी है। दीवारों पर चित्रण की इस पद्धति में बिंदुओं को डालने के पश्चात उन्हें रेखाओं द्वारा जोड़ दिया जाता है। विवाह संस्कार के अवसर पर बनाया जाने वाला प्रमुख अंकन "ज्युंति" है। इसमें तीन देवियों लक्ष्मी, सरस्वती और दुर्गा की आकृति के साथ गणेश की आकृति का अंकन होता है।

इसके अतिरिक्त दुर्गा थापे, पट्ट चित्र, द्वार पत्र, जन्मपत्री एवं पोथी चित्र, वेदी अंकन, पिछोड़ा अंकन यहाँ की लोक चित्रकला के प्रमुख रूप हैं।

उत्तराखण्ड की शिल्पकला भी बहुत समृद्ध रही है। जिसके तहत मिट्टी से बनी मूर्तियाँ (डिकारे), नंदा-सुनंदा की मूर्तियाँ, ताम्र शिल्प, लौह शिल्प आदि प्रमुख हैं। काष्ठ शिल्प के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के लकड़ी के वर्तन, ठेकी, पावो, नाली, माणा, लकड़ी का ऊखल तथा विभिन्न काष्ठ उपकरणों, खिड़की-दरवाजों आदि पर सुन्दर नक्काशी देखने को मिलती है। यहाँ के कला शिल्पियों द्वारा धातु के बने पात्र, आभूषण, सोने, चाँदी, ताँबे पीतल आदि से बनी मूर्तियाँ-बर्तन, कालीन, शाल, थुलमे, चुटके तथा बाँस-निगाल की चटाइयाँ, टोकरियाँ, मोस्टे, डोके आदि कलात्मक वस्तुएँ भी बनाई जाती हैं। यहां अल्मोड़ा ताँबे की बनी वस्तुओं के लिए, लोहाघाट लोहे के बर्तनों के लिए, मुनस्यारी, धारचूला ऊन से बने सामान के लिए तथा दानपुर रिंगाल व बास से बने मोस्टों, चटाइयों, टोकरियों, डोकों आदि के लिए प्रसिद्ध है।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. ऐपण किन चीजों से बनाये जाते रहे हैं ?
2. दीवारों पर अंकित किये जाने वाले चित्रों को क्या कहते हैं ?
3. दिवारों में बिन्दु डालकर उन्हें रेखाओं द्वारा मिलाने पर कौन सी कला बनती है ?
4. उत्तराखण्ड की काष्ठ कला पर टिप्पणी लिखिये ?

1.5 उत्तराखण्ड की संगीत परम्परा

मनुष्य समुदायों में सबसे प्रारंभिक संगीत "कंठ" यानि मुख्याग्र संगीत रहा होगा। यद्यपि इसे उसके परिवेश सूरज, हवा, धरती जंगल तथा पानी ने अवश्य ही गहराई से प्रभावित किया। उत्तराखण्ड की घाटियों के संगीत में गूँज और शिखरों की तान में विस्तार अधिक हुआ (रीठागाड़ी और सोरयाली न्यौली इसके उदाहरण हैं।) पशुचारक तथा खेतीहर समाजों ने अपने भूगोल तथा परिस्थितियों के अनुरूप संगीत तथा वाद्य यंत्रों को विकसित किया। हिमालय का आभामंडल यद्यपि इस प्रक्रिया में सर्वाधिक प्रभावशाली रहा लेकिन पशुचारकों, व्यापारिक समाजों की गतिशीलता तथा खेतीहर समाज की स्थिरता ने उन्हें उनके अनुकूल संगीत तथा वाद्य यंत्रों के विकास तथा इस्तेमाल का दबाव दिया।

संगीत तथा वाद्य यंत्रों की इस आधारभूत परंपरा को आगन्तुक समाज समृद्ध करते गये। इस प्रक्रिया को वाद्य यंत्रों में ढोलक, तबले, हारमोनियम मशकबीन और अब सिंथेथाइजर तक तथा संगीत में होली, रामलीला और फिल्म प्रेरित संगीत तक तलाशा जा सकता है।

उत्तराखण्ड की संगीत परंपरा यहां की काव्य, नृत्य तथा उत्सव परंपरा के बीच मौजूद है। इसी में यहाँ के संगीत उपकरण भी हैं। अधिकांश काव्य रूप अपना संगीत रूप भी लिये होते हैं। इसी तरह हर नृत्य का अपना संगीत होता है। न्योली, छपेली, खुदेड़, झूमैलो, चांचरी, बैर, जागर जैसे काव्य रूप संगीत रूप में भी हैं।

यहाँ हर लोक देवता का अपना जागर है और उसकी कहानी के अनुरूप ही छंद, ताल व लय हैं। लिखित रूप में अनेक बार यह जागर असर नहीं करता पर संगीत का साथ पाते ही यह प्रभावकारी होने लगता है।

यहाँ संगीत की अंतर्मुखी तथा बहिर्मुखी दोनों धाराएं सदा प्रभावित रही हैं। सामन्ती दौर में यदि संगीत पीड़ा को ज्यादा प्रकट करता था तो औपनिवेशिक दौर में वह प्रतिरोध को भी अभिव्यक्त करने लगा था। लेकिन इसने अपने द्वार कभी बंद नहीं रखे। चयन की अपनी स्वायत्ता भी कायम रखी। जिसे दौर में होली, रामलीला से जुड़ा संगीत या हारमोनियम और मशकबीन जैसे वाद्य यंत्र आये, यहां के समाजों ने इन्हें स्वीकार किया। साथ ही होली और रामलीला को पर्वतीय रूप प्रदान किया तो हारमोनियम और मशकबीन पर यहां की धुनें बजानी शुरू कीं।

1.5.1 प्रमुख वाद्य यंत्र

उत्तराखण्ड के प्रमुख वाद्य यंत्र लकड़ी, चमड़ा, धातु तथा तार से बने हैं और और सदियों में विकसित हुए हैं। लकड़ी-चमड़े के वाद्य यंत्रों में ढोल, हुड़का, खंजरी, डौर तथा बांसुरी प्रमुख हैं। तांत पर आधारित सारंगी, तार पर आधारित एक तारा-दो तारा, तथा धातु वाद्य यंत्रों में भंकारा, तूरी, रणसिंहा तथा नागफनी प्रमुख हैं। लेकिन इसके साथ ही थाली, लोटा, झाल, मंजीरा भी वाद्य यंत्रों के रूप में प्रयुक्त होते रहे हैं। धातु तथा चमड़े से बना नगाड़ा और दमुवाँ यहाँ के मुख्य वाद्य हैं। कई स्थानों में तांबे के ढोल भी होते हैं। धातु के लोकवाद्यों में मोछंड या बिड़ाई भी है।

आधुनिक काल में हारमोनियम तथा मशकबीन का आगमन यहां हुआ। जिन्हें यहां का समाज आज पर्याप्त इस्तेमाल करता है।

उक्त वाद्य यंत्रों में से ढोल, दमुवा, हुड़का, खंजरी, डौर, थाली, लोटा आदि हाथ, अंगुलियों या लकड़ी से बजाये जाते हैं। लोटे का खटका सिक्कों से दिया जाता है। बांसुरी, भंकार, तूरी, रणसिंह, नागफनी, तथा मशकबीन को मुंह और फेफड़े की मदद से बजाना पड़ता है। विणई को दांतों के नीचे दबाकर अंगुलियों से बजाना होता है।

वाद्य यंत्रों को अपनी जुगलबंदी भी है। जैसे हुड़का-थाली, डौर-थाली, ढोल-दमाऊ-मशकबीन, ढोल-दमाऊ-तूरी-रणसिंग, हुड़का-मुरुली आदि।

1.5.2 ढोल की तालें

ढोल-दमाऊ बजाने की विभिन्न शैलियों का वर्णन- ढोल सागर नामक ग्रंथ में दिया गया है। जिसमें ढोल बजाने की कुछ निम्न तालें बताई गई हैं-

बढै (वधाई)- यह ताल प्रत्येक मंगल पर्व तथा उत्सव आदि के आरंभ में प्रस्तुत की जाती है।

धुंमेल- यह देवोपासना की ताल है।

रहमानी ताल- बारात के साथ मार्ग पर चलते हुए बजायी जाती है।

नौबत- यह दिन के अलग-अलग प्रहरों में मंदिरों में बजाई जाती है।

उत्तराखण्ड की अधिकांश धुनें आदिम स्वरों पर मिलेगी। किन्तु वर्तमान तक आते आते दुर्गा, भूपाली, केदार, शिवरंजनी, मालकोस, पहाड़ी, देश, पीलू, सारंग आदि रागों की जैसी छवि यहां की धुनों में सरलता से देखी जा सकती है।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. लकड़ी और चमड़े से बने वाद्य यंत्रों के नाम बताइये ?
2. प्रमुख धातु वाद्य यंत्रों के नाम बताइये ?
3. ढोल बजाने की प्रमुख शैलियों का वर्णन किस ग्रंथ में है ?

1.6 सारांश

उत्तराखण्ड के लोक नृत्य, लोक कला एवं संगीत के निर्माण में उत्तराखण्ड की भौगोलिक दुर्गमता, विशिष्टता, विविधता, समय-समय पर इस क्षेत्र में आई अनेक लघु-समाज संस्कृतियों, का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। अतः यहाँ के लोक जीवन, लोक विश्वासों, भाषा-बोली पर तिब्बती, नेपाली हिमालयी तथा अखिल भारतीय प्रभावों का स्पर्श देखा जा सकता है।

उत्तराखण्ड की विभिन्न संस्कृतियाँ पहले सामन्तशाही और फिर औपनिवेशिक शासन के युगान्तकारी प्रभावों से आमना-सामना करते हुए अपने को बचाती रहीं। सामन्तशाही और औपनिवेशिक शासन भूगोल के विरुद्ध सफल नहीं हो सके थे। अतः स्थानीय संस्कृतियाँ अपनी स्वायत्तता की रक्षा कर सकीं और ग्रहणशील भी बनी रहीं। भूमंडलीकरण के दौर में ऐसा लगता है कि जैसे भूगोल भी इस प्रक्रिया से नियंत्रित हो गया है। अतः भूमंडलीकरण न सिर्फ छोटे समाज-संस्कृतियों के लिए खतरा है। बल्कि यह सांस्कृतिक विविधता के लिए भी एक चुनौती है। लेकिन लोक दूब की तरह होता है। अतः इस सबको वह झेल जाएगा। ऐसी आशा की जा सकती है, की जानी चाहिए।

1.7 स्व मूल्यांकन प्रश्नों के उत्तर

स्व मूल्यांकन प्रश्नों के उत्तर इकाई 1.3

1. देखें – 1.3.1 लोक नृत्य एक सर्वेक्षण
2. देखें – 1.3.2 छपेली नृत्य
3. देखें – 1.3.13 खेल
4. देखें – 1.3.16 छोलिया या सरौंनृत्य
5. देखें – 1.3.5 झूमैलो नृत्य

स्व मूल्यांकन प्रश्नों के उत्तर इकाई 1.4

1. देखें – 1.4 उत्तराखण्ड की लोक कला
2. देखें – 1.4 उत्तराखण्ड की लोक कला
3. देखें – 1.4 उत्तराखण्ड की लोक कला
4. देखें – 1.4 उत्तराखण्ड की लोक कला

स्व मूल्यांकन प्रश्नों के उत्तर इकाई 1.5

1. देखें – 1.5.1 प्रमुख वाद्य यंत्र
2. देखें – 1.5.1 प्रमुख वाद्य यंत्र
3. देखें – 1.5.2 ढोल की तालें

1.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. चातक, गोविन्द : 1973 गढ़वाली लोक गीत – एक सांस्कृतिक अध्ययन, दिल्ली।
2. पाण्डेय, त्रिलोचन : 1975 कुमाऊँ का लोक साहित्य, अल्मोड़ा।

3. जोशी कृष्णानन्द : 1981 कुमाऊँ का लोक साहित्य, अल्मोड़ा।
4. नौटियाल, शिवानन्द : 1974, गढ़वाल के लोक नृत्य, गाजियाबाद।
5. पोखरिया, देवसिंह : 1994, कुमाऊँनी भाषा, साहित्य, संस्कृति अल्मोड़ा।
6. भट्ट, हरिदत्त “शेलैश” : 1976, गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य, लखनऊ।
7. बलूनी, दिनेश चंद्र : 2001 : उत्तरांचल : संस्कृति, लोक जीवन, इतिहास एवं पुरातत्व, बरेली।
8. डबराल, शिव प्रसाद : 1965–1973 : उत्तराखण्ड का इतिहास भाग 1–8, दोगड़डा।
9. पाण्डे, बद्रीदत्त : 1973 : कुमाऊँ का इतिहास, अल्मोड़ा।
10. शर्मा, भुवन (संपादक) : 2006 : उत्तराखण्ड के लोक नृत्य–झोड़ा, चांचरी, छपेली और छोलिया, युगमंच, इंतखाब, मल्लीताल, नैनीताल।

1.9 निबन्धत्मक प्रश्न

1. उत्तराखण्ड के लोक नृत्यों पर प्रकाश डालिये ?
2. उत्तराखण्ड की लोक कला पर निबन्ध लिखिये ?
3. उत्तराखण्ड की संगीत परम्परा का विवेचन कीजिए ?
4. झोड़ा, चांचरी, छपेली और छोलिया नृत्यों पर प्रकाश डालिये ?